भारतीय साहित्यशास्त्र

(भारतीय साहित्यशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन)

प्रथम खंड

लेखक

बलदेव उपाध्याय, एम० ए०; साहित्याचार्य

अध्यक्ष पुराणेतिहास विभाग

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

तथा

भूतपूर्व रीडर, संस्कृत विभाग

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिबृंहित संस्करण

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड सन्स

चौक, वाराणसी

द्वितीय संस्करण] १९६३ [मूल्य २५)

काव्यशास्त्र

विना न साहित्यविदा परत्र
गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम् ।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव
विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः ॥

—मङ्खक

* * *

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः ।
संरुद्ध-सर्व-करण-प्रसरा भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्तान् ॥

—जगद्धर

* * *

भुजतरुवनच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीद् असावकुतोभया ।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥

—कल्हण

गुरुवर

महामहोपाध्याय

साहित्याचार्य

पण्डित रामावतार शर्म्मा एम० ए०

की

पुण्य स्मृति में

सादर

स म र्पि त

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण

आज हिन्दी के मर्मज्ञों के करकमल में 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का एक नवीन खण्ड अर्पित करते मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। पूर्वखण्ड के प्रकाशन के लगभग तीन वर्ष बाद इस नूतन खण्ड के प्रकाशन का अवसर आया है। इस बीच में 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का पूर्वप्रकाशित खण्ड विद्वानों के समादर का भाजन बना, अनेक विश्वविद्यालयों के एम० ए० परीक्षा का पाठ्यग्रन्थ बना तथा स्थानीय 'उत्तर प्रदेश' की सरकार की ओर से मान्य हिन्दी ग्रन्थ होने के नाते पुरस्कार पाने में भी समर्थ हुआ। मैं इस विषय में अनेक विद्वानों का आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत खण्ड ग्रन्थ का आदिम खण्ड है। इसमें चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में साहित्यशास्त्र के **ऐतिहासिक विकास का** पूर्ण निदर्शन किया गया है तथा मान्य आचार्यों के समय के निरूपण तथा उनके कार्यों का विवरण प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस परिच्छेद के परिशिष्ट-रूप में **'भामह का एक विशिष्ट अनुशीलन'** जोड़ दिया गया है। यह अनुशीलन हमारे उस अँग्रेजी लेख का हिन्दी अनुवाद है जो भामह के काव्यालंकार के मूल संस्करण के साथ काशी (चौखम्भा संस्कृत सीरीज में) से प्रकाशित हो चुका है। इस लेख में निर्दिष्ट सिद्धान्त इतिहासज्ञों को सर्वथा मान्य हैं। भारत में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर भी यूरोपीय विद्वानों ने उन्हें युक्तियुक्त माना है। जर्मन विद्वान् डा० नोबेल ने तथा इटालियन विद्वान् डा० तुशी ने अपने विभिन्न लेखों में इनकी प्रामाणिकता अंगीकृत की है। इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी के मान्य मासिक 'समालोचक' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। उसी का संशोधित रूप इस परिशिष्ट का विषय है।

द्वितीय परिच्छेद में साहित्यशास्त्र के **सैद्धान्तिक विकास का** दिग्दर्शन है। आलोचनाशास्त्र के अभ्युदय के साथ-साथ नवीन सम्प्रदायों का भी जन्म यहाँ हुआ। जो लोग भारतीय आलोचना-शास्त्र को एकाकार प्रवाहित धारा मानते हैं वे तथ्य से नितान्त दूर हैं। साहित्यशास्त्र में जीवनी शक्ति थी। इसीलिए इसमें नये-नये सम्प्रदायों का उदय हुआ तथा साहित्य का अनुशीलन

एक नूतन दृष्टिकोण से होने लगा। आलोचना के इतिहास में भारतीय साहित्य-शास्त्र एक भव्य विभूति है जिसकी प्रभा समय के आवरण से ढकती नहीं, प्रत्युत नये-नये रूप में उन्मेष पा रही है।

तृतीय परिच्छेद—**कवि रहस्य**—में कविविषयक सिद्धान्तों का निर्धारण हैं। अलंकारशास्त्र विज्ञान के साथ ही साथ कला भी है; सिद्धान्त और व्यवहार का अनुपम सम्मिलन है। काव्यकला के व्यवहारपक्ष का निरूपण इस अध्याय की विशेषता है।

चतुर्थ परिच्छेद—**काव्यरहस्य**—में काव्यविषयक नाना समस्याएँ सुलझाई गई हैं। काव्य के रूप, प्रयोजन तथा लक्ष्य आदि महनीय प्रश्नों का उत्तर भारतीय पद्धति से देने का यहाँ प्रयास किया गया है। पाश्चात्य आलोचना में जो विषय विशेष महत्त्वशाली समझे जाते हैं, उनका यहाँ उभय पद्धतियों को ध्यान में रखकर मार्मिक विवेचन किया गया है। कला में प्रेरणा कहाँ से आती है? काव्य में प्रतिभा का उपयोग कितना है? काव्य का क्षेत्र कितना विशाल है? काव्य में बाह्य प्रकृति का किंरूप चित्रण अपेक्षित होता है? काव्य में प्रेम की भावना किस प्रकार अभिव्यक्त की गई है? आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओं का मैंने समाधान उदार दृष्टि से प्राचीन आचार्यों के मतों का अनुगमन करते हुए किया है। मैंने काव्य के मौलिक तथ्यों को विशाल दृष्टि रखकर समझाया है और यह दिखलाया है कि हमारे प्राचीन आलोचक आलोचना के मर्म से भलीभाँति परिचित थे। उनके तथ्यों का समर्थन पाश्चात्य मनीषी भी अपनी दृष्टि से आज करने लगे हैं।

मैंने अपनी विवेचन पद्धति को तुलनात्मक बनाने का यथेष्ट उद्योग किया है। पाश्चात्य आलोचकों के मतों का निर्देश पूर्वखण्ड की अपेक्षा इसमें कहीं अधिक है। अपने कथन की पुष्टि में मैंने उन लेखकों के ग्रन्थों के भी पर्याप्त उद्धरण स्थान स्थान पर दिये हैं। इन अँग्रेजी उद्धरणों का भावानुवाद अवश्यमेव दे दिया गया है। इस प्रकार मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ भारतीय आलोचना को व्यवस्था की सुदृढ़ नींव पर रखने का श्लाघनीय प्रयास यथाशक्ति कर रहा है।

अन्त में मैं उन ग्रन्थकारों का बड़ा आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थों से स्थान स्थान पर सहायता ली गई है। मैं अपने अनुज डाक्टर कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए०, पी एच० डी०, प्राध्यापक काशी-नरेश डिगरी कालेज ज्ञानपुर को आशीर्वाद देता हूँ जिनकी 'निर्झर लेखनी' ने इस ग्रन्थ के एक विशाल भाग को अल्पकाल में ही लिपिबद्ध किया था।

इस खण्ड के प्रकाशन के साथ हमारी योजना का आधा भाग आज सफल हो रहा है। अभी इसके दो खण्ड अवशिष्ट हैं। अगला खण्ड रस—ध्वनिवाला खण्ड होगा जो हमारी दृष्टि में इस वाङ्मय-मन्दिर का कलशस्थानीय होगा। विश्वास है कि भगवान् विश्वनाथ के अनुग्रह से यह खण्ड भी निकट भविष्य में कभी प्रकाशित हो सकेगा; तथास्तु।

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचिव्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः॥

हरिप्रबोधिनी एकादशी
सं० २००७
२०–११–५०
काशी।

बलदेव उपाध्याय

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

आज भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खण्ड) के द्वितीय संस्करण को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष आह्लाद हो रहा है। यह पुस्तक कई वर्षों से दुर्लभ हो गई थी जिससे छात्रों को विशेष असुविधा हो रही थी। कई कारणों से इससे पूर्व इसका प्रकाशन न हो सका, इसका मुझे हार्दिक दुःख है।

इस नये संस्करण में मूल पुस्तक का स्थान-स्थान पर परिबृंहण किया गया है तथा संभावित त्रुटियों की भी मार्जना की गई है। हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में आलोचकों ने इस ग्रन्थ को उपादेय बतलाया है। हिन्दी आलोचना की गतिविधि के जानने वाले अनेक आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि गत दशक में संस्कृत आलोचना के प्रति हिन्दी साहित्यज्ञों की गाढ़ श्रद्धा जागरित करने में तथा तदनुकूल संस्कृत के आलोचना ग्रन्थों के हिन्दी में व्याख्यात्मक विवरण तथा अनुवाद प्रस्तुत करने में भारतीय साहित्यशास्त्र के इन दोनों भागों का विशेष हाथ है। यह भी मेरे लिए हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ से स्फूर्ति ग्रहण कर इसमें प्रदर्शित तथा व्याख्यात तथ्यों का विवरण तथा अनुशीलन हिन्दी के विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में बड़ी जागरूकता से प्रस्तुत किया है। मुझे इस बात का दुःख है कि इस अनुशीलन के प्रतिश्रुत दो खण्ड अभी तक तैयार न हो सके। रस और ध्वनि के विषय में जो पाठक मेरा अभिमत जानना चाहते हैं, वे मेरे 'संस्कृत-आलोचना' (परिबृंहित संस्करण, हिन्दी समिति, शिक्षा विभाग, सचिवालय लखनऊ से १९६३ में प्रकाशित) को देखने का कष्ट करें।

'नन्दकिशोर एण्ड सन्स' के उत्साही संचालक श्री कैलासनाथ भार्गव (बी. काम) को इस संस्करण को प्रकाश में लाने का श्रेय है जिन्होंने अनेक झंझटों के रहने पर भी इस ग्रन्थ को बड़े प्रेम, उत्साह तथा अध्यवसाय से प्रकाशित किया है। वे इस कारण हमारे आशीर्वाद के भाजन हैं।

बाराणसी
बसन्त पंचमी
सं० २०२०
१९।१।६४

बलदेव उपाध्याय

भारतीय

सा

हि

त्य

शा

स्त्र

विषय सूची

प्रथम परिच्छेद १-१३६

साहित्यशास्त्र का ऐतिहासिक विकास

परिशिष्ट

भामह—एक अध्ययन

(१३७–१८०)

द्वितीय परिच्छेद

(१८१–२२८)

साहित्यशास्त्र का सैद्धान्तिक विकास

तृतीय परिच्छेद

कवि-रहस्य

चतुर्थ परिच्छेद

काव्य-रहस्य

साहित्य शास्त्र

का

ऐतिहासिक विकास

भारतवर्ष का यह सुन्दर देश सदा से प्रकृति-नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति-देवी ने अपने कर-कमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार तथा सुषमा का निकेतन बनाया है। इसका बाह्य रूप जितना अभिराम है, आन्तर रूप उतना ही आभामय है। इसका बाहरी रूप कितना सुन्दर है—उत्तर में हिम से आच्छादित हिमकिरीटी हिमालय है, जिसकी शुभ्र शिखर-श्रेणी सौन्दर्य का मूर्तिमान् अवतार है। दक्षिण में नीलआभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चपल लहरियाँ इसके चरण-युगल को धोकर निरन्तर शोभा का विस्तार करती हैं। पश्चिम में अरब का प्रभामण्डित अर्णव और पूरब में श्यामल बंगाल की खाड़ी। मध्य देश में बहती हैं गंगा-यमुना की विमल धाराएँ। इस बाह्य रूप के समान ही इसका अभ्यन्तर भी सुन्दर तथा अभिराम है। इसे ललित कला तथा कमनीय कविता की जन्मभूमि मानना सर्वथा उचित है। अत्यन्त प्राचीन काल में कोमल कविता का उद्गम इसी भारत-भूतल पर सम्पन्न हुआ।

नामकरण

आलोचनाशास्त्र की उत्पत्ति इस देश में अपेक्षाकृत प्राचीन समय में हुई तथा उसका विकास अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणाम है। आलोचनाशास्त्र का प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान है—**अलंकारशास्त्र**। साहित्यशास्त्र भी इसी का अभिधान है, परन्तु कालक्रम से इसकी उत्पत्ति मध्य-युगीन तथा अवान्तरकालीन है। 'अलंकारशास्त्र' नामकरण उस युग की स्मृति बनाये हुए है जब अलंकार का तत्त्व काव्यमयी अभिव्यंजना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अलंकार-युग हमारे शास्त्र के आद्य आचार्य भामह से भी प्राचीनतर है तथा वह उद्भट, वामन तथा रुद्रट के समय तक विद्यमान था। इन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम से इसका पूरा परिचय मिलता है। भामह के ग्रन्थ का नाम है—काव्यालंकार। इसके टीकाकार उद्भट के ग्रन्थ का अभिधान है—काव्यालंकार-सार-संग्रह। वामन तथा रुद्रट के ग्रन्थों का नाम भी इसी शैली पर 'काव्यालंकार' है। दण्डी के ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' अलंकार के तत्त्व पर आश्रित नहीं है; फिर भी, दण्डी 'अलंकार' को काव्य में आवश्यक उपकरण मानने में इन सब आचार्यों में अप्रतिम हैं। साहित्यशास्त्र के आरम्भयुग में 'अलंकार' ही कविता का सबसे अधिक महत्त्व-शाली उपकरण माना जाता था। अलंकारयुग इस शास्त्र के इतिहास में अनेक

दृष्टियों से महत्त्व रखता है। कारण यह है कि अलंकार की गहरी मीमांसा करने से एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ, और दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्त, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के द्वारा काव्य में प्रतीयमान अर्थ से सम्पन्न 'ध्वनि' के सिद्धान्त का भी उद्गम हुआ। 'वक्रोक्ति' तो अलंकार-युग की ही देन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी लिए इसके अप्रतिम आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' को 'काव्यालंकार' के नाम से अभिहित किया है[१]। कुमारस्वामी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि रस, ध्वनि, गुण आदि विषयों के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य-दृष्टि से ही इस शास्त्र का 'अलंकार-शास्त्र' अभिधान युक्तियुक्त है[२]। इस आलोचनाशास्त्र में विवेच्य विषय तो अनेक हैं—रस, ध्वनि, गुण, दोष आदि; परन्तु प्राधान्य है अलंकार का ही। और 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधानता के ही हेतु यह 'अलंकारशास्त्र' के नाम से प्रख्यात है।

वामन ने 'अलंकार' शब्द के अभिप्राय को और भी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय बना डाला। उनकी दृष्टि में अलंकार केवल शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र न होकर काव्य का मूलभूत तत्त्व है। वामन के लिए अलंकार सौन्दर्य का ही प्रतीक है—सौन्दर्यमलंकारः (वामन—काव्यालंकार १।१।२)। काव्य में जितने शोभाधायक तत्त्व हैं—दोषों का अभाव तथा गुणों का सद्भाव—जिनके द्वारा काव्य की विशिष्टता अन्य प्रकार के शब्दार्थों से सिद्ध होती है उन सबका सामान्य अभिधान है—अलंकार। वामन के हाथ में आकर इस शब्द ने अत्यन्त महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कर लिया और यह सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि माना जाने लगा।

सौन्दर्यशास्त्र

हमारे आलोचकों की सूक्ष्म गवेषणा काव्य के तत्त्वों में 'सौन्दर्य' पर जाकर टिकी थी। वे भली भाँति जानते थे कि काव्य में सौन्दर्य ही मौलिक तत्त्व है जिसके अभाव में न तो अलंकार में अलंकारत्व रहता है और न ध्वनि में

१—काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।

—व० जी० १।२

२—यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि च्छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते।

—प्रतापरुद्रीय की टीका–रत्नापण, पृ० ३

ध्वनित्व। दण्डी के शब्दों में काव्य में शोभा करनेवाले धर्मों का ही नाम अलंकार है।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

—काव्यादर्श २।१

यदि अलंकार में शोभाधायक गुण का अभाव हो, तो यह 'भूषण' न होकर निःसन्देह 'दूषण' बन जायगा। अभिनवगुप्त ने अलंकार के लिए चारुत्व के अतिशय को नितान्त आवश्यक माना है[1]। चारुत्व के अतिशय से विरहित अलंकार की काव्य में कोई भी उपादेयता नहीं होती। जो सोने की अँगूठी अँगुलियों की शोभा बढ़ाने में समर्थ नहीं होती, वह सर्वथा त्याज्य होती है, स्पृहणीय नहीं। अतः अलंकार का सर्वमान्य गुण है चारुत्व, सौन्दर्य।

भोजराज का भी यही मत है। उन्होंने दण्डी के मत का अनुसरण कर 'काव्यशोभाकरत्व' को अलंकार का सामान्य लक्षण माना है। और 'धूमोऽयमग्नेः' (अग्नि के कारण यह धूम है)—वाक्य किसी प्रकार के सौन्दर्य के अभाव में किसी भी अलंकार का उदाहरण नहीं बन सकता; ऐसा वे मानते हैं। अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्रमीमांसा' में इसी बात पर विशेष जोर देते हुए लिखा है—

सर्वोऽपि ह्यलंकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलंकारतां भजते। अतः 'गोसदृशः गवयः' इति नोपमा।

—चित्रमीमांसा पृ० ६

'गाय के सदृश गवय होता है' इस वाक्य में सादृश्य होने पर भी उपमा अलंकार का इसी लिए अभाव है कि यहाँ किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है। अलंकार के लिए यह सामान्य नियम है कि वह हृदयावर्जक होता हुआ काव्य की शोभा का विधायक ही होता है।

अलङ्कार के लिए ही इस आवश्यक उपकरण की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत ध्वनि के लिए भी। किसी काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सद्भाव ही 'ध्वनि' के लिए पर्याप्त नहीं होता, प्रत्युत उसे सुन्दर भी होना ही चाहिए। असुन्दर प्रतीयमान अर्थ से 'ध्वनि' का उदय कभी नहीं होता। अभिनवगुप्त का इस विषय में स्पष्ट कथन है कि ध्वनन व्यापार होने पर भी गुण अलंकार

१—तथा जातीयानामिति। चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः। सुलक्षिता इति यत् किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत् काव्येऽभ्यर्थनीयम्। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः' इति......एवमन्यत्। न चैवमादि काव्योपयोगीति।

—लोचन, पृ० २१०

के औचित्य से सम्पन्न, सुन्दर शब्दार्थ शरीरवाले वाक्य को काव्य की पदवी दी जाती है[1]। इसलिए ध्वनन व्यापार होने पर 'ध्वनि' सत्ता सर्वत्र मानी नहीं जा सकती, क्योंकि ध्वनि के लिए केवल ध्वनन व्यापार की ही अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत उसके सौन्दर्य-मण्डित होने की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। अभिनवगुप्त की उक्ति नितान्त स्पष्ट है—

तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः। (लोचन, पृ० २८)

इसलिए अभिनवगुप्त का यह परिनिष्ठित मत है—**सौन्दर्य ही काव्य की, कला की, आत्मा है**—

यच्चोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिः तर्हि काव्यस्य आत्मा' इति तद् अंगीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति। (लोचन, पृ० ३३)

इस अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचकों की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणों को हटाकर अन्तस्तल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलंकार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे जब तक उसमें 'सौन्दर्य' की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानों से प्रसिद्ध था। „चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्य-तत्त्व की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के अन्तरंग से अपरिचित ही विद्वान् यह दोषारोपण किया करते हैं कि यह केवल बहिरंग की समीक्षा को ही अपना सर्वस्व मानता है तथा अलकार जैसे बाहरी अस्थायी शोभातत्त्व को ही काव्य का मुख्य आधायक मानता है। परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। यह आरोप एकदम मिथ्या तथा निराधार है। यह शास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलतः यहाँ बहिरंग के साथ अन्तरंग की, शरीर के साथ आत्मा की, पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है।

सौन्दर्य को अत्यन्त महत्त्वशाली मानने पर भी हमारा शास्त्र 'सौन्दर्यशास्त्र' के नाम से अभिहित होते-होते बच गया। ऐसा होने पर यह पाश्चात्यों के 'एस्थेटिक्स' का पर्यायवाची शास्त्र बन गया होता। परन्तु सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र साहित्यशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्द के माध्यम द्वारा निर्मित कला की ही द्योतना करता है, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं (जैसे भास्कर्य, चित्र तथा संगीत आदि) में

१—गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। —लोचन, पृ० १७

निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अंतर्गत करता है। अतः दोनों का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है।

साहित्यशास्त्र

मध्ययुग में हमारे शास्त्र के लिए 'साहित्यशास्त्र' का अभिधान पड़ा। सबसे प्रथम राजशेखर ने (१० शतक) इस शब्द का प्रयोग हमारे शास्त्र के लिए किया है—**पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः** (काव्यमीमांसा, पृ० ४)। साहित्य शब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द तथा अर्थ के परस्पर वैयाकरण सम्बन्ध की घटना जागरूक है। इस शब्द की उत्पत्ति भामहकृत काव्यलक्षण से हुई। भामह का लक्षण है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** (काव्यालंकार १।१६) और साहित्य की व्युत्पत्ति है—**सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्**। आनन्दवर्धन के समय में इस शब्द की महत्ता अंगीकृत हो चली थी, परन्तु भोज और कुन्तक ने इस शब्द के वास्तव महत्त्वपूर्ण तात्पर्य का प्रकाशन कर इसकी महिमा का स्फुटीकरण किया। कुन्तक 'साहित्य' के अभिप्राय-प्रकाशक हमारे मान्य आलोचक हैं। उनके पश्चात् इस शब्द का गौरव बढ़ने लगा और रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधान को और भी लोकप्रिय बनाया। विश्वनाथ कविराज के ग्रन्थ के समधिक लोकप्रिय होने से यह नाम अधिकतर व्यापक हुआ। इस प्रकार 'अलंकारशास्त्र' के समान प्राचीन न होने पर भी यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

क्रियाकल्प

इन अभिधानों की अपेक्षा इस शास्त्र का एक प्राचीनतम नाम है—**क्रियाकल्प**, जिसका उल्लेख चौंसठ कलाओं की गणना में कामशास्त्र में किया गया है। 'काव्यक्रिया' के अनन्तर दो सहायक विद्याओं के नाम आते हैं—(१) अभिधानकोश, (२) छन्दोज्ञान। तदनन्तर **क्रियाकल्प** का नाम कलाओं की गणना में आता है। यह विद्या भी काव्य-विद्या से ही सम्बद्ध होनी चाहिये। और है भी यह वैसी ही। **क्रियाकल्प** का पूरा नाम है **काव्यक्रियाकल्प** अर्थात् काव्यक्रिया की विधि या आलोचनाशास्त्र। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग साहित्य-ग्रंथों में मिलता भी है। ललितविस्तर में कलाओं की गणना में 'क्रियाकल्प' का उल्लेख है। कामशास्त्र की टीका जयमंगला के अनुसार इसका अर्थ है—**क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः** (अलंकारशास्त्र)। दण्डी इस नाम से परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है—

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् (काव्यादर्श १।९)

यहाँ 'क्रियाविधि' क्रियाकल्प का ही नामान्तर है और दण्डी के टीकाकारों ने इस शब्द की व्याख्या इसी अर्थ में की है। रामायण के उत्तरकाण्ड में अनेक कलाओं और विद्याओं के साथ इस शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। ९४वें अध्याय में (श्लोक ४–१०) वाल्मीकि ने लवकुश के गायन को सुननेवाले विद्वानों की चर्चा की है जो राम की सभा में उपस्थित थे। उनमें पण्डित, नैगम, पौराणिक, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्व, कलामात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ, छन्दसि परिनिष्ठित' लोग उपस्थित थे। इनके साथ उपस्थित थे—

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान् (श्लोक ७)।

व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र के साथ अलंकारशास्त्र का ही निर्देश युक्ततर प्रतीत होता है। इस श्लोक में दो प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। एक तो वे हैं जो काव्य को जानते हैं सामान्य रूप से (काव्यविदः) और दूसरे वे हैं जो काव्य की समीक्षा के वेत्ता हैं। दोनों में यह सूक्ष्म अन्तर अभीष्ट है। एक तो सामान्य रूप से काव्य को समझते-बूझते हैं और दूसरे काव्य के अन्तरंग को पहचाननेवाले हैं (क्रिया-कल्पविदः)। इस व्याख्या से इस शास्त्र के नाम तथा गुण की गरिमा का पता भली भाँति चलता है।

अतः दण्डी, वात्स्यायन तथा रामायण के साक्ष्य पर यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि हमारे आलोचना-शास्त्र का प्राचीनतम नाम **'क्रियाकल्प'** था और यह सुप्रसिद्ध चतुःषष्टि कलाओं में अन्यतम कला मानी जाती थी।

शास्त्र का प्रारम्भ

भारतीय साहित्य में अलंकारशास्त्र एक महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र है जिसके सिद्धान्त का प्रतिपादन विक्रम के आरम्भकाल से लेकर आज तक—लगभग २००० वर्ष के सुदीर्घ काल में—होता चला आ रहा है। परन्तु इस शास्त्र का आरम्भ किस काल में हुआ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आरम्भ में इस शास्त्र के उदय की चर्चा की है। यह वर्णन किसी भी अलंकार-ग्रन्थ में अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु अब तक अज्ञात होने के कारण इस वर्णन की हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। बहुत संभव है कि राजशेखर किसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे हों जो या तो सर्वथा उच्छिन्न हो गयी है या बहुत ही कम प्रसिद्ध है। राजशेखर के अनुसार काव्यमीमांसा का प्रथम उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा,

विष्णु आदि अपने ६४ शिष्यों को दिया। स्वयंभू ब्रह्मा ने भी अपने मानसजन्मा विद्यार्थियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं में सबसे वन्दनीय सर्व-शास्त्रवेत्ता थे सरस्वती के पुत्र सारस्वतेय काव्यपुरुष। प्रजापति ने प्रजाओं की हितकामना से प्रेरित होकर इन्हीं काव्यपुरुष को काव्य-विद्या की प्रवर्तना के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस विद्या को अठारह अधिकरणों में लिखकर अठारह शिष्यों को अलग-अलग पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु के द्वारा प्रदत्त विद्या के बहुल प्रचार के लिए काव्य के अठारहों अङ्गों पर अठारह ग्रन्थों का निर्माण किया[1]। सहस्राक्ष ने कविरहस्य का, उक्तिगर्भ ने औक्तिक का, सुवर्ण-नाभ ने रीतिनिर्णय का, प्रचेतायन ने अनुप्रास का, चित्राङ्गद ने यमक और चित्र का, शेष ने शब्दश्लेष का, पुलस्त्य ने वास्तव का, औपकायन ने औपम्य का, पाराशर ने अतिशय का, उतथ्य ने अर्थश्लेष का, कुबेर ने उभयालंकारिक का, कामदेव ने विनोद का, भरत ने रूपक-निरूपण का, नन्दिकेश्वर ने रसाधि-कारिक का, धिषण ने दोषाधिकरण का, उपमन्यु ने गुणोपादानिक का तथा कुचमार ने औपनिषदिक का स्वतन्त्र शास्त्रों में वर्णन किया।

इन आचार्यों में कतिपय आचार्य वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में भी वर्णित हैं। सुवर्णनाभ और कुचमार (अथवा कुचुमार) कामशास्त्र में उपजीव्य आचार्यों के रूप में उल्लिखित किये गये हैं (कामसूत्र १।१।१३, १७)। नाट्य-शास्त्र के रचयिता भरत को रूपक का शास्त्रकर्ता मानना उचित ही है। नन्दि-केश्वर का रसविषयक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु कामशास्त्र, संगीत तथा अभिनय के विशेषज्ञ के रूप में उनका उल्लेख मिलता है। उदाहर-णार्थ पंचसायक तथा रतिरहस्य में नन्दीश्वर कामशास्त्र के एक आचार्य माने गये हैं। अभिनय-विषयक इनका ग्रन्थ अभिनय-दर्पण के नाम से प्रसिद्ध है[2]। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य मानते हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर के द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारों का परिचय नहीं मिलता।

१—राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ० १

२—'अभिनय-दर्पण' संस्कृत मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ कलकत्ता संस्कृत सीरीज में (नं० ५, १९३४ ई०) प्रकाशित हुआ है। इसके पहले डा० कुमारस्वामी ने इसका केवल अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेश्चर' के नाम से प्रकाशित किया है।

वेदों में अलंकार

वैदिक साहित्य में अलंकार शास्त्र का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता और न वेद के षडङ्गों में ही अलंकार शास्त्र की गणना है। परन्तु इस शास्त्र के मूलभूत अलंकार—उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि—के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। अलंकारों में उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है। इसका सम्बन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। आर्यों की प्राचीनतम कविता ऋग्वेद में उपनिबद्ध है। बहुत से अलंकारों के उदाहरण ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलते हैं। उषा-विषयक इस ऋचा में चार उपमाएँ एक साथ दी गई हैं—

> **अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनये धनानाम्।**
> **जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥**
> —ऋ० वे० १।१२४।७

अतिशयोक्ति अलंकार का यह उदाहरण देखिये—

> **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परि षस्वजाते।**
> **तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥**
> —ऋ० वे० १।१६४।२०

रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में है—

> **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।**
> **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥**
> —कठोपनिषद् १।३।३

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलंकारों की सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है। यही क्यों ? उपमा शब्द भी ऋग्वेद में (५।३४।९;१।३१।१५) उपलब्ध होता है जिसका सायण ने अर्थ किया है—उपमान या दृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। यह केवल सामान्य निर्देश है।

निरुक्त में 'उपमा'

उपमा के वर्णन तथा विभाजन का निश्चित रूप से विवेचन निघण्टु तथा निरुक्त में मिलता है। भाषा के सामान्य विवेचन के अनन्तर उसे शोभित करने-वाले अलंकारों की ओर लेखकों की दृष्टि जाना स्वाभाविक है। निरुक्त में **अलंकार** शब्द पारिभाषिक अर्थ में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यास्क ने

'अलंकरिष्णु' शब्द का प्रयोग अलंकृत करने के शीलवाले व्यक्ति के अर्थ में अवश्य किया है। यह शब्द इसी अर्थ में शतपथ ब्राह्मण (३।५।१।३६) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८।८।५) में भी उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में वैदिक उपमा के द्योतक बारह निपातों—अव्ययों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा उपमा के लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य थे। उनका उपमा का लक्षण इस प्रकार है[1]—**उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति**—अर्थात् उपमा वहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उपमा वहाँ होती है जहाँ स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ गुण की समानता के कारण सदृश मानी जाय[2]। गार्ग्य का यह भी उल्लेख है कि उपमान को उपमेय की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ तथा अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत भी उदाहरण दिये गये हैं जहाँ हीन गुणवाले उपमान से अधिक गुणवाले उपमेय की तुलना की गई है और इस प्रसंग में ऋग्वेद से उदाहरण भी दिये गये हैं। गार्ग्य के इस उपमा-लक्षण को देखकर किसी भी आलोचक को मम्मट के सुप्रसिद्ध उपमा-लक्षण का स्मरण आये बिना नहीं रहेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार से (६०० ईसा-पूर्व) पूर्व ही उपमा की शास्त्रीय कल्पना हो चुकी थी।

यास्क ने पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है[4]। उपमा के द्योतक निपात इव, यथा, न, चित्, नु और आ हैं। इन वाचक पदों के प्रयोग होने पर यास्क के अनुसार '**कर्मोपमा**' होती है। 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा' (ऋ० वे० १।५०।३) = 'अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है।

भूतोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित स्वयं उपमान बन जाता है। **रूपोपमा** वहाँ होती है जहाँ उपमित उपमान के साथ स्वरूप के विषय में समता

१—अर्थात् उपमा यत् अतत् तद् सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—निरुक्त ३।१३

२—एवं एतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्यात् उपमीयते इत्येव गार्ग्याचार्यो मन्यते। दुर्गाचार्य—निरुक्त की टीका। ३।१३

३—साधर्म्यं उपमा भेदे—काव्यप्रकाश १०।१

४—यास्क—निरुक्त ३।१३।१८

रखता है। **सिद्धोपमा** में उपमान स्वतः सिद्ध रहता है और एक विशेष गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढ़कर रहता है। वत् प्रत्यय के जोड़ने पर यह उपमा निष्पन्न होती है—'ब्राह्मणवत्', 'वृषलवत्'। अन्तिम भेद **अर्थोपमा** है जिसका दूसरा नाम **लुप्तोपमा** है। यह पिछले आलंकारिकों का रूपकालंकार है। इस उपमा के उदाहरण हैं—'सिंहः पुरुषः' तथा 'काकः पुरुषः'। यास्क के अनुसार सिंह तथा व्याघ्र शब्द पूजा के अर्थ में और श्वा तथा काक, निन्दा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस विभाजन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय में अलंकार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

पाणिनि और उपमा

पाणिनि के (५०० ईसा-पूर्व) समय में उपमा की यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी। इसी लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलंकार शास्त्र के पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं[1]। पूर्ण उपमा के चार अंग होते हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक तथा साधारण धर्म। और इन चारों का स्पष्ट निर्देश पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र में किया है। इतना ही नहीं, कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्ययों, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर सादृश्य के कारण जो व्यापक प्रभाव पड़ता है उसका पाणिनि के सूत्रों में स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन इस विषय में पाणिनि के स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने अपने फिट् सूत्रों में (२।१६, ४१८) स्वरविधान पर सादृश्य का जो प्रभाव पड़ता है उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतञ्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की व्याख्या महाभाष्य में (२।१।५५) की है। उनका कहना है कि **मान** वह वस्तु है जो किसी अज्ञात वस्तु के निर्धारण के लिए प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं, प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है; जैसे—'गौरिव गवयः' गाय के समान नीलगाय होती है[2]। काव्यपद्धति से 'गौरिव गवयः' चमत्कारविहीन

१—तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् २।३।७२
उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २।१।५६

२—मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमथ ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति। पाणिनि २।१।५५ पर महाभाष्य।

होने के कारण उपमालंकार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमा-निरूपण महत्त्व रखता है।

व्याकरण का अलंकारशास्त्र पर प्रभाव

अलंकारशास्त्र के उदय का इतिहास जानने के लिए उसपर व्याकरण-शास्त्र के व्यापक प्रभाव को समझ लेना भी आवश्यक है। उपमा का श्रौती तथा आर्थी रूप में विभाजन पाणिनि के सूत्रों पर ही अवलम्बित है। जहाँ यथा, इव, वा आदि पदों के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है वहाँ आर्थी उपमा होती है। पाणिनि के 'तत्र तस्येव' सूत्र के अनुसार 'इव' के अर्थ को द्योतित करने के लिए जब वत् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तब श्रौती उपमा होती है, यथा—'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः' अर्थात् मथुरा के समान पाटलिपुत्र में महल हैं। यहाँ 'मथुरावत्' पद में 'वत्' प्रत्यय सप्तमी विभक्ति से युक्त होने पर जोड़ा गया है। यहाँ 'मथुरावत्' का अर्थ है 'मथुरायामिव'। इसी प्रकार 'चैत्रवत् गोविन्दस्य गावः' इस वाक्य में 'वत्' प्रत्यय षष्ठी विभक्ति से युक्त पद में जोड़ा गया है, चैत्रवत्—चैत्रस्य इव। परन्तु जहाँ क्रिया के साथ सादृश्य का बोध कराना अभीष्ट होता है वहाँ भी 'वति' प्रत्यय जोड़ा जाता है और वहाँ आर्थी उपमा होती है। 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियोऽधीते' इस वाक्य में आर्थी उपमा है और यह 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' सूत्र के अनुसार है। इसी प्रकार समासगा श्रौती उपमा 'इव' पद के प्रयोग करने पर 'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक के अनुसार होती है। इसी तरह कर्म तथा आधार में 'क्यप्' प्रत्यय के प्रयोग होने पर तथा 'क्यङ्' प्रत्यय के विधान करने पर कई प्रकार की लुप्तोपमाएँ उत्पन्न होती हैं। उपमा का यह समग्र विभाजन पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही किया गया है। इस विभाजन को सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने किया था। अतः यह अर्वाचीन आलंकारिकों के प्रयत्न का फल नहीं है, वरन् अलंकारशास्त्र के आदिम युग से सम्बन्ध रखता है।

उपमा के विषय में ही व्याकरण का प्रभाव नहीं लक्षित होता, प्रत्युत 'संकेत' के विषय में भी। संकेत-ग्रह के विषय में भी आलंकारिक वैयाकरणों का ही अनुयायी है[1]। नैयायिक लोग जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत मानते हैं। मीमांसक केवल जाति में ही शब्दों का संकेत मानता है और जाति के द्वारा वह व्यक्ति का आक्षेप स्वीकार करता है। परन्तु आलंकारिक वैयाकरणों के

१—संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

—काव्यप्रकाश २।४

'चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिः' सिद्धान्त का अनुगमन करता है। पतञ्जलि के अनुसार शब्द का संकेत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्द में हुआ करता है और आलंकारिकों का भी यही मत है। इतना ही नहीं, ध्वनि तथा व्यञ्जना के मौलिक सिद्धान्त भी वैयाकरणों के तथ्यों पर ही आश्रित हैं। ध्वनि की कल्पना स्फोट के ऊपर पूर्णतः अवलम्बित है, यह मम्मट ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। वैयाकरण स्फोट को अभिव्यञ्जित करनेवाले केवल शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करता है। परन्तु आलंकारिक ध्वनि के अर्थ को विस्तृत कर व्यंजना में समर्थ शब्द तथा अर्थ, दोनों के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है—

"बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य।"

—काव्यप्रकाश, उद्योग १

भारतीय दार्शनिकों के मतों का खंडन कर आलंकारिकों ने 'व्यञ्जना' नामक जिस नवीन शब्दशक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए अश्रान्त परिश्रम किया है उस व्यापार की उद्भावना वैयाकरणों ने पहिले ही की थी[1]। स्फोट की सिद्धि के लिए व्यञ्जना की कल्पना व्याकरणशास्त्र में की गई है। इसी कल्पना के आधार पर आलंकारिकों ने भी व्यञ्जना का अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया है। अतः आनन्दवर्धन ने व्याकरण को अलंकार का उपजीव्य स्पष्टतः स्वीकार किया है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।"

—ध्वन्यालोक, उद्योत १

इस उपर्युक्त वर्णन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन सिद्धान्तों को आधार मानकर अलंकारशास्त्र विकसित होनेवाला था वे विक्रम से बहुत पूर्व व्याकरण के आचार्यों द्वारा उद्भावित किये गये थे। अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक इतिहास की खोज करते समय उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे यह ज्ञात होता है कि अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ भी उतना ही प्राचीन है, जितना वैयाकरणों के द्वारा इस शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश है।

वाल्मीकि—प्रथम आलोचक

इस प्रसङ्ग में संस्कृत भाषा में निबद्ध प्राचीन काव्यों का अनुशीलन भी अनेक अंश में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि

१—पतञ्जलि—महाभाष्य।

संस्कृत साहित्य के आदिकवि ही नहीं थे प्रत्युत आदिम आलोचक भी थे। कारयित्री प्रतिभा के विलास से कविता होती है और भावयित्री प्रतिभा का परिणाम भावकता होती है। वाल्मीकि में यह दोनों प्रकार की प्रतिभा पूर्ण रूप से विद्यमान थी। व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर जिस ऋषि के मुँह से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक बरबस निकल पड़ता है वह निःसन्देह सच्चा कवि है। जो व्यक्ति इसकी व्याख्या करते समय—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—बालकाण्ड २।४०

लिखकर 'शोक' का 'श्लोक' के साथ समीकरण करता है वह निःसन्देह एक महनीय भावक है, आलोचक है। कविता का मूल स्रोत भावाभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेल्लित होनेवाले भावों को शब्दों के द्वारा प्रकट करनेवाली ललित वस्तु का ही नाम 'कविता' है। जब तक कवि का हृदय भावों के द्वारा पूर्ण होकर उन भावों को अपने श्रोताओं तक पहुँचाने के लिए छलक नहीं उठता; अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द का कमनीय कलेवर जब तक भाव धारण नहीं करता तब तक 'कविता' का जन्म नहीं होता। इसका व्याख्याता एक महनीय आलोचक है। महाकवि कालिदास[1] तथा आनन्दवर्धन[2] ने शोक तथा श्लोक का समीकरण करनेवाले वाल्मीकि को महान् कवि होने के अतिरिक्त महान् आलोचक भी माना है। तथ्य यह है कि संस्कृत कविता के जन्म के साथ ही साथ संस्कृत आलोचना-शास्त्र का भी जन्म हुआ। जिस प्रकार वाल्मीकि-रामायण को उपजीव्य मानकर पिछले महाकवियों ने महाकाव्य लिखने की स्फूर्ति प्राप्त की, उसी प्रकार आलंकारिकों ने भी काव्य-स्वरूप का संकेत इसी आदिम महाकाव्य से ग्रहण किया।

१—तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः; श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥
रघुवंश १४।७०

२—काव्यस्यात्मा स एवार्थः, तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥
ध्वन्यालोक १।८

वाल्मीकि-रामायण के आधार पर प्रवर्तित प्रथम महाकाव्य के रचयिता महर्षि पाणिनि ही हैं। इनका 'जाम्बवतीविजय' नामक महाकाव्य यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं होता तथापि सूक्ति-संग्रहों तथा अलंकार-ग्रन्थों के उल्लेख से उसका सरस तथा चमत्कारपूर्ण होना निःसन्देह सिद्ध होता है। यह महाकाव्य कम से कम १८ सर्गों में लिखा गया था[१]। पतंजलि ने वररुचि के द्वारा निर्मित 'वाररुचं काव्यम्' का उल्लेख अपने भाष्य में किया है। कात्यायन ने अपने वार्तिक में आख्यायिका नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिसकी व्याख्या करते समय पतंजलि ने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का उदाहरणरूप में निर्देश किया है। आजकल उपलब्ध न होने पर भी प्राचीन काल में इनकी सत्ता अवश्य विद्यमान थी। पतंजलि ने अन्य बहुत से श्लोकों को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। बौद्ध कवि अश्वघोष ने दो महाकाव्यों—सौन्दरनन्द और बुद्धचरित की रचना की। कविता का आश्रय लेकर अपने धर्म का संदेश जनता के हृदय तक पहुँचाना ही उनका महनीय उद्देश्य था। इस युग के कवियों में हरिषेण तथा वत्सभट्टि का नामोल्लेख गौरव की वस्तु है। हरिषेण ने ३५० ई० के आस-पास समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य-पद्य-मिश्रित फड़कती भाषा में किया है। यह शिलालेख चम्पूकाव्य-शैली का उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक संवत् (१५० ई०) में निबद्ध रुद्रदामन का गिरनार पर्वत पर उट्टंकित शिलालेख भाषा के सौन्दर्य तथा प्रवाह के कारण गद्य-काव्य का आनन्द देता है। इस शिलालेख में रुद्रदामन को यौधेयों का उत्सादक, महती विद्याओं का पारगामी, स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त तथा उदार एवं अलंकारमंडित गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण बतलाया है—

"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाभिधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन......शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना......स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य...स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या-स्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।"

—रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख।

इस शिलालेख से स्पष्ट है कि द्वितीय शतक में काव्य के गद्य और पद्य—दो भेद स्वीकृत किये गये थे। अलंकार-ग्रन्थों में उल्लिखित बहुत से गुणों की कल्पना की जा चुकी थी। इस लेख में उल्लिखित स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार काव्य

१—बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास (षष्ठ सं०) पृष्ठ १३६।

'काव्यादर्श' में निर्दिष्ट प्रसाद, माधुर्य, कान्ति तथा उदारता नामक गुणों का क्रमशः प्रतिनिधि प्रतीत होता है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस काल के पहले—विक्रम के आविर्भाव के कम से कम तीन सौ वर्ष पहले—आलोचना की शास्त्रीय व्यवस्था हो चुकी थी तथा अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ भी बन चुके थे जो आजकल उपलब्ध नहीं होते। यदि ऐसा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं होता तो काव्य का गद्य-पद्य में विभाजन, महाकाव्य की कल्पना, आख्यायिका का निर्माण और काव्य के विभिन्न गुणों का निर्देश भला कैसे सम्भव था?

नाट्य की प्राचीनता

ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्य का शास्त्रीय निरूपण अलंकार के निरूपण से कहीं प्राचीन है। पाणिनि के समय में ही नटों की शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रों में **शिलालि** तथा **कृशाश्व** के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[1]। पतञ्जलि ने महाभाष्य में **'कंसवध'** तथा **'बलिबंधन'** नामक नाटकों के अभिनय का विस्तृत उल्लेख किया है[2]। भरत का नाट्यशास्त्र तो सुप्रसिद्ध ही है, जिसमें अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध चार अलंकार, दश गुण एवं दश दोषों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया गया है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में पहले नाट्य-ग्रन्थों में वर्णित किया जाता था। सर्वप्रथम भामह को इसे स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में वर्णित करने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने कुछ ऐसे अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जो पहले से ही स्वीकृत थे। **मेधावीरुद्र** नामक आचार्य के नाम का तो इन्होंने स्पष्टतः ही उल्लेख किया है। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका के अनुसार काव्यादर्श की रचना के पूर्व **'काश्यप'** तथा **'वररुचि'** एवं अन्य आचार्यों ने लक्षण ग्रन्थों की रचना की थी। काव्यादर्श की ही एक दूसरी 'श्रुतानुपालिनी' टीका काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी को दण्डी से पूर्ववर्ती अलंकार का आचार्य मानती है। सिंहली भाषा में निबद्ध 'सिय-वस-लकर' नामक अलंकार-ग्रन्थ में भी आचार्य काश्यप का उल्लेख

१—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।
कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः।

२—ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्तीति।

—महाभाष्य भाग २ पृ० ३४, ३६ (कीलहार्न का संस्करण)

मिलता है। काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी दण्डी तथा भामह के पूर्व-वर्ती निःसन्देह प्राचीन आलंकारिक थे परन्तु इनके ग्रन्थों तथा मतों से हम आज नितान्त अपरिचित हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (विक्रमपूर्व ३००) में राज्यशासनवाले प्रकरण में अर्थक्रम, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणों का उल्लेख किया गया है[१]। कौटिल्य ने राजकीय शासनों (राजाज्ञा) को इन उपर्युक्त गुणों से युक्त होना लिखा है। ये अलंकार-ग्रन्थों में वर्णित काव्यगुणों के निश्चित प्रकार हैं। इन सब उल्लेखों से यही तात्पर्य निकलता है कि अलंकारशास्त्र का उदय भरत से बहुत पहले हो चुका था। भामह तथा दण्डी में जो अलकारशास्त्र की सामग्री उपलब्ध होती है वह कालक्रम से भरत से अर्वाचीन भले ही हो, परन्तु सिद्धान्त-दृष्टि से भरत से अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ विक्रम संवत् से अनेक शताब्दी पूर्व हुआ, इस सिद्धान्त के मानने में विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती।

सर्वांग सम्पूर्ण काव्य का विचार प्रथम नाटक के रूप में था और इसलिए प्रथमतः अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत आता था। पर साहित्य की उन्नति होने पर, काव्य नाटक के अन्तर्हित नहीं रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमें नाटक का अन्तर्भाव होने लगा। इसलिए संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास सुविधा के लिए तीन अवस्थाओं में अध्ययन किया जा सकता है। पहिली तो वह अवस्था है जब अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था। दूसरी वह जब दोनों पर स्वतन्त्र विचार होता था और तीसरी वह अवस्था जब नाट्यशास्त्र अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहिली अवस्था में वैसे ही साधारण विचार थे जैसा प्रारम्भ में एक नयी विद्या के लिए हो सकते हैं। तीसरी अवस्था में विचार-गाम्भीर्य आ गया और प्रायः साहित्यशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया।

अब कालक्रम के अनुसार इस शास्त्र के प्रधान आचार्यों का ऐतिहासिक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—कौटिल्य—अर्थशास्त्राधिकरण।

१—भरत

भरत का नाट्यशास्त्र दो-तीन स्थानों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम संस्करण काव्यमाला, बम्बई से सन् १८९४ ई० में प्रथमतः प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण काशी संस्कृत सीरीज काशी से सन् १९३५ ई० में निकला है। यह संस्करण काव्यमाला वाले संस्करण की अपेक्षा कहीं अधिक विशुद्ध तथा विश्वसनीय है। अभिनवभारती के साथ यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० ३६, नं० ६८) बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। यह सटीक संस्करण तीन खण्डों में प्रकाशित होने पर अभी तक अधूरा ही है। संगीत वाले अध्यायों की व्याख्या प्रकाशित होने पर ही यह समग्र तथा पूर्ण हो सकेगा। अभिनवभारती की केवल एक ही प्रति उपलब्ध हुई है और वह इतनी अशुद्ध और अधूरी है कि उसे ठीक-ठीक समझना दुरूह व्यापार है।

यह समस्त ग्रन्थ ३६ अध्यायों में विभक्त है और लगभग ५ पाँच हजार श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों में ही निबद्ध हैं। कहीं-कहीं विशेषतः अध्याय ६, ७ तथा २७ में कुछ गद्य अंश भी हैं। कहीं-कहीं आर्या छन्द भी मिलता है। छठे अध्याय में रस-निरूपण के अवसर पर कतिपय सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान (भाष्य) भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने अपनी कारिकाओं की पुष्टि में **अनुवंश्य** श्लोकों को उद्धृत किया है[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य-परम्परा से आनेवाले श्लोक 'अनुवंश्य' कहे जाते हैं[2]। इनकी रचना भरत से भी किसी प्राचीन काल में की गई थी। प्रमाणभूत होने के कारण ही भरत ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में इनका उद्धरण किया है। वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी एक समय की अथवा किसी एक लेखक की रचना नहीं है। इस ग्रन्थ के गाढ़ अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निर्माण अनेक लेखकों द्वारा अनेक शताब्दियों के दीर्घ व्यापार का परिणत फल है। आजकल नाट्यशास्त्र का जो रूप दिखाई पड़ता है वह अनेक शताब्दियों में क्रमशः विकसित हुआ है। नाट्यशास्त्र में तीन स्तर दीख पड़ते हैं—(१) सूत्र,

---

१. भरत का नाट्यशास्त्र पृ० ७४-७६।

२. ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।

—अभिनवभारती अध्याय ६

(२) भाष्य, (३) श्लोक या कारिका। इन तीनों के उदाहरण हमें इसमें देखने को मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूलग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसका रूप ६ठे और ७वें अध्याय में आज भी देखने को मिलता है। तदनन्तर भाष्य की रचना हुई जिसमें भरत के सूत्रों का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया है। तीसरा तथा अन्तिम स्तर कारिकाओं का है जिनमें नाटकीय विषयों का बड़ा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

विषय-विवेचन

नाट्यशास्त्र के अध्यायों की संख्या में भी अन्तर मिलता है। उत्तरी भारत के पाठ्यानुसार उसमें ३७ अध्याय हैं, परन्तु दक्षिण भारतीय तथा प्राचीनतर पाठ्यानुसार उसमें ३६ अध्याय ही हैं और यही मत ही उचित प्रतीत होता है। अभिनव ने भरतसूत्र को संख्या में ३६ बतलाया है[1]—यहाँ सूत्र से अभिप्राय भरत के अध्यायों से ही प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र में उतने ही अध्याय हैं जितने शैवमतानुसार विश्व में तत्त्व होते हैं। काव्यमाला संस्करण में ३७ अध्याय हैं, काशी संस्करण में ३६ और अभिनवगुप्त की मान्यता पर ३६ अध्यायों में ग्रन्थ का विभाजन प्राचीनतर तथा युक्ततर है।

नाट्यशास्त्र का विषय-विवेचन बड़ा ही विपुल तथा व्यापक है। नाम के अनुसार इसका मुख्य विषय है नाट्य का विस्तृत विवेचन, परन्तु साथ ही साथ छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रों का भी प्रथम विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। इसी लिए प्राचीन ललितकलाओं का इसे विश्वकोश मानना ही न्याय्य है। इसके अध्यायों का विषय-क्रम इस प्रकार है—(१) अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति, (२) अध्याय में नाट्यशाला (प्रेक्षागृह), (३) अ० में रंगदेवता का पूजन, (४) अ० में ताण्डव सम्बन्धी १०८ करणों का तथा ३२ अंगहारों का वर्णन, (५) अ० में पूर्वरंग का विस्तृत विधान, (६) अ० में रस तथा (७) अ० में भावों का व्यापक विवरण। अष्टम अध्याय से अभिनय का विस्तृत वर्णन आरम्भ होता है—(८) अध्याय में उपांगों द्वारा अभिनय का वर्णन, (९) अ० में हस्ताभिनय, (१०) अ० में शरीराभिनय, (११) अ० में चारी (भौम तथा आकाश) का विधान, (१२) अ० में

१—षट्त्रिंशकात्मक जगत् गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बितविश्वशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं तदर्थविवेकि धाम।
—अभिनवभारती पृ० १, श्लोक २

मण्डल (आकाशगामी तथा भौम) का विधान, (१३) अ० में रसानुकूल गति-प्रचार, (१४) अ० में प्रवृत्तधर्म की व्यञ्जना, (१५) अ० में छन्दोविभाग, (१६) अ० में वृत्तों का सोदाहरण लक्षण, (१७) अ० में वागभिनय जिसमें लक्षण, अलंकार, काव्यदोष तथा काव्यगुण का वर्णन है (अलंकारशास्त्र), (१८) अ० में भाषाओं का भेद तथा अभिनय में प्रयोग, (१९) अ० में काकुस्वर व्यञ्जना, (२०) अ० में दशरूपकों का लक्षण, (२१) अ० में नाटकीय पंचसन्धियों तथा सन्ध्यंगों का विधान, (२२) अ० में चतुर्विध वृत्तियों का विधान, (२३) अ० में आहार्य अभिनय, (२४) अ० में सामान्य अभिनय, (२५) अ० में बाह्य उपचार, (२६) अ० में चित्राभिनय, (२७) अ० में सिद्धि व्यञ्जन का निर्देश। अठाईसवें अध्याय से **संगीतशास्त्र का** वर्णन (२८ अ० से ३३ अ० तक) हुआ है—(२८) अ० में आतोद्य, (२९) अ० में ततातोद्य, (३०) अ० में सुषिरातोद्य का विधान वर्णित है। (३१) अ० में ताल, (३२) अ० में ध्रुवाविधान, (३३) अ० में वाद्य का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम तीन अध्यायों में विविध विषयों का वर्णन है—(३४) अ० में प्रकृति (पात्र) का विचार, (३५) अ० में भूमिका की रचना तथा (३६) अ० में नाट्य के भूतल पर अवतरण का विवरण है। यही है संक्षिप्त विषय-क्रम।

नाट्यशास्त्र का विकास

भरत का मूल सूत्रग्रन्थ किस प्रकार वर्तमान कारिका के रूप में विकसित हुआ ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना अभी तक सम्भव नहीं है। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय से प्रतीत होता है कि **कोहल** नामक किसी आचार्य का हाथ इस ग्रन्थ के विकास के मूल में अवश्य है। भरत ने स्वयं भविष्यवाणी की है कि—'शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति'। इससे कोहल को इस ग्रन्थ को विस्तृत तथा परिवर्धित करने का श्रेय प्राप्त है। **'कोहल'** नाम के आचार्य का, नाट्याचार्य के रूप में, परिचय हमें अनेक अलंकारग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दामोदर गुप्त ने कुट्टिनीमत (श्लोक ८१) में भरत के साथ कोहल का भी नाम नाट्य के प्राचीन आचार्य के रूप में निर्दिष्ट किया है। शार्ङ्गदेव कोहल को अपना उपजीव्य मानते हैं (संगीत रत्नाकर ११५)। हेमचन्द्र ने नाटक के विभिन्न प्रकारों के विभाजन के अवसर पर भरत के साथ कोहल का भी उल्लेख किया है[1]। शिंगभूपाल ने भी रसार्णवसुधाकर में

१—प्रपञ्चस्तु भरत कोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः।
हेमचन्द्र—काव्यानुशासन पृ० ३२५, ३२९

भरत, शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंग के साथ कोहल को भी मान्य नाट्यकर्ता के रूप में निर्दिष्ट किया है—(विलास १, श्लोक ५०–५२)। कोहल के नाम से एक 'तालशास्त्र' नामक संगीत ग्रन्थ का भी वर्णन मिलता है। कोहल के साथ दत्तिल नामक आचार्य का नाम भी संगीत के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'दत्तिलकोहलीय' नामक संगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसमें कोहल तथा दत्तिल के संगीत-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने भरत के एक पद्य (६।१०) की टीका लिखते समय लिखा है कि यद्यपि नाट्य के पाँच ही अंग होते हैं तथापि कोहल और अन्य आचार्यों के मत के अनुसार एकादश अंगों का वर्णन मूल ग्रन्थ में यहाँ किया गया है[1]। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के विस्तृतीकरण में आचार्य कोहल का विशेष हाथ है। कोहल के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में शाण्डिल्य, वत्स तथा धूर्तिल नामक नाट्य के आचार्यों के नाम भी उल्लिखित हैं[2]। इनके मत का भी समावेश वर्तमान नाट्यशास्त्र में किया प्रतीत होता है। 'आदिभरत' तथा 'वृद्धभरत' के नाम भी इस प्रसंग में यत्र-तत्र लिये जाते हैं। परन्तु वर्तमान जानकारी की दशा में भरत के मूल ग्रन्थ का विकास वर्तमान रूप में किस प्रकार सम्पन्न हुआ, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता।

'भावप्रकाशन' के अनुशीलन से पता चलता है कि शारदातनय की सम्मति में नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों में निबद्ध था, परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्र विषय की सुगमता के लिए उसका आधा ही भाग है अर्थात् वह छः हजार श्लोकों में ही निबद्ध है[3]। इनमें से पूर्व नाट्यशास्त्र के रचयिता को शारदातनय 'वृद्धभरत' के नाम से तथा वर्तमान नाट्यशास्त्र के कर्ता को केवल 'भरत' के नाम से पुकारते हैं[4]। धनञ्जय[5]

१—अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पंचांगं नाट्यम्‌········अनेन तु श्लोकेन कोहलादिमतेन एकादशांगत्वमुच्यते।

अभिनवभारती ६।१०

२—नाट्यशास्त्र—३७।२४

३—एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः॥
—भावप्रकाशन पृ० २८७

४—भावप्रकाशन पृ० ३६।

५—दशरूपकालोक ४।२।

तथा अभिनवगुप्त[1] दोनों ग्रन्थकार भरत को 'षट्साहस्रीकार' के नाम से उल्लिखित करते हैं। अभिनवगुप्त ने भी नाट्यशास्त्र के विषय में बड़ी जानकारी की बात लिखी है। उनका कहना है कि जो आलोचक इस ग्रन्थ को सदाशिव, ब्रह्म तथा भरत, इन तीनों आचार्यों के मतों का संक्षेप मानते हैं वे नास्तिक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल भरत के ही मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है[2]। परन्तु उनकी सम्मति में भी इस नाट्यशास्त्र में प्राचीन काल की भी उपादेय सामग्री संगृहीत की गई है। भरत ने अपने मत की पुष्टि में जिन अनुवंश्य श्लोकों या आर्याओं का उद्धरण अपने ग्रन्थ में, विशेषतः षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में, दिया है वे भरत से प्राचीनतर हैं और पुष्टि तथा प्रामाण्य के लिए ही यहाँ निर्दिष्ट की गई हैं।

काल

भरत के आविर्भाव-काल का निर्णय भी एक विषम समस्या है। महाकवि भवभूति ने भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' कहा है[3] जिससे भरत के ग्रन्थ का सूत्रात्मक रूप सिद्ध होता है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि दशरूपक (दशम शतक) वर्तमान नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका **अभिनवभारती** की रचना ११वीं शताब्दी के अन्तिम काल में की। भरत का सबसे प्राचीन निर्देश कालिदास महाकवि की विक्रमोर्वशीय में उपलब्ध होता है। कालिदास का कथन है कि भरत देवताओं के नाट्याचार्य थे तथा नाटक का मुख्य उद्देश्य आठ रसों का विकास करना था तथा नाटक के प्रयोग में अप्सराओं ने भरत को पर्याप्त सहायता दी थी—

> **मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।**
> **ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥**
>
> **विक्रमोर्वशीय अंक २, श्लोक १८**

कालिदास के द्वारा उल्लिखित नाट्य की यह विशेषता वर्तमान नाट्यशास्त्र में निःसन्देह उपलब्ध होती है। रघुवंश[4] में भी कालिदास ने नाट्य को 'अंगसत्त्ववचनाश्रयम्' कहा है जो मल्लिनाथ की टीका के अनुसार भरत की इस कारिका से समानता रखता है—

१—**अभिनवभारती पृ० ८, २४ (प्रथम भाग)।**

२—**अभिनवभारती पृ० ८।**

३—**उत्तर रामचरित ४।२२।**

४—**रघुवंश १९।३६।**

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः ।

नाट्यशास्त्र ।

इससे स्पष्ट है कि कालिदास भरत के वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' से पूर्ण परिचित थे। अतः नाट्यशास्त्र का समय कालिदास से अर्वाचीन कथमपि नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र के निर्माण की यह पश्चिम अवधि है। इसकी पूर्व अवधि का पता अब तक नहीं लगता। वर्तमान नाट्यशास्त्र में शक, यवन, पल्लव तथा अन्य वैदेशिक जातियों का वर्णन है जिन्होंने भारतवर्ष के ऊपर ई० सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास आक्रमण किया था। वर्तमान नाट्यशास्त्र का यही समय है। मूल सूत्रग्रन्थों की रचना सम्भवतः ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुई, क्योंकि संस्कृत के इतिहास में 'सूत्रकाल' यही है जब सूत्ररूप में शास्त्रीय ग्रन्थों के रचने की परिपाटी सर्वत्र प्रचलित थी। इतना तो निश्चित है कि कारिकाग्रन्थ मूल सूत्रग्रन्थ के बहुत ही पीछे लिखा गया था, क्योंकि इसमें भरत नाट्यवेद के व्याख्याता एक प्राचीन ऋषि रूप में उल्लिखित किये गये हैं[1]। इस प्रकार भरतनाट्यशास्त्र का रचना-काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है।

भरत के टीकाकार

भरत का ग्रन्थ विपुल व्याख्यासम्पत्ति से मण्डित है। अभिनवगुप्त तथा शार्ङ्गदेव के द्वारा उल्लिखित काल्पनिक तथा वास्तविक टीकाकारों के नाम नीचे दिये जाते हैं—(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शंकुक, (४) भट्ट-नायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर, (९) मातृगुप्ताचार्य।

(१) उद्भट—इनका नाम अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (६।१०) में दिया है। शार्ङ्गदेव ने भी इनको भरत का टीकाकार बतलाया है[2]। परन्तु इनकी टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

(२) लोल्लट—ये भरत के निश्चित रूप से टीकाकार थे। इनका परिचय

१—भरत के काल-निर्णय के लिये विशेष विवरण के लिये देखिये—

डा० डे, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, भाग १ पृ० ३२-३६।

डा० काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ८-१३।

२—व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।

भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥

—संगीतरत्नाकर

केवल अभिनवगुप्त के उल्लेखों से ही नहीं मिलता, प्रत्युत मम्मट (काव्यप्रकाश ४।५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ६७, टीका पृष्ठ २१५), मल्लिनाथ (तरला पृ० ८५, ८८) और गोविन्दठक्कुर (काव्यप्रदीप ४।५) के निर्देशों से भी प्राप्त होता है। लोल्लट के कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र तथा राजशेखर ने 'आपराजिति' के नाम से उल्लिखित किया है। इससे इनके पिता का नाम 'अपराजित' होना सिद्ध होता है[1]। अभिनवगुप्त ने काश्मीरी उद्भट के मत का खण्डन करने के लिए लोल्लट का उल्लेख किया है, जिससे इनका उद्भट के बाद होना सिद्ध होता है। नाम की विशिष्टता से स्पष्ट है कि लोल्लट काश्मीर के ही निवासी थे।

(३) **शंकुक**—अभिनवगुप्त ने शंकुक को भट्टलोल्लट के मत के खण्डन-कर्ता के रूप में चित्रित किया है। कल्हण पण्डित ने राजतरंगिणी में किसी शंकुक कवि तथा उनके काव्य 'भुवनाभ्युदय' का नामोल्लेख किया है[2]। यह निर्देश काश्मीर-नरेश अजितपीड़ के समय का है जिनका काल ८१३ ई० के आसपास है। यदि हमारे आलंकारिक शंकुक कवि शंकुक के साथ अभिन्न व्यक्ति माने जायँ, तो उनका समय नवम शताब्दी का आरम्भकाल (८२० ई०) माना जा सकता है।

(४) **भट्टनायक**—इन्होंने शंकुक के अनन्तर नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, क्योंकि ये अभिनवभारती में शंकुक के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए दिखलाये गये हैं। इनके कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र, महिमभट्ट, माणिक्यचन्द्र आदि ग्रन्थकारों ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है। ये श्लोक इनके 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं। यह भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या से नितान्त पृथक् ग्रन्थ प्रतीत होता है जो अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया था और ध्वनि का मार्मिक खण्डन होने के कारण 'ध्वनि-ध्वंस के नाम से विख्यात था। भट्टनायक आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' से पूर्णतः परिचित थे। अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम इनका उल्लेख किया है। अतः इनका आविर्भावकाल आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्ययुग में हुआ था। अतः इनका नवम के अन्त तथा दशम शतक के आरम्भकाल में आविर्भूत होना सिद्ध है। कल्हण ने काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के पुत्र तथा

१–द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५३।

२–कविर्बुधमनाः सिन्धुशशांकः शंकुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥
—राजतरंगिणी ४।७०५

उत्तराधिकारी शंकरवर्मा के समय के किसी भट्टनायक नामक विद्वान् का राजतरंगिणी में उल्लेख किया है[1]। बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों[2]।

(५) **राहुल**—अभिनवगुप्त ने इनके मत का उल्लेख अनेक स्थलों पर अपनी अभिनवभारती में किया है। अभिनवभारती के प्रथम खण्ड में दो स्थानों पर इनका प्रामाण्य उद्धृत हुआ है। पृ० ११५ (अ० ४।९८) पर राहुलकृत 'रेचित' शब्द की व्याख्या उद्धृत की गई है तथा पृ० १७२ (अ० ४।२६७) पर राहुल के नाम से यह पद्य निर्दिष्ट किया गया है—

> परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः।
> सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्॥

(६) **भट्टयन्त्र** तथा (७) **कीर्तिधराचार्य** के नाट्यविषयक मत का उल्लेख अभिनवभारती में पृ० २०८ पर एक बार किया गया है। प्रतीत होता है कि ये प्राचीन नाट्याचार्य थे। भरत के टीकाकार होने की बात सन्देह-हीन नहीं है।

(८) **वार्तिक**—अभिनवभारती के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त से पहिले नाट्यशास्त्र पर 'वार्तिक ग्रन्थ' की रचना हो चुकी थी जिसका उल्लेख उन्होंने नाट्य तथा नृत्य के पार्थक्य दिखलाने के अवसर पर किया है (पृ० १७२, १७४)। इस वार्तिक के रचयिता कोई हर्ष थे। अतः उनके नाम पर यह ग्रन्थ 'हर्षवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध था। यह ग्रन्थ अधिकतर आर्या छन्द में निबद्ध था; परन्तु कहीं-कहीं गद्यात्मक अंश भी इसमें विद्यमान थे[3]।

(८) **अभिनवगुप्त**—इनकी सुप्रसिद्ध टीका का नाम 'अभिनवभारती' है। भरत की यही एकमात्र टीका है जो सम्पूर्णतया उपलब्ध होती है। पूर्व टीकाकारों का नाम तथा सिद्धान्तों का परिचय केवल इसी टीका से हमें मिलता है। इस टीका के प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर टीकाकार की विद्वत्ता की छाप पड़ी हुई है। भरत के रहस्यों का उद्घाटन इस टीका की सहायता के बिना कथमपि नहीं हो सकता। भरत का नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन होने के कारण दुरूह बन गया था, परन्तु अभिनवगुप्त ने ही अपनी गम्भीर टीका लिखकर इसे सुबोध

१—राजतरंगिणी ५।१५९।

२—इनका विशेष वर्णन आगे दिया जायगा।

३—द्रष्टव्य अभिनवभारती (प्रथम खण्ड) पृ० २०७।

तथा सरल बनाया। इनके देश तथा काल का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(९) मातृगुप्ताचार्य—अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने मातृगुप्त के नाम से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। ये श्लोक नाटक के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या में उद्धृत किये हैं। विशेषतः सूत्रधार (पृ० ५), नान्दी (पृ० ४), नाटक-लक्षण (पृ० ९) और यवनी (पृ० २७) के लक्षण के अवसर पर इनके पद्य दिये गये हैं। राघवभट्ट ने अपनी टीका में एक स्थान (पृ० १५) पर भरत के आरम्भ तथा बीच के विषय वाले पद्यों को उद्धृत किया है और यह लिखा है कि मातृगुप्ताचार्य ने इसका विशेष वर्णन किया है—

अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्य्यैरुक्तः—
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।
....॥

सुन्दर मिश्र ने अपने नाट्यप्रदीप (रचनाकाल १६१३ ई०) में भरत के ग्रन्थ से (नाट्यशास्त्र ५।२५, ५।२८) नान्दी का लक्षण उद्धृत किया है और मातृगुप्ताचार्य के उस पद्य की व्याख्या की ओर संकेत किया है—

"अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्य्यैः षोडशांघ्रिपदापीयम् उदाहृता।"

सुन्दर मिश्र के इस उल्लेख से मातृगुप्त भरत के व्याख्याता प्रतीत होते हैं परन्तु राघवभट्ट के निर्देश से यह जान पड़ता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र के विषय में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। राजतरंगिणी में हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा काश्मीर के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किये जानेवाले कवि मातृगुप्त का वर्णन मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मातृगुप्ताचार्य कवि मातृगुप्त से अभिन्न व्यक्ति थे या भिन्न[१]।

२—मेधाविरुद्र

मेधाविरुद्र नामक ग्रन्थकार का उल्लेख भामह, नमिसाधु तथा राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में किया है। राजशेखर के अनुसार मेधाविरुद्र कवि थे और जन्म से ही अन्धे थे। इनके नाम का उल्लेख राजशेखर ने प्रतिभा के प्रभाव-निरूपण के प्रसंग में किया है। प्रतिभावाले कवि को कोई भी विषय न दिखाई

१—विशेष वर्णन के लिये देखिये—

बलदेव उपाध्याय—१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० १००-०१।

२. संस्कृत-कवि-चर्चा, पृ० १३८-१४३।

देने पर भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रतीत होता है, जैसे मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध सुने जाते हैं[१]। नमिसाधु ने मेधाविरुद्र को अलंकार ग्रन्थ का रचयिता माना है[२]। विचारणीय प्रश्न है कि मेधाविरुद्र एक नाम है अथवा मेधावी और रुद्र दो नाम हैं। भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ में मेधावी नामक आचार्य के नाम का उल्लेख दो बार किया है[३]। अतः मेधावी भामह से प्राचीनतर आचार्य निःसन्देह हैं। परन्तु मेधावी और मेधाविरुद्र एक ही व्यक्ति हैं; इसका यथार्थतः निर्णय नहीं किया जा सकता।

मेधावी के सिद्धान्त

(१) भामह के अनुसार मेधावी ने उपमा के सात दोषों का वर्णन किया है[४]—हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, उपमानासादृश्य। इन्हीं उपमा-दोषों का निर्देश करते हुए नमिसाधु ने मेधावी का नाम अपनी रुद्रट की टीका में उल्लिखित किया है[५]। इन दोनों निर्देशों से स्पष्ट है कि उपमा के दोषों का प्रथम निर्देश करने का श्रेय मेधावी को ही प्राप्त है। इन दोषों का उल्लेख वामन ने काव्यालंकार में तथा मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में किया है। वामन ने ऊपर निर्दिष्ट विपर्यय दोष को हीनता और अधिकता के भीतर ही सम्मिलित कर दिया है। अतः उनकी दृष्टि में उपमा-

---

१—प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोपि प्रत्यक्ष इव, यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।—काव्यमीमांसा पृ० ११-१२

२—ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलंकारशास्त्राणि।
रुद्रट—काव्यालंकार की टीका १।२

३—भामह—काव्यालंकार २।४०; २।८८।

४—हीनताऽसंभवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥
भामह—काव्यालंकार २।३९, ४०

५—अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः······तदेतन्निरस्तम्॥
रुद्रट—काव्यालंकार की टीका ११।२४

दोष छः ही प्रकार के होते हैं[1]। मम्मट ने भी इस विषय में वामन का ही पदानुसरण किया है।

(२) भामह ने अपने ग्रन्थ में (२।८८) मेधावी का उल्लेख इस प्रकार किया है—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिताक्क चित्॥

इस श्लोक का यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तरार्ध का यह तात्पर्य है कि मेधावी उत्प्रेक्षा अलंकार को संख्यान नाम से पुकारते हैं। परन्तु दण्डी के कथनानुसार कुछ आचार्य 'यथासंख्य' अलंकार को 'संख्यान' नाम से पुकारते हैं[2]। दण्डी के इस कथन के अनुसार मेधावी ही यथासंख्य अलंकार को **संख्यान** के नाम से उल्लिखित करनेवाले आचार्य प्रतीत होते हैं। यदि यह बात सत्य हो तो उपर्युक्त पाठ के स्थान पर होना चाहिये—

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।

(३) नमिसाधु के अनुसार मेधाविरुद्र ने शब्द के चार ही प्रकार माने हैं यथा—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्होंने कर्मप्रवचनीय को नहीं माना है[3]।

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मेधाविरुद्र भामहपूर्व-युग के एक महनीय आचार्य थे। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु मतों का परिचय ही उपर्युक्त आलंकारिकों के निर्देश से मिलता है।

३—भामह

आचार्य भामह भारतीय अलंकार-शास्त्र के आद्य आचार्य माने जाते हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में अलंकार शास्त्र के तत्त्वों का विवेचन गौण रूप से किया गया है, प्रधान रूप से नहीं। भरत के अनुसार अभिनय चार प्रकार के होते हैं जिनमें वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में भरत ने अलंकार-शास्त्र का सन्निवेश

१—अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति।
वामन—काव्यालंकारसूत्र ४।२।११ की वृत्ति।

२—यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। काव्यादर्श—२।२७३।

३—एत एव चत्वारः शब्दविधाः इति येषां सम्यङ् मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः॥ रुद्रट की टीका २।२ पृ० ९ देखिये।

किया है। भामह का ग्रन्थ ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमें अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। निश्चय रूप से हम नहीं कह सकते कि भामह किस देश के निवासी थे तथा किस काल को उन्होंने अपने आविर्भाव से विभूषित किया था। अनेक अनुमानों के आधार पर उनके देश और काल का निर्णय किया जा सकता है। काश्मीर के आलंकारिकों के ग्रन्थों में ही इनके नाम तथा मत का प्रथम समुल्लेख इन्हें काश्मीरी सिद्ध करता है। काश्मीर के ही मान्य विद्वान् भट्ट उद्भट ने इनके 'काव्यालंकार' के ऊपर 'भामह-विवरण' नामक एक अपूर्व व्याख्या ग्रन्थ लिखा था जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो इससे भामह के ही सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता प्रत्युत अलंकार-शास्त्र के आरम्भिक युग की अनेक समस्याओं का भी अनायास समाधान हो जाता। काश्मीरी पण्डितों का भी प्रवाद है—भामह ने काश्मीर देश को ही अपने जन्म से अलंकृत किया था।

जीवनी

भामह के पिता का नाम 'रक्रिलगोमी' था[1]। यह नाम कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है। कतिपय आलोचक सोमिल, राहुल, पोत्तिल आदि बौद्ध नामों की समता से रक्रिल को भी बौद्ध मानते हैं। चान्द्र व्याकरण के अनुसार पूज्य अर्थ में 'गोमिन्' शब्द का निपात (गोमिन् पूज्ये) होता है। चान्द्र व्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमी स्वयं बौद्ध थे। इस प्रकार रक्रिल तथा गोमी, इन दोनों पदों के सान्निध्य से यही प्रतीत होता है कि भामह के पिता बौद्ध ही थे। इस सिद्धान्त के दृढ़ीकरण में भामह के ग्रन्थ का मंगलाचरण भी सहायता करता है[2]। भामह ने अपने मंगलश्लोक में सार्व सर्वज्ञ को प्रणाम किया है। अमरकोश के प्रमाण से—सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो मारजित् लोकजिज्जिनः—सर्वज्ञ शब्द भगवान् बुद्ध का ही दूसरा नाम है। सार्व शब्द भी 'सर्वेभ्यो

१—अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन, प्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥
—भामहालंकार ६।६४

२—प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥
—काव्या० १।१

हितम्' इस अर्थ में सर्व शब्द से 'ण' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। अतएव वह शब्द भी परोपकारियों में अग्रगण्य बुद्धदेव का ही सूचक सिद्ध होता है। अतएव सर्वज्ञ की स्तुति करनेवाले रक्रिलगोमी के पुत्र भामह को बौद्ध मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

कतिपय आलोचकों का यह उपर्युक्त सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। अमर ने 'सर्वज्ञ' शब्द को बुद्ध का पर्यायवाची अवश्य माना है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्ववेत्ता भगवान् शंकर के लिये इस शब्द का अभिधान हो ही नहीं सकता। शंकर का नाम भी सर्वज्ञ है, इसे अमर सिंह ने स्वयं ही लिखा है[1]। बौद्ध व्याकरण के अनुसार गोमिन् भले ही सिद्ध हो परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि वह बौद्धों के लिये ही पूजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था? 'काव्यालंकार' में भामह ने बुद्ध के जीवन की किसी भी घटना का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत, रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा के प्रख्यात आख्यान, उनके नायकों के नाम तथा काम का स्फुट वर्णन स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया गया है। अतः इससे हम इसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि भामह बौद्ध न होकर वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे।

समय

एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद था। कुछ आलोचक दण्डी को ही भामह से पूर्ववर्ती मानते थे। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से भामह ही दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने (अष्टम शतक) अपने 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ में भामह के मत का निर्देश करते हुए इनके ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका अष्टम शतक से पूर्ववर्ती होना ध्रुव सत्य है। आनन्दवर्धन ने भामह के एक श्लोक[2] को बाणभट्ट के एक वाक्य[3] से प्राचीनतर बतलाया है। आनन्द की सम्मति में बाणभट्ट का वाक्य भामह के पश्चानुयायी होने पर भी ध्वनि की सत्ता के कारण ही नवीन प्रतीत होता है। अतः

१—कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिः नीललोहितः।
—अमरकोश।

२—शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥
—काव्या० ३।२८

३—धरणीधारणाय अधुना त्वं शेषः।
—हर्षचरित। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक उद्योत ४

आनन्द की सम्मति में भामह बाणभट्ट से (६२५ ई०) प्राचीन थे।

भामह ने अपने ग्रन्थ के पंचम परिच्छेद में न्याय-निर्णय के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों से अपना गाढ़ परिचय दिखलाया है। इस अवसर पर इन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण दिया है वह आचार्य दिङ्नाग के ही मत से साम्य रखता है परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्ति के मत से भिन्न है[1]। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण है—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**—अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता है। और 'कल्पना' कहते हैं किसी वस्तु के विषय में नाम तथा जाति आदि की कल्पना को। इस लक्षण में धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद जोड़कर इसे भ्रान्तिरहित बनाने का उद्योग किया है। भामह धर्मकीर्ति के इस लक्षण-सुधार से परिचित नहीं हैं। प्रतिज्ञा-दोष के भेद और दृष्टान्त दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' से साम्य रखते हैं। अतः भामह का समय दिङ्नाग के (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२० ई०) से पूर्व मानना चाहिये। अतः इनका समय षष्ठ शतक का मध्यकाल है।

ग्रन्थ

यह कहना नितान्त असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि हमारे ग्रन्थकार ने प्रसिद्ध काव्यालंकार को छोड़कर और कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भामह का नाम बहुत से ऐसे वाक्यों के साथ लिया जाता है जो काव्यालंकार में नहीं मिलते। राघवभट्ट ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका 'अर्थद्योतनिका' में दो बार भामह के नाम से ऐसे वाक्यों को दिया है जो काव्यालंकार में कहीं नहीं मिलते। एक वाक्य तो किसी छन्दःशास्त्र[2] से लिया गया है और दूसरा अलंकार-शास्त्र से[3]। दूसरा वाक्य, आश्चर्य है कि, कुछ परिवर्तन के साथ उद्भट के काव्यालंकार में मिलता है और उसका उदाहरण काव्यप्रकाश में मिलता है। कुछ श्लोक नारायण भट्ट ने 'वृत्त रत्नाकर' पर

१—काव्या० ५।६।

२—क्षेमं सर्वं गुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः।

इति भामहोक्तेः।

—अभिज्ञान-शाकुन्तल टीका पृ० ४ (नि० सा०)।

३—तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते। वाच्य-वाचक शक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना इति। उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं 'यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवास-प्रीतिरुज्झिता। मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः' इति पृ० १०।

अपनी टीका में भामह के नाम से कहे हैं। यह शायद किसी छन्दःशास्त्र[1] से लिया गया है।

इन वाक्यों के सिवा जो हमें भामह के नाम से सुनाई देते हैं और जो शायद ऐसे ग्रन्थों से लिये गये हैं जो अब लुप्त हो गये हैं, हम लोगों को भामहभट्ट के नाम से उस प्राकृत प्रकाश की प्रसिद्ध टीका मिलती है जिसके द्वारा वररुचि ने सूत्र रूप में प्राकृत का व्याकरण लिखा है। यह 'प्राकृत-मनोरमा' कहलाती है और बची हुई टीकाओं में सबसे प्राचीन समझी जाती है।

हमारे पास इस बात के सिद्ध या असिद्ध करने के लिये कोई साक्षात् प्रमाण नहीं है कि काव्यालंकार के रचयिता ही इन ग्रन्थों के भी लिखने-वाले थे। कौन कह सकता है कि इस एक ही नाम के कई व्यक्ति न हों। पर एक ही नाम के हर एक पुरुष उसी प्रकार प्रसिद्ध नहीं होते। कुछ लोग तो प्राकृत-मनोरमा के रचयिता को काव्यालंकार के लिखनेवाले से भिन्न नहीं समझते। पिटर्सन का अनुसरण करते हुए डा० पिशेल[2] को इसका

१—तदुक्तं भामहेन—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदि वर्णाद्धनशता-
न्युवर्णादख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात् ।
तथा ह्येचः सौख्यं ङ्ञणरहितादक्षरगणात्
पदादौ विन्यासात् भरबहलहाहाविरहितात् ॥—वृत्तरत्नाकर पृ० ६

तदुक्तं भामहेनैव—

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति, वियशो ङस्तथा चः सुखं छः ।
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेद-दुःखे ॥
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धम् ।
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः ॥
यो लक्ष्मी रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं षश्च खेदं ।
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति ॥
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पटुवर्ण-विन्यास-योगः ।
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥
वृत्तरत्नाकर पृ० ७ (काशी सं०)

२—पिशेल : ग्रामातिक देर प्राकृत स्प्राखेन (ज०) पृ० ३५ ।

सन्देह भी नहीं हुआ कि यह दो भामह भिन्न थे[1]। जहाँ तक हमें मालूम होता है, उनका कहना पण्डितों के कथनों के आधार पर है। कितना ही विश्वास योग्य उनका मत हो, हम लोग यही चाहेंगे कि उनके मत को पुष्ट करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण हो जिससे उनका मत दृढ़ हो जाय। पर यह विश्वास करना बिलकुल असम्भव मालूम होता है कि काव्यालंकार के रचयिता के ऐसा प्रखर विद्वान् अलंकार शास्त्र के ऐसे अपूर्व ग्रन्थ लिखने के पूर्व या अनन्तर बिलकुल चुप बैठा हो। एक शब्द में इतना ही कह सकते हैं कि किसी ओर हम अपना निश्चित मत नहीं दे सकते।

काव्यालंकार

इस ग्रन्थ[2] में ६ परिच्छेद हैं जिनमें पाँच विषयों का विवरण है। वे इस प्रकार हैं—

(१) काव्य-शरीर—इसमें ६० श्लोक हैं जिनमें काव्य, उनके प्रयोजन लक्षणादि दिये हैं। (प्रथम परिच्छेद)

(२) अलंकार—इसमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं। यहाँ थोड़े कवियों के नाम भी सौभाग्यवश सुनाई पड़ते हैं जिनको हम अब बिलकुल नहीं जानते। इसमें १६० श्लोक हैं। (द्वितीय तथा तृतीय परि०)

(३) दोष—काव्यों के दोष ५० श्लोकों में यहाँ दिये हैं। (चतुर्थ परि०)

(४) न्याय-निर्णय—इसका विशेष वर्णन ७० श्लोकों में है। (पंचम परिच्छेद)

(५) शब्द-शुद्धि—व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का वर्णन कर विशिष्ट शब्दों की साधुता प्रदर्शित की गई है। ६० श्लोक हैं। (षष्ठ परिच्छेद)

भामह के मान्य सिद्धान्त हैं—

(१) शब्द और अर्थ दोनों के मिलने से काव्य की निष्पत्ति होती है। शब्दार्थौ सहितं काव्यम्।

१—सुभाषितावलि पृ० ७९।

२—भामह ने काव्यालंकार के अन्त में इस प्रकार सबका सार दे दिया है—

षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥

(२) भरत-प्रतिपादित दशगुणों के स्थान पर ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इस गुणत्रय का निर्देश तथा निरूपण।

(३) वक्रोक्ति का समस्त अलंकारों का मूलभूत होना। इसका चरम विकास कुन्तक की 'वक्रोक्ति-जीवित' में दीख पड़ता है।

(४) दशविध दोषों के अतिरिक्त अन्य नवीन दोषों की कल्पना[1]।

४—दण्डी

भामह के बाद दण्डी अलंकार-शास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका समय-निरूपण अत्यन्त विवाद का विषय है। आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार भामह को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है उस प्रकार दण्डी को नहीं किया है। दण्डी का सर्वप्रथम निर्देश प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ० २६) किया है। दक्षिण-भारत की भाषाओं के अलंकारशास्त्र-विषयक ग्रन्थों से—जिनकी रचना सम्भवतः नवम शताब्दी में की गई थी—दण्डी एक सिद्ध तथा प्रामाणिक आलंकारिक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सिंहली भाषा के अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर'—(स्वभाषालंकार) जिसकी रचना नवम शताब्दी से कथमपि पश्चात् नहीं मानी जा सकती—दण्डी को अपने उपजीव्य ग्रन्थकारों में मानता है। कन्नड़ भाषा में लिखित 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थ में—जिसकी रचना का श्रेय राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग (नवम शतक का प्रथमार्ध) को है—अलंकारों के उदाहरण में जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे दण्डी के काव्यादर्श के अक्षरशः अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वामन के 'काव्यालंकार' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से परिचित थे। दण्डी ने केवल दो ही रीति या मार्ग का वर्णन किया है परन्तु वामन ने एक मध्यवर्तिनी रीति—पाञ्चाली—का भी निर्देश कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामन से प्राचीन हैं। अतः इनके काल की अन्तिम अवधि अष्टम शतक के पश्चात् नहीं हो सकती।

इनके काल की पूर्व अवधि का निश्चय करना सरल नहीं है। दण्डी के एक श्लोक में बाणभट्ट के द्वारा कादम्बरी में वर्णित यौवन के दोषों के वर्णन की

१—भामह के काल, ग्रन्थ तथा सिद्धान्त के विस्तृत वर्णन के लिए इस खंड का परिशिष्ट देखिये।

छाप स्पष्ट दीख पड़ती है[1]। दण्डी के एक अन्य पद्य में माघ के शिशुपालवध की छाया है[2]। डाक्टर के० बी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य नामक भेदत्रय की कल्पना, भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुसार की है[3]। दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' में बाणभट्ट की पूरी कादम्बरी का सरस सारांश उपस्थित किया है। इन निर्देशों से स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक) से प्रभावित होनेवाले दण्डी सप्तम शतक के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे।

टीका

भामह की अपेक्षा दण्डी अधिक भाग्यवान् थे। भामह की प्राचीन व्याख्या (भामह-विवरण) अभी तक उपलब्ध नहीं है। भामह के ग्रन्थ का मूल पाठ भी विशुद्ध रूप से अभी उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रन्थ का उद्धार भी अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है। परन्तु दण्डी का व्यापक प्रभाव प्राचीन काल से ही लक्षित हो रहा है। सिंहली भाषा में मान्य अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' पर दण्डी के 'काव्यादर्श' की छाप है। कन्नड़ भाषा का कविराजमार्ग तो दण्डी के प्रभाव से ओतप्रोत ही नहीं है, प्रत्युत उसके अलंकारों के उदाहरणों में दण्डी के श्लोकों के निःसंदिग्ध अनुवाद हैं। सम्भवतः तिब्बती भाषा में भी इनके ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था। इनके ग्रन्थ के ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनसे उसकी लोकप्रियता का पता चलता है। 'काव्यादर्श' की सबसे प्राचीन टीका तरुणवाचस्पति द्वारा विरचित है। इनकी दूसरी टीका का नाम 'हृदयंगमा' है जिसके लेखक के नाम का पता नहीं चलता। ये दोनों टीकाएँ मद्रास से प्रकाशित हुई हैं।

१—अरत्नालोकसंहार्यं, अवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥ काव्यालंकार २।१९७

कादम्बरी की निम्नलिखित पंक्तियों से इसकी तुलना कीजिये—

केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।

२—दण्डी २।३०२ = माघ २।४।

३—दण्डी २।२४० = भर्तृहरि ३।४५।

दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की है—(१) काव्यादर्श, (२) दश-कुमार-चरित और (३) अवन्ति-सुन्दरी-कथा। दशकुमार-चरित में दस राजकुमारों का जीवन-चरित वर्णित है। यह उपन्यास ग्रन्थ है जिसमें राजकुमारों को शिक्षा दी गई है। अवन्ति-सुन्दरी-कथा सुन्दर भाषा में लिखा गया सुन्दर गद्यकाव्य है। परन्तु इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ **काव्यादर्श** है जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं तथा समस्त श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, गद्य के दो भेद—आख्यायिका और कथा, रीति, गुण तथा कवि के आवश्यक गुणों का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार की परिभाषा, ३५ अलंकारों की परिगणना तथा उदाहरण का विवरण है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध—जैसे गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्णनियम आदि, १६ प्रकार की प्रहेलिका और १० प्रकार के दोषों का सुविस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल आलंकारिक ही नहीं थे प्रत्युत सरस काव्य-कला के उपासक सफल कवि थे। उनका दशकुमार-चरित संस्कृत गद्य के इतिहास में अपनी चारुता, मनोरंजकता तथा सरसता के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। काव्यादर्श के समग्र उदाहरण दण्डी की निजी रचनाएँ हैं। इन पद्यों में सरसता तथा चारुता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः आलंकारिक दण्डी की अपेक्षा कवि दण्डी का स्थान कुछ कम उन्नत नहीं है। इसी लिये प्राचीन आलोचकों ने वाल्मीकि और व्यास की मान्य श्रेणी में दण्डी को स्थान दिया है।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

५—उद्भट भट्ट

प्रसिद्धि

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के आचार्यों में उद्भट भट्ट का भी स्थान बड़ा ऊँचा है। पीछे के बड़े-बड़े शास्त्रकारों ने बड़े आदर के साथ उनका और उनके मत का उल्लेख किया है। जो उनका मत नहीं भी मानते, अनेक बातों में उनके पूरे विरोधी हैं, वे भी जब उनका नाम अपने ग्रन्थों में लेते हैं, उनके प्रति पूरा सम्मान दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य कितने बड़े पण्डित थे, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वे भी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अन्यत्र वाच्यत्वेन

प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र-भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः"[1] । रुय्यक का अलंकारसर्वस्व प्रसिद्ध ही है[2] । उसी के आधार पर अप्पय दीक्षित ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है। इसमें भी भट्ट उद्भट का नाम आया है । बल्कि यह कहना चाहिए कि भामह और इनके नाम से ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है—"इह हि तावद् भामहोद्भट-प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकारा[3]" इत्यादि । यही रुय्यक जब व्यक्तिविवेक ऐसे बड़े महत्त्व के ग्रन्थ की टीका लिखने बैठे, तब भी उद्भट भट्ट को न भूले थे । वहाँ वे यों लिखते हैं—"इह हि चिरन्तनैरलंकारतन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भट-प्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालंकाराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्मा"[4] । इन प्राचीनों की बात ही क्या है; पीछे के जो उद्धत से उद्धत भी नवीन आचार्य हुए हैं, उनको भी भट्ट उद्भट के सामने सिर नवाना ही पड़ा है। जिसने रसगंगाधार एक बार भी पढ़ा है, वह अच्छी तरह जानता है कि पण्डितराज जगन्नाथ कैसे थे। किसकी उन्होंने खबर न ली! अप्पय दीक्षित के धुर्रे उड़ा दिये, विमर्षिणीकार के छक्के छुड़ा दिये। पर वे भी जहाँ कहीं उद्भट का नाम लेते हैं, आदर ही दिखाते हैं। कहीं उनके ग्रन्थ के लगाने का प्रयत्न किया, कहीं उन पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया, और कहीं अपने कथन के समर्थन में उनका उल्लेख किया। एक स्थान से लिये हुए वाक्य को नमूने के तौरपर देखिए—"अत्राहुरुद्भटाचार्यः । येन नाप्ताप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमाभारायमाणोऽलं-कारान्तरं बाधते"[5] इत्यादि । और कहाँ तक कहें, भट्ट उद्भट की प्रसिद्धि इतनी जोरों की हुई कि बेचारे भामह सबसे प्राचीन आचार्य कोसों दूर पड़े रह गये। इनके आगे वे फीके से जँचने लगे। यही कारण है कि भामह के काव्या-लंकारकी पुस्तक तक नहीं मिलती।

१—ध्वन्यालोक, पृ० १०८ (निर्णयसागर)।

२—दक्षिण के टीकाकार समुद्रबन्ध का कहना है कि रुय्यक ने केवल सूत्र ही लिखा। उन सूत्रों की वृत्ति का ही नाम अलंकार-सर्वस्व है, जो उनके शिष्य मंखुक ने लिखा। किन्तु यह मत कई कारणों से ठीक नहीं ठहरता।

३—अलंकार-सर्वस्व, पृ० ३ (निर्णयसागर)।

४—व्यक्तिविवेक-टीका, पृ० ३ (अनन्तशयन)।

५—रसगंगाधर, पृ० ६२३ (काशी)।

देश और समय

"उद्भट" नाम सुनते ही कौन न कह बैठेगा कि ये काश्मीरी होंगे। कैयट, जैयट, वैयट, मम्मट, अल्लट, भल्लट, कल्लट सरीखे नाम काश्मीर देश में ही उपलब्ध होते हैं। इन्हीं नामों की समता पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि उद्भट काश्मीर के ही निवासी थे। केवल नाम ही की बात नहीं, और भी दूसरे विश्वासार्ह प्रमाण हैं, जिनसे उनका काश्मीर का होना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

राजतरंगिणी में कल्हण किसी एक भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड़ का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड़ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

> विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
> भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥–४. ४९५.

उस राजा के सभापति विद्वान् उद्भट भट्ट थे, जिनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था। यह उद्भट, जिनके संरक्षक महाराज जयापीड़ थे, और जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, जहाँ तक पता लगा है, दोनों का एक व्यक्ति होना डॉ० ब्यूलर की काश्मीर-रिपोर्ट में बहुत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है[१]। डॉ० ब्यूलर ने ही पहले-पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थों के साथ भट्ट उद्भट के अलंकारसार-संग्रह का पता लगाया था।

महाराज जयापीड़ वै० सं० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्य के अन्तिम काल में ये कुछ बदनाम से हो गये थे। इनसे प्रजाओं को पीड़ा होते देखकर ब्राह्मणों ने सब सम्बन्ध छोड़ दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी भट्ट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग में रखना अधिक उचित समझते हैं। यही समय इनका दूसरी तरह से भी प्रमाणित होता है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इनका नाम कई बार लिया है[२]। आनन्दवर्द्धनाचार्य का भी नाम राजतरंगिणी में आया है—

> मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
> प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ ५-३४.

१–Dr. G. Buhler's Detailed Report of a Tour in Search of Sanskrit MSS. made in Kashmir etc. Extra number of the J. B. R. A. S., 1877.

२—ध्वन्यालोक, पृ० ९६ और १०८ (निर्णयसागर)।

मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्द्धन तथा रत्नाकर, ये सब अवंति-वर्मा के राज्य-काल में प्रसिद्ध हुए। महाराज अवन्तिवर्मा वै० सं० ९१२ से ९४५ तक काश्मीर का शासन करते रहे। आनन्दवर्द्धन का भी, पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, यही समय मानना चाहिए। इसलिए इस बात से भी भट्ट उद्भट का पूर्वोक्त समय ही ठीक प्रमाणित होता है। एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि भट्ट उद्भट ने कहीं आनन्द-वर्द्धनाचार्य का क्या, ध्वनि-मत का भी अच्छी तरह उल्लेख नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक ध्वनि-मत की पूर्ण रूप से स्थापना नहीं हुई थी। ऐसा ही पता प्रतिहारेन्दुराज की टीका से तथा अन्य ग्रन्थों से भी चलता है[1]। इन सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट विक्रमी नवम शतक के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे[2]।

ग्रंथ

अभी तक भट्ट उद्भट के तीन ग्रन्थों का पता लगा है। वे ये हैं—

(१) भामह-विवरण, (२) कुमारसंभव काव्य और (३) अलंकार-सार-संग्रह।

भामह-विवरण

भामह-विवरण का केवल नाम ही नाम मिला है, पुस्तक कहीं नहीं मिली है। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारसार-संग्रह की लघु-विवृति नाम की टीका में एक स्थल पर लिखते हैं—"विशेषोक्तिलक्षणे च भामह विवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथैतास्माभिर्निरूपितः"[3]। इस कथन से स्पष्ट

१—अलंकारसारलघुविवृति, पृ० १९—"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वलंकारेष्वन्तर्भावात्।" अलंकारसर्वस्व टीका (अलंकार विमर्षिणी) पृ० ३ (निर्णयसागर)—"ध्वनिकारमतमेभिर्न दृष्टमितिभावः।"

२—Winturniz, Geschichte der Indischen Literatur, Vol. III. p. 17; Dr. S. K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol. I. p. 75; P. V. Kane, Introd. to साहित्यदर्पण p. XLV.

३—पृ० १३।

ही प्रतीत होता है कि भामह-विवरण नाम का ग्रन्थ भट्ट उद्भट ने लिखा था। इस कथन की पुष्टि अभिनवगुप्ताचार्य भी कई स्थलों पर करते हैं[1]। एक स्थल पर वे यों लिखते हैं—"भामहोक्तं 'शब्दछन्दोभिधानार्थः' इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे।"[2] इससे तो स्पष्ट ही निकलता है कि भट्ट उद्भट ने भामह के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी थी। अन्य स्थलों से भी यही सिद्ध होता है। हेमचन्द्र भी अपने काव्यानुशासन की अलंकार-चूड़ामणि नाम की टीका में भट्ट उद्भट कृत भामह-विवरण का कई बार उल्लेख करते हैं[3]। रुय्यक अपने अलंकारसर्वस्व में इस भामह-विवरण का 'भामहीय-उद्भट-लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं[4]। इसी अलंकार-सर्वस्व की टीका में समुद्रबन्ध इसको 'काव्यालंकार विवृति' कहते हैं[5]। भट्ट उद्भट के अलंकारसारसंग्रह से पता चलता है कि इन्होंने भामह के अलंकार लक्षणों को बहुत स्थलों पर वैसे का वैसा ही उठा लिया है। इससे भी यही मालूम होता है कि इनका भामह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था।

कुमारसम्भव काव्य

भट्ट उद्भट के दूसरे ग्रन्थ की भी यही दशा है। इस ग्रन्थ का नाम था कुमारसम्भव काव्य। प्रतिहारेन्दुराज के कथन से उसके अस्तित्व का पता चलता है, तथा यह मालूम होता है कि अलंकारसार-संग्रह में आये हुए उदाहरण प्रायः उसी काव्य से लिये गये हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघुविवृति में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्तः[6]।" जैसा काणे महाशय कहते हैं[7], इन श्लोकों को देखने से स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानों कालिदास के कुमारसंभव की नकल की गई हो। यह सादृश्य केवल शब्द और अर्थ का ही नहीं है, बल्कि घटनोल्लेख का भी है। यहाँ एक-दो उदाहरण दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

१—ध्वन्यालोकलोचन (निर्णयसागर) पृ० १० ।
२— वही पृ० ४०, १५९ ।
३—काव्यानुशासन टीका (निर्णयसागर) पृ० १७, ११० ।
४—अलंकारसर्वस्व पृ० १८३ ।
५—अलंकारसर्वस्व टीका (अनंतशयन) पृ० ८९ ।
६—अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति, पृ० १३ (निर्णयसागर) ।
७—Introduction to साहित्यदर्पण p. XLV.

उद्भट का श्लोक—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे ।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम् ॥
(२. १०)[1]

कालिदास का श्लोक—विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा । इत्यादि ।
(२. १२)

उद्भट का श्लोक—अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम् ।
असंभाव्य पतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः ॥
(२. १२)[2]

कालिदास का श्लोक—इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः ॥
(५. २)

उद्भट का श्लोक—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
(२. १)[3]

कालिदास का श्लोक— स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः । इत्यादि ।
(५. २८)

अलंकारसार-संग्रह

भट्ट उद्भट का तीसरा ग्रंथ है अलंकारसार-संग्रह । इस समय एक यही साधन है, जिससे भट्ट उद्भट की विद्वत्ता का पता चल सकता है । इसका पहले-पहल पता डा० ब्यूलर ने काश्मीर में लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट में दिया था । इसका अनुवाद कर्नल जेकब ने निकाला था । पर ग्रंथ जब तक निर्णयसागर में न छपा, तब तक सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही था । वै० सं० १९७२ में पंडित मंगेश रामकृष्ण तैलंग ने प्रतिहारेन्दु-

१—अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३३ ।
२—वही पृ० ३४ ।
३—अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३७ ।

राज की लघुविवृति नाम की टीका के साथ इसका संपादन कर इसे प्रकाशित किया।

यह ग्रंथ छः वर्गों में विभक्त है। इसमें लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं। इनके उदाहरण की तरह लगभग १०० श्लोक अपने कुमारसंभव काव्य से (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) दिये गये हैं।

जिन अलंकारों के लक्षण और उदाहरण इसमें दिये गये हैं, उनके नाम वर्गक्रमसे नीचे दिये जाते हैं।

प्रथम वर्ग—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला), (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक (आदि मध्य, अन्त), (८) प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग—(१) आक्षेप, (२) अर्थान्तरन्यास, (३) व्यतिरेक, (४) विभावना, (५) समासोक्ति, (६) अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग—(१) यथासंख्य, (२) उत्प्रेक्षा, (३) स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग—(१) प्रेय, (२) रसवत्, (३) उर्जस्वित्, (४) पर्यायोक्त, (५) समाहित, (६) उदात्त (द्विविध), (७) श्लिष्ट।

पंचम वर्ग—(१) अपह्नुति, (२) विशेषोक्ति, (३) विरोध, (४) तुल्ययोगिता, (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) व्याजस्तुति, (७) निदर्शना, (८) उपमेयोपमा, (९) सहोक्ति, (१०) संकर (चतुर्विध), (११) परवृत्ति।

षष्ठ वर्ग—(१) अनन्वय, (२) ससंदेह, (३) संसृष्टि, (४) भाविक, (५) काव्यलिंग, (६) दृष्टांत।

भामह से सम्बन्ध

(१) सादृश्य

ऊपर एक स्थान पर कहा जा चुका है कि भट्ट उद्भट भामह के बड़े भक्त थे। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर 'भामह-विवरण' नाम की टीका लिखी। इतना ही नहीं, उसी ग्रन्थ का बहुत कुछ सहारा लेकर उन्होंने अपना 'अलंकारसार-संग्रह' लिखा। अब यहाँ यह देखना भी उचित होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ के बनाने में कहाँ तक भामह का अनुकरण किया और

कहाँ तक अपनी बुद्धि लगाई। पहली बात जो देखते ही इङ्गित होती है, वह यह है कि अलंकारों के लक्षण और उदाहरण जिस क्रम से भामह के काव्यालंकार में कहे गये हैं, उसी क्रम से यहाँ भी दिये गये हैं। दो लक्षणों को मिलाने से पता लगता है कि आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय के लक्षण हूबहू वही के वही हैं। कुछ और दूसरे अलंकार जैसे अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि ऐसे हैं, जिनके लक्षण बिलकुल वही के वही तो नहीं हैं, पर तो भी दोनों में बहुत कुछ सादृश्य अवश्य है। यह तो हुई ऊपरी समता। भीतरी मत भी भामह और भट्ट उद्भट का करीब-करीब एक-सा था। दोनों अलंकार-मत के माननेवाले थे।

(२) विलक्षणता

इतना सादृश्य होने पर भी भट्ट उद्भट बिलकुल ही अनुकरण करनेवाले न थे। उन्होंने भामह के कहे हुए कितने ही अलंकारों के नाम तक नहीं लिये हैं, और कितने ही भामह के न कहे हुए अलंकारों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव भामह के काव्यालंकार में आये हैं, पर उद्भट के अलंकारसार-संग्रह में उनका कहीं नाम भी नहीं मिलता। इसी तरह पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग और दृष्टान्त भामह के ग्रन्थ में न आने पर भी भट्ट उद्भट के ग्रन्थ में मिलते हैं। निदर्शना को उद्भट विदर्शना कहते हैं, पर बहुत संभव है कि यह लिखने की ही भूल हो।

इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनमें इनका मत भामह के मत से नहीं मिलता। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थान पर कहते हैं—

"भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्[1]।" भामह ने ग्राम्या वृत्ति और उपनागरिका वृत्ति, यही दो प्रकार के अनुप्रास माने हैं। रूपक के भी उन्होंने दो ही भेद दिखाये हैं। इसके विरुद्ध उद्भट भट्ट ने अनुप्रास तीन तरह के माने हैं। इन्होंने एक परुषा वृत्ति और जोड़ दी है। इसी तरह रूपक के भी इन्होंने दो और भेद जोड़कर चार भेद कर दिये हैं। प्रतिहारेन्दुराज फिर एक दूसरे स्थान पर कहते हैं—"भामहो हि 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा।' इति श्लिष्टस्य

१—अलंकारसार लघुवृत्ति, पृ० १।

त्रैविध्यमाह"[1]। भामह ने श्लेष के तीन भेद माने हैं, पर उद्भट दो ही भेद मानते हैं।

उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं। भामह और उद्भट दोनों के सम्मिलित प्रयास का यह परिणत फल है कि अलंकार सम्प्रदाय अपने पूर्ण वैभव के साथ विकसित हो सका। 'अलंकार' के विषय में इनके कई मान्य सिद्धान्त हैं जिनसे परिचय पाना यहाँ आवश्यक है।

विशेषताएँ

उद्भट के मत से कई बातें सबसे विलक्षण हैं। यहाँ उनका संग्रह कर देना अनुचित न होगा। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थानपर कहते हैं—"अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः"[2]। अर्थभेद से शब्दों का भेद होता है, यह भट्टोद्भट का सिद्धांत है। ये दो तरह का श्लेष मानते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष; और दोनों को अर्थालंकार ही मानते हैं[3]। श्लेष को यह प्रधान अलंकार मानते हैं और सब अलंकारों-का बाधक समझते हैं[4]। इन्होंने स्पष्ट कहा है—"अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः"। ये अभिधा व्यापार तीन तरह का मानते थे[5]। अर्थ ये दो तरह के मानते थे—अविचारित सुस्थ और विचारित रमणीय[6]। गुणों को ये संघटना के धर्म मानते थे[7]। व्याकरण के विचार पर जो बहुत से उपमा के भेद पाये जाते हैं, वे सब प्रायः उद्भट के ही निकाले हुए हैं[8]।

इतना कहनेके बाद अब यह फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट उद्भट बड़े भारी विद्वान् और धुरंधर आलंकारिक थे। जिस किसी बड़े अलंकार ग्रन्थ को उठाकर देखिये, कहीं न कहीं भट्ट उद्भट का नाम अवश्य देखने में आवेगा। इनका मत पीछे से उड़-सा गया। जब लोग व्यंग्य

१—अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ४७।

२—अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ५५।

३—काव्यप्रकाश, ९ उल्लास।

४—ध्वन्यालोक, पृ० ९६।

५—काव्यमीमांसा, पृ० २२।

६—काव्यमीमांसा, पृ० ४४; व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ४।

७—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १३४।

८—P. V. Kane, Introd. to साहित्यदर्पण p. XLIV.

को ही काव्य का आत्मा मानने लगे, तब अलंकारों का बाहरी उपकरण ठहराया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतना होनेपर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रही, यह क्या बहुत बड़ी बात नहीं है?

इनके दो टीकाकारों का पता चलता है—

(१) **प्रतिहारेन्दुराज**—इनकी टीका का नाम लघुवृत्ति[1] है, जिसमें इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक तथा रुद्रट के पद्यों को उद्धृत किया है। अन्तिम तीन ग्रन्थों के नाम का भी स्पष्ट निर्देश यहाँ मिलता है। ये कोंकण के निवासी तथा मुकुल भट्ट के शिष्य थे। ये मुकुल भट्ट भट्ट कल्लट के (नवम शतक का मध्यभाग) पुत्र तथा 'अभिधावृत्ति-मातृका' के रचयिता थे। अतः मुकुल का समय हुआ नवम शतक का अन्तिम काल तथा प्रतिहारेन्दुराज का समय हुआ १० शतक का प्रारम्भकाल। अभिनवगुप्त के एक गुरु का नाम भट्टेन्दुराज था जो इनसे भिन्न प्रतीत होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि से परिचित होने पर भी उसकी प्रधानता नहीं मानते थे। अतः ध्वनिवादी अभिनवगुप्त का उन्हें गुरु मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

(२) **राजानक तिलक**—इनकी टीका का नाम 'उद्भटविवेक' है[2]। यह टीका अल्पाक्षरा है जिसमें उद्भट के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन है। ये मध्ययुगी काश्मीरी आलोचक थे।

६—वामन

संस्कृत के आलंकारिकों में वामन का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा मानकर साहित्य-जगत् में एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जो रीति-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके प्रतिद्वन्द्वी आचार्य उद्भट ने तो आलोचनाशास्त्र के एकदेश—अलंकार—पर ही ग्रन्थ-रचना कर कीर्ति-लाभ किया, परन्तु वामनाचार्य ने आलोचनाशास्त्र के समस्त तत्त्वों को अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा से उद्भासित किया। इस दृष्टि से इनकी तुलना अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह के साथ की जा सकती है। उद्भट और वामन, दोनों ही काश्मीरी थे और एक ही राजा जयापीड़ की सभा के सभा-पण्डित थे। परन्तु यह आश्चर्य है कि दोनों एक दूसरे के विषय में मौन हैं। न तो वामन ने उद्भट के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है और न उद्भट ने वामन के सिद्धान्त का निर्देश।

१—संस्करण काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सीरीज में।

२—संस्करण गायकवाड़ सीरीज नं० ५५।

वे ही काव्यालंकारसूत्र के रचयिता आलंकारिक वामन हैं। देश और काल की अनुकूलता के कारण हम इस प्रवाद को सत्य मानते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जो व्यक्ति सरस्वती की साधना से लब्धप्रतिष्ठ हो, वह मन्त्रणा के महनीय कार्य में नियुक्त न किया जाय।

ग्रन्थ

वामन के ग्रन्थ का नाम है काव्यालंकारसूत्र। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि अलंकार शास्त्र के इतिहास में यही एक ग्रन्थ ऐसा है जो सूत्रशैलीमें लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इसमें दिये गये उदाहरण संस्कृत के प्रामाणिक काव्यों से उद्धृत किये गये हैं। सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना स्वयं वामन ने की। इसका निर्देश ग्रन्थ के मंगल श्लोक में ग्रन्थकार ने स्वयं किया है[1]। पीछे के आलंकारिकों ने भी निःसन्देह रूप से वामन को ही वृत्ति का रचयिता स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने वृत्ति में उपलब्ध होनेवाले इस वाक्य को वामन की ही रचना स्वीकार किया है[2]। लोचनकार अभिनवगुप्त ने वामन के आक्षेप अलंकार के उदाहरणों को—जो वृत्ति में दिये गये हैं—वामन की ही रचना माना है। इससे स्पष्ट है कि वामन ने ही सूत्र तथा वृत्ति, दोनों की रचना स्वयं की।

यद्यपि यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण था तथापि मध्ययुग में इसका प्रचार लुप्त हो गया था। कहा जाता है कि काश्मीर के प्रसिद्ध आलोचक मुकुल भट्ट ने कहीं से इसकी हस्तलिखित प्रति (आदर्श) प्राप्त कर इसका उद्धार किया। इसकी सूचना वामन के टीकाकार सहदेव ने दी है[3]।

वामन का ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण में कतिपय अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में पाँच अधिकरण, बारह अध्याय

१—प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥ का० सू० मंगलश्लोक।

२—लक्षणायां हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते।
वामन, का० लं० सू० ४।३।८ की वृत्ति।

३—वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून् मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम् ॥
काव्यालंकारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित् ॥

तथा ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य के प्रयोजन तथा अधिकारी का वर्णन है। रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर वामन ने रीति के तीन भेद तथा काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। दूसरा अधिकरण (दोष-दर्शन) पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का दर्शन कराता है। तृतीय अधिकरण (गुणविवेचन) अलंकार और गुण के पार्थक्य का विवेचन कर शब्द तथा अर्थ के दशगुणों का पृथक्-पृथक् विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरण में (आलंकारिक) अलंकार का विस्तार से वर्णन है। पंचम अधिकरण में (प्रायोगिक) संदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्द-शुद्धि की समीक्षा है।

वामन ने अपने ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख किया है। अर्थ-प्रौढ़ि के उदाहरण में उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है जिसमें इन्होंने चन्द्रगुप्त के पुत्र को वसुबन्धु के आश्रयदाता के रूप में प्रस्तुत किया है[1]। इस श्लोक की व्याख्या के प्रसंग में ऐतिहासिकों में घनघोर वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। अधिकांश विद्वानों की यही सम्मति है कि गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ही बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के आश्रयदाता थे। इस ऐतिहासिक तथ्य का निर्धारण वामन की सहायता से हुआ है।

वामन का विशिष्ट मत

रीति सम्प्रदाय के उन्नायक होने के कारण वामन के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिनमें पहला सिद्धान्त है।

(१) **"रीतिरात्मा काव्यस्य"**। रीति का सिद्धान्त आलोचना शास्त्र में अत्यन्त प्राचीन है। भामह से पूर्वकाल में ही रीति सिद्धान्त की उद्भावना हुई थी परन्तु रीति काव्य की आत्मा है, इतना महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वामन की निजी विशेषता है।

(२) भामह और दण्डी रीति के द्विविध भेद—वैदर्भी और गौड़ी—से ही परिचित थे। परन्तु वामन को पाञ्चाली रीति के आविर्भाव का श्रेय प्राप्त है। इसका वर्णन तथा समीक्षण वामन ने ही सर्वप्रथम किया।

१—साभिप्रायत्वं यथा—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥"

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु-साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्। का० लं० सू० २।३।२

(३) गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व माने जाते थे। इन दोनों के पार्थक्य के निर्देश का श्रेय वामन को ही प्राप्त है।

(४) वामन के पूर्व अलंकार-जगत् में केवल दश गुण ही माने जाते थे परन्तु वामन ने अपने प्रतिभा के बल से दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण—इस प्रकार बीस गुणों की उद्भावना की। यद्यपि वामन का यह मत पीछे के आलंकारिकों को मान्य नहीं हुआ फिर भी उनकी मौलिकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

(५) अलंकारों के विवेचन में भी इनकी मौलिकता दीख पड़ती है। इन्होंने उपमा को मुख्य अलंकार माना है। अन्य समस्त अलंकार उपमा के ही प्रपञ्च स्वीकृत किये गये हैं।

(६) वक्रोक्ति के विषय में इनकी कल्पना नितान्त मौलिक और विलक्षण है। भामह और दण्डी वक्रोक्ति को अलंकार का मुख्य आधार मानते थे परन्तु वामन ने इसे अर्थालंकार के रूप में माना है। उनका लक्षण है—सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः। अर्थात् सादृश्य से उत्पन्न होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है।

(७) ये आक्षेप को दो प्रकार का मानते हैं। मम्मट ने इनमें से एक को प्रतीप अलंकार माना है और दूसरे को समासोक्ति।

(८) वामन काव्य में रस की सत्ता के विशेष पक्षपाती हैं। अलंकार सम्प्रदाय में रस केवल बाह्य काव्य-साधन के रूप में ही अंगीकृत किया गया था, किन्तु वामन ने उसे कान्ति नामक गुण के रूप में स्वीकृत कर काव्य में रस को अधिक व्यापकता, अधिक स्थायिता तथा अधिक उपादेयता प्रदान की है। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण वामन अलंकार-जगत् के एक जाज्वल्यमान रत्न माने जाते हैं।

७—रुद्रट

आचार्य रुद्रट का नाम अलंकारशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने अलंकारों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया था। इनके जीवनवृत्त के विषय में हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है। इनके नाम से पता चलता है कि ये काश्मीरी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त में भवानी, मुरारि और गजानन की। इससे पता चलता है कि ये

शैव थे। इनके टीकाकार नमिसाधु के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था[1]। इनके पिता का नाम था वामुकभट्ट तथा ये सामवेदी थे।

अलंकार ग्रन्थों में इनके मत का उल्लेख इतनी अधिकता से किया गया है कि इनके समय-निरूपण में विशेष कठिनाई नहीं दीख पड़ती। मम्मट, धनिक तथा प्रतिहारेन्दुराज ने अपने ग्रन्थों में इनके मत तथा श्लोकों का उद्धरण स्पष्टतः किया है परन्तु सबसे प्राचीन आलंकारिक जिन्होंने इनके मत तथा श्लोकों को उद्धृत किया है राजशेखर हैं। इन्होंने अपनी काव्यमीमांसा में रुद्रट के विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि काकु वक्रोक्ति एक विशिष्ट शब्दालंकार है[2]। वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में मानने का प्रथम निर्देश हमें रुद्रट में ही मिलता है। इस निर्देश से रुद्रट राजशेखर (९२० ई०) से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। रुद्रट ध्वनि सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित है। आनन्दवर्धन ने न तो रुद्रट को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया और न रुद्रट ने ही आनन्दवर्धन के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख अपने विस्तृत ग्रन्थ में किया। इससे यही प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के पूर्व ही हो चुका था। अतः इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पहिले अर्थात् नवम शताब्दी के आरम्भ में मानना उचित है।

ग्रन्थ

रुद्रट के ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है जो इनकी एकमात्र कृति है। विषय की दृष्टि से यह बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें अलंकारशास्त्र के समस्त तत्त्वों का विशिष्ट निरूपण है। पूरा ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है जिनकी संख्या ७३४ है। इसमें अध्यायों की संख्या १६ है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, पाँच प्रकार के शब्दालंकार, चार प्रकार की रीति,

---

१—अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो
यथा—शतानन्द-पराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्॥
काव्यालंकार ५।१२—१४ की टीका।

२—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्॥ इति रुद्रटः।
का० मी० अध्याय ७, पृ० ३१।

पाँच प्रकार की अनुप्रास वृत्ति, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थालंकार, दोष, दश प्रकार के रस, नायक-नायिका-भेद तथा काव्य के प्रकार का क्रमशः वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है।

रुद्रट के काव्यालंकार के ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है— (१) **रुद्रटालंकार—वल्लभदेव** की यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। ये (वल्लभदेव) काश्मीर के मान्य टीकाकार हैं जिन्होंने कालिदास, माघ, मयूर तथा रत्नाकर के काव्यों पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखी हैं। इनका समय दशम शताब्दी का प्रथमार्ध है। रुद्रट की सबसे प्राचीन टीका यही है। यदि इस टीका का पता लगा होता तो इससे अलंकार शास्त्र के सम्बन्ध में अनेक नयी बातों का ज्ञान होता। (२) **नमिसाधु** की टीका—यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। नमि साधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी टीका की रचना का समय ११२५ वि० (१०६९ ई०) दिया है[1]। इनकी टीका पाण्डित्यपूर्ण हैं जिसमें भरत, मेधाविरुद्र, भामह, दण्डी, वामन आदि मान्य आलंकारिकों के मत का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है। (३) तीसरी टीका के रचयिता आशाधर हैं जो एक जैन यति थे और १३वीं शताब्दी के मध्य भाग में विद्यमान थे।

रुद्रट को अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य मानना ही उचित है। ये यद्यपि रसयुक्त काव्य की महत्ता स्वीकार करते हैं और तदनुसार काव्य में रसविधान का निरूपण बड़े विस्तार के साथ करते हैं तथापि इनका आग्रह अलंकार सिद्धान्त के ऊपर ही विशेष है। अलंकारों का श्रेणी-विभाग करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। इन्होंने अर्थालंकारों को चार तत्त्वों—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—के आधार पर विभक्त करने का प्रयत्न किया है। यह श्रेणी-विभाग उतना वैज्ञानिक तो नहीं है, फिर भी अलंकारों के प्रति रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि का पर्याप्त परिचायक है।

रुद्रटने अनेक नवीन अलंकारों की भी कल्पना की है। इन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार माना है जिसको मम्मट और आनन्दवर्धन ने अलंकार न मानकर गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही एक प्रकार माना है। इनके नवीन अलंकार हैं—मत, साम्य एवं पिहित जिनका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में कहीं

१—पञ्चविंशति - संयुक्तैरेकादश - समाशतैः ।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥

टीका का अन्तिम श्लोक ।

नहीं मिलता। इन्होंने कुछ प्राचीन अलंकारों के नवीन नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ इनका व्याजश्लेष (१०।११) भामह की व्याजस्तुति है। अवसर अलंकार (७।१०३) मम्मट के उदात्त का दूसरा प्रकार है। इनकी 'जाति' मम्मट की स्वभावोक्ति है और पूर्व अलंकार (९।३) अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। इस अलंकार-विधान के अतिरिक्त काव्य में रस का विस्तृत विधान रुद्रट के ग्रन्थ की महती विशेषता है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट की एकमात्र रचना शृंगार-तिलक है जिसके तीन परिच्छेदों में रस का—विशेषतः शृंगार-रस का—विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेद में नवरस, भाव तथा नायक-नायिका के विविध प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में विप्रलम्भ शृंगार का तथा तृतीय में इतर रसों का तथा वृत्तियों का वर्णन है। नाम की तथा विषय की समता के कारण अनेक पश्चिमी विद्वानों ने (रुद्रभट्ट को) रुद्रट से अभिन्न व्यक्ति माना है। सुभाषित ग्रन्थों में एक के श्लोक दूसरे के नाम से दिये गये हैं जिससे इन दोनों के विषय में और भी भ्रान्ति फैल गई है।

दोनों के ग्रन्थों के गाढ़ अनुशीलन से इस भ्रान्ति का निराकरण भली भाँति किया जा सकता है। आलोचनाशास्त्र के विषय में दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। रुद्रट की दृष्टि में काव्य का विशिष्ट उपादेय अंग है अलंकार और इसी कारण इन्होंने अपने ग्रन्थ के ग्यारह अध्यायों में इस तत्त्व का विवेचन किया है। अन्तिम अध्याय में इन्होंने रस का वर्णन सामान्य रूप से किया है। उधर रुद्रभट्ट की आलोचना का मुख्य आधार है रस और विशेषतः शृंगार रस। इसीलिए इन्होंने काव्य के अन्य अंगों की अवहेलना कर रस का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रभट्ट की दृष्टि रुद्रट की अपेक्षा बहुत ही संकुचित तथा सीमित है। रुद्रट ने काव्य के समग्र अंगों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है तो रुद्र या रुद्रभट्ट ने काव्य के केवल एक ही अंग में अपने को सीमित तथा संकुचित रखा है। तथ्य बात तो यह है कि रुद्रट एक महनीय तथा मौलिक आलंकारिक हैं और रुद्रभट्ट एक सामान्य कवि हैं जिन्होंने अपने विषय-विवेचन के लिए रुद्रट के ग्रन्थ से विशिष्ट सहायता ली है।

इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में पर्याप्त पार्थक्य है। रुद्रट के ग्रन्थ के चार अध्याय 'शृंगारतिलक' के विषय से पूर्ण समानता रखते हैं। यदि इन दोनों

ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति होता तो काव्यालंकार की रचना के अनन्तर शृंगारतिलक के लिखने का क्या प्रयोजन था ? विषय की भिन्नता ग्रन्थकारों की भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित कर रही है। (१) शृंगारतिलक में रुद्रभट्ट ने केवल नव रसों का वर्णन किया है परन्तु रुद्रट ने 'प्रेयः' नामक एक नवीन रस की उद्भावना कर रसों की संख्या दस कर दी है। (२) रुद्रभट्ट ने कैशिकी आदि चारों नाट्य-वृत्तियों का काव्य में उल्लेख किया है। उधर रुद्रट ने उद्भट के अनुसार पाँच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा) का वर्णन किया है जो अनुप्रास के ही विविध प्रकार हैं। (३) नायिका-नायक के विभिन्न प्रकारों में भी इसी प्रकार का भेद है। नायिका के तृतीय भेद वेश्या का वर्णन बड़े आग्रह से रुद्रभट्ट ने किया है परन्तु रुद्रट ने केवल दो श्लोकों में वर्णन कर उसे तिरस्कार के साथ हटा दिया है। इन्हीं कारणों से रुद्रभट्ट को रुद्रट से भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत है।

इन दोनों ग्रन्थकारों के काल में भी पर्याप्त अन्तर है। हेमचन्द्र ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने 'शृंगारतिलक' के मंगल श्लोक को उद्धृत कर खण्डन किया है। अतः रुद्रभट्ट का काल दशम शताब्दी के पूर्व कदापि नहीं माना जा सकता है। परन्तु रुद्रट का समय नवम शताब्दी का आरम्भ-काल है जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

८—आनन्दवर्धन

ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम अलंकार शास्त्र के इतिहास में सर्वदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरण शास्त्र के इतिहास में जो स्थान पाणिनी को प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है, अलंकार शास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का श्रेय इन आचार्य को प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन यथार्थ है कि ध्वनिकार ने आलंकारिकों का मार्ग सदा के लिये व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन के देश और काल से हमें पर्याप्त परिचय है। ये काश्मीर के निवासी थे और काश्मीर-नरेश राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभापण्डितों में अन्यतम थे[1]। कल्हण पण्डित का राज-

---

१—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ राजतरंगिणी ५।४ ।

तरंगिणी में यह निर्देश सर्वथा मान्य और प्रामाणिक है। कल्हण पण्डित के उपर्युक्त मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपने 'क्रमस्तोत्र' की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्धन के अन्य ग्रन्थ 'देवी शतक' के ऊपर कैयट ने ९९७ ई० के आस-पास व्याख्या लिखी। इतना ही क्यों, राजशेखर ने जिनका समय नवम शताब्दी का अन्त तथा दशम का आरम्भ है—आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का स्पष्टतः उल्लेख किया है। इससे इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थों की भी रचना की है जिनमें **'देवी शतक'**, **'विषम बाणलीला'** और **'अर्जुन चरित'** प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठ और विख्यात रचना ध्वन्यालोक है जो इनकी कीर्ति की आधारशिला है। ध्वन्यालोक में ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि विषयक प्राचीन आचार्यों-के मतों का निर्देश तथा युक्तियुक्त खण्डन है। यह उद्योत ध्वनि के इतिहास जानने के लिये नितान्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। दूसरे उद्योत में ध्वनि के विभेदों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ गुण तथा अलंकारों का विवेचन भी प्रसंग की पूर्ति के लिये ग्रन्थकार ने किया है। तृतीय उद्योत का विषय भी ध्वनि के विभेदों का विवेचन ही है।

इस उद्योत में काव्य के अन्य भेद गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र-काव्य का वर्णन भी उदाहरणों के साथ दिया गया है। व्यंजना नामक नवीन शब्द-व्यापार की कल्पना काव्य-जगत् में क्यों की गई? क्या अभिधा और लक्षणा के द्वारा काव्य के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती? इन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर आनन्दवर्धन ने इस उद्योत में प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है। ध्वनि की सहायता से पूर्वपरिचित अर्थ में भी अपूर्वता का संचार होता है, नीरस विषय में भी रसवत्ता विराजने लगती है। ध्वनि-काव्य की रचना करने में ही कवि की अमर कला का विलास है। इसका निरूपण इस उद्योत में है।

कारिकाकार तथा वृत्तिकार

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं—(१) कारिका, (२) गद्यमयी वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण तो संस्कृत के प्रामाणिक कवियों के प्रख्यात ग्रन्थों से लिये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की लेखनी

से प्रसूत हुए हैं या इनके रचयिता दो भिन्न व्यक्ति हैं? यह बड़े ही विवाद का विषय है। आलंकारिकों की परम्परा सर्वदा आनन्दवर्धन को ही कारिका तथा वृत्तिका अभिन्न रचयिता मानती आती है। परन्तु ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में कुछ निर्देश ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे वृत्तिकार तथा कारिकाकार के पार्थक्यका आभास मिलता है[1]। अभिनवगुप्त ने वृत्तिग्रन्थ को कारिका ग्रन्थ से अलग माना है तथा वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकृत् और कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकृत् शब्दों का व्यवहार किया है। इसी आधार पर काणे और डाक्टर डे ने कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न व्यक्ति माना है[2]। वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन है परन्तु कारिकाकार का नाम अज्ञात है। डाक्टर काणे ने कारिकाकार का नाम 'सहृदय' बतलाया है। परन्तु पिछले आलंकारिकों ने कारिका और वृत्ति के रचयिताओं में किसी प्रकार का भेद न मानकर आनन्दवर्धन को ही समभावेन दोनों का निर्माता स्वीकार किया है। (१) राजशेखर ने आनन्दवर्धन के मत का उल्लेख करते समय एक श्लोक उद्धृत किया है जो 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता माना है जिसका परिचय इस सुप्रसिद्ध पद्य से मिलता है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्य तत्त्वनिवेषिणा।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

(२) वक्रोक्ति जीवितकार (कुन्तक) भी वृत्तिकार को ध्वनिकार के नाम से ही पुकारते हैं। उन्होंने आनन्दवर्धन के एक पद्य को रूढ़ि शब्द-वक्रता का उदाहरण देकर स्पष्ट ही लिखा है—ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन—अतः कुन्तक की सम्मति में आनन्दवर्धन

१—कतिपय स्थलों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है —

(क) न चैतन्मयोक्तं, अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि संमतमेवेति भावः।
लोचन पृ० ६०।

(ख) उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवद-तीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति। लोचन पृष्ठ १२२।

२—काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ५९।
डा० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स पृ० ११४।

ही ध्वनिकार सिद्ध होते हैं। (३) महिमभट्ट की सम्मति भी इसी मत की पोषिका है। महिमभट्ट काश्मीर के निवासी ही न थे प्रत्युत लोचन के रचयिता अभिनवगुप्त के समकालीन भी थे। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकायें तथा वृत्तिभाग को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है और उनके रचयिता को सर्वत्र ध्वनिकार के नाम से निर्देश किया है। (४) क्षेमेन्द्र ने भी जो अभिनवगुप्त के साहित्य शास्त्र के साक्षात् शिष्य थे और काश्मीरी पण्डितों की परम्परा से नितान्त अवगत थे 'औचित्यविचारचर्चा' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है। (५) हेमचन्द्र ने 'ध्वन्यालोक' की कारिका को आनन्दवर्धन की ही रचना माना है। (६) विश्वनाथ कविराज ने भी वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार के नाम से उल्लिखित किया है। इतनी प्रौढ़ परम्परा के रहते हुए कारिका तथा वृत्ति के लेखकों में भेद मानना कथमपि न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।

९—अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में अभिनवगुप्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्यायें इतनी प्रौढ़, पाण्डित्यपूर्ण तथा तलस्पर्शिणी हैं कि वे मौलिक ग्रन्थों से भी अधिक आदरणीय हैं। अलंकारशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को वही श्लाघनीय स्थान प्राप्त है जो व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पतञ्जलिको और अद्वैत वेदान्त के इतिहास में भामतीकारको प्राप्त है। अभिनवगुप्त आलंकारिककी अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अतः जब उन्होंने अलंकारशास्त्र में ग्रन्थ-रचना की तब इस शास्त्र को एक निम्न स्तर से उठाकर दार्शनिक क्षेत्र में पहुँचाकर ऊँचा उठा दिया।

जीवनी

इनके देश, काल तथा जीवनवृत्त का परिचय हमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इनके 'परात्रिंशिका विवरण' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था, पिता का नाम चुक्खल एवं अनुज का नाम मनोरथ गुप्त था। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शन के गुरु लक्ष्मण गुप्त थे। 'लोचन' में इन्होंने अपने अलंकारशास्त्र के गुरु का नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सामान्य कवि नहीं थे, प्रत्युत महान् आलोचक थे। इसका परिचय 'लोचन' के शब्दों से ही मिलता है—यथा वा अस्मदुपाध्यायस्य विद्वद्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य। अभिनवगुप्त की लिखी

भगवद्गीता की टीका से पता चलता है कि भट्टेन्दुराज कात्यायन गोत्र के थे। इनके पितामह का नाम सौचुक और पिता का नाम भूतिराज था। 'लोचन' में इन्होंने अपने गुरु के मत और श्लोकों को अनेक बार उद्धृत किया है। 'ध्वन्यालोक' के संदिग्ध स्थलों के निराकरण के लिये अपने गुरु के मत का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार से किया है कि प्रतीत होता है कि शिष्य ने गुरु की मौखिक व्याख्या सुनकर ही इस महनीय टीकाका प्रणयन किया है। 'लोचन' के निर्माण की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराज के व्याख्यानों से हुई, उसी प्रकार नाट्यशास्त्रकी टीका 'अभिनव-भारती' के निर्माण की प्रेरणा इन्हें अपने दूसरे साहित्य-गुरु भट्टतोत या भट्टतौत से मिली। 'अभिनव-भारती' के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने गुरु भट्टतौत के व्याख्यानों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख बड़े आदर तथा उत्साह से किया है। भट्टतौत अपने समय के मान्य आलंकारिक थे, जिनकी महनीय कृति 'काव्य-कौतुक' आज भी विस्मृति के गर्भ में पड़ी हुई है। अभिनवगुप्त ने इसके ऊपर 'विवरण' नामक टीका भी लिखी थी जो मूल के समान ही अभी तक उपलब्ध नहीं है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो साहित्य-शास्त्र की एक टूटी कड़ी का पता लग जाय।

काल

अपने कई ग्रन्थों का रचना-काल ग्रन्थकार ने स्वयं दिया है। इन्होंने अपना 'भैरव स्तोत्र' ६८ लौकिक संवत् (९९३ ई०) में लिखा। उत्पलाचार्य के 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' नामक महनीय ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने 'विमर्षिणी' नामक जो बृहती वृत्ति लिखी है उसकी रचना ९० लौकिक संवत् तथा ४११५ कलि वर्ष (१०१५) में हुई थी। काल-गणना का निर्देशक यही इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इससे सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ-काल है।

इन्होंने दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थों में 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्षिणी', 'तन्त्रसार', 'मालिनी विजयवार्तिक', परमार्थसार, 'परात्रिंशिका विवरण' त्रिक दर्शन के इतिहास में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। इनका विपुलकाय 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोश है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय परम माहेश्वराचार्य आचार्य अभिनवगुप्त को प्राप्त है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बक

मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे। साहित्यशास्त्र में इनकी महनीय कृतियाँ तीन ही हैं।

ग्रन्थ

(१) **ध्वन्यालोक-लोचन**—आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की यह टीका सचमुच आलोचकों को लोचन प्रदान करती है क्योंकि बिना इसकी सहायता के ध्वन्यालोक के तत्त्वों का उद्घाटन नहीं हो सकता था। इस टीका में रसशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों के सिद्धान्त—जिनकी उपलब्धि अन्यत्र होना नितान्त दुर्लभ है—एकत्र दिये गये हैं। यह टीका इतनी पाण्डित्यपूर्ण है कि कहीं-कहीं पर मूल की अपेक्षा टीका ही दुरूह हो गई है जिसे समझना अत्यन्त कठिन है। ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' से पहले चन्द्रिका नाम की टीका लिखी गई थी[1] और इसके लेखक इन्हीं के कोई पूर्वज थे। 'लोचन' में इन्होंने इस टीका का खण्डन अनेक अवसरों पर किया है[2]। अन्त में इन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है—अलं निजपूर्ववंश्यैः विवादेन अर्थात् अपने पूर्वज के साथ अधिक विवाद करने से क्या लाभ ?

(२) **अभिनव भारती**—नाट्यशास्त्र के ऊपर एकमात्र यही उपलब्ध टीका है[3]। भरत के कठिन ग्रन्थ को समझने के लिए इस टीका का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। यह 'लोचन' के समान ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है जिसमें प्राचीन आलंकारिकों तथा संगीतकारों के मतों का उपन्यास बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। प्राचीन भारत की नाट्यकला—संगीत, अभिनय, छन्द, करण, अंगहार आदि—के रूप को यथार्थतः समझने के लिये इस टीका का अध्ययन तथा अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। परन्तु दुःख है कि यह टीका अभी भी विशुद्ध रूप में सम्पूर्णतया प्राप्त नहीं है। बड़ौदा से प्रकाशित टीका अभी तक अधूरी है। अभिनवभारती टीका नहीं, प्रत्युत

१—किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
लोचन, प्रथम उद्योत का अन्तिम श्लोक।

२—लोचन पृ० १२३, १७४, १७८, १८५, २१५ (काव्यमाला सं०)

३—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० ३६, ६८) बड़ौदा से प्रकाशित।

एक स्वतन्त्र मौलिक महाग्रन्थ है। भरत के ऊपर प्राचीन आलंकारिकों ने भी टीकायें लिखी थीं परन्तु ये सर्वथा उच्छिन्न हो गई हैं। इन टीकाओं का जो कुछ पता हमें चलता है वह 'अभिनवभारती' के उल्लेख से ही प्राप्त है। यह टीका नितान्त विशद, पाण्डित्यपूर्ण तथा मर्मस्पर्शिणी है।

(३) काव्यकौतुक विवरण—ऊपर हमने इनके गुरु भट्ट तौत का उल्लेख किया है। यह 'काव्यकौतुक' उन्हीं की रचना है जिसके ऊपर अभिनवगुप्त ने यह 'विवरण' लिखा है। परन्तु यह खेद का विषय है कि आज न तो यह मूल ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न उसकी टीका ही। इसकी सत्ता का परिचय भी हमें अभिनव भारती के उल्लेख से मिलता है[१]।

१०—राजशेखर

राजशेखर महनीय नाटककार के रूप में ही अभी तक प्रसिद्ध थे। परन्तु इधर इनका एक अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसी के बल पर इनकी गणना प्रधान आलोचकों में होने लगी है।

जीवनवृत्त

इनके काल तथा जीवनवृत्त का विशेष विवरण हमें उपलब्ध है। ये विदर्भ के निवासी थे। इनका कुल 'यायावर' के नाम से विख्यात था इसीलिये इन्होंने अपने मत का उल्लेख 'यायावरीय' के नाम से किया है। अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि संस्कृत भाषा के मान्य कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकाल जलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। चौहान वंशी अवन्तिसुन्दरी नामक एक क्षत्रिय विदुषी स्त्री से इन्होंने अपना विवाह किया था[२]। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं की विदुषी थी। अलंकार शास्त्र के विषय में भी उसके कुछ मौलिक सिद्धान्त थे जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में स्थान-स्थान पर किया है। ये निवासी तो थे विदर्भ (बरार) देश के परन्तु इनका कर्मक्षेत्र था कन्नौज

१—अभिनव भारती पृ० २९१ (प्रथम खण्ड)।

२—चाहुमानकुल मौलिमालिका राजशेखर-कवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति॥
—कर्पूरमंजरी १।११ (संस्कृत)।

प्रदेश। यहीं के प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल (दशम शतक का प्रथमार्ध) के ये गुरु थे[1]। इस प्रकार इनके जीवनकाल में ही इन्हें विशेष गौरव तथा सम्मान प्राप्त था।

काल

इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली भाँति हो जाता है। सियोदोनी शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०७ ई० तक था तथा इनके पुत्र महीपाल ९१७ ई० में राज्य कर रहे थे। इनके समसामयिक होने से राजशेखर का भी यही समय (दशम शतक का पूर्वार्ध) है। इस प्रमाण के अतिरिक्त विभिन्न कवियों के राजशेखर-विषयक निर्देशों से भी इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। इन्होंने काव्यमीमांसा में काश्मीर-नरेश जयापीड़ (७७९ ई०—८१३ ई०) के सभापति उद्भट का तथा अवन्तिवर्मा (८५७–८८४ ई०) के सभा-पण्डित आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। राजशेखर के मत का उल्लेख सबसे पहले सोमदेव ने अपने 'यशःतिलकचम्पू' में किया है जिसकी रचना ९६० ई० में हुई थी। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजशेखर लगभग ८८० ई० से लेकर ९२० ई० के बीच में थे।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें (१) बालरामायण, (२) बालभारत, (३) विद्धशालभञ्जिका तथा (४) कर्पूरमंजरी मुख्य हैं। काव्यमीमांसा इनका अलंकारशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि आज से चालीस वर्ष पहले हुई। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० १) बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ १८ भागों या अधिकरणों में लिखा था जिसका 'कविरहस्य' नामक केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। इस अधिकरण में १८ अध्याय हैं जिनमें कवि तथा आलोचक के

१—आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥

—बालरामायण १।१८।

स्वरूप, प्रकार, काव्य के भेद, रीतिनिरूपण, काव्यार्थ की योनि, शब्दहरण तथा अर्थापहरण का विचार आदि अनेक उपादेय विषयों का नवीन तथा रोचक बर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस अधिकरण का नाम कविरहस्य यथार्थ है क्योंकि लेखक ने कवि के लिए आवश्यक समस्त सिद्धान्तों का एकत्र निरूपण बड़ी ही सुन्दरता तथा नवीनता के साथ किया है। इस ग्रन्थ में कतिपय नूतन सिद्धान्त हैं। जैसे काव्यपुरुष की उत्पत्ति तथा साहित्य-विद्यावधू के साथ उसका विवाह संबंध। प्राचीन काल में इस ग्रन्थ का आदर खूब ही था क्योंकि हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, भोजराज तथा शारदातनय आदि आलंकारिकों ने इस ग्रन्थ से अनेक प्रसंगों का पूरा का पूरा उद्धरण अपने ग्रन्थ में उठाकर रख दिया है। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक अज्ञातनामा, अप्रसिद्ध आलंकारिकों का निर्देश किया गया है जिससे हम उनके नाम और सिद्धान्तों से अवगत हो सके हैं। राजशेखर भारत के प्राचीन भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। इसीलिए प्राचीन भारतीय भूगोल जानने की विपुल सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। राजशेखर बहुज्ञ आलंकारिक थे। भारत के विभिन्न प्रान्तों के कविगण काव्य का पाठ किस रीति से किया करते थे इसका रोचक विवरण हमें काव्यमीमांसा के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है।

११—मुकुलभट्ट

मुकुलभट्ट की एकमात्र कृति 'अभिधावृत्ति मातृका' है। इसमें केवल पन्द्रह कारिकाएँ हैं जिनके ऊपर ग्रन्थकार ने ही वृत्ति लिखी है। इसमें अभिधा तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है। ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में उद्भट, कुमारिल-भट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, महाभाष्य, विज्जका, वाक्यपदीय तथा शबरस्वामी जैसे ग्रन्थकार और ग्रन्थों का निर्देश किया है। किसी समय इस ग्रन्थ की इतनी ख्याति थी कि मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणा के भेदों का विवेचन इसी ग्रंथ के आधार पर किया है। काव्यप्रकाश के 'लक्षणा तेन षड्विधा' तथा लक्षणा के स्वरूप का विवेचन 'अभिधावृत्तिमातृका' की सहायता के बिना कथमपि नहीं समझा जा सकता।

ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि ग्रन्थकार के पिता का नाम भट्ट कल्लट था जो कल्हण पण्डित के अनुसार काश्मीर-नरेश अवन्तिबर्मा के (८५५–८८३ ई०) राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे तथा इस प्रकार आनन्दबर्धन

और रत्नाकर के समकालीन थे[1] । कल्हण के इस कथन के अनुसार मुकुलभट्ट को नवम शताब्दी के अन्त तथा दशम के आरम्भ में मानना उचित होगा। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि उन्होंने अलंकारशास्त्र की शिक्षा मुकुलभट्ट से पाई थी[2] । इन्होंने अपनी टीका के अन्तिम श्लोक में मुकुल-भट्ट की प्रशस्त प्रशंसा की है और उन्हें मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित निर्दिष्ट किया है। इस उल्लेख से मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में निश्चित होता है।

१२—धनञ्जय

धनञ्जय का 'दशरूपक' भरत नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन तथा उपादेय सार-ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र इतना बिपुलकाय ग्रन्थ है कि उसके भीतर प्रवेश करना विद्वानों के लिए भी कष्टसाध्य है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की।

धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था। दशरूपक के टीकाकार धनिक भी अपने को विष्णु का ही पुत्र बतलाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे धनञ्जय के ही भाई थे। दशरूपक की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में हुई थी[3] जो परमारवंश के सुप्रसिद्ध नरेश थे। मुञ्ज का समय ९७४ से ९९४ ई० तक है। यही समय दशरूपक की रचना का भी है। धनिक ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीका कुछ वर्षों के अनन्तर लिखी थी, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि इन्होंने पद्मगुप्त परिमल के 'नवसाहसांकचरित' के कुछ उद्धरण अपनी टीका में दिये हैं जिनकी रचना मुञ्ज के भाई तथा उत्तराधिकारी सिन्धुराज के समय में की गई थी।

१—अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः ।
अन्वन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ॥

राजतरंगिणी ५।६६

२—विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते ।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः ॥ अन्तिम पद्य ।

३—विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥

दशरूपक ४।८६ ।

धनञ्जय का एकमात्र ग्रन्थ दशरूपक है जिसमें चार प्रकाश या अध्याय और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाश में सन्धि के पाँच प्रकार, उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तु का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद, चारों नाट्य-वृत्तियों तथा उनके अंगों का वर्णन है। तृतीय में नाटक के दश प्रकारों का सांगोपांग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाश में नाटक के रस का विशिष्ट विवेचन है। रस-निष्पत्ति के विषय में धनञ्जय व्यंजनावादी नहीं हैं। ये तात्पर्यवादी ही हैं, विशेषतः भट्टनायक के मत से इनका सिद्धान्त मिलता है।

इस ग्रन्थ की टीका का नाम 'अवलोक' है जिसकी रचना धनञ्जय के ही भ्राता धनिक ने की है। यह टीका अनेक दृष्टियों से बड़ी ही उपादेय है। धनिकने 'काव्य-निर्णय' नामक एक अलंकार ग्रन्थ का भी निर्माण किया था, जिसके अनेक श्लोक इन्होंने इस टीका में उद्धृत किये हैं। धनञ्जय के ग्रन्थ की प्रसिद्धि प्राचीन काल में बहुत ही अधिक थी। इसीलिए इस पर अनेक टीकाओं की रचना का पता चलता है। नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम की टीकाएँ उतनी महत्त्वपूर्ण भले ही न हों परन्तु बहुरूप मिश्र की टीका तो बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है। ये चारों ही टीकाएँ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं जिनका प्रकाशन—कम से कम बहुरूप मिश्रकी टीका का—अत्यन्त आवश्यक है।

१३—भट्टनायक

आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को न माननेवाले आलंकारिकों में भट्टनायक प्राचीनतम तथा अग्रगण्य हैं। परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि इनका वह मौलिक ग्रन्थ जिसमें इन्होंने व्यंजना का खण्डन कर काव्य में भावना-व्यापार को स्वीकार किया है, अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके सिद्धान्त का परिचय अभिनवगुप्त के द्वारा 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में मिलता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदय-दर्पण' था जिसका पता पिछले आलंकारिकों के निर्देशों से भली भाँति मिलता है। महिमभट्ट का कहना है कि उन्होंने 'हृदयदर्पण' का बिना अवलोकन किये ध्वन्यालोक के खण्डन का समस्त श्रेय प्राप्त करने की अभिलाषा से 'व्यक्ति-विवेक' का निर्माण किया।

> **सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।**
> **स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥**

इस पद्य में श्लेष के द्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि 'दर्पण' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के सिद्धान्त का मार्मिक खण्डन 'व्यक्ति-विवेक' की रचना के पूर्व ही किया जा चुका था। इस पद्य की व्याख्या 'दर्पण' के रहस्य को भली भाँति समझाती है—

दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।

'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने भट्टनायक को 'हृदयदर्पणकार' कहा है। इन दोनों निर्देशों से यही प्रतीत होता है कि जिस 'दर्पण' ग्रन्थ का उल्लेख महिमभट्ट ने किया है वह भट्टनायक का 'हृदय-दर्पण' ही था। भट्टनायक ने अपने ग्रन्थ को ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने के ही लिए लिखा था, इसका पता लोचन से भी लगता है। लोचन में भट्टनायक के मत का उल्लेख अनेक बार आया है। इन निर्देशों की समीक्षा हमें इसी सिद्धान्त पर पहुँचाती है कि भट्टनायक ने 'ध्वन्यालोक' का खण्डन बड़ी ही सूक्ष्मता तथा मार्मिकता के साथ किया था।

भट्टनायक काश्मीरी थे और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्य में विद्यमान थे। अभिनवगुप्त ने इतना कटु तथा व्यक्तिगत आक्षेप इन पर किया है कि ये आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के समीप ही अधिक ज्ञात होते हैं। अतः इनका समय दशम शतक का मध्यकाल (९५० ई०) मानना नितान्त न्यायसंगत है। रस के विषय में इनका स्वतन्त्र मत था जिसका खण्डन लोचन तथा अभिनवभारती दोनों में किया गया है। इनके काव्य-सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है[1]।

१४—कुन्तक

कुन्तक या कुन्तल अलंकारशास्त्र के इतिहास में 'वक्रोक्ति-जीवितकार' के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विशिष्ट सिद्धान्त यह था कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। इसीलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन-शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय या उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्य-

---

१. बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग २, पृ० ३६८।

भंगीभणितिः' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व में विकसित करने का श्रेय कुन्तक को ही है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्वों को अन्तर्भुक्त कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उसपर साहित्य-मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

समय

इनके समय का निरूपण ग्रन्थ में निर्दिष्ट आलंकारिकों की सहायता से भली भाँति किया जा सकता है। कुन्तक आनन्दवर्धन (८५० ई०) के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से भली भाँति परिचित थे[1]। राजशेखर के ग्रन्थों का उद्धरण 'वक्रोक्ति-जीवित' में इतनी बार किया गया है कि निःसन्दिग्ध रूप से कुन्तक राजशेखर के पश्चाद्वर्ती हैं। उधर महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्त का पर्याप्त खण्डन किया है[2]। महिमभट्ट का समय ग्यारह शतक का अन्तिम भाग है। अतः कुन्तक का काल दशम शतक का अन्त तथा एकादश शतक का आरम्भ मानना उचित जान पड़ता है। अभिनवगुप्त के आविर्भाव का भी यही समय है। इस प्रकार दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। कुन्तक ने अभिनवगुप्त का न तो कहीं निर्देश किया है और न अभिनवगुप्त ने कुन्तक का। परन्तु 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती' से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त कुन्तक की वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों से परिचित थे[3]। अतः ये अभिनवगुप्त के समसामयिक होते हुए भी अवस्था में उनसे कुछ वृद्ध मालूम पड़ते हैं।

ग्रन्थ

कुन्तक की एकमात्र रचना 'वक्रोक्ति-जीवित' है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय या उन्मेष है जिनमें से प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हुए हैं परन्तु

---

१. वक्रोक्ति-जीवित पृ० ८९।

२. काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना, कुन्तकेन निजकाव्य-लक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता, श्लोक एष स निदर्शितो मया॥
व्यक्ति-विवेक पृ० ५८।

३. तथा हि—'तटीतारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः स्त्रीति नामापि मधुरम् इति कृत्वा लोचन पृ० १६०। यह समीक्षा वक्रोक्तिजीवित पृ० ३३ के आधार पर है यद्यपि अभिनव ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण प्रस्तुत करने के कारण डाक्टर सुशीलकुमार हमारे धन्यवाद के पात्र हैं[1]। इस ग्रन्थ में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों से लिये गये हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, साहित्य की कल्पना तथा वक्रोक्ति का लक्षण बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है। वक्रोक्ति के छः भेद ग्रन्थकार ने माने हैं तथा इन सभी भेदों का सामान्य निर्देश इस उन्मेष में किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रथम तीन प्रकार—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता का विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वाक्यवक्रता के अन्तर्गत ही अलंकारों का अन्तर्निवेश किया गया है। कुन्तक ने अलंकारों की छानबीन एक नवीन दृष्टि से की है। इसके परिचय के लिए इस उन्मेष का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। चतुर्थ उन्मेष में वक्रोक्ति के अन्तिम दो प्रकार—प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कुन्तक का वैशिष्ट्य वक्रोक्ति की महनीय कल्पना के कारण है। "वक्रोक्ति अलंकार का सर्वस्व तथा जीवन है", भामह की इस उक्ति से स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक विधान काव्य में निर्दिष्ट किया है। काव्य में रस तथा ध्वनि के पूर्ववर्ती सिद्धान्तों से ये पूर्णतः अवगत थे। परन्तु काव्य में इन्हें पृथक् स्थान न देकर ये वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत माने गये हैं। कुन्तक की विवेचना नितान्त मौलिक है। इनकी शैली अत्यन्त रोचक तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी आलोचना अलोकसामान्य भावकप्रतिभा की द्योतिका है। पिछले आलंकारिकों पर इनका प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है। इनकी वक्रोक्ति को ध्वनिवादी आचार्यों ने मान्यता भले ही न प्रदान की हो, परन्तु उसके विशिष्ट प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त मानकर उन लोगों ने कुन्तक के प्रति अपना सम्मान ही दिखलाया है।

१५—महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम अग्रगण्य है। 'व्यक्तिविवेक' की रचना का उद्देश्य ही ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करना था। इस ग्रन्थ के

१—कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० ९) में प्रकाशित।
(द्वितीय परिवर्धित सं० १९२८)

आरम्भ में ही इन्होंने प्रतिज्ञा की है कि समस्त ध्वनि को अनुमान के अन्तर्भुक्त दिखलाने के लिए ही मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है—

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥

राजानक महिमक या महिमभट्ट साधारणतया काव्यग्रन्थों में अपने ग्रन्थ के नाम के कारण 'व्यक्ति-विवेककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजानक उपाधि से ही प्रतीत होता है कि ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने भीम के पुत्र तथा अपने पौत्रों की व्युत्पत्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने तत्त्वोक्ति-कोष' नामक एक अन्य अलंकार ग्रन्थ की भी रचना की थी[1] जिसका पता अभी तक नहीं चला है।

इनके मत का उल्लेख 'अलंकार सर्वस्व' में रुय्यक ने किया है। अतः ये ११०० ई० से पूर्ववर्ती होंगे। इन्होंने 'बाल-रामायण' के पद्यों को उद्धृत किया है तथा 'वक्रोक्तिजीवित' और 'लोचन' के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः ये १००० ई० के बाद में आविर्भूत हुए थे। अतः इनका समय ११वीं शताब्दी का मध्यकाल मानना उचित है।

ग्रन्थ

महिमभट्ट की एकमात्र कृति व्यक्तिविवेक है[2]। जैसा इसके नाम से प्रतीत होता है यह 'व्यक्ति' अर्थात् व्यञ्जना का 'विवेक' अर्थात् समीक्षण है। इस ग्रन्थ में तीन अध्याय या विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में व्यंजना का मार्मिक खण्डन है। ध्वनि को ये लक्षणा से पृथक् नहीं मानते। अतः अनुमान के द्वारा समस्त ध्वनि-प्रकारों का विवरण दिखलाकर महिमभट्ट ने अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष स्वीकार कर उसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ

१—इत्यादि प्रतिभातत्वमस्माभिरुपपादितम् ।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम् ॥
व्यक्ति-विवेक पृ० ११८ (अनन्तशयन संस्करण)

२—रुय्यक की वृत्ति के साथ मूलग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इधर एक नवीन टीका (मधुसूदन मिश्र लिखित) के साथ यह ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ है।

किया गया है। अनौचित्य दो प्रकार का होता है—अर्थविषयक और शब्द-विषयक अथवा अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग अनौचित्य के भीतर रसदोष का अन्तर्भाव किया गया है। बहिरंग अनौचित्य पाँच प्रकार का होता है—(१) विधेयाविमर्श, (२) प्रक्रमभेद, (३) क्रमभेद, (४) पौनरुक्त्य और (५) वाच्यावचन। इन्हीं पाँचों दोषों के पाण्डित्यपूर्ण विवरण से यह विमर्श पूर्ण है। काव्य में दोष-निरूपण की दृष्टि महिमभट्ट की सचमुच अलौकिक है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में महिमभट्ट के इन सिद्धान्तों को पूर्णतया अपनाया है। आलोचकों में मम्मट के दोषज्ञ होने की प्रसिद्धि है—दोषदर्शने मम्मटः; परन्तु महिमभट्ट से तुलना करने पर यह गौरव आचार्य महिमभट्ट को ही देना उचित प्रतीत होता है। जिस आलोचक ने 'काव्यप्रकाश' की स्तुति में यह प्रशस्त पद्य—

काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलांगना।
अनेन प्रसभाकृष्टा, कष्टामेषाऽश्नुते दशाम्॥—

लिखा है सम्भवतः उसे यह ज्ञात नहीं था कि व्यक्तिविवेक में महिमभट्ट ने दोषों का निरूपण तथा व्यवस्थापन बड़ी प्रामाणिकता के साथ पहले ही कर दिया था जिसका ग्रहण मम्मट ने अपने सप्तम उल्लास में किया है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-स्थापन पर टूट पड़ता है और इसमें से चालीस ध्वनि के उदाहरणों को लेकर यह दिखलाता है कि ये सभी अनुमान के ही प्रकार हैं।

'व्यक्तिविवेक' की एक ही प्राचीन टीका है और वह भी अधूरी ही मिली है। यह टीका मूल के साथ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई है। इस टीका-(वृत्ति) के रचयिता का नाम उपलब्ध नहीं है। परन्तु आन्तरिक परीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने ही इस वृत्ति की रचना की थी। इस वृत्तिकार का कहना है (पृ० ३२) कि उसने साहित्य-मीमांसा तथा नाटक-मीमांसा नामक ग्रन्थों की रचना की थी और ये ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व के (पृ० ६१) प्रामाण्यपर रुय्यक की ही रचना हैं। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ही व्यक्तिविवेक की टीका के रचयिता हैं। यह टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है परन्तु टीकाकार ध्वनिवादी है। अतः मूलग्रन्थकर्ता के दृष्टिकोण से टीकाकार का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण उसने महिमभट्ट की कटु आलोचना की है। रुय्यक ने ध्वनिकार के मत का समर्थन करते हुए महिमभट्ट की बड़ी खिल्ली उड़ाई है।—तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति (पृष्ठ ४१)।

१६—क्षेमेन्द्र

विभिन्न विषयों के ऊपर विपुल काव्यराशि प्रस्तुत करनेवाले महाकवि क्षेमेन्द्र अलंकार-जगत् में औचित्य-विषयक महनीय कल्पना के कारण सदा प्रख्यात रहेंगे। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल से अनेक उपदेशप्रद काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया है। अलंकार साहित्य में इनकी विशिष्ट कृति 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पितामह का नाम सिन्धु और पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। ये पहले शैव थे। परन्तु अपने जीवन की सन्ध्या में सोमाचार्य के द्वारा वैष्णवधर्म में दीक्षित किये गये। अपने समस्त ग्रन्थों में इन्होंने अपना दूसरा नाम 'व्यासदास' लिखा है[1]। साहित्यशास्त्र में ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे[2]। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का भी उल्लेख किया है। 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' की रचना काश्मीर-नरेश अनन्त के (१०२८–१०६५ ई०) राज्यकाल में की गई थी[3]। इन्होंने 'दशावतार-चरित' का रचनाकाल १०६६ ई० दिया है जब अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश काश्मीर देश पर राज्य कर रहे थे। अतः क्षेमेन्द्र का आविर्भावकाल ११वें शतक का उत्तरार्ध है।

ग्रन्थ

इनका सबसे मौलिक ग्रन्थ 'औचित्यविचार-चर्चा' है। इसमें औचित्य के सिद्धान्त की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। काव्य में औचित्य की कल्पना का प्रथम निर्देश हमें भरत में उपलब्ध होता है। इसका विशदीकरण आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर ध्वनिवादी क्षेमेन्द्र

१—इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥

—दशावतारचरित १०।४१

२—श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृति-कारिणः॥

—बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

३—तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। —औ० वि० च०।
राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोयं कृतः॥ —कवि-कंठाभरण।

ने औचित्य के नाना प्रकारों का विशिष्ट विवेचन इस छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में किया है। 'सुवृत्त-तिलक' छन्द के विषय में इनका सुन्दर ग्रन्थ है जिसे 'वृत्त-औचित्य' के विषय में 'औचित्यविचार-चर्चा' का पूरक ग्रन्थ समझना चाहिये। 'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा के विषय में लिखा गया है। इसमें पाँच सन्धि या अध्याय हैं और ५५ कारिकाएँ हैं। इसमें कवित्वप्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण-दोष का विवेचन संक्षेप में परन्तु सुबोध रीति से किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने 'कविकर्णिका' नामक ग्रन्थ अलंकार के ऊपर लिखा था। इसका उल्लेख 'औचित्यविचार-चर्चा' के द्वितीय श्लोक में उपलब्ध होता है परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है।

अभिनवगुप्त के दर्शनशास्त्र में एक पट्टशिष्य थे जिनका नाम क्षेमराज था। इन्होंने शैवदर्शन के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है तथा अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी है। नाम की समता के कारण कुछ लोग इन्हें क्षेमेन्द्र से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं है। दोनों की धार्मिक दृष्टि में भेद था। क्षेमराज तो पक्के शैव थे परन्तु क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। इसीलिए इन्होंने विष्णु के दशावतार के विषय में अपना सुन्दर ग्रन्थ 'दशावतार-चरित' लिखा है। क्षेमेन्द्र के कौटुम्बिक वृत्त से हम भली भाँति परिचित हैं जिसका उल्लेख इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों में किया है। परन्तु क्षेमराज अपने विषय में नितान्त मौन हैं। इन्हीं कारणों से समकालीन तथा समदेशीय होने पर भी क्षेमेन्द्र और क्षेमराज दोनों भिन्न व्यक्ति हैं।

१७—भोजराज

धारानरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत स्वयं एक प्रगाढ़ पण्डित तथा प्रतिभाशाली आलोचक भी थे। अलंकारशास्त्र में उनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही अत्यन्त विशालकाय हैं। भोज का समय प्रायः निश्चित है। मुञ्जराज के अनन्तर राज्य करनेवाले 'नवसाहसांक' उपाधिधारी सिन्धुराज या सिन्धुल भोजराज के पिता थे। भोजराज के एक दान-पत्र का समय संवत् १०७८ (१०२१ ई०) है। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख संवत् १११२ (१०५५ ई०) का मिला है। इससे सिद्ध होता है कि १०५४ ई० भोज की अन्तिम तिथि है। अर्थात् भोज का आविर्भाव-काल ११वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है।

ग्रन्थ

भोज ने अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी दो ग्रन्थों की रचना की है—(१) सरस्वती-कण्ठाभरण[1] और (२) शृंगार-प्रकाश[2]। सरस्वतीकण्ठाभरण रत्नेश्वर की टीका के साथ काव्यमाला में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोषगुण का विवेचन है। इन्होंने पद, वाक्य और वाक्यार्थ प्रत्येकके १६ दोष माने हैं। शब्द तथा अर्थ के पृथक्-पृथक् २४ गुण माने हैं। दूसरे परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों का वर्णन है। तीसरे परिच्छेद में २४ अर्थालंकारों तथा चतुर्थ में २४ उभयालंकारों का विवेचन है। पंचम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया है। सरस्वती-कण्ठाभरण में इन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारों के लगभग १५०० श्लोकों को उद्धृत किया है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मिका है। इन्होंने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए प्राचीन आलंकारिकों के मतों का समावेश अपने ग्रन्थ में अधिकता से किया है। परन्तु इनके सबसे प्रिय उपजीव्य आलंकारिक दण्डी हैं जिनके काव्यादर्श का आधा से अधिक भाग उदाहरण के रूप में इन्होंने उद्धृत किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में आये हुए उद्धरणों की सहायता से संस्कृत के अनेक कवियों का समयनिरूपण हम बड़ी आसानी से कर सकते हैं।

भोजराज की दूसरी कृति शृंगार-प्रकाश है। यह ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में सम्पूर्णतया प्राप्त है परन्तु यह अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। डा० राघवन् ने इसके ऊपर जो अपनी थीसिस (निबन्ध) लिखी है उसीसे इस ग्रन्थ का पूरा परिचय प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे बड़ा, विस्तृत तथा विपुलकाय है। इसमें ३६ अध्याय या प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द और अर्थ विषयक अनेक वैयाकरण सिद्धान्तों का वर्णन है। नवम और दशम प्रकाश में गुण और दोष का विवेचन है। एकादश और द्वादश परिच्छेद में महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन क्रमशः दिया गया है।

१—सरस्वती-कण्ठाभरण—काव्यमाला (नं० ९४) निर्णयसागर से प्रकाशित।

२—यह ग्रन्थ अभी तक पूरा अप्रकाशित है। केवल तीन परिच्छेद (२२—२४ प्रकाश) मैसूर से १९२६ में प्रकाशित हुए हैं। ग्रन्थ के विवरण के लिए देखिए—डा० राघवन का 'शृंगार-प्रकाश' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ।

अन्तिम चौबीस प्रकाशों में रस का उदाहरण से मण्डित बड़ा ही सांगोपांग वर्णन है। शृंगार-प्रकाशको अलंकारशास्त्र का विश्वकोष कहना अनुचित न होगा, क्योंकि इसमें प्राचीन आलंकारिकों के मतों के साथ नवीन मतों का समन्वय कर एक बड़ा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में भोज को हम समन्वयवादी आलंकारिक मान सकते हैं। इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों को ग्रहण कर उनके परस्पर समन्वयका विधान बड़ी युक्ति के साथ किया है। काव्य के विविध अंगोंपर इनके नवीन मत हैं। इनका सबसे विशिष्ट मत यह है कि शृंगाररस ही समस्त रसों में एकमात्र रस है—

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु ,
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥

परन्तु यह शृंगार साधारण शृंगार से भिन्न है। शृंगार को ये अभिमानात्मक मानते हैं और इसी विशिष्ट मत के निरूपण के लिए इन्होंने अपना विपुलकाय ग्रन्थ 'शृंगार-प्रकाश' लिखा है। शृंगार-प्रकाश की तो टीका नहीं मिलती परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नेश्वरकृत टीका उपलब्ध है तथा मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित भी है[1]। यह टीका तिरहुतके राजा रामसिंह देव के आग्रहपर लिखी गई थी। यह टीका प्रामाणिक है तथा ग्रन्थ को समझने में विशेष सहायक है।

१८—मम्मट

अलंकार-शास्त्र के इतिहास में मम्मट के काव्यप्रकाश का स्थान बड़ा ही गौरवपूर्ण है। अलंकार जगत्में अब तक जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे उन सबका दिग्दर्शन कराते हुए काव्य के स्वरूप तथा अंगोंका यथावत् विवेचन मम्मट ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह ग्रन्थ उस मूल स्रोत के समान है जहाँ से काव्य-विषयक विभिन्न काव्य-धारायें फूट निकलीं। ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्ट ने ध्वनि को ध्वस्त करने की जो युक्तियाँ दी थीं, उन सबका खण्डन कर मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। इसी कारण वह 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य'की उपाधिसे विभूषित किये गये हैं।

वृत्त

मम्मट का कौटुम्बिक वृत्त विशेष उपलब्ध नहीं होता। इनके टीकाकार भीमसेन ने मम्मट को कैय्यट उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता तथा जैय्यट का पुत्र बतलाया है। परन्तु यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि उव्वट ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य में अपने को वज्रट का पुत्र लिखा है, न कि जैय्यट का। काश्मीरी पण्डितों की परम्परा के अनुसार मम्मट नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं परन्तु यह भी प्रवादमात्र है। क्योंकि यदि श्रीहर्ष काश्मीरी होते तो काश्मीर में जाकर काश्मीरी विद्वानों की अपने ग्रन्थ के विषय में सम्मति प्राप्त करनेका उद्योग ही क्यों करते?

मम्मट के प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा व्यापक अनुशीलन के विषय में कोई सन्देह नहीं कर सकता। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण के भी महान् मर्मज्ञ विद्वान् प्रतीत होते हैं। महाभाष्य और वाक्यपदीय का उद्धरण देना, शब्द-संकेत के विषय में वैयाकरणों के सिद्धान्त को मानना, वैयाकरणों को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् स्वीकार करना इनके व्याकरण-विषयक पक्षपात का यथेष्ट परिचायक है।

समय

मम्मट ने अभिनवगुप्त को (जो १०१५ ई० में जीवित थे) तथा महाकवि पद्मगुप्त को (जिन्होंने १०१० ई० के आसपास अपना 'नवसाहसांक-चरित' लिखा) अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इन्होंने उदात्त अलंकार के उदाहरण-विषयक पद्य में विद्वज्जनों के प्रति की जानेवाली भोज की दानशीलता का उल्लेख किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोजके अनन्तर आविर्भूत हुए। काव्यप्रकाश के ऊपर सर्वप्रथम टीका माणिक्यचन्द्र सूरि की संकेतनाम्नी है जिसकी रचना १२१६ संवत् में (११६० ई०) हुई थी। रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' में काव्यप्रकाश के मतका खण्डन किया है। इस प्रकार मम्मट का समय भोज (१०५० ई०) तथा रुय्यक के (११५० ई०) बीच में अर्थात् ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानना चाहिए।

ग्रन्थ

मम्मट की एकमात्र रचना **काव्यप्रकाश** है। इसमें दस उल्लास हैं तथा समस्त कारिकाओं की संख्या १५० के लगभग है। यह ग्रन्थ पाण्डित्य

१—यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेः तत् त्यागलीलायितम्।

—काव्यप्रकाश, उल्लास १०।

तथा गम्भीरता में अपना सानी नहीं रखता। इसकी शैली सूत्रात्मक है। अतः इसे समझने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। यही कारण है कि भाव-प्रकाशिनी ७० टीकाओं के लिखे जाने पर भी इसका भावार्थ अभी तक दुर्बोध बना हुआ है। अतः पण्डित-मण्डली का काव्य-प्रकाश के विषय में निम्नांकित कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, लक्षण तथा त्रिविध भेद का वर्णन है। द्वितीय में शब्द-शक्ति का विचार तथा विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। तृतीय उल्लास में शाब्दी व्यंजना है। चतुर्थ में ध्वनि के समस्त भेदों का तथा रस एवं भाव का विवेचन विस्तार से किया गया है। पंचम में गुणीभूत व्यंग्य काव्य की व्याख्या के अनन्तर व्यंजना को नवीन शब्द-शक्ति मानने की युक्तियाँ बड़ी प्रौढ़ता तथा पाण्डित्य के साथ प्रदर्शित की गई हैं। षष्ठ उल्लास बहुत ही छोटा है और उसमें केवल चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन है। सप्तम उल्लास में काव्य-दोषों का वर्णन विस्तार के साथ है। यह उल्लास काव्यलक्षण के 'अदोषौ' पद की व्याख्या करता है। अष्टम उल्लास में 'सगुणौ' की व्याख्या है। मम्मट के मत में गुण केवल तीन ही होते हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। इन्हीं के भीतर भरत-प्रतिपादित दशगुण तथा वामन-निर्दिष्ट बीस गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है। नवम और दशम उल्लास में क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण उदाहरणों के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ के उपर्युक्त सारांश से उसकी व्यापकता का पता लग सकता है।

इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो नाना काव्य-ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति मम्मट की ही निजी रचनाएँ हैं। इन कारिकाओं में कहीं-कहीं भरत की कारिकाएँ सम्मिलित कर ली गई हैं। सम्भवतः इसी कारण बंगाल में यह प्रवाद उठ खड़ा हुआ था कि कारिकाएँ भरत-रचित हैं जिन पर मम्मट ने केवल वृत्ति की रचना की है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पीछे के आलंकारिकों ने भी कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही माना है। हेमचन्द्र, जयरथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ इन सब मान्य आलंकारिकों ने कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना का श्रेय मम्मट को ही दिया है। अन्तरंग परीक्षा से भी यही मत उचित प्रतीत होता है। (१) चतुर्थ उल्लास में रस का

निर्देश कर उसकी पुष्टि के लिए भरत के रससूत्र का निर्देश किया गया है— यथा तदुक्तं भरतेन। यदि भरत ही काव्यप्रकाश की कारिकाओं के रचयिता होते तो ऐसा निर्देश वे कभी नहीं करते। (२) दशम उल्लास में यह निम्न-कारिका मिलती है—

"साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्।"

इस कारिका का आशय है कि रूपक का भी एक प्रभेद 'मालारूपक' होता है और यह मालारूपक पूर्व में निर्दिष्ट मालोपमा के समान ही होता है। परन्तु मालोपमा का वर्णन कारिका में न होकर वृत्ति में ही पहले किया गया है। 'माला तु पूर्ववत्' से स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति वृत्ति तथा कारिका दोनों के लिखने के लिये उत्तरदायी है।

काव्यप्रकाश के अन्त में यह पद्य उपलब्ध होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यक्, विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥

इसके ऊपर सबसे प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र का कहना है कि यह ग्रन्थ दूसरे के द्वारा आरम्भ किया तथा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा समाप्त किया गया। इस प्रकार दो व्यक्तियों के द्वारा रचित होने पर भी संघटना के कारण यह अखण्ड रूप में प्रतीत हो रहा है—

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशात् अखण्डायते[1]।"

काश्मीर के ही निवासी राजानक आनन्द ने अपनी टीका में प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है और लिखा है कि मम्मट ने परिकर अलंकार (दशम उल्लास) तक ही काव्यप्रकाश की रचना की थी तथा अवशिष्ट भाग को अलक या अल्लट नामक पण्डित ने पूरा किया[2]। इसीलिए ग्रन्थ की

१—उपर्युक्त श्लोक की माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका।

२—यदुक्तं—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा॥

अन्येनाप्युक्तम्—काव्यप्रकाशदशकोऽपि निबन्ध-कृद्भ्यां,
द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।

पुष्पिका में काव्यप्रकाश राजानक मम्मट तथा अल्लट की सम्मिलित रचना माना गया है[१]। अर्जुनवर्मदेव के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि अल्लट ने मम्मट को सप्तम उल्लास की रचना में भी सहायता दी थी[२]। इन निर्देशों से यही तात्पर्य निकलता है कि मम्मट को अपने ग्रन्थ के सप्तम तथा दशम उल्लास की रचना में अल्लट की सहायता प्राप्त हुई थी।

टीकाकार

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की संख्या लगभग सत्तर है। प्राचीन काल में काव्यप्रकाश पर टीका लिखना विद्वत्ता का मापदण्ड था। इसीलिए मौलिक ग्रन्थ लिखनेवाले आचार्यों ने भी काव्यप्रकाश के ऊपर टीका लिखकर अपने पांडित्य का परिचय दिया। इनमें कतिपय प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। (१) राजानक रुय्यक कृत संकेत टीका (२) माणिक्यचन्द्र सूरि कृत संकेत टीका—रचनाकाल संवत् १२१६ (११६० ई०)। (३) नरहरि या सरस्वतीतीर्थकृत बालचित्तानुरञ्जिनी टीका। रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध। (४) जयन्तभट्ट की टीका का नाम दीपिका है। रचनाकाल १३५० संवत् (१२९४ ई०)। जयन्तभट्ट गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के पुरोहित के पुत्र थे तथा कादम्बरी कथासार के रचयिता काश्मीर के जयन्तभट्ट से भिन्न हैं। (५) सोमेश्वर-कृत टीका का नाम काव्यादर्श है। रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्त-रार्ध है। (६) वाचस्पति मिश्र-कृत टीका। ये भामतीकार से भिन्न हैं परन्तु मैथिल ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं। (७) चण्डीदास की टीका का नाम दीपिका है। ये विश्वनाथ कविराज के पितामह के अनुज थे। अतः इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्य भाग है। यह टीका सरस्वतीभवन सीरीज, काशी से आधी प्रकाशित हुई है। (८) विश्वनाथ कविराज की टीका का नाम काव्यप्रकाश-दर्पण है। इसका समय १४वें शतक का प्रथमार्ध है।

१—इति श्रीमद्राजानकामल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाश-संकेते प्रथम उल्लासः।

२—यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां—प्रसादे वर्तस्व। दूसरा संकेत—अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति—दोषमाचक्षते। ...... तदा वाग्देवतादेश इतिव्यवसितव्य एवासौ। किंतु ह्रादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।—अमरुशतक की टीका।

(९) गोविन्द ठक्कुर—इनकी महत्त्वपूर्ण टीका का नाम है—काव्य-प्रदीप, जिस पर वैद्यनाथ ने प्रभा तथा नागोजी भट्ट ने उद्योत नामक टीकाएँ लिखी हैं। गोविन्द ठक्कुर मिथिला के रहनेवाले थे। ये विश्वनाथ कविराज को अर्वाचीन ग्रन्थकार कहते हैं। प्रभाकरभट्ट ने (१६वीं शताब्दी) इनका उल्लेख अपने रसप्रदीप में किया है। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। यह टीका काव्यमाला तथा आनन्दाश्रम-संस्कृत-सीरीज में प्रकाशित हुई है। (१०) भीमसेन दीक्षित—इनकी टीका का नाम है सुधासागर या सुबोधिनी; जिसकी रचना का समय १७२३ ई० है। यह टीका चौखम्भा, काशी से प्रकाशित हुई है। (११) इधर वामन पण्डित झलकीकर ने काव्यप्रकाश के ऊपर एक बड़ी सरल तथा सुन्दर टीका लिखी है जिसका नाम सुबोधिनी है। इस टीका की यह विशेषता है कि इसमें अप्रकाशित प्राचीन टीकाओं का उद्धरण देकर काव्यप्रकाश का मर्म अच्छी तरह से समझाया गया है। यह टीका बम्बई संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुई है। यह बड़ी ही लोकप्रिय टीका है।

काव्यप्रकाश के अतिरिक्त मम्मट ने एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की है जिसका नाम 'शब्दव्यापारविचार' है। यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है और शब्दवृत्तियों का समीक्षण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

१९—सागरनन्दी

नाटकलक्षण रत्नकोश—इनका नाटकविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[1] है। ग्रन्थकार का नाम था सागर, परन्तु नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागरनन्दी के नाम से विख्यात थे। उनका कहना है कि श्रीहर्ष, विक्रम, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्टक तथा बादर के मतानुसार भरत मुनि के सिद्धान्तों का अनुशीलन कर इस ग्रन्थ की रचना की गई है[2]। ये नाट्य के

१—माइलेस डिलन [Myles Dillon] (डबलिन के संस्कृताध्यापक) के द्वारा सम्पादित तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७।

२—श्रीहर्ष-विक्रमनराधिप-मातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टक-बादराणाम्।
एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्॥

—ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक।

आचार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके मतों का परिचय नाट्यग्रन्थों में विरल ही है। इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित विषयों का पर्यालोचन किया गया है—रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाप्रकार, अर्थप्रकृति, अंक, उपक्षेपक, सन्धि, प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलंकार, रस, भाव, नायिका के गुण तथा भेद, रूपक के भेद तथा उपरूपक के अन्य प्रकार। इस प्रकार नाटक के लिए आवश्यक उपकरणों का सरल वर्णन ग्रन्थ की विशेषता है।

सागरनन्दी के समय का निरूपण अनुमानतः किया गया है। नन्दी के द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारों में राजशेखर (९२० ई०) सबसे प्राचीन हैं। यह उनकी एक अवधि है। दूसरी अवधि का निरूपण नन्दी को अपने ग्रन्थों में उद्धृत करनेवाले ग्रन्थकारों के समय से किया जा सकता है। सुभूति, सर्वानन्द, जातवेद, रायमुकुट, कुम्भकर्ण, शुभंकर तथा जगद्धर ने अपने ग्रन्थों में 'रत्नकोश' के मत तथा पद्य उद्धृत किये हैं। इनमें प्रथम चार अमरकोश के टीकाकार हैं। अन्य दो नाट्य तथा संगीत के रचयिता हैं। अन्तिम ग्रन्थकार ने मालतीमाधव तथा मुद्राराक्षस की अपनी टीका में 'रत्नकोश' को अपना उपजीव्य बतलाया है। इनमें सुभूति का समय १०६० ई०–११५० ई० तक माना जाता है। अतः सुभूति के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण सागरनन्दी का समय ११ शतक के मध्यभाग से पूर्ववर्ती होना चाहिये। अतः इन्हें हम दशरूपक के कर्ता धनञ्जय का समकालीन अथवा किञ्चित् पूर्ववर्ती मान सकते हैं।

इनके ग्रन्थ में प्रचलित नाट्यग्रन्थों से अनेक वैशिष्ट्य है। उदाहरणार्थ सागरनन्दी वर्त्तमान नरपति के चरित्र को नाटक के विषय बनाने के पक्ष में हैं, परन्तु अभिनवगुप्त की सम्मति इसके ठीक विपरीत है। वे वर्त्तमान राजा के चरित को नाटक की वस्तु बनाने के विरोधी हैं[1]। नन्दी ने वृत्तियों को रसों की दृष्टि से विभाजन के अवसर पर कोहल का अनुवर्तन किया है, भरत का नहीं। अभिनवभारती के अनुसार कोहल तथा भरत

१—वर्त्तमान-राजचरितं चावर्णनीयमेव। तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपितस्य अकिंचित्करत्वात् योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवद्। एतदर्थमेव प्रख्यातग्रहणं प्रकर्षद्योतकं पुनः पुनरुपात्तम्।

—अभिनवभारती १८।१।२, पृ० ४१३।

में इस प्रसंग में मतभेद है[1]। अन्य सूक्ष्म भेद भी धनञ्जय के सिद्धान्त से इस ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सागरनन्दी का ग्रन्थ हमारे शास्त्र के मध्य युग में विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता था[2]।

२०—अग्निपुराण

पुराण भारतीय विद्या के आगार हैं। इनमें केवल भारतीय वैदिक धर्म का ही विशिष्ट विवेचन नहीं है, प्रत्युत वेद से सम्बद्ध अनेक विद्याओं का भी विवरण अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है। विशेषतः अग्निपुराण तो प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का विश्वकोष ही है। इसके कतिपय अध्याय में साहित्य-शास्त्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है। काव्यप्रकाश की 'आदर्श' टीका के रचयिता महेश्वर[3] ने तथा विद्या-भूषण की 'साहित्य-कौमुदी' की टीका 'कृष्णानन्दिनी'[4] में 'अग्निपुराण' साहित्य-शास्त्र का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ निर्दिष्ट किया गया है जहाँ से स्फूर्ति तथा सामग्री ग्रहण कर भरत मुनि ने अपनी कारिकाओं की रचना की। परन्तु ग्रन्थ की तुलनात्मक परीक्षा से पिछले आलंकारिकों का यह मत प्रमाणसिद्ध नहीं जान पड़ता।

१—कोहल का मत—(रत्नकोश पृ० १०५९–६३)

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्याद्
सात्त्वत्यपीह गदिताऽद्भुतवीररौद्रैः।
शृंगारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-
दिष्टा भयानकयुताऽरभटी सरौद्रा॥

अभिनयभारती ने इस पद्य की तृतीय पंक्ति के मत को मुनिमत से विरुद्ध होने से उपेक्षणीय माना है।

द्रष्टव्य, अभिनवभारती (द्वि० खण्ड, पृ० ४५२)

२—सागरनन्दी के काल-निर्णय के लिए द्रष्टव्य
New Indian Antiquary Vol. II No 6 (Sept. 1939)
pp 412-419.

३—सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।

४—काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध।

अग्निपुराण के दस अध्यायों में (अध्याय ३३६–३४६) अलंकार शास्त्र से संबद्ध विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है। ३३६ अध्याय में काव्य का लक्षण, काव्य का भेद, कला, आख्यायिका तथा महाकाव्य का वर्णन किया गया है। ३३७ अध्याय में नाट्यशास्त्र का विषय—यथा नाटक के भेद, प्रस्तावना, पाँच अर्थ-प्रकृति, पंचसन्धि वर्णित हैं। ३३८वें अध्याय में रस का विवेचन तथा नायक, नायिकाभेद का वर्णन है। ३३९वें अध्याय में चार प्रकार की रीति (पांचाली-गौड़ी-वैदर्भी और लाटी) तथा चार प्रकार की वृत्ति—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—का वर्णन है। ३४०वें अध्याय में नृत्य के अवसर पर होनेवाले अंग-विक्षेपों का विवरण है तथा अगले अध्याय में चार प्रकार के अभिनय का सात्त्विक, वाचिक, आंगिक तथा आहार्य का—उल्लेख है। ३४२वें अध्याय में शब्दालंकारों का विशेषतः अनुप्रास, यमक (दस भेद) तथा चित्र (सात भेद) वर्णन प्रस्तुत कर अगले दो अध्यायों में अर्थालंकार का निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में (३४५–४६) गुण तथा दोष का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन दसों अध्यायों में ३६२ श्लोक हैं।

अग्निपुराण के इस साहित्यखण्ड की रचना कब हुई, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस अंश का लेखक साहित्य के किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं है प्रत्युत उसने इस भाग को उपयोगी बनाने के लिए अनेक प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्तों का संग्रह-मात्र उपस्थित किया है। भरत-नाट्यशास्त्र के श्लोक तो अक्षरशः इसमें उद्धृत किये गये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि अलंकारों के लक्षण वे ही हैं जो काव्यादर्श में दिये गये हैं। रूपक, आक्षेप आदि कतिपय अलंकारों के लक्षण भामह से अधिकतर मिलते हैं। अग्निपुराण ध्वनि के सिद्धान्त से परिचित है परन्तु वह उसको काव्य में स्वतन्त्र स्थान न देकर आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकारों के भीतर ही समाविष्ट करता है। 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार यह मत भामह तथा उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों का है। इतना ही नहीं, इस भाग में भोज के साहित्य-विषयक विशिष्ट सिद्धान्तों का समावेश उपलब्ध होता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में विष्णुपुराण का तो उद्धरण दिया है, परन्तु अग्निपुराण का निर्देश कहीं नहीं किया है। अग्निपुराण को अलंकारशास्त्र का प्रभाणभूत ग्रन्थ मानकर इसको उद्धृत करनेवाले सर्वप्रथम आलंकारिक विश्वनाथ कविराज हैं। अग्निपुराण को धर्मशास्त्र के विषय में

प्रमाणभूत ग्रन्थ माननेवाले 'अद्भुतसागर' के रचयिता राजा बल्लालसेन हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को ११६८ ई० में आरम्भ किया था। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अग्निपुराण का यह साहित्य-विषयक अंश भोज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्यकाल में लिखा गया था। अर्थात् इस भाग की रचना १२०० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। अग्निपुराण को प्राचीन मौलिक ग्रन्थ न मानकर एक संग्रह-ग्रन्थ मानना ही न्यायसंगत है।

२१—रुय्यक

रुय्यक मम्मट के पश्चाद्वर्ती काश्मीर के मान्य आलोचक हैं। इनका दूसरा नाम 'रुचक' था और उनके आलंकारिकों ने इसी नाम से उनका उल्लेख किया है। ये निश्चित रूप से काश्मीर के निवासी थे; क्योंकि इनके नाम के साथ जो 'राजानक' उपाधि सम्मिलित है वह काश्मीर के ही मान्य विद्वानों को दी जाती थी। ये राजानक तिलक के पुत्र थे जिन्होंने जयरथ के कथनानुसार (विमर्षिणी पृ० २४, ११५) उद्भट के ऊपर 'उद्भट-विवेक' या 'उद्भट-विचार' नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था।

रचयिता—रुय्यक या मंखक ?

रुय्यक का "अलंकारसर्वस्व[1]" दो भागों में विभक्त है—सूत्र और वृत्ति। 'ध्वन्यालोक' के समान यहाँ भी यही समस्या है कि रुय्यक ने केवल सूत्रों की ही रचना की अथवा वृत्ति की भी। 'अलंकारसर्वस्व' के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने रुय्यक को सूत्र तथा वृत्ति दोनों का रचयिता माना है। ग्रन्थ के मंगलश्लोक का उत्तरार्ध इसी मत को पुष्ट करता है। इस उत्तरार्ध का रूप यों है—निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते। परन्तु दक्षिण भारत में उपलब्ध होनेवाली 'अलंकारसर्वस्व' की प्रतियों में इसके स्थान पर "गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते" लिखा मिलता है तथा उनकी पुष्पिका में मंखक या मंखुक—जो काश्मीर-नरेश के सान्धिविग्रहिक थे—वृत्ति के रचयिता बताये गये हैं। इस प्रकार वृत्ति तथा सूत्रकार की एकता में सन्देह उत्पन्न होता है।

श्रीकण्ठचरित के रचयिता राजानक मंख या मंखक काश्मीर के निवासी थे तथा रुय्यक के शिष्य थे। यदि ये शिष्य नहीं होते, तो सम्भव

१—जयरथ की टीका के साथ निर्णयसागर से तथा समुद्रबन्ध की टीका के साथ अनन्तशयन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

है कि यह मत उतना सारहीन नहीं दीख पड़ता परन्तु शिष्य होने से इस मत के सत्य होने में सन्देह होता है। श्रीकण्ठचरित की रचना का काल है ११३५ ई० से लेकर ११४५ ई०। यहाँ हमें यह विचार करना है कि हम उत्तर भारत की परम्परा को सत्य मानें जिसके अनुसार रुय्यक ने ही सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना की थी या दक्षिण भारतीय परम्परा में आस्था रखें जिसके अनुसार रुय्यक केवल सूत्रकार हैं और उनके शिष्य मंखक वृत्तिकार। काश्मीर की परम्परा निरवच्छिन्न है। परन्तु दक्षिण भारतीय परम्परा अव्यवस्थित है, क्योंकि दक्षिण भारत के ही मान्य आलंकारिक अप्पय दीक्षित ने रुय्यक को ही वृत्तिकार के नाम से उल्लिखित किया है। उधर जयरथ रुय्यक के देशवासी ही नहीं थे प्रत्युत उनसे एक शताब्दी के भीतर ही उत्पन्न हुए थे। अतः जयरथ को विशुद्ध परम्परा का ज्ञाता मानना नितान्त आवश्यक है। अलंकार ग्रन्थों में रुय्यक, रुचक तथा 'सर्वस्वकार' के नाम से तो अनेक बार उद्धृत किये गये हैं परन्तु आलंकारिक रूप से मंखक का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं होता। आलंकारिकों का साक्ष्य दोनों को एक मानने के पक्ष में है। 'अलंकार रत्नाकर' के रचयिता **शोभाकर** ने अलंकारसर्वस्व के सूत्र को और वृत्ति को एक ही कृति मानकर अनेकत्र खण्डन-मण्डन किया है। काव्यप्रकाश की टीका 'साहित्य चूड़ामणि' के कर्ता **भट्ट गोपाल** ने भी दोनों को एक ही माना है। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिकों ने भी सूत्र और वृत्ति के रचयिता को अभिन्न व्यक्ति माना है और वह 'रुय्यक' के सिवा कोई अन्य नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ने ही 'अलंकारसर्वस्व' के सूत्र तथा वृत्ति की रचना स्वयं की है।

समय

रुय्यक के आविर्भाव-काल की सूचना अनेक स्थलों से प्राप्त होती है। इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी थी जिससे इनका समय मम्मट के पश्चात् होना निश्चित है। रुय्यक ने अपने शिष्य मंखक के प्रसिद्ध महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' से पाँच पद्यों को उदाहरण-रूप से अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। मंखक के काव्य के रचनाकाल की अन्तिम तिथि ११४५ ई० है। अतः अलंकारसर्वस्व की रचना इस तिथि से पहले नहीं हो सकती। अतः रुय्यक का काल १२वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

ग्रन्थ

रुय्यक ने अलंकारशास्त्र पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम हैं—अलंकारमंजरी, अलंकारानुसारिणी नाटकमीमांसा, हर्षचरितवार्तिक। इन ग्रन्थों का परिचय हमें रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के निर्देशों से मिलता है। इनके प्रकाशित ग्रन्थों में (१) **सहृदयलीला**—एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमें स्त्रियों के सौन्दर्य गुण तथा आभूषण का विशेष वर्णन है। (२) **साहित्यमीमांसा**—अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित (सन् १९३६) इस ग्रन्थ के ८ प्रकरण है। इसकी दो विशेषतायें हैं—प्रथमतः इसमें व्यञ्जना शक्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं है, अपितु तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है जिससे रस की अनुभूति होती है (अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः पृ० ८५)। द्वितीयतः अर्थालंकारों के अन्तर्गत थोड़े से ही अलंकारों पर विचार है। सम्भवतः यह रुय्यक की आरम्भिक रचना है। सर्वस्व में इन्होंने ध्वनिवाद का आश्रय लिया है जो ग्रन्थकार के दृष्टिकोण के परिवर्तन का सूचक है। इस ग्रन्थ के प्रकरणों का विषय-विवेचन इस प्रकार है—कवि तथा रसिक के प्रभेद; वृत्त्यादि का लक्षण, दोष का विवेचन, गुण की मीमांसा, अलंकार का विवेचन, रस और भाव का विवेचन, कवि की चार विशेषतायें तथा आनन्द का रूप। इस प्रकार यह ग्रन्थ आलोचना के प्रकीर्ण विषयों का प्रतिपादन करता है और राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' की शैली का है। (३) **व्यक्तिविवेक टीका**—यह महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की व्याख्या है जो अब तक अधूरी ही मिली है। जयरथ ने इसका निर्देश 'व्यक्तिविवेकविचार' के नाम से किया है (विमर्शिणी पृ० १३)। यह वही टीका है जो अनन्तशयन ग्रन्थमाला में मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है। (४) **अलंकारसर्वस्व**—रुय्यक की कीर्ति का यही ग्रन्थ एकमात्र आधार है। यह अलंकार-निरूपण के लिए बड़ा ही प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ध्वनिसिद्धान्त का अनुयायी है और ग्रन्थ के आरम्भ में उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है। इन्होंने मम्मट से अधिक अलंकारों का निरूपण इस ग्रन्थ में किया है और साधारणतः इनका निरूपण मम्मट की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इन्होंने दो नये अलंकारों की उद्भावना की है जिनके नाम विकल्प और विचित्र हैं। विश्वनाथ कविराज, अप्पय दीक्षित तथा विद्याधर आदि पिछले आलंकारिकों ने रुय्यक के इस मान्य ग्रन्थ से प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त की है और इनके मतों का उद्धरण अपने मत की पुष्टि के लिए दिया है।

जयरथ को भी इन्हीं से 'विवेक' लिखने का प्रोत्साहन मिला था। 'पृथ्वीराज-विजय' से विमर्शिणी में उद्धरण मिलता है। पृथ्वीराज का अवसान-काल ११९३ ई० है। अतः जयरथ का समय द्वादश शतक का अन्तिम भाग तथा त्रयोदश का प्रथम भाग मानना उचित है (११८० ई०–१२३० ई०)।

उन्होंने अपने पौत्र को पढ़ाने के लिए **'अलंकारोदाहरण'** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह विमर्शिणी के अनन्तर लिखा गया था और विमर्शिणी में प्रत्याख्यात अलंकारों का भी यहाँ बालावबोध के लिए संग्रह किया गया है। **विमर्शिणी** में जयरथ ने शोभाकर के द्वारा अपने ग्रन्थ 'अलंकार-रत्नाकर' में किये गये सर्वस्व के खण्डनों को मार्मिक रीति से ध्वस्त किया है। इस प्रकार शोभाकर के मतों का यहाँ मार्मिक खण्डन भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जयरथ ने विमर्शिणी में **अलंकारसार** तथा **अलंकारभाष्य** नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो अलंकारसर्वस्व के अनन्तर लिखे गये थे। इनके मतों के तो वर्णन मिलते हैं, परन्तु रचयिताओं का पता नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों ने शोभाकर और जयरथ दोनों को प्रभावित किया था। भाष्य में 'संस्कार' तथा 'वितर्क' नामक दो नवीन अलंकारों का वर्णन किया गया है। यह सादृश्य और सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों से लक्षण का उपयोग रूपक में मानता है, जब कि सर्वस्व प्रथम प्रकार से ही। 'वास्तवत्वं नालंकारः' इस ग्रन्थकार का मत है। फलतः ये 'विनोक्ति' को अलंकार नहीं मानते। पण्डितराज ने इन मतों को अपने ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है (रसगंगाधर पृ० २३९ तथा ३६५)। इतिहास की दृष्टि से इन ग्रन्थों का क्रम यह है—अलंकारसर्वस्व–अलंकारसार–अलंकारभाष्य–अलंकाररत्नाकर–विमर्शिणी।

(३) **समुद्रबन्ध**—ये केरल देश के राजा रविवर्मा के राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे। इस राजा का जन्म १२६५ ई० में हुआ था। अतः समुद्रबन्ध का समय १३वीं शताब्दी का अन्त तथा १४वीं का आरम्भकाल है। जयरथ की टीका के समान पण्डित्यपूर्ण न होने पर भी यह व्याख्या मूल को समझने के लिए अत्यन्त उपादेय है[1]। समुद्रबन्ध अलंकार-शास्त्र के मान्य आचार्यों से पूर्ण परिचित थे। उनके उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है।

(४) **श्री विद्याचक्रवर्ती**—इनकी टीका का नाम 'अलंकारसंजीवनी' या 'सर्वस्वसंजीवनी' है। इसका उल्लेख दक्षिण भारत के पिछले आलंकारिकों

१—अनन्तशयन ग्रन्थमाला नं० ४० में प्रकाशित।

ने अपने ग्रन्थों में किया है। इन्होंने मम्मट के ग्रन्थ के ऊपर भी 'सम्प्रदाय-प्रकाशिनी' नामक टीका लिखी है। मल्लिनाथ के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण इन्हें १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से पूर्व में मानना चाहिए।

२२—हेमचन्द्र

समय

जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अलंकार शास्त्र में भी एक उपादेय ग्रन्थ की रचना की है। इनके देशकाल का परिचय हमें पूर्णतया प्राप्त है। ये गुजरात के अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक गाँव में ११४५ वि० (१०८८ ई०) पैदा हुए थे। अनहिलपटन के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज की (१०९३–११४३ ई०) प्रार्थना पर इन्होंने अपना प्रसिद्ध 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण बनाया। जयसिंह के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) इनके शिष्य थे। इनके आदेशानुसार भी इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हेमचन्द्र की मृत्युतिथि ११७२ ई० है। इस प्रकार इनका काल १०८८ ई० से ११७२ ई० है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[1] है जो सूत्रात्मक पद्धति से लिखा गया है। ग्रन्थकार ने इन सूत्रों पर स्वयं 'विवेक' नामक टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्य-हेतु, लक्षण तथा शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन है। द्वितीय में रस तथा उसके भेदों का सुन्दर विवरण है। तीसरे में दोषों का निर्णय है तो चौथे में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक त्रिविध गुणों का वर्णन है। पाँचवें में छः प्रकार के शब्दालंकारोंका तथा छठे में २९ प्रकार के अर्थालंकारों का विवेचन है। हेमचन्द्र ने संकर अलंकार के भीतर ही संसृष्टि को रखा है तथा दीपक के भीतर तुल्ययोगिता को। 'परावृत्ति' नामक एक नवीन अलंकार की इन्होंने उद्भावना की है जिसके भीतर मम्मट का 'पर्याय' तथा 'परिवृत्ति' अलंकार दोनों आ जाते हैं। निदर्शन के भीतर प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा प्रसिद्ध

१—(क) काव्यमाला में प्रकाशित।
(ख) गुजरात से दो खंडों में प्रकाशित।

निदर्शना अलंकार का निवेश किया गया है। इन्होंने रस और भाव से सम्पर्क रखनेवाले रसवद् आदि अलंकारों को बिल्कुल छोड़ दिया है। सप्तम अध्याय में नायक और नायिका के भेदों का विवेचन कर अन्तिम अध्याय में काव्य के भेद तथा उपदेशों का वर्णन उनके विशिष्ट लक्षण के साथ देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

काव्यानुशासन एक संग्रहग्रन्थ है जिसमें विशेष मौलिकता नहीं दीख पड़ती। ग्रन्थकार ने राजशेखर की काव्य-मीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, लोचन तथा अभिनवभारती से लम्बे-लम्बे उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की वृत्ति में विभिन्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से लगभग १५०० पद्य उद्धृत किये हैं जिससे इनके अगाध पाण्डित्य का पता चलता है। पिछले आलंकारिकों के ऊपर इनका प्रभाव बहुत ही कम पड़ा। अतः इनके मत का उल्लेख अन्य ग्रन्थकारों के द्वारा बहुत ही कम मिलता है। हेमचन्द्र में संग्राहकवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है। ये अपने उपजीव्य ग्रन्थों के आवश्यक अंशों को अक्षरशः उद्धृत करते हैं—इतना सटीक तथा ठीक-ठीक कि इनके उद्धरणों की सहायता से हम मूलग्रन्थों के पाठों के शोधने में कृतकार्य होते हैं। उदाहरणार्थ अभिनवभारती का रस प्रकरण 'काव्यानुशासन विवेक' में अक्षरशः पूरा का पूरा उद्धृत है और इसकी सहायता से मूल ग्रन्थ के वचनों का तात्पर्य बड़ी सुन्दरता से समझा जाता है जो अन्यथा असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य था।

२३—रामचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है **नाट्यदर्पण**[१]। इसमें चार विवेक या अध्याय हैं जिनमें नाटक, प्रकरणादिरूपक, वृत्तिरसभावाभिनय तथा रूपक के साधारण लक्षण का वर्णन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थ कारिकाबद्ध है जिस पर ग्रन्थकारों ने अपनी वृत्ति लिखी है। नाट्यविषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृंखला है जो धनंजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोड़ती है। इसमें अनेक विषय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं तथा

१—नाट्यदर्पण का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में (संख्या ४८) बड़ौदा से १९२९ में हुआ है तथा नलविलास का भी प्रकाशन इसी ग्रन्थमाला में (संख्या २९) १९२६ ई० में हुआ है।

परम्परागत सिद्धान्तों से विलक्षण हैं जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप। प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण भी इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक विशाखदत्त-रचित नाटक के बहुत से उद्धरण यहाँ मिलते हैं जिससे चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहले रामगुप्त की ऐतिहासिक स्थिति का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होता है।

रामचन्द्र हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा जैनधर्म के मान्य आचार्य थे। ये गुजरात के सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०), कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) तथा अजयपाल (११७२–७५ ई०) के समय में वर्तमान थे। कहा जाता है कि कारणवश अजयपाल की ही आज्ञा से इन्हें प्राणदण्ड मिला था। सिद्धराज ने जब हेमचन्द्र से उनके उत्तराधिकारी (पट्टधर) के विषय में पूछा तो हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का ही नाम इस पद के लिए लिया। इनका आविर्भावकाल १२ शतक का मध्यभाग है। रामचन्द्र के सहयोगी गुणचन्द्र के विषय में हम इतना ही जानते है कि ये दोनों हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र के किसी स्वतंत्र ग्रन्थका पता नहीं चलता, परन्तु रामचन्द्र तो 'प्रबन्धशतकर्ता' के नाम से जैन-साहित्य में विख्यात हैं। इनके एकादश नाटकोंका निर्देश इसी ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिनमें 'नलविलास' मुख्य है।

२४—शोभाकर मित्र

इनके प्रख्यात ग्रन्थ का नाम 'अलंकार रत्नाकर' है जिसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने तथा पण्डितराज ने 'रत्नाकर' के नाम से अपने ग्रन्थों में किया है। जयरथ ने इनके मत का बहुशः खण्डन अपनी 'विमर्शिणी' में अनेक स्थानों पर किया है जिससे इनका समय निश्चित रूप से जयरथ (१३ शती) से प्राचीन सिद्ध होता है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। काश्मीरी कवि यशस्कार ने इस ग्रन्थ के अलंकारों के उदाहरण देने के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया। इनका 'अलंकार रत्नाकर' सूत्रवृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रन्थ है। इसमें लगभग एक सौ अलंकारों का निरूपण किया गया है जिनमें कुछ अलंकार इनकी मौलिक कल्पना से प्रसूत हैं तथा कतिपय प्राचीन अलंकारों के ही परिवर्तित अभिधान हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी रत्नाकर के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है परन्तु पण्डितराज इन्हें मान्यता नहीं देते।

अलंकार रत्नाकर में ऐसे अनेक अलंकार भी हैं जिनका उल्लेख न तो रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' में है और न जयरथ के 'अलंकारोदाहरण' नामक ग्रन्थ में। ऐसे अलंकारों की सूची इस प्रकार है—अचिन्त्य, अनुकृति, अभेद, अवरोह, अशक्य, आपत्ति आदि। जयरथ ने विमर्शिणी में इनके द्वारा स्वीकृत अभेद, प्रतिमा, वर्धमानक आदि अलंकारों का खण्डन किया है। परन्तु तुल्य, वैधर्म्य, प्रत्यूह, प्रत्यानीक आदि अलंकारों का अक्षरशः लक्षण रत्नाकर के ही आधार पर किया है। इस प्रकार जयरथ के ऊपर शोभाकर मित्र का प्रभाव विशेषतः उल्लेखनीय है। तथ्य तो यह है कि अलंकारों के विकास में 'अलंकार रत्नाकर' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

२५—वाग्भट

हेमचन्द्र के समकालीन एक दूसरे जैन आलंकारिक हुए जिनका नाम वाग्भट है। उनकी एकमात्र कृति 'वाग्भटालंकार' है। इसके एक पद्य की टीका से पता चलता है कि इनका प्राकृत नाम 'बाहड़' था[1] तथा ये सोम के पुत्र थे तथा किसी राजा के महामात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। अपने ग्रन्थ में इन्होंने स्वनिर्मित संस्कृत उदाहरणों के अतिरिक्त प्राकृत में भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिससे इनकी संस्कृत तथा प्राकृत, उभय भाषा की अभिज्ञता प्रकट होती है। नेमि-निर्वाण महाकाव्य से भी इन्होंने कई पद्य उद्धृत किये हैं। इस महाकाव्य के रचयिता कोई वाग्भट बतलाये जाते हैं। पता नहीं कि आलंकारिक वाग्भट ही इस महाकाव्य के रचयिता हैं अथवा कोई दूसरे वाग्भट। इस ग्रन्थ के उदाहरणों में कर्ण के पुत्र, अनहिलवाड़ के अधिपति चालुक्यवंशी नरेश जयसिंह की स्तुति उपलब्ध होती है[2] जिससे प्रतीत होता है कि इनका

१—बंभण्डसुत्तिसंपुड-मुत्तिअ मणिणो पहासमूह व्व।
सिरिबाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स।
इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नामगाथयैकया निदर्शयति। (४।१४८)

२—इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः
स्वर्गोऽप्ययं न तु मुधा यदि तत्पुरी सा॥—४।७६

जयसिंह के साथ घनिष्ठ संबंध था। जयसिंह ने १०९३ ई० से ११४३ ई० तक राज्य किया था। अतः वाग्भट का भी यही समय है—अर्थात् १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम **वाग्भटालंकार**[1] है। यह कोई अलंकार का विस्तृत ग्रन्थ नहीं है। लेखक ने पाँच परिच्छेदों में २६० पद्यों के भीतर साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा काव्य के उत्पादक हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास—का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में काव्य के नाना भेदों का प्रदर्शन कर ग्रन्थकार ने पद, वाक्य तथा अर्थ के दोषों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। तृतीय अध्याय में दस गुणों का उदाहरण के साथ लक्षण दिया गया है। चतुर्थ में चार शब्दालंकार, ३५ प्रकार के अर्थालंकारों तथा दो प्रकार की रीति—गौड़ी तथा वैदर्भी—का निरूपण है। पंचम में ९ प्रकार के रस, नायक-नायिका का भेद तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के वर्णन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

टीका

यह ग्रन्थ पर्याप्त रूप से लोकप्रिय था। इसकी लोकप्रियता का पता इस पर लिखी गई अनेक टीकाओं से लगता है। इस पर आठ टीकाएँ हैं, जिनमें केवल दो टीकाएँ अभी तक प्रकाशित हो पाई हैं। क्षेमहंसगणिकृत समासान्वय टिप्पण, अनन्तभट्ट के पुत्र गणेशकृत विवरण, राजहंस उपाध्याय-कृत टीका, समयसुन्दर-रचित व्याख्या, किसी अज्ञातनामा लेखक की अवचूरि व्याख्या अभीतक हस्तलिखित रूप में ही मिलती हैं[2]।

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥—४।४५

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥—४।१३२

१—काव्यमाला नं० ४८, १९१६।

२—जिनवर्धन सूरि की टीका ग्रन्थमाला मद्रास से मूल के साथ प्रकाशित हुई है तथा सिंहदेवगणि कृत टीका काव्यमाला नं० ४८ तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुई है।

२६—वाग्भट द्वितीय

'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट को इस वाग्भट के साथ अभिन्न व्यक्ति नहीं मानना चाहिए। नाम की समता होने पर भी इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। ये वाग्भट भी जैन ही थे। इनके पिता का नाम नेमकुमार था। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रथम वाग्भट का निर्देश किया है। इन्होंने 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोऽनुशासन' नामक स्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में किया है। प्रथम वाग्भट के उल्लेख करने के कारण इस वाग्भट का समय १४वीं शताब्दी के आसपास है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[1] है। यह सूत्र शैली में लिखा गया है जिस पर ग्रन्थकार ने अलंकारतिलक नामक वृत्ति स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-समय, काव्य के नाना प्रकारों का वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में १६ प्रकार के पददोष तथा १४ प्रकार के वाक्य तथा अर्थ के दोषों का वर्णन कर वाग्भट ने दण्डीसम्मत दस गुणों का वर्णन किया है, यद्यपि इनकी सम्मति में गुणों की संख्या तीन ही होनी चाहिए। तृतीय परिच्छेद में ६३ अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है जिनमें अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, उभयन्यास, भाव तथा आशीः विलक्षण होने से उल्लेख योग्य हैं। चतुर्थ अध्याय में छः प्रकार के शब्दालंकारों का वर्णन है जिसमें वक्रोक्ति अन्यतम है। पंचम अध्याय रसों का विवेचन करता है। इसमें रस के अंग, ९ प्रकार, नायक-नायिका-भेद, प्रेम की दस अवस्था तथा रस दोष का समीक्षण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

२७—अमरचन्द्र

संस्कृत के आलंकारिकों ने काव्य की व्यावहारिक शिक्षा देने का भी श्लाघनीय प्रयत्न किया है। एतद्-विषयक ग्रन्थ कवि-शिक्षा के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है काव्यकल्पलता। इस ग्रन्थ का अंशतः निर्माण अरिसिंह ने किया और पूर्ति अमरचन्द्र ने की। अमरचन्द्र ने ही इसके

१—ग्रन्थकार की ही व्याख्या के साथ काव्यमाला में (सं० ४३) प्रकाशित बम्बई, १८९४ ई०।

ऊपर वृत्ति भी लिखी है जिसका नाम ग्रन्थ की पुष्पिका के अनुसार कविशिक्षा-वृत्ति है। वृत्ति से ही परिचय मिलता है कि इस मूल ग्रन्थ की रचना में दोनों ग्रन्थकारों का हाथ है[1]। लावण्य सिंह या लवण सिंह के पुत्र अरिसिंह ने ढोलका के (गुजरात) राणा धीरधवल के प्रसिद्ध जैन मन्त्री वस्तुपाल की स्तुति में 'सुकृत-संकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्र इनसे अधिक बड़े लेखक प्रतीत होते हैं। इन्होंने जिनेन्द्रचरित (दूसरा नाम पद्मानन्द काव्य), बालभारत (काव्यमाला नं० ४५ में प्रकाशित) तथा स्यादि-शब्द-समुच्चय नामक सम्भवतः किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। काव्यकल्पलता की वृत्ति में इन्होंने अपने तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) छन्दोरत्नावली, (२) काव्य-कल्पलतापरिमल तथा (३) अलंकारप्रबोध।

अमरचन्द्र और अरिसिंह दोनों एक ही गुरु के सहपाठी शिष्य प्रतीत होते हैं। इनके गुरु का नाम था जिनदत्त सूरि। धीरधवल तथा वस्तुपाल के समकालीन होने से इन दोनों ग्रन्थकारों का समय १३ शतक का मध्यभाग है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में चार प्रतान (खण्ड) हैं और प्रत्येक प्रतान के भीतर अनेक स्तबक (अध्याय) हैं। इन प्रतानों के विषय क्रमशः हैं—(१) छन्दःसिद्धि, (२) शब्दसिद्धि, (३) श्लेषसिद्धि और (४) अर्थसिद्धि। कविता सीखने के लिए यह नितान्त उपादेय ग्रन्थ है[2]।

२८—देवेश्वर

कविशिक्षा पर दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है—कविकल्पलता। इसके रचयिता का नाम देवेश्वर है। इनके पिता का नाम वाग्भट था जो मालवा के राजा के महामात्य थे। देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ के लिए अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता को ही अपना आदर्श माना है। विषय के निरूपण में ही वे उनके ऋणी नहीं हैं, बल्कि बहुत से नियमों तथा लक्षणों का अक्षरशः ग्रहण देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। ये अमरचन्द्र के द्वारा दिये गये उदाहरणों को भी देने में संकोच नहीं करते। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत व्यवस्थित रूप से जान-बूझकर ऐसा किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि

१—किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतञ्च किञ्चित्।
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्॥

— काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १।

२—सं० काशी संस्कृत सीरीज, नं० ९०, काशी, १९३१।

इन्होंने काव्यकल्पलता के अनन्तर ही अपने इस नवीन ग्रन्थ की रचना की।

देवेश्वर का एक पद्य शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किया गया है (नं० ५४५)। इस सूक्तिग्रन्थ की रचना १३६३ ई० में की गई थी। इसलिए १४वीं शताब्दी का मध्यभाग देवेश्वर के समय की अन्तिम अवधि है। इस प्रकार इनका समय अमरचन्द्र तथा शार्ङ्गधर के बीच में अर्थात् १४वीं शताब्दी के आरम्भ में मानना उचित है। देवेश्वर की 'कविकल्पलता' के ऊपर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

२९—जयदेव

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकार-शास्त्र का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। इसकी लोकप्रियता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि राजा जसवन्त सिंह ने इसका हिन्दी में 'भाषा-भूषण' के नाम से अनुवाद किया है। जयदेव ने अपना दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' लिखा है[1]। इनके टीकाकार गागाभट्ट के अनुसार पीयूषवर्ष जयदेव का ही नामान्तर था[2]। ये महादेव तथा सुमित्रा के पुत्र थे[3]। प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव ने भी अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है[4]। इससे स्पष्ट है कि आलंकारिक जयदेव तथा कवि जयदेव एक ही व्यक्ति थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से नितान्त भिन्न हैं। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव, भोजदेव तथा रामादेवी के पुत्र थे तथा बंगाल के किन्दुविल्व नामक गाँव के निवासी थे। यह स्थान बंगाल के वीरभूमि जिला में केंदुली के नाम से आज भी विद्यमान है जहाँ पुण्यश्लोक जयदेव की स्मृति में विशेष तिथिपर वैष्णवों का बड़ा भारी मेला लगता है। पीयूषवर्ष जयदेव बंगाल के निवासी नहीं प्रतीत होते। प्रसन्नराघव

१—चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।

— चन्द्रालोक १।२।

२—जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्।

— गागाभट्ट—राकागम।

३—महादेवः सत्रप्रमुखमखविघ्नैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्ति-प्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥

— चन्द्रालोक १।१६।

४—प्रसन्नराघव अंक १, श्लोक १४-१५।

की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि जयदेव बड़े भारी नैयायिक थे[1]। मिथिला में यह किंवदन्ती है कि चन्द्रालोक के रचयिता ही नैयायिक जगत् में 'पक्षधर' मिश्र के नाम से प्रसिद्ध थे। पक्षधर मिश्र के न्यायग्रन्थों के नाम के अन्त में 'आलोक' शब्द आता है जैसे मण्यालोक। परन्तु जयदेव और पक्षधर मिश्र की अभिन्नता पुष्ट प्रमाणों के द्वारा अभी तक प्रमाणित नहीं की जा सकी है।

समय

जयदेव के समय का निरूपण अभी तक निःसन्दिग्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सका है। अनुमान के द्वारा पता चलता है कि इनका समय १३०० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। इनके टीकाकार प्रद्योतनभट्ट ने 'शरदागम' नामक टीका का प्रणयन १५८३ ई० में किया था। विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का यह सुप्रसिद्ध श्लोक अपने साहित्य-दर्पण में (४।३) उद्धृत किया है—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्तितुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किये गये हैं। इस पद्धति का निर्माणकाल १३६३ ई० है। जयदेव के समय की यही अन्तिम अवधि है। ऊपरी अवधि के समय में अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—का खण्डन करते हुए यह सुन्दर पद्य लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८

अतः जयदेव का मम्मट से पश्चाद्वर्ती होना युक्तियुक्त है। ये रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' से भी पूर्णतः परिचित हैं। ऊपर दिखलाया गया है कि रुय्यक ने ही सर्वप्रथम विचित्र तथा विकल्प नामक दो नवीन अलंकारों की

१—ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
येषां कोमलकाव्यकौशलकला-लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥

—प्रसन्नराघव १।१८

कल्पना काव्यजगत् में की। जयदेव ने भी इन दोनों अलंकारों को 'सर्वस्वकार' के शब्दों में ही अपने ग्रन्थ में दिया है। अतः जयदेव रुय्यक के भी पश्चाद्वर्ती हैं। अतः रुय्यक (११०० ई०) तथा शार्ङ्गधर (१३५० ई०) के मध्यवर्ती होने के कारण जयदेव का समय १३वीं शताब्दी का मध्यभाग भली भाँति माना जा सकता है।

ग्रंथ

इनका अलंकार शास्त्र संबंधी एक ही ग्रन्थ चन्द्रालोक है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों या अध्यायों में समाप्त है तथा इसमें ३५० अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसकी भाषा बड़ी ही रोचक तथा सुन्दर है। शैली बहुत ही सरस तथा सुन्दर है। पहले मयूख में काव्य के लक्षण, काव्य के हेतु तथा शब्द के त्रिविध प्रकार (रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ि) का वर्णन है। द्वितीय मयूख दोषों का निरूपण करता है तथा तृतीय लक्षण नामक काव्यांग का। चतुर्थ में दशगुणों का विवेचन है तथा पंचम में पाँच शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का विशिष्ट वर्णन है। छठवें मयूख में रस, भाव, त्रिविध रीति—गौड़ी, पांचाली, लाटी—तथा पाँच वृत्तियों—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा—का विवेचन है। सप्तम में व्यंजना तथा ध्वनिकाव्य के भेदों का, अष्टम में गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का वर्णन है। अन्तिम दो मयूखों में क्रमशः लक्षणा तथा अभिधा का वर्णन देकर जयदेव ने अपना सुबोध ग्रन्थ समाप्त किया है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि एक ही श्लोक में अलंकार का लक्षण तथा उसका उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार समास शैली में अलंकार का इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। इस पद्धति को दिखलाने के लिए एक-दो पद्य नीचे दिये जाते हैं—

> व्यतिरेको विशेषश्चेद् उपमानोपमेययोः।
> शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः॥—५।५९
> विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।
> पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम्॥—५।७७

इस सुबोध शैली के कारण यह ग्रन्थ अलंकार के जिज्ञासुओं के लिए इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ के अलंकार भाग को अपने कुवलयानन्द में पूर्णतया उठाकर रख दिया है। इन्होंने कतिपय नये उदाहरण देकर अपनी एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति जोड़ दी है। इस बात को इन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्पष्टतः स्वीकार किया है—

चन्द्रालोको विजयतां, शरदागमसंभवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत् प्रसादादभूदयम् ॥

इस पद्य का आशय यह है कि शरदागम में उत्पन्न होनेवाले चन्द्रालोक की विजय हो जिसके प्रसाद से यह रमणीय कुवलयानन्द प्रादुर्भूत हुआ। शरद् के आगमन से ही चन्द्र का आलोक स्पष्ट दीख पड़ता है और तभी कुमुद विकसित होता है। श्लेषालंकार के द्वारा ग्रन्थकार चन्द्रालोक को कुवलयानन्द का आधारग्रन्थ मानता है। शरदागम शब्द भी श्लेष के बल से चन्द्रालोक की टीका का निर्देश कर रहा है जिसे प्रद्योतनभट्ट ने १५८३ ई० में लिखा था।

टीका

जयदेव का यह ग्रन्थ अलंकारजगत् में अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर छः टीकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें (१) दीपिका, (२) शारदशर्वरी एवं (३) वाजचन्द्र की टीका हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं। इसकी प्रकाशित टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका है (४) 'शरदागम'[१]। इसके लेखक अपने समय के बड़े भारी विद्वान् थे। ये बलभद्र मिश्र के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता का नाम वीरभद्रदेव या वीररुद्रदेव था जो बुन्देलखण्ड के राजा थे। इस टीका का निर्माण १५८३ ई० में हुआ। इनके आश्रयदाता भी १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे क्योंकि वात्स्यायन के कामशास्त्र के ऊपर उनकी लिखी 'कन्दर्पचूड़ामणि' नामक टीका १५७७ ई० में समाप्त हुई थी।

(५) रमा[२]—इसके लेखक का नाम वैद्यनाथ पायगुण्ड है। वैद्यनाथ तत्सत् गोविन्द ठक्कुर के 'काव्यप्रदीप' तथा अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द के टीकाकार हैं। अनेक ग्रन्थ-सूचियों में दोनों एक ही व्यक्ति माने गये हैं। परन्तु दोनों के कुलनाम बिल्कुल भिन्न हैं। 'रमा' टीका के आरम्भिक पद्यों में वैद्यनाथ ने अपने को स्पष्टतः 'पायगुण्ड' लिखा है। अतः उनको तत्सत् गोत्रीय वैद्यनाथ से पृथक् भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(६) राकागम[३] या सुधा—इसके लेखक का नाम विश्वेश्वर भट्ट है

१—यह टीका म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते के सम्पादकत्व में काशी संस्कृत सीरीज में (नं० ७५) प्रकाशित हुई है।

२—काशी, चौखम्भा से प्रकाशित।

३—यह टीका चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित हुई है।

जो 'गागाभट्ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने इसके अतिरिक्त मीमांसा शास्त्र तथा स्मृतियों के ऊपर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। ये काशी के भट्ट वंश के अवतंस थे। ये सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री कमलाकरभट्ट के भतीजे थे। ये अपने समय के काशी के इतने सुप्रसिद्ध विद्वान् थे कि छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक कराने के लिए ये ही नियुक्त किये गये थे। इनका मुख्य विषय मीमांसा तथा धर्मशास्त्र था।

३०—विद्याधर

समय

एकावली के रचयिता विद्याधर के ग्रन्थ की बिशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण विद्याधर के द्वारा ही विरचित हैं तथा इनके आश्रयदाता उत्कल के राजा नरसिंह की स्तुति में लिखे गये हैं[1]। इस उलेख से इनके समय का निरूपण भली भाँति हो जाता है। विद्याधर ने रुय्यक का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है (एकावली पृ० १५०), जिससे इनके समय की उत्तर अवधि १२वीं शताब्दी का मध्यकाल है। नैषध के रचयिता श्रीहर्ष के उल्लेख करने से इसी अवधि की पुष्टि होती है। विद्याधर ने इसी प्रसंग में हरिहर नामक कवि का भी उल्लेख किया है जिन्होंने अर्जुन नामक राजा से अपनी काव्य-प्रतिभा के बल पर असंख्य धन प्राप्त किया था। इनका समय १३वीं शताब्दी का आरम्भ-काल है। इनके समय की पूर्व अवधि का पता मल्लिनाथ के (१४वीं शताब्दी का अन्त) द्वारा टीका लिखने से तथा शिंगभूपाल (१३३० ई०) के द्वारा उल्लिखित[2] होने से चलता है। अतः इनका समय १३वें शतक का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है। जिस राजा नरसिंह का इन्होंने वर्णन किया है वे उड़ीसा के राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं जिनका समय १२८० ई० से १३१४ ई० है। अतः 'एकावली' का रचनाकाल १३वें शतक का अन्त तथा १४वें का आरम्भ है।

१—एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्॥ एकावली।

२—उत्कलाधिपतेः शृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना बाढमभ्यन्तरीकृतोसि। एवं खलु समर्थितमेकावल्यामनेन। रसार्णवसुधाकर पृ० ३०६ (अनन्तशयन)।

ग्रन्थ

एकावली में आठ उन्मेष या अध्याय हैं जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व पर आधारित है। वस्तुतः यह काव्यप्रकाश का संक्षिप्त संस्करण है। इसकी एकमात्र टीका का नाम तरला है जिसके लेखक संस्कृत महाकाव्यों के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ (१४वें शतक का अन्तिम काल) हैं। एकावली पर टीका लिखने के कारण ही मल्लिनाथ ने महाकाव्यों की अपनी टीका में अलंकारों के निर्देश के अवसर पर एकावली का ही उद्धरण दिया है। 'तरला' एक आदर्श टीका है जो मूल के साथ बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुई है।

३१—विद्यानाथ

समय

विद्यानाथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में बहुत ही लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। इसमें जितने उदाहरण हैं वे सब विद्यानाथ की ही रचना है जिसमें प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र या रुद्र) नामक काकतीयवंशीय नरेश की स्तुति है[1]। इनकी स्तुति में विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में अलंकार के अंगों तथा उपांगों के उदाहरण में 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक की रचना कर निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय नरेश बतलाये जाते हैं जिनकी राजधानी एकशिला नगरी त्रिलिंग देश या आन्ध्र देश में थी। प्रतापरुद्रदेव बड़े प्रतापी नरेश थे। इन्होंने यादववंशी नरेश सेवण (देवगिरि के राजा रामदेव १२७१–१३०९ ई०) को परास्त किया था। इस वर्णन के आधार पर प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ के आश्रयदाता प्रतापरुद्र की एकशिला (वारंगल) के सप्तम काकतीय नरेश के साथ अभिन्नता सिद्ध की है जिनके शिलालेख १२९८ ई० से १३१७ ई० तक उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतापरुद्रदेव ने १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं के प्रथमार्ध में राज्य किया था। अतः विद्यानाथ का भी यही समय है। इनके ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से भी यही

---

१. प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलंकारप्रबन्धोऽयं सन्तकरणोत्सवोस्तु वः॥
प्रतापरुद्रयशोभूषण १।९

बात सिद्ध होती है। विद्यानाथ ने रुय्यक का उल्लेख किया है तथा उनका स्वतः उल्लेख मल्लिनाथ ने काव्य की अपनी टीकाओं में बिना नाम-निर्देश किये अनेक बार किया है। इन निर्देशों से भी इसी समय की पुष्टि होती है।

ग्रन्थ

इस ग्रन्थ में नव प्रकरण हैं जिनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थकार ने मम्मट को ही अपना आदर्श माना है परन्तु अलंकार के विषय में वे रुय्यक के ऋणी हैं। इसी लिए परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प नामक अलंकार—जिनका मम्मट ने अपने ग्रन्थ में वर्णन नहीं किया है—रुय्यक के आधार पर इन्होंने अपने ग्रन्थ में दिया है। इसके टीकाकार कुमारस्वामी हैं जो अपने को काव्यग्रन्थों के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ का पुत्र बतलाते हैं। अतः कुमारस्वामीका समय १५वीं शताब्दी का आरम्भ है। इस टीका का नाम 'रत्नापण' है जो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं जिनमें मुख्य ये हैं—भोज का शृंगारप्रकाश, शिंग भूपाल का रसार्णवसुधाकर, एकावली तथा मल्लिनाथ की 'तरला' टीका, साहित्यदर्पण, चक्रवर्ती (रुय्यक के ग्रन्थ पर संजीवनी नामक टीका के कर्ता)। इन्होंने भावप्रकाश का भी उल्लेख किया है जिसके रचयिता शारदातनय हैं। इन्होंने वसन्तराज के द्वारा निर्मित वसन्तराजीय नाट्यशास्त्र का उल्लेख भी अपने ग्रन्थ में किया है।

'रत्नापण' टीका के साथ मूल ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित किया है। इसके ऊपर 'रत्नशाण' नामक कोई अन्य टीका थी, जो इसी संस्करण के साथ प्रकाशित की गई है।

३२—विश्वनाथ कविराज

जीवनी

'साहित्य-दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ कविराज अलंकार-जगत् में सबसे अधिक लोकप्रिय आलंकारिक हैं। ये उत्कल के बड़े प्रतिष्ठित पण्डित कुल में पैदा हुए थे। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर थे[1] जो अपने

---

१. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः। —साहित्यदर्पण अन्तिम श्लोक।

पुत्र के समान ही कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ ने अपने पिता के ग्रन्थ 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। नारायण, जिन्होंने अलंकारशास्त्र पर ग्रन्थों की रचना की थी—या तो विश्वनाथ के पितामह थे अथवा वृद्ध प्रपितामह थे, क्योंकि काव्य-प्रकाश की टीका में विश्वनाथ ने नारायण का 'अस्मद् पितामह' कहकर निर्देश किया है[1] परन्तु साहित्य-दर्पण में उन्हीं का वे 'अस्मत्वृद्धप्रपितामह' कहकर उल्लेख किया है[2]। काव्यप्रकाश की दीपिका टीका के रचयिता चण्डीदास भी विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका में बहुत से संस्कृत शब्दों के उड़िया भाषा के पर्यायवाची शब्दों को दिया है[3]। इससे पता चलता है कि ये उड़ीसा के निवासी थे। विश्वनाथ के पिता तथा विश्वनाथ दोनों ही किसी राजा के सान्धिविग्रहिक (वैदेशिक मन्त्री) थे। सम्भवतः यह राजा कलिंग देश का ही अधिपति था।

ग्रन्थ

विश्वनाथ एक सिद्ध कवि थे। ये संस्कृत तथा प्राकृत के ही पण्डित न थे, प्रत्युत अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। इसी लिए इन्होंने अपने को 'षोडश-भाषावारविलासिनीभुजंग' लिखा है[4]। इनके द्वारा निर्मित काव्यग्रन्थ—जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थों में किया है—ये हैं—(१) राघवविलास नामक संस्कृत महाकाव्य, (२) कुवलयाश्वचरित—प्राकृत भाषा में निबद्ध काव्य। (३) प्रभावतीपरिणय (नाटिका), (४) चन्द्रकला नाटिका, (५) प्रशस्तिरत्नावली (यह षोडश भाषाओं में निबद्ध 'करम्भक' है)। इन सब काव्यों का निर्देश विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में स्वयं किया है।

१—यदाहुः श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेव-सभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः...अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदास पादाः।

२—तत्प्राणत्वं चास्मद्-वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकवि पण्डितमुख्य-श्रीमन्नारायणपादै रुक्तम्। साहित्यदर्पण ३।२–३।

३—वैपरीत्यं रुचिं कुर्विति पाठः, अत्र चिकुपदं काश्मीरादिभाषायां अश्लीलार्थबोधकम्, उत्कलादिभाषायां घृतवांडकद्रव इत्यादि।

काव्यप्रकाश—वामनाचार्य की भूमिका पृ० २५।

४—द्रष्टव्य साहित्यदर्पण के प्रथम अध्याय की पुष्पिका।

इन्होंने (६) नरसिंहविजय नामक काव्यग्रन्थ की भी रचना की थी जिसका निर्देश 'काव्यप्रकाशदर्पण' में मिलता है।

विश्वनाथ ने मम्मट तथा रुय्यक का यद्यपि नामतः उल्लेख नहीं किया है तथापि यह निर्विवाद है कि ये इन आचार्यों के ग्रन्थों से पूर्णतः परिचित थे। मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है। दशम अध्याय में इन्होंने विकल्प तथा विचित्र नामक अलंकारों का लक्षण दिया है जो जयरथ के प्रामाण्य पर रुय्यक की मौलिक कल्पना से प्रसूत थे। विश्वनाथ ने गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का एक पद्य 'निश्चय' अलंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है[1]। राजा लक्ष्मणसेन के सभापण्डितों में अन्यतम कविवर जयदेव का समय १२वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है। इन्होंने प्रसन्नराघव से भी एक पद्य[2] उद्धृत किया है। ये नैषधचरित काव्य से भी पूर्ण परिचित हैं[3]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ का समय १२०० ई० से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

विश्वनाथ के समय की पूर्व अवधि का निर्देश उनके साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति के लेखनकाल से मिलता है जो १४४० संवत् (१३८४ ई०) में लिखी गई थी। इस प्रकार विश्वनाथ का समय साधारणतया १२०० ई० से लेकर १३५० ई० के बीच माना जा सकता है। साहित्यदर्पण की अन्तरंग परीक्षा से यह कालनिर्देश और भी निश्चित रूप से किया जा सकता है। साहित्य-दर्पण के एक पद्य में अल्लावदीन नामक एक मुसलमान राजा का उल्लेख है जो सन्धि के अवसर पर सर्वस्व हरण कर लेता था और संग्राम करनेपर प्राण का हरण करता था—

१—हृदि बिसलताहारो नायं भुजंगमनायकः।

गीतगोविन्द ३।११

२—कदली कदली करभः करभः करिराजकरः, करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

साहित्यदर्पण ४।३

३—धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥
नैषध ३।११६ —साहित्यदर्पण १०।५०

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।
अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥

—सा० द० ४।१४

इस पद्य में निर्दिष्ट 'अल्लावदीन' दिल्ली का सुलतान 'अलाउद्दीन खिलजी' ही प्रतीत होता है जिसने दक्षिण पर आक्रमण कर वारंगल जीत लिया था और जिसके निष्ठुर व्यवहार का परिचय प्रत्येक भारतवासी को मिल चुका था। यह अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर १२९६ से १३१६ ई० तक राज्य करता रहा। सम्भव है कि यह पद्य अलाउद्दीन के समय में ही लिखा गया हो। अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० ई० के बीच में मानना उचित प्रतीत होता है।

साहित्यदर्पण

विश्वनाथ कविराज की सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रचना साहित्य-दर्पण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य काव्य के विपुल वर्णन के साथ ही साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवरण उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्य के दोनों भेदों—श्रव्य तथा दृश्य—का वर्णन कर विश्वनाथ ने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है। इस ग्रन्थ में दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा भेद का वर्णन है। द्वितीय में वाक्य तथा पद के लक्षण देने के अनन्तर ग्रन्थकार ने शब्द की तीनों शक्तियों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। तृतीय परिच्छेद में रस, भाव तथा नायक-नायिका-भेद एवं तत्-सम्बद्ध अन्य विषयों का बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत विवरण है। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का वर्णन कर ग्रन्थकार ने पंचम परिच्छेद में व्यंजना वृत्ति की स्थापना के लिए अभ्रान्त युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं तथा व्यंजना वृत्ति के न माननेवाले विद्वानों की युक्तियों का पर्याप्त खण्डन किया है। षष्ठ परिच्छेद में नाटक के लक्षण तथा भेदों का बड़ा ही पूर्ण निरूपण है। सप्तम परिच्छेद में दोषों का तथा अष्टम में गुणों का विवेचन किया गया है। नवम में विश्वनाथ ने काव्य की चार रीतियों—वैदर्भी, गौड़ी, लाटी और पांचाली—का संक्षिप्त वर्णन किया है। दशम परिच्छेद में शब्द तथा अर्थ, दोनों के अलंकारों का विस्तार से वर्णन कर यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ के लिखने के अनन्तर विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका 'काव्यप्रकाशदर्पण' के नाम से लिखी।

टीका

साहित्यदर्पण के ऊपर चार टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें मथुरानाथ शुक्ल कृत 'टिप्पण' तथा गोपीनाथकृत 'प्रभा' अभीतक अप्रकाशित हैं। प्रकाशित टीकाओं में प्राचीनतर टीका का नाम 'लोचन' है जिसे विश्वनाथ कविराज के सुयोग्य पुत्र अनन्तदास ने लिखा है। यह टीका हाल ही में मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर) ने प्रकाशित की है। इससे अधिक प्रसिद्ध टीका रामचरण तर्कवागीश कृत विवृति नाम्नी है जो अत्यन्त लोकप्रिय है। ये टीकाकार पश्चिमी बंगाल के निवासी थे। इस टीका की रचना का काल १७०१ ई० है। साहित्य-दर्पण को समझने के लिए यह टीका अत्यन्त उपादेय है।

वैशिष्ट्य

विश्वनाथ कविराज आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। इनकी प्रतिभा का विकास काव्यक्षेत्र में जितना दिखलाई पड़ता है उतना अलंकार के क्षेत्र में नहीं। अनेक महाकाव्यों का प्रणयन इसका स्पष्ट प्रमाण है। इनके पद्यों में कोमल पदावली का विन्यास सचमुच अत्यन्त सुन्दर हुआ है। आलंकारिक की दृष्टि से हम विश्वनाथ को मौलिक ग्रन्थकार नहीं मान सकते। इनका साहित्यदर्पण, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रन्थों की सामग्री को लेकर लिखा गया एक संग्रह-ग्रन्थ है। वह शास्त्रीय पद्धति जो पण्डितराज जगन्नाथ के लेख में दीख पड़ती है एवं वह आलोचक दृष्टि जो मम्मट के ग्रन्थ में उपलब्ध होती है विश्वनाथ के ग्रन्थ में देखने को भी नहीं मिलती। परन्तु इस ग्रन्थ में अनेक गुण हैं जो इसकी लोकप्रियता के कारण हैं। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी ही रोचक तथा सुबोध है। मम्मट के काव्यप्रकाश की शैली समासमयी होने के कारण इतनी दुर्बोध है कि साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी उसमें कठिनता से प्रवेश पाता है। पण्डितराज जगन्नाथ की शैली इतनी शास्त्रीय तथा जटिल है कि उससे पाठक भयभीत हो उठता है। इन दोनों की तुलना में साहित्य-दर्पण सुबोध तथा रोचक भाषा में लिखा गया है। इसके उदाहरण ललित तथा आकर्षक हैं। इसकी व्याख्यायें संक्षिप्त होने पर भी विषय को विशद रूप से समझाती हैं। एक ही स्थान पर नाट्य तथा काव्य दोनों का विवेचन इस ग्रन्थ को छोड़कर अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। यही कारण है कि साहित्य-

दर्पण अलंकार शास्त्र में प्रवेश करनेवाले छात्रों का सबसे सरल मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है।

३३—केशव मिश्र

इनके ग्रन्थ का नाम 'अलंकारशेखर' है[1]। इसके आरम्भ तथा अन्त में इनका कहना है कि धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र के आग्रह पर इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। राजा धर्मचन्द्र रामचन्द्र के पुत्र थे जो दिल्ली के पास राज्य करते थे और जिन्होंने काविल (काबुल अर्थात् मुसलमान) के राजा को परास्त किया था। कनिंघम के अनुसार काँगड़ा के राजा माणिक्य-चन्द्र ने धर्मचन्द्र के अनन्तर १५६३ ई० में राज्य प्राप्त किया और उसने दश वर्ष तक राज्य किया। इस राजा की वंशावली केशव मिश्र के आश्रयदाता राजा माणिक्यचन्द्र से बिल्कुल मिलती है। अतः दोनों माणिक्यचन्द्र एक ही अभिन्न व्यक्ति थे। इसलिए केशव मिश्र का समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

'अलंकारशेखर' में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ग्रन्थकार का कहना है कि उन्होंने अपनी कारिकाओं (सूत्रों) को किसी भगवान् शौद्धोदनि नामक आलंकारिक के ग्रन्थ के आधार पर ही निर्मित किया है। ये शौद्धोदनि सम्भवतः कोई बौद्ध ग्रन्थकार थे, परन्तु इनका नाम अलंकार-साहित्य में नितान्त अज्ञात है। केशव मिश्र ने काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों से बहुत सी सामग्री अपने ग्रन्थ में ली है। इन्होंने श्रीपाद नामक किसी आलंकारिक का निर्देश किया है। ये श्रीपाद साहित्यशास्त्र में अब तक अज्ञातनामा हैं। सम्भव है कि केशव मिश्र के आधारभूत लेखक शौद्धोदनि ही श्रीपाद हों। इन्होंने किसी कविकल्पलता-कार का भी निर्देश किया है जो श्रीपाद के मतानुसारी बतलाये गये हैं। इस 'कविकल्पलता' के लेखक न तो देवेश्वर हैं और न अमरचन्द्र।

इस ग्रन्थ—अलंकारशेखर—में आठ रत्न या अध्याय और २२ मरीचि हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं—काव्य-लक्षण, रीति, शब्दशक्ति, पद के आठ दोष, वाक्य के १८ दोष, अर्थ के ८ दोष, शब्द के ५ गुण, अर्थ के ४ गुण, दोष का गुणभाव, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रूपक के भेद, आदि विषयों के वर्णन के

१—काव्यमाला बम्बई (नं० ५०) सन् १८९५ तथा काशी संस्कृत सीरीज नं० १ में प्रकाशित।

अनन्तर रस-निरूपण तथा नायिका-भेद का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के विषयों का संक्षेप रूप से वर्णन प्रस्तुत करता है।

३४—शारदातनय

समय

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम का हमें परिचय नहीं मिलता। ग्रन्थकार अपने को शारदादेवी का पुत्र बतलाता है और इसी लिए वह 'शारदातनय' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः ये काश्मीर के निवासी थे। इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध किया जा सकता है। अपने ग्रन्थ में इन्होंने भोज के मत का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा शृङ्गारप्रकाश से और काव्यप्रकाश से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि इनका समय १२वीं शताब्दी के अनन्तर होगा। अर्वाचीन ग्रन्थकारों में सिंह भूपाल ने रसार्णव-सुधाकर में इनके मत का निर्देश किया है। सिंहभूपाल का समय है १३२० ई० के आसपास। अतः भोज तथा सिंहभूपाल के मध्यवर्ती काल में आविर्भूत होने के कारण इनका समय १२५० ई० अर्थात् १३वें शतक का मध्यभाग सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम है—भावप्रकाशन[1]। नाट्यविषयक ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक अज्ञात रसाचार्यों के—जैसे वासुकि, नारद, व्यास आदि के—मतों का निर्देश ग्रन्थ में किया गया है। प्राचीन नाट्याचार्य के इतिहास तथा मत जानने के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होता है। प्रतिपाद्य विषय चार हैं—(१) भाव, (२) रस, (३) शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा (४) रूपक। ग्रन्थ में सम्पूर्ण १० अधिकार या अध्याय हैं जिनमें (१) भाव, (२) रस का स्वरूप, (३) रस के भेद, (४) नायक-नायिका, (५) नायिकाभेद, (६) शब्दार्थ-सम्बन्ध, (७) नाट्य-इतिहास तथा शरीर, (८) दशरूपक, (९) नृत्य-भेद तथा (१०) नाट्य-प्रयोग का विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। नाम के अनुसार 'भावप्रकाशन'

१. गा० ओ० सी० संख्या ४५, १९३० में प्रकाशित। सम्पादक ने विस्तृत भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है।

भाव तथा रस के नाना प्रकार की समस्याओं को हल करने का एक विराट् महत्त्वशाली ग्रन्थ है। नाट्य सम्बन्धी उपकरणों तथा उपादेय प्रभेदों का विवरण भी यहाँ विस्तार से किया गया है। नाट्य के सिद्धान्त के वर्णन के साथ ही साथ नाट्य के व्यावहारिक रूप का भी सुन्दर विवेचन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाट्य तथा रस के विशिष्ट ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक कोश का काम करता है। इसी से इसकी भूयसी उपयोगिता सिद्ध होती है।

३५—शिंग भूपाल

ये नाट्य तथा संगीत दोनों विषयों के आचार्य हैं। इनका समय जानने से पहले भारतीय संगीत का सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है। भारत में संगीत-शास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में हुई थी। वह काल वैदिक काल से भी प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वेद के समय में तो संगीत की खासी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेद से हम संगीत शास्त्र की विशिष्ट उन्नति का यथोचित पता पा सकते हैं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है कि संगीतविषयक अधिकांश ग्रन्थ कराल काल के ग्रास बन गये हैं। यदि समग्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध रहते तो इस शास्त्र के क्रमबद्ध विकास का इतिहास सहज में ही लिखा जा सकता था। 'संगीत मकरंद'[1] के द्वितीय परिशिष्ट पर एक सरसरी निगाह डालने से यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीत शास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरों के साथ प्राचीन काल में हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्र के तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्म के साथ संबद्ध था; प्राचीन अनेक ऋषि—नारद, हनुमान् तुंबरु, कोहल, मातंग, बेणा—इसके आचार्य थे जिन्होंने संगीत पर ग्रन्थों की रचना की थी। परन्तु संगीत की अनेक पुस्तकें अब तक तालपत्रों पर हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। केवल एक दर्जन से कम ही पुस्तकों को प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाट्यशास्त्र' में संगीत के अनेक रहस्य बतलाये गये हैं तथापि 'संगीतरत्नाकर' ही संगीतशास्त्र का सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रन्थ है। इस अमूल्य ग्रन्थ में संगीत की जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है वैसी दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। प्राचीनता के लिए भी 'नाट्यशास्त्र' तथा नारदरचित 'संगीतमकरंद' को छोड़कर 'संगीतरत्नाकर' सबसे पुराना

ग्रन्थ है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'[1] समग्र संगीत-प्रेमियों के आदर के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं। जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००—१५००) रचित टीका 'आनंदाश्रम' सीरीज में प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्या की कसौटी पर पूर्वोक्त से कहीं अच्छी है कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। इस टीका का नाम है—संगीत सुधाकर। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों (जिनका अब नाम भी बाकी नहीं है) से उद्धरण लिये मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितान्त आदरणीय है। इस टीका के रचयिता 'शिंगभूपाल' हैं।

'शिंगभूपाल' के समय के विषय में अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर रामकृष्ण भांडारकर ने लिखा है—'शिंग अपने को 'आंध्रमंडल' का अधिपति लिखता है; इसके विषय में ठीक-ठीक कहना तो अत्यन्त कठिन है तथापि अधिक सम्भावना इसी बात की है कि यह तथा देवगिरि के यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण' के आश्रित शार्ङ्गदेव ने 'संगीत-रत्नाकर' बनाया था[2]। संभव है कि शार्ङ्गदेव अथवा अन्य किसी पण्डित ने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेश के नाम से उसे विख्यात किया हो। अतएव इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना समुचित है।

श्रीयुत पी० आर० भांडारकर ने[3] कल्लिनाथ की टीका का उल्लेख पाने से 'शिंगभूपाल' को १६वीं सदी का माना था परन्तु कलकत्ता की एक हस्त-लिखित प्रति में कल्लिनाथ का उद्धरण बिल्कुल ही नहीं है। कलकत्ते की हस्तलिखित प्रति से शिंगभूपाल के जीवन तथा समय की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्ते की प्रति की पुष्पिका यों है—

(१) इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरव-श्रीअनवोत-नरेन्द्रनन्दन-

---

१. गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज नं० १६।

२. देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंघ या सिंघण (१२१८-४९) की सभा में शार्ङ्गदेव रहते थे। यह राजा संस्कृत भाषा का बड़ा प्रेमी था। इसके धर्माध्यक्ष 'वादीन्द्र' ने 'महाविद्याविडंब' नामक नैयायिक ग्रंथ की रचना की है।

३. डाक्टर भंडारकर की संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८२-८३)।

भुजबलभीम-श्रीसिंगभूपाल-बिरचितायां संगीतरत्नाकर टीकायां सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीयः ।

(रागविवेकाध्याय का अन्त)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन———(प्रकीर्णाध्याय का अन्त)

एक 'सिंगपाल' कृत 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थ की सूचना प्रो० शेषगिरि शास्त्री ने अपनी संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८९६-९७) में दी थी। उस पर उन्होंने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्य से वह पुस्तक ट्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज (५० अं०) में प्रकाशित हुई है। उस ग्रन्थ की आलोचना करने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'रसार्णवसुधाकर' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीका के लेखक दोनों एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकर की पुष्पिका में भी वे ही बातें दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणों में हैं—इति श्रीमदंध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुगभैरवश्री - अन्नप्रोतनरेन्द्र - भुजबलभीम - श्रीशिंगभूपाल - विरचिते रसार्णव-सुधाकरनाम्नि नाट्यालंकारे रंजकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।

ये दोनों पुष्पिकायें एक ही ग्रन्थकार की हैं। रसार्णव-सुधाकर के आरंभ में 'शिंगभूपाल' के पूर्वपुरुषों का इतिहास संक्षेप में वर्णित है। उससे जान पड़ता है कि 'रेचल्ल' वंश में इनका जन्म हुआ था। शिंगभूपाल अपने ६ पुत्रों के साथ 'राजाचल' नामक राजधानी में रहता था और विंध्याचल से लेकर 'श्रीशैल' नामक पर्वत के मध्यस्थित देशपर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्री ने 'बायोग्रैफिक स्केचेज आफ दि राजाज आफ वेंकटगिरि' नामक पुस्तक के आधार पर शिंगभूपाल को सिंगम नायडू से अभिन्न माना है। शास्त्रीजी का यह कथन सर्वथा उचित है क्योंकि 'रसार्णवसुधाकर' के आरंभ में शिंग ने स्वयं अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देश में आज भी 'नायडू' की गणना उसी वर्ण में होती है। इस जातिगत ऐक्य से दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडू का समय १३३० के आसपास था जिससे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संगीत-सुधाकर की रचना चौदहवीं सदी के मध्यकाल में हुई थी।

पूर्वोक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि शिंगभूपाल का संबंध दक्षिण देश से था, उत्तरीय भारत से नहीं। अतएव मैथिलों का यह प्रवाद कि शिंग मिथिला के राजा थे केवल कल्पनामात्र है—संकीर्ण प्रान्तीयता के सिवाय और कुछ नहीं है। श्रीश्यामनारायण सिंहने अपने 'हिस्ट्री आफ तिरहुत'

में इस प्रवाद का उल्लेख किया है[१]। रसार्णव-सुधाकर की हस्तलिखित प्रतियों के दक्षिण में मिलने तथा पुस्तक के दक्षिण में सातिशय प्रचार से शिंगभूपाल वास्तव में दक्षिण देश के ही सिद्ध होते हैं।

रसार्णवसुधाकर[२]—शिंगभूपाल की यह कमनीय कृति नाट्यशास्त्र के उपादेय विषयों की विवेचना में निर्मित की गई है। आरम्भ में ग्रन्थकार ने अपने वंश का पूरा परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये रेचल वंश में उत्पन्न दाचयनायक के प्रपौत्र, शिंगप्रभु के पौत्र, अनन्त (अपरनाम अन्नपोत) के पुत्र थे। विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल के मध्यवर्ती प्रदेश के ये अधिपति थे। यह ग्रन्थ तीन विलासों में विभक्त हैं—(१) 'रञ्जकोल्लास' नामक प्रथम विलास में नायक तथा नायिका के स्वरूप तथा गुण का वर्णन विस्तार से किया गया है। अनन्तर चारों वृत्तियों के रूप तथा प्रभेदों का भी विस्तृत विवेचन है। (२) द्वितीय विलास (रसिकोल्लास) में रस का बड़ा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है जिसमें रति के वर्णन-प्रसंग में भोजराज के मत का खण्डन किया गया है (पृ० १४९)। यह विवेचन जितना स्वच्छ तथा सुबोध है उतना ही उदाहरणों से परिपुष्ट तथा युक्तियों से युक्त है। (३) तृतीय विलास (भावोल्लास) में रूपक के वस्तु का विस्तृत विन्यास है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रूपक के तीनों अंगों—नेता, रस तथा वस्तु का क्रमशः तीनों विलासों में सांगोपांग विवेचन है। दशरूपक की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक विस्तृत तथा विशद है। दक्षिण भारत में दशरूपक की अपेक्षा इसी लिए इसका प्रचुरतर प्रचार है।

३६—भानुदत्त

संस्कृत साहित्य के इतिहास में भानुदत्त नायिका-नायक-भेद के ऊपर सबसे बड़ी पुस्तक लिखने के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तक का नाम रसमंजरी है। इसी का संक्षेप विवरण भानुदत्त ने रसतरंगिणी में प्रस्तुत किया है जिसमें रस और भावों का ही विशेष रूप से वर्णन है। रसमंजरी के अन्तिम श्लोक में इन्होंने अपने को 'विदेहभूः' लिखा है जिससे जान पड़ता है कि ये मैथिल थे।

१—"He (Shinga Bhupal) is identified with some Mithila ruler of 14th century, but the question is much disputed."

—History of Tirhut, p. 167

२. अनन्तशयन ग्रन्थमाला (सं० ५०) में प्रकाशित, १९१६।

इन्होंने अपने पिता का नाम गणेश्वर लिखा है[१]। सूची-ग्रन्थों में भानुदत्त स्पष्ट ही मैथिल बतलाये गये हैं। गणेश्वर के मैथिल होने से बहुत सम्भव है कि ये प्रसिद्ध गणेश्वर मन्त्री हों जिनके पुत्र चण्डेश्वर ने 'बिवाद-रत्नाकर' लिखा था। चण्डेश्वर ने १३१५ ई० में सोने से अपना तुलादान करवाया था। अतः भानुदत्त का भी यही समय है। इन्होंने 'शृंगारतिलक' तथा 'दशरूपक' का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है तथा गोपाल आचार्य ने १४२८ ई० में रस-मंजरी के ऊपर 'विकास' नामक टीका लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे।

भानुदत्त ने **गीत-गौरीश** या **गीतगौरीपति** नामक बड़ा ही सुन्दर गीतिकाव्य लिखा था जो दश सर्गों में समाप्त है। आलंकारिक भानुदत्त तथा कवि भानुदत्त इन दोनों के पिता का नाम गणेश्वर या गणपति है। रस-मंजरी के कुछ पद्य 'गीत-गौरीश' में भी दिये गये मिलते हैं जिससे दोनों ग्रन्थकारों की एकता स्वतः सिद्ध होती है। यह गीतिकाव्य जयदेव के गीत-गोविन्द के आदर्श पर लिखा गया था। मैथिल काव्य में बंगदेशीय कवि की मनोरम कविता से साम्य होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अतः भानुदत्त गीतगोविन्दकार (१२ शतक) के पश्चाद्वर्ती हैं और इनका जो समय ऊपर निर्दिष्ट किया गया है उससे इसमें किसी प्रकार का विरोध भी उपस्थित नहीं होता।

ग्रन्थ

(१) भानुदत्त के दोनों ग्रन्थों में **रस-मंजरी** सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें नायिका के बिभेदों का वर्णन सांगोपांग किया गया है। ग्रन्थ का दो तिहाई भाग इसी विवेचन में खर्च किया गया है। शेष भाग में नायक-भेद, नायक के मित्र, आठ प्रकार के सात्त्विक भाव और शृंगार के दो भेद तथा विप्रलम्भ की दश अवस्थाओं का बिवेचन किया गया है।

रसमंजरी की लोकप्रियता का परिचय इसके ऊपर लिखी गई अनेक टीकाओं से मिलता है। इस पर अब तक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। (१) अनन्त पण्डितकृत व्यंग्यार्थकौमुदी तथा (२) नागेश भट्टकृत प्रकाश ही बनारस संस्कृत सीरीज में (नं० ८३) प्रकाशित हो चुकी है। नागेश भट्ट तो

---

१. तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालंकारचूडामणिः।
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित् कल्लोलकीर्मिरिता॥
रसमंजरी का अन्तिम पद्य।

प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट ही हैं। अनन्त पण्डित का मूलस्थान गोदावरी के किनारे पुण्यस्तम्भ नामक नगर था। इन्होंने यह टीका काशी में संवत् १६९२ (१६३६ ई०) में लिखी थी। इन्होंने गोवर्धन सप्तशती के ऊपर भी टीका लिखी है जो काव्यमाला में मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित है।

(२) भानुदत्त का दूसरा ग्रन्थ रस-तरंगिणी है जिसमें रस का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसमें आठ तरंग हैं जिनमें भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव, शृंगाररस, इतर रस तथा स्थायी भाव और रस से उत्पन्न दृष्टियों का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके ऊपर भी नव टीकायें लिखी हुई मिलती हैं जिनमें से गंगाराम जड़ी कृत 'नौका' नामक टीका ही अब तक प्रकाशित हुई है। इस टीका की रचना सन् १७३२ ई० में की गई थी। भानुदत्त ने इन दोनों ग्रन्थों का निर्माण कर रस-सिद्धान्त का व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है और इसी लिये ये अलंकार-शास्त्र के इतिहास में स्मरणीय हैं।

३७—रूप गोस्वामी

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के द्वारा जिस वैष्णव भक्ति की धारा प्रभावित हुई उससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने वैष्णव कल्पनाओं को रस-विवचन में प्रयुक्त किया। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में धार्मिक दृष्टि से रस की साधना की जाती है। रस के विषय में उनकी अनेक नवीन कल्पनायें हैं। ऐसे ग्रन्थकारों में सबसे श्रेष्ठ थे **रूप गोस्वामी**। ये मुकुन्द के पौत्र और कुमार के पुत्र थे। ये चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे। अतः इनका समय १५ शताब्दीका अन्त तथा १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इनके ग्रन्थों के लेखन-काल से भी इस समय की पुष्टि होती है। इनका 'विदग्ध-माधव' १५३३ ई० में लिखा गया था तथा 'उत्कलिकावल्लरी' १५५० ई० में लिखी गई थी।

अलंकार विषय में इनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं—**(१) नाटक चन्द्रिका, (२) भक्तिरसामृतसिन्धु, (३) उज्ज्वलनीलमणि।**

नाटकचन्द्रिका में नाटक के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन है। इसके आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि इसकी रचना के लिए इन्होंने भरत शास्त्र और रस-सुधाकर (शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर) का अध्ययन किया है। और भरत के सिद्धान्तों से प्रतिकूल होने के कारण इन्होंने साहित्यदर्पण के निरूपण को

बिल्कुल छोड़ दिया है। इस ग्रन्थ में निरूपित विषयों का क्रम इस प्रकार है—नाटक का सामान्य लक्षण, नायक, रूपक के अंग, सन्धि आदि के प्रकार, अर्थोपक्षेपक और विष्कंभक आदि इसके भेद, नाटक के अंकों का तथा दृश्यों का विभाजन, भाषाविधान, वृत्तिविचार और रसानुसार उनका प्रयोग। यह ग्रन्थ छोटा नहीं है। इसके उदाहरण अधिकतर वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं जो संख्या में अत्यधिक तथा सूक्ष्म हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु—भक्ति-रस के स्वरूप का विवेचनात्मक यह ग्रन्थ[1] चैतन्य सम्प्रदाय में धार्मिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियों से अनुपम है। इस ग्रन्थ में चार विभाग हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम, (४) उत्तर और प्रत्येक विभाग में अनेक लहरियाँ हैं। पूर्व विभाग में प्रथमतः भक्ति का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट है (प्रथम लहरी)। अनन्तर भक्ति के तीनों भेदों का—साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति का विशिष्ट विवरण दिया गया है (२-४ लहरी)। दक्षिण विभाग में क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव का भिन्न-भिन्न लहरियों के वर्णन के अनन्तर भक्तिरस के सामान्य रूप के विवरण के साथ यह विभाग समाप्त होता है। पश्चिम विभाग में भक्ति-रस के विशिष्ट रूप का विन्यास है जिसमें क्रमशः शान्तभक्ति, प्रीतभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सल भक्ति तथा मधुरभक्ति रस का विभिन्न लहरियों में बड़ा ही सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति-रस ही प्रकृत रस है तथा अन्य रस उसी की विभिन्न विकृतियाँ तथा प्रभेद हैं। इनका वर्णन उत्तर-विभाग का विषय है जिसमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण तथा रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों का वर्णन है। अनन्तर रसों की परस्पर मैत्री तथा विरोध की विवेचना कर रसाभास के विशिष्ट रूप के निर्धारण के साथ यह ग्रन्थ समाप्त होता है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ **भक्तिरस** का महनीय विश्वकोश है। ग्रन्थ का रचनाकाल है १४६३ शक संवत् = १५४१ ईस्वी।

उज्ज्वलनीलमणि—यह ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थ का पूरक है। 'उज्ज्वल' का अर्थ है श्रृंगार; अतः मधुरश्रृंगार रस की विस्तृत विवेचना के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। इसमें क्रमशः नायक, नायक के सहायक, हरिप्रिया, राधा, नायिका, यूथेश्वरी भेद, दूती के प्रकार, सखी के वर्णन के अनन्तर कृष्ण

१—जीवगोस्वामी की टीका (दुर्गसङ्गमनी) से युक्त इसका एक सुन्दर संस्करण पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी की सम्पादकता में अच्युतग्रन्थ-माला में प्रकाशित हुआ है। काशी, १९८८ वि० सं०।

के सखा का वर्णन है। पश्चात् मधुर रस के उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी तथा स्थायी का विस्तृत वर्णन कर शृंगार-संयोग तथा विप्रलम्भ की नाना दशाओं का रहस्य समझाया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थराज रसराज भक्ति-रस का विवेचनात्मक विशाल ग्रन्थ है जो भक्तिदृष्टि से भी उतना ही माननीय है जितना साहित्यदृष्टि से श्लाघनीय है।

रूप गोस्वामी के अन्तिम दोनों ग्रन्थों में भक्ति की रसरूपता का बड़ा ही प्राञ्जल, प्रामाणिक तथा प्रशस्त विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार की ये दोनों अमर कृतियाँ हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

'उज्ज्वल नीलमणि' की दो टीकायें प्रकाशित[1] हुई हैं और दोनों ही बड़ी प्रसिद्ध हैं। (१) पहली टीका का नाम है **लोचन-रोचनी** जिसकी रचना रूप गोस्वामी के भाई वल्लभ के पुत्र जीव गोस्वामी ने की थी। जीव गोस्वामी बहुत ही बड़े विद्वान् थे। दर्शन तथा साहित्य का, भक्ति तथा साधना का जितना सामञ्जस्य जीव गोस्वामी के जीवन में था उतना अन्यत्र मिलना दुष्कर है। इनका जन्म शक १४४५ (१५२३ ई०) में तथा मृत्यु शक १५४० (१६१८ ई०) में हुई थी। इससे स्पष्ट है कि इनका कार्यकाल १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध था। (२) दूसरी टीका का नाम **आनन्द-चन्द्रिका** या 'उज्ज्वल नीलमणि किरण' है। इसके रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अत्यन्त पूजनीय ग्रन्थकार हैं। इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी का अन्त तथा १८वीं का आदिम काल है। इस आनन्दचन्द्रिका की रचना १६१८ शक (१६९६ ई०) में हुई थी। इन्होंने भागवत के ऊपर "सारार्थदर्शिनी" नामक टीका की रचना १६२६ शक (१७०४ ई०) में की थी। इस प्रकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भक्ति तथा साहित्य दोनों प्रकार के शास्त्रों पर अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को लिखा है।

३८—कवि कर्णपूर

कवि कर्णपूर का वास्तविक नाम **परमानन्ददास सेन** था। ये शिवानन्द सेन के पुत्र तथा श्रीनाथ के शिष्य थे। ये बंगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थकार थे। ये जीव गोस्वामी के समकालीन ग्रन्थकर्ता थे। इनके पिता शिवानन्द चैतन्य-देव के साक्षात् शिष्यों में से थे। कवि कर्णपूर का जन्म बंगाल के नदिया जिले

१—काव्यमाला ९५, बम्बई १९१३।

में १५२४ ई० में हुआ था। चैतन्य के जीवनचरित को नाटक रूप से प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने १५७२ ई० में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा।

अलंकार शास्त्र पर इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है **अलंकार-कौस्तुभ**। यह ग्रन्थ दश किरणों या अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें काव्य-लक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रसभावभेद, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति तथा दोष का क्रमशः वर्णन किया गया है। इस प्रकार रूप गोस्वामी के ग्रन्थ से इसका विस्तार विषय की दृष्टि से अधिक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण कृष्णचन्द्र की स्तुति में ही निबद्ध किये गये हैं तथापि इसमें उतनी वैष्णवता का पुट नहीं है जितनी रूप गोस्वामी के ग्रन्थ में मिलती है। बंगाल में यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। इसके ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है जिनमें वृन्दावनचन्द्र तर्कालंकार चक्रवर्ती की 'दीधितिप्रकाशिका' टीका तथा लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। केवल विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारबोधिनी टीका मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है[1]।

कविचन्द्र कवि कर्णपूर तथा कौशल्या के पुत्र बतलाये जाते हैं। ये कवि कर्णपूर ऊपर निर्दिष्ट आलंकारिक ही हैं यह कहना प्रमाणसिद्ध नहीं है। अलंकारविषयक इनका ग्रन्थ काव्यचन्द्रिका है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें १६ प्रकाश हैं जिनमें साहित्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन है। इसमें ग्रन्थकार ने सारलहरी तथा धातुचन्द्रिका नामक अपने अन्य ग्रन्थों का भी निर्देश किया है। इनका समय १६वीं शताब्दी का अन्त और १७वीं का प्रारम्भकाल है।

३९—अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दक्षिण भारत के मान्य ग्रन्थकारों में अग्रणी हैं। इनका अपना विशिष्ट विषय दर्शनशास्त्र है जिसके विभिन्न अंगों पर इन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। अद्वैत वेदान्त में इनका कल्पतरुपरिमल (अमलानन्द कृत कल्पतरु-व्याख्या की टीका) तथा सिद्धान्तलेश-संग्रह प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तलेश अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न

१—विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका के साथ इसके दो संस्करण मुर्शिदाबाद तथा राजशाही (बंगाल) से प्रकाशित हुए हैं।

केवल सारभूत संग्रह है प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। इन्होंने शैवाचार्य श्रीकण्ठ के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक उच्च कोटि की टीका लिखी है। कर्म मीमांसा में भी 'विधिरसायन', 'उपक्रम पराक्रम', 'वादनक्षत्रावली' तथा 'चित्रकूट' इनके मान्य ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ये दर्शन के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे प्रत्युत एक उच्च कोटि के साधक थे।

अलंकार शास्त्र में इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) कुवलयानन्द, (२) चित्र-मीमांसा और (३) वृत्तिवार्तिक। इनमें वृत्तिवार्तिक सबसे पहला ग्रन्थ है, तदनन्तर चित्रमीमांसा तथा सबके पीछे कुवलयानन्द की रचना की गई क्योंकि कुवलयानन्द में चित्र-मीमांसा का उल्लेख पाया जाता है।

(१) **वृत्तिवार्तिक**[१]—यह शब्द-वृत्तियों की विवेचना में लिखा गया एक छोटा ग्रन्थ है। इसमें केवल दो ही परिच्छेद हैं जिसमें अभिधा और लक्षणा का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अधूरा ही दीख पड़ता है।

(२) **कुवलयानन्द** अलंकारों के निरूपण के लिए बहुत ही सुन्दर और उपादेय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ जयदेव के 'चन्द्रालोक' पर आश्रित है। अन्त में चौबीस नये अलंकारों की कल्पना तथा उनका निरूपण ग्रन्थकार ने स्वयं किया है। इस प्रकार यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिक नहीं है तथापि अलंकारों की रूपरेखा जानने के लिए अतीव उपादेय है। इसकी लोकप्रियता का यही कारण है। इसके ऊपर लगभग नौ टीकायें मिलती हैं, जिनमें आशाधर की दीपिका तथा वैद्यनाथ तत्सत् की अलंकारचन्द्रिका टीका अनेक बार प्रकाशित हुई हैं। काशी के विश्वरूप यति के शिष्य तथा बाधूलवंशी देव सिंह सुमति के पुत्र गंगाधर वाजपेयी की टीका रसिकरंजिनी, जो कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुई है, इन दोनों की अपेक्षा अप्पय दीक्षित के मूल ग्रन्थ की विशुद्धि की जाँच के लिए अधिक उपयोगी है, क्योंकि इन टीकाकार के कथनानुसार अप्पय दीक्षित इनके पितामह के भाई के गुरु थे तथा इन्होंने स्वयं ग्रन्थ का पाठ ठीक करने में बहुत ही परिश्रम किया था। ये तंजौर के राजा शाहजी (१६८४ से १७११ ई०) के दरबार के सभा-पण्डित थे। अतः इनका समय १७वीं शताब्दी का अन्त तथा १८वीं का आदिकाल है।

(३) **चित्रमीमांसा**—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और ग्रन्थकार की यह प्रौढ़ रचना है। यह ग्रन्थ अतिशयोक्ति अलंकार तक वर्णन कर बीच ही में

१—काव्यमाला में प्रकाशित।

समाप्त हो जाता है। इस ग्रन्थ के अन्त में एक कारिका मिलती है[1], जिससे पता चलता है कि ग्रन्थकार ने जान-बूझकर इस ग्रन्थ को अधूरा छोड़ दिया है। अप्पयदीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में चित्रमीमांसा का जो उल्लेख किया है (पृ० ७८, ८६, १३३) वह श्लेष, प्रस्तुतांकुर और अर्थान्तरन्यास अलंकारों के विवेचन से संबंध रखता है परन्तु वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ में यह अंश त्रुटित है। इस ग्रन्थ में अलंकारों का विशिष्ट विवेचन ही ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अप्पय दीक्षित उपमा को सबसे अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण अलंकार मानते हैं और इसके ऊपर अवलम्बित होनेवाले २२ अलंकारों का निर्देश करते हैं। परन्तु केवल एकादश अलंकारों का निरूपण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि किसी प्रकार ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया है। इसके ऊपर भी कतिपय टीकायें मिलती हैं जिनमें बालकृष्ण पायगुण्ड की टीका प्रसिद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके ऊपर **'चित्रमीमांसा-खण्डन'** नामक एक पूरा ग्रन्थ ही लिखा है जिसमें अप्पय दीक्षित के सिद्धान्तों का विशिष्ट खण्डन किया गया है।

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द की रचना वेंकट नामक राजा के आदेश से की, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है[2]। ये वेंकट विजयनगर के राजा वेंकट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनके एक दान-पत्र का समय १५८३ शक (१६०१ ई०) है। इससे स्पष्ट है कि अप्पय दीक्षित १६वीं शताब्दी के अन्त तथा १७वीं के आरम्भ में थे। इस समय की पुष्टि इस घटना से भी होती है कि कमलाकर भट्ट ने १७ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है तथा इसी काल के आस-पास पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका खण्डन किया है।

४०—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलंकारशास्त्र के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध अन्तिम प्रौढ़ आलंकारिक हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का लक्ष्मीदेवी था। पण्डितराज अप्पय दीक्षित के समकालीन थे। इनके पिता ने वेदान्त की शिक्षा ज्ञानेन्द्रभिक्षु से, न्याय वैशेषिक की

१—अप्यर्धं-चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥ —कुवलयानन्द।

२—अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥ —कुवलयानन्द।

महेन्द्र पण्डित से, पूर्वमीमांसा की खण्डदेव से तथा व्याकरण की शिक्षा शेष वीरेश्वर से ली थी। जगन्नाथ ने इन विषयों का अध्ययन अपने पिता से तथा अपने पिता के एक गुरु वीरेश्वर से किया था। इनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। ये कुछ दिनों तक शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाते थे। जगदाभरण काव्य में इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा की है। सुनते हैं कि इन्होंने किसी यवनी से विवाह-संबंध कर लिया था और इसी कारण समाज से बहिष्कृत किये जाने पर इन्होंने एक अलौकिक घटना से अपनी निर्दोषता सिद्ध की। कहा जाता है कि गंगालहरी के पाठ करने से स्वयं गंगा बढ़ती चली गईं और स्वयं इन्हें अपनी गोद में लेकर इनकी निर्दोषता को सिद्ध कर दिया।

यह किंवदन्ती भले ही अक्षरशः सत्य न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि इन्होंने अपना यौवनकाल दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ की छत्रछाया में बिताया[1]। दिल्लीश्वर की प्रशंसा इन्होंने अपने ग्रन्थ में की है[2]। अपने जीवन के अन्तिम काल में ये मथुरा में निवास करते थे[3]। ये परम वैष्णव थे। भगवान् विष्णु की स्तुति में इनके सरस पद्यों को पढ़कर कोई भी आलोचक इनकी अहैतुकी भक्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। काशी इनक जन्मभूमि न होते हुए भी कर्मभूमि थी।

समय

शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के समकालीन होने के कारण पण्डितराज का समय भली भाँति निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने शाहजहाँ की प्रशंसा में अपना एक पद्य रसगंगाधर में दिया है[4]। दाराशिकोह की प्रशंसा में इनका

१—दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

२—दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात् ॥

३—मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते।

४—भूमीनाथ-शहाबुदीन-भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भावये-
न्न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः ॥

—रसगंगाधर पृ० २१०।

'जगदाभरण' नामक पूरा काव्य ही है। शाहजहाँ के दरबार के सरदार नवाब आसफ खाँ के आश्रय में भी ये कुछ दिन रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है। आसफ खाँ की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। उसी के दुःख में इन्होंने 'आसफ-विलास' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसलिये इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्यभाग है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से काव्यग्रन्थों की रचना की है जिनमें भामिनीविलास, गंगालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, आसफविलास, जगदाभरण, प्राणाभरण, सुधालहरी, यमुना-वर्णन चम्पू प्रसिद्ध हैं। भट्टोजि दीक्षित की मनोरमा के खण्डन के लिए इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा है।

रसगंगाधर

अलंकार-जगत् में इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ **रसगंगाधर** है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश के समान महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जो उदाहरण दिये हैं वे सब इन्हीं की रचना हैं[1]। पण्डितराज केवल आलंकारिक ही नहीं थे प्रत्युत एक उत्कृष्ट कवि भी थे। रसगंगाधर के अधूरा होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में केवल दो आनन या अध्याय हैं। प्रथम आनन में काव्य का लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' किया गया है। इसकी पुष्टि करते समय इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के काव्य-लक्षण की पूरी समीक्षा की है। प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु बतलाकर इन्होंने काव्य के चार विभाग या प्रकार निश्चित किये हैं—(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम, (४) अधम। तदनन्तर रस का सांगोपांग विवेचन ग्रन्थकार ने किया है। द्वितीय आनन के आरम्भ में ध्वनि के प्रभेदों का विवेचन कर अभिधा और लक्षणा की समीक्षा है। तदनन्तर अलंकारों का निरूपण किया गया है। इन्होंने केवल ७० अलंकारों का वर्णन किया है। उत्तरालंकार के वर्णन से यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

१—निर्माय नूतनमुदाहरणस्वरूपं,
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः,
कस्तूरिका - जनन - शक्तिभृता मृगेण॥

—रसगंगाधर पृ० ३।

रसगंगाधर के अधूरे लिखे जाने के कारण यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्रन्थ के लिखते समय लेखक का देहावसान हो गया था। क्योंकि 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक ग्रंथ के उल्लेख से पता चलता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ की रचना रसगंगाधर के निर्माण के अनन्तर की।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के चित्रमीमांसा नामक अलंकार ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए ही 'चित्रमीमांसा खण्डन' का प्रणयन किया था। अप्पय दीक्षित ने अलंकारों के निरूपण के लिए रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' तथा जयरथ की 'विमर्शिणी' टीका से विपुल सामग्री ग्रहण की थी। अप्पय दीक्षित के खण्डन के अवसर पर पण्डितराज ने इन ग्रन्थकारों की भी कटु आलोचना की है। यह आलोचना कटु होते हुए भी यथार्थ है।

रसगंगाधर पाण्डित्य का निकषग्रावा समझा जाता है। जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अद्भुत संमिश्रण प्रस्तुत किया है। इनके लिखने की शैली बड़ी ही उदात्त तथा ओजस्विनी है। अपने प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करने में इनकी बुद्धि बड़ी ही तीव्रता से चलती थी। इनकी आलोचना निष्पक्ष होती थी और खण्डन के अवसर पर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होंने मम्मट और आनन्दवर्धन की भी आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया है। परन्तु विशेष खण्डन इन्होंने अप्पय दीक्षित के मत का किया है। इस आलोचना में इतना व्यक्तिगत आक्षेप तथा कटुता है कि अनेक आलोचक इसे जातिगत विद्वेष समझते हैं। अप्पय दीक्षित अत्यन्त सुप्रसिद्ध द्रविड़ पण्डित थे और पण्डितराज तैलंग ब्राह्मण थे। अप्पय दीक्षित की विशेष कीर्ति को दबाने के लिए ही पण्डितराज ने यह अनुचित प्रहार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में मम्मट, रुय्यक, जयरथ को अधिकता से उद्धृत किया है। विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ के निर्देश के अनन्तर इन्होंने **अलंकार-भाष्यकार का** उल्लेख किया है (पृ० २३९, ३६५)। इसके लेखक रुय्यक के टीकाकार जयरथ ही हैं। जयरथ ने स्पष्ट ही लिखा है कि उन्होंने **'अलंकार भाष्य'** नामक ग्रन्थ बनाया था। इन्होंने **'अलंकार-रत्नाकर'** ग्रन्थ का भी निर्देश किया है (पृ० १६३, १६५) जो शोभाकरमित्र-रचित अलंकाररत्नाकर प्रतीत होता है।

टीका

रसगंगाधर की केवल दो टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें नागेश भट्ट कृत 'गुरुमर्म-प्रकाशिका' ही अब तक प्रकाशित हुई है। नागेश भट्ट का अपना

विषय व्याकरण है जिसमें इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। ये काशी के महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और इनका उपनाम काले था। ये शिवभट्ट और सतीदेवी के पुत्र थे। भट्टोजी दीक्षित के पौत्र तथा वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र हरि दीक्षित के ये शिष्य थे। भट्टोजी दीक्षित स्वयं शेष श्रीकृष्ण के शिष्य थे, जिनके पुत्र शेष वीरेश्वर पण्डितराज जगन्नाथ के गुरुओं में अन्यतम थे। इस प्रकार नागोजी भट्ट पण्डितराज जगन्नाथ से केवल दो पीढ़ी बाद में हुए थे। भानुदत्त की रस-मंजरी पर नागेश की टीका की एक हस्तलिखित प्रति १७१२ ई० में लिखी गई थी। इस प्रकार नागेश का समय १८वीं शताब्दी का आरम्भकाल है।

अलंकार-शास्त्र पर लिखे गये इनके ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—

(१) गुरुमर्म-प्रकाशिका—यह जगन्नाथ के रस-गंगाधर पर टीका है[1]। (२) बृहत् तथा लघु उद्योत—यह गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रदीप की टीका है। (३) उदाहरण दीपिका—यह मम्मट के ग्रन्थ का विवरण है। (४) अलंकार सुधा और विषमपद्व्याख्यान षट्पदानन्द—यह अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की टीका है। (५) प्रकाश—यह भानुदत्त की रसमंजरी की टीका है। (६) भानुदत्त की रसतरंगिणी की व्याख्या है।

रसगंगाधर की एक दूसरी टीका का भी पता चला है जिसका नाम 'विषमपदी' है परन्तु यह अब तक अप्रकाशित है। और इसके ग्रन्थकार का भी पता नहीं चलता।

४१—आशाधर भट्ट

दो आशाधर—उनकी एकता मानने में भ्रान्ति

हमें अनेक कठिनाइयों का सामना आशाधर भट्ट के जीवनचरित्र लिखते समय अधिक मात्रा में करना पड़ा है। संस्कृत अलंकार-साहित्य में आशाधर नामवाले दो व्यक्तियों का पता लगता है। इसमें से प्रथम आशाधर का पता डाक्टर पीटरसन ने १८८३ ईसवी में लगाया था; और दूसरे आशाधर के ग्रन्थ का पता डाक्टर बूलर के अनुग्रह से १८७१ ईसवी में लगा। इस नाम-सादृश्य के

१—यह ग्रन्थ मूल के साथ काव्यमाला, बम्बई तथा बनारस संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ है।

कारण अनेक लेखकों को इनके पार्थक्य के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने दोनों आशाधरों का साथ ही साथ उल्लेख किया है अवश्य, परन्तु फिर भी उनके एक व्यक्ति मानने में उन्होंने सन्देह प्रकट किया है। आश्चर्य तो यह है कि औफ्रेक्ट के बहुत वर्षों के अनन्तर जब संस्कृत साहित्य के विषय में अनेक प्रामाणिक सिद्धान्तों की उद्भावना हो गई है तथा अनेक नवीन आविष्कार हो चुके हैं, डाक्टर हरिचन्द शास्त्री ने भी इन दोनों लेखकों की एकता स्वीकृत की है। यदि इन दोनों लेखकों के चरित तथा ग्रन्थों का कुछ भी अध्ययन किया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि नाम-सादृश्य के अतिरिक्त इनको एक व्यक्ति मानने का और कोई यथार्थ प्रमाण या कारण नहीं है।

प्राचीन आशाधर का संक्षिप्त परिचय

प्राचीन आशाधर जैन थे। व्याघ्रेरवाल वंश में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम सल्लक्षण था। अजमेर प्रदेश में इनका जन्म हुआ। अनन्तर किसी कारण से ये मालवा की प्रधान नगरी धारा में आकर रहने लग गये थे। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ बनाये थे। इनके 'त्रिषष्टि-स्मृति-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ के बनने का समय ईसवी सन् १२३६ दिया हुआ है जिससे इनका तेरहवीं सदी में होना सिद्ध होता है। अनेक जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस आशाधर ने 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' पर एक टीका का भी निर्माण किया है। यह तो हुई प्राचीन आशाधर के समय की चर्चा। परन्तु ये आशाधर भट्ट जैन आशाधर से बहुत पीछे के हैं—लगभग चार सौ वर्ष पीछे के हैं। इसका यथेष्ट प्रमाण आगे चलकर दिया जायगा।

जीवन-चरित

ऊपर कहा जा चुका है कि आशाधर भट्ट के वंश, देश, समय आदि ऐतिहासिक विवरण के उपयुक्त बातों का पता अभी तक नहीं चला है। इनके ग्रन्थ में सौभाग्यवश इनके पिता तथा गुरु के नाम उल्लिखित हैं[1]। इनके

१—शिवयोरतनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजी भट्टसूनुना।
—अलंकारदीपिका पृ० १।

धरणीधरपादाब्जप्रसादासादितस्मृतेः।
आशाधरस्य वागेषा तनोतु विदुषां मुदम्॥
—अलंकारदीपिका पृ० ९४।

जिसमें १९वीं सदी में इनका प्रसिद्ध होना साफ तौर से जान पड़ता है। किसी लेखक के ग्रन्थों के लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी या इससे कुछ अधिक समय अनुमान से माना जा सकता है। यदि यही मानें, तो कह सकते हैं कि आशाधर का समय १७वीं सदी का अन्तिम काल अथवा १८वीं सदी का आरम्भिक भाग होगा। इस अनुमान के लिए त्रिवेणिका में एक पर्याप्त प्रमाण भी है, जिसका यहाँ उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। वैयाकरणों में नागेश भट्ट ने ही स्पष्ट शब्दों में व्यंजना की सत्ता स्वीकार की है[1]। उनके पहले वाले वैयाकरण तो उसे अभिधा के दीर्घ व्यापार के अन्तर्गत ही मानते थे। परन्तु नागोजीका कहना है कि निपातों का द्योतकत्व तथा स्फोट का व्यंग्यत्व स्वीकार करनेवाले पतंजलि भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने भी अस्पष्ट रूप से व्यंजना मानी है। वैयाकरणों के लिए व्यंजना का मानना अत्यावश्यक है—उसके बिना उनका काम चलना कठिन हो जायगा। अतएव नागेश ने स्पष्टतः व्यंजना को वृत्त्यन्तर माना है। परन्तु आशाधर को इस मत का बिल्कुल पता नहीं। यदि ऐसा होता तो वैयाकरणों के मत का खण्डन करके व्यंजना सिद्ध करने के लिये वे उद्योग ही न करते[2]। इस 'सिद्ध-साधन' से लाभ ही क्या होता? अतः कहना पड़ता है कि नागोजी के मत का आशाधर को कुछ भी पता नहीं था। नागेश का समय १७वीं सदी का अन्त तथा १८वीं का आरम्भ माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि कोण्डभट्ट और नागोजी भट्ट के समय के बीच में आशाधर उत्पन्न हुए थे; अर्थात् आशाधर का समय अनुमानतः १७वीं सदी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

आशाधर के ग्रंथ

पूर्वोक्त समय-निरूपण के अनन्तर इनके ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इनके निम्नलिखित प्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है—

(१) कोविदानन्द

(२) त्रिवेणिका

१—"अतएव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता।
द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति।"
वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।

—परमलघुमञ्जूषा पृ० २०।

२—त्रिवेणिका पृ० २७-२८।

(३) अलंकारदीपिका
(४) अद्वैतविवेक
(५) प्रभापटल

(१) कोविदानन्द

इस ग्रन्थ का उल्लेख 'त्रिवेणिका' में अनेक स्थलों पर आया है, जिससे ज्ञात होता है कि कोविदानन्द में 'वृत्ति' का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया था। त्रिवेणिका के पहले ही श्लोक के 'पुनः'[1] शब्द से जान पड़ता है कि कोविदानन्द में वृत्तियों का ही विशिष्ट वर्णन था, जिसका एक प्रकार का सारांश 'त्रिवेणिका' में उपस्थित किया गया है। इस अनुमान की पुष्टि भी यथेष्ट रीति से हो सकती है। डाक्टर भाण्डारकर ने 'कोविदानन्द' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है[2]। उसके नीचे लिखे श्लोक से उपर्युक्त अनुमान की सर्वथा पुष्टि होती है—

प्राचां वाचां विचारेण शब्द-व्यापारनिर्णयम्।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणसंयुतम् ॥

भांडारकर ने यह भी पता दिया है कि ग्रन्थकार की लिखी हुई 'कादम्बिनी' नाम की एक टीका भी इस पर है। यदि यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय, तो सम्भवतः 'शब्दवृत्ति' विषयक ग्रन्थों में अत्युत्तम होगा।

(२) त्रिवेणिका

त्रिवेणिका या शब्द त्रिवेणिका आशाधर की महत्त्वपूर्ण रचना[3] है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने इसे व्याकरण ग्रन्थ लिखा था, जिससे भ्रम में पड़कर अलंकार शास्त्र के इतिहास लिखनेवाले डाक्टर दे तथा श्रीयुत काणे ने इस ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं किया है। परन्तु है यह अलंकार-ग्रन्थ, जैसा कि इसके विषय-विवरण से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा।

इस ग्रन्थ का नामकरण भी बहुत ही उपयुक्त हुआ है। इसमें शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीनों वृत्तियों का समुचित वर्णन दिया

१—प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना ॥

2—List of Sanskrit Mss. Part I, 1853, Bombay P. 68.

३—'सरस्वती-भवन-टेक्स्ट्स' ग्रन्थमाला में काशी से प्रकाशित।

हुआ है। इस ग्रन्थ तथा प्रसिद्ध त्रिवेणी के साथ केवल संख्या मात्र की ही समानता नहीं है, बल्कि यह सादृश्य कई अंशों में और भी सूक्ष्म है। अभिधा गंगा के समान है। जिस प्रकार प्रयाग में प्रधान स्थान भागीरथी को ही दिया जा सकता है, उसी प्रकार शब्द की वृत्तियों में अभिधा ही प्रधान है। यमुना जिस तरह गंगा के ही आश्रित रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी अपनी स्थिति के लिए अभिधा ही पर अवलम्बित है। सहृदय हृदय-संवेद्य व्यंग्य अर्थों की प्रतिपादिका व्यंजना की समानता गुप्त सरस्वती के सिवा और किसके साथ उचित रीति से की जा सकती है ? जिस प्रकार इस पवित्र संगम पर सरस्वती है अवश्य, परन्तु साधारणतया दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी प्रकार व्यंजना भी रसिक मनुष्यों के द्वारा ही जानी जा सकती है। यह तो इस ग्रन्थ के नामकरण के विषय में हुआ। अब इसके विषय की ओर ध्यान दीजिए।

अपने नाम के अनुसार यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में बाँटा गया है। प्रथम परिच्छेद में अभिधा का वर्णन बड़ी विशद रीति से किया गया है। सबसे पहले ग्रन्थकार ने अर्थज्ञान को चारु, चारुतर तथा चारुतम भाग में विभक्त किया है। अभिधा-जन्य अर्थ चारु, लक्षणा से उत्पन्न चारुतर तथा व्यंजनागम्य चारुतम बतलाया गया है। शक्ति का लक्षण लिखकर उसे योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि इन तीनों विभागों में उदाहरण के साथ विभक्त किया है। इसके अनंतर उन साधनों का वर्णन किया है, जिनके द्वारा शक्ति का ग्रहण हुआ करता है। आशाधर ने शक्ति-ग्राहक साधनों के व्याकरण, कोश, निरुक्त, मुनिवचन, व्यवहार, व्याख्यान, वाक्यशेष, प्रसिद्ध अर्थवाले पद की सन्निधि तथा उपमान—ये नव विभाग किये हैं। प्रसंगवश अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण करनेवाले लिंग, प्रकरण, फल आदि प्रसिद्ध साधनों का भी उल्लेख उचित रीति से किया गया है। उनके छोटे-छोटे उदाहरण भी इतनी कुशलता से समझाये गये हैं कि साधारण बालक भी भली भाँति समझ जाय।

दूसरे परिच्छेद में लक्षणा का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। प्रथमतः लक्षणा का लक्षण किया गया है। इसके अनन्तर समस्त भेदों का उल्लेख एक साथ ही कर दिया गया है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा—निरूढ़ा, फलवती—गूढ़ा, अगूढ़ा, व्यधिकरणविषया तथा समानाधिकरणविषया—गौणी, शुद्धा तथा इनके और भी उपभेदों का सोदाहरण विवेचन बहुत ही सन्तोजनक है। इस परिच्छेद में प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों से भी उदाहरण दिये गये हैं तथा वामन आदि आचार्यों के मत का भी उचित स्थान पर उल्लेख किया

गया है। लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों की सूक्ष्म विवेचना करके ग्रन्थकार ने अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी बुद्धि का अच्छा परिचय दिया है। यह परिच्छेद अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आकार में भी बड़ा है। अन्त में ग्रन्थकार ने इन तीनों वृत्तियों के ग्राहक मनुष्यों में भी क्या ही अच्छा भेद प्रदर्शन कराया है—

शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः॥

अन्तिम प्रकरण में व्यंजना का विषय है। व्यंजना के लक्षण के अनन्तर उसके शक्तिमूलक तथा लक्षणामूलक भेदों का विवेचन उदाहरण के साथ उपयुक्त रीति से किया गया है। नैयायिकों ने अनुमान के अन्तर्गत व्यंजना मानने का जो प्रयास किया है, उसकी किंचित् सूचना देकर आशाधर ने इस मत का आलंकारिकों की शैली से खण्डन किया है। इसी प्रकार वैयाकरणों के शक्ति के अन्तर्गत व्यंजना मानने के सिद्धान्त का भी खण्डन किया गया है। बस इस प्रकरण का यही सार है। व्यंजना-प्रकरण जितने अच्छे ढंग से होना चाहिए, न तो उतने अच्छे ढंग से दिया गया है, न व्यंजना-स्थापन या व्यंजना के भेद-प्रभेदों का ही विशेष हाल है। सचमुच इस प्रकरण से निराश होना पड़ता है। सबके अन्त में आशाधर ने 'प्रभापटल' से दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो उनकी काव्य-कला के अच्छे निदर्शन माने जा सकते हैं। वे पद्य नीचे दिये जाते हैं—

यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघु दूषणं
निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत् कृतिर्मम सेव्यताम्।
सरसि विमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं
सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासवः॥ १॥

यदि मम सरस्वत्यां कश्चित्कथञ्चन दूषणं
प्रलपति, तदा प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः?
रघुपतिकुटुम्बिन्यां सत्यामवद्यमुदाहरन्
हतकरजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः॥ २॥

'त्रिवेणिका' का जो सारांश दिया गया है, उससे पाठकों को इसके महत्त्व का पता अवश्य लग गया होगा। शब्दवृत्ति-विषयक जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, उन सब में यह ग्रन्थ उत्तम है।

(३) अलंकार दीपिका

आशाधर भट्ट का यह तीसरा ग्रन्थ एक प्रकार से त्रिवेणिका की पूर्ति करता है। इस ग्रन्थ के विषय-विवेचन को ठीक रीति से समझने के लिए इसके आधार-ग्रन्थ कुवलयानन्द की संक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। ईसवी तेरहवीं शती में जयदेव नामक पण्डित ने अलंकार शास्त्रविषयक 'चन्द्रालोक' नामक अत्युत्तम ग्रन्थ की रचना की। इसमें अल्प परिमाण में ही अलंकारशास्त्र की ज्ञातव्य बातें एकत्र कर दी गई हैं। अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण देते समय जयदेव ने एक ही पद्य में दोनों का समावेश कर पाठकों के लिए बहुत ही उपकार किया है। १७वीं शती में अप्पय दीक्षित ने इसी ग्रन्थ की सहायता से 'कुवलयानन्द' नामक एक लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना की, जिसमें अर्थालंकारों के लक्षण तथा उदाहरण एक ही श्लोक में समाविष्ट करने के अतिरिक्त प्राचीन काव्य-ग्रन्थों से तद्विषयक दृष्टान्त भी दिये गये हैं। स्थान-स्थान पर प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन भी उचित रीति से किया गया है। अपने कथनानुसार ही[1], अप्पय दीक्षित ने अनेक अर्थालंकारों को चंद्रालोक से हूबहू अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर लिया है। भाविकसंधि, उदारसार आदि चंद्रालोक के कतिपय अलंकारों को छोड़ दिया है तथा बहुत से नवीन अलंकारों की उद्भावना कारिका के रूप में कर दी है। इस प्रकार १०० अलंकारों का वर्णन तो ठीक ढंग पर कारिका के रूप में किया गया है; परन्तु अन्त में लगभग २४ अलंकारों का नाम निर्देश किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों से उदाहरण भी पेश किये गये हैं; परंतु उनके लक्षण तथा दृष्टांत कारिकाओं में नहीं दिये गये हैं।

अब आशाधर के ग्रन्थ पर दृष्टिपात कीजिए। यह ग्रन्थ तीन प्रकरणों में समाप्त हुआ है। पहले प्रकरण में कुवलयानन्द में लिखित कारिकाओं की सरल रीति से व्याख्या की गई है। मूल ग्रन्थ के अलंकार-विषयक सूक्ष्म विवेचन बालकों के लिये अनुपयोगी समझकर इसमें छोड़ दिये गये हैं—केवल मूल कारिका पर सरल व्याख्या ही दी गई है। आशाधर ने स्वयं ही इस प्रकरण के अन्त में इन कारिकाओं को अप्पय दीक्षित-विरचित मूल कारिका बतलाया है।

१—येषां चंद्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यंते॥

दूसरे प्रकरण का नाम 'उद्दिष्टालंकार प्रकरण' है। कुवलयानन्द के अन्त में रसवत्, प्रेय आदि जिन अलंकारों के केवल नाम ही गिनाये गये हैं, उन-पर आशाधर ने तदनुरूप ही कारिकाएँ बनाई हैं। इस प्रकरण के अन्त में[1] उन्होंने इसे स्पष्ट प्रकार से अपनी रचना बतलाया है। इन कारिकाओं में ठीक कुवलयानन्द की शैली पर प्रथमार्द्ध में लक्षण तथा उत्तरार्द्ध में दृष्टांत उपस्थित किये गये हैं। पश्चात् इनकी समुचित व्याख्या भी की गई है।

तीसरा 'परिशेष-प्रकरण' कहा गया है। इसमें संसृष्टि तथा संकर अलंकार के पाँच प्रकार के भेद सन्निविष्ट किये गये हैं। दूसरे प्रकरण के समान ही इस प्रकरण की भी समग्र कारिकाएँ आशाधर की खास अपनी रचना हैं[2]। व्याख्या भी उसी रीति से ऐसी सुगमता से की गई है कि साधारण विद्यार्थी भी यथेष्ट लाभ उठा सकता है।

आशाधर ने ग्रन्थ का नाम 'कुवलयानन्दकारिका' तथा अपनी टीका का नाम 'अलंकारदीपिका' रखा है। ऊपर के वर्णन से पाठकों ने इनका संक्षिप्त परिचय अवश्य पा लिया होगा। इसमें जितने अलंकार माने गये हैं उतने सम्भवतः किसी अन्य अलंकारग्रन्थ में नहीं हैं। अलंकारों की संख्या लगभग १२५ के है। अलंकारशास्त्र में प्रवेश करने के लिए—विशेषतः अलंकारों के लक्षण सुगमता से याद करने के लिए—यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परन्तु इसका जितना प्रचार अपेक्षित है, दुर्दैववश उतना इस समय नहीं है।

(४) अद्वैत-विवेक

त्रिवेणिका के ११वें पृष्ठ में इसका उल्लेख पाया जाता है। इस ग्रन्थ से एक पद्य भी उद्धृत किया गया है। यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है। इसके नाम से अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः यह कोई वेदान्त ग्रन्थ होगा।

(५) प्रभापटल

'प्रभापटल' का नाम अभी तक किसी को मालूम नहीं था। जहाँ तक जान पड़ता है, सबसे पहले श्री बटुकनाथ जी शर्मा ने ही अपनी बृहत् भूमिका में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

१—आशाधरभट्टकृतमुद्दिष्टनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।

२—इति''''आशाधरभट्टविरचितं तृतीयं परिशेषप्रकरणं समाप्तम्।

इस ग्रन्थ से हरिणी छंद में दो पद्य त्रिवेणिका के अन्त में उद्धृत किये गये हैं। ये दोनों श्लोक पहले दिये जा चुके हैं।

स्पष्ट है कि अलंकार-शास्त्र को सर्वसाधारण के लिए सुगम कर देने के ही विचार से प्रेरित होकर इन्होंने अपने अधिकांश ग्रन्थों की रचना की है। ग्रन्थों की उपादेयता के विषय में सन्देह करने की तनिक भी जगह नहीं है। जिस उद्देश्य को सामने रखकर इन प्रारम्भिक ग्रन्थों की रचना की है, लेखक की विनीत सम्मति में उसकी पूर्ति उचित मात्रा में हुई है। इस गये-गुजरे समय में, जब पाठक प्राचीन आलंकारिकों को यथोचित समझने का कष्ट उठाना नहीं चाहते, इन पुस्तकों के पठन-पाठन से उचित लाभ उठाया जा सकता है।

४२—विश्वेश्वर पण्डित

ये अल्मोड़ा जिला के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। पर्वतीय ब्राह्मणों में 'पाटिया के पाण्डे' लोगों का कुल आज भी अपनी विद्वत्ता तथा सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध है। इनका समय १८वीं शताब्दी का आरम्भ प्रतीत होता है। ये अपने समय के बड़े ही मूर्धन्य विद्वान् थे। इनके पिता का नाम 'लक्ष्मीधर' था जिनका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थों के अन्त में किया है। अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का खण्डन इन्होंने यत्र-तत्र किया है। इन्होंने दण्डी के किसी टीकाकार मल्लिनाथ (पृ० ७३), चण्डीदास (पृ० १२५, १६६), महेश्वर (पृ० ४९) तथा काव्यडाकिनी का उल्लेख अलंकार-कौस्तुभ में किया है। इनके जेठे भाई का नाम उमापति था। (पृ० ३८७)। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण तथा न्याय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वैयाकरण सिद्धान्त-सुधानिधि (चौ० सं० सी०) इनका भाष्यानुसारी विशाल ग्रन्थराज है। तर्ककुतूहल तथा दीधितिप्रवेश इनके तर्कशास्त्र-संबंधी ग्रन्थ हैं।

इनके साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

(१) **अलंकार कौस्तुभ**[१]—विश्वेश्वर पण्डित का सबसे मूर्धन्य ग्रन्थ यही है। अलंकार-कौस्तुभ हमारी दृष्टि में पण्डितराज की शैली में निबद्ध

१—ग्रन्थकार की व्याख्या के साथ प्रकाशित 'काव्यमाला' संख्या ६६, सं० १९९८।

साहित्य-शास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी महती विशेषता है अलंकारों के स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन जिसमें स्थान-स्थान पर अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज के मत का खण्डन बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है। उपमा के रूप तथा प्रभेदों का विवेचन डेढ़ सौ पृष्ठों में किया गया है। विश्वेश्वर का पाण्डित्य बड़ा ही व्यापक था। वे साहित्य के अतिरिक्त न्याय तथा व्याकरण के अप्रतिम पण्डित प्रतीत होते हैं। पूरा ग्रन्थ नव्यन्याय की रीति से रचा गया है। अतः इनकी उत्कृष्टता तथा प्रामाणिकता में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं हो सकता। अलंकार-कौस्तुभ को 'नानापक्षविभावन-कुतुकं' कहते हैं जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने अलंकार के विषय में विभिन्न मतों की आलोचना के लिए ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया था।

(२) **अलंकार-मुक्तावलि**[1]—यह बालकों को अलंकारों के सुगम बोध के निमित्त रचा गया था। विवेचन बहुत ही कम है। लक्षण तथा उदाहरण का निर्देश ही मुख्य है।

(३) **रस-चन्द्रिका**[2]—रस का सामान्य विवेचनात्मक ग्रन्थ।

(४) **अलंकार-प्रदीप**[3]—इसमें अर्थालंकार का सुगम विवेचन है।

(५) **कवीद्र-कण्ठाभरण**—इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं और चित्रकाव्य का बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ 'विदग्धमुखमण्डन' की शैली पर लिखा गया है, परंतु विवेचन में उससे कहीं अधिक रोचक तथा प्रामाणिक है। प्रहेलिका तथा नाना प्रकार की चित्र-जातियों के ज्ञान के लिए यह हमारे शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

४३—नरसिंह कवि

इस कवि की उपाधि थी—अभिनव कालिदास। कवि ने यह ग्रन्थ अपने आश्रयदाता 'नञ्जराज' की प्रशंसा में लिखा है। पुस्तक तो है अलंकार-शास्त्र की, परन्तु समग्र उदाहरण 'नञ्जराज' के विषय में ही दिये गये हैं। ये नञ्जराज महीसूर के अधिपति के मन्त्री थे तथा १८वीं शताब्दी में उस देश पर शासन

१—काशी संस्कृत सीरीज, सं० ५४; काशी १९८४ सं०।

२—काशी संस्कृत सीरीज, सं० ५३; काशी १९८३ सं०।

३—काव्यमाला, अष्टम गच्छक में प्रकाशित पृ० ५१–१०८; १९११।

कर रहे थे। भारी प्रतापी थे और महाराष्ट्रों तथा मुसलमानों के आक्रमण से देश की रक्षा करने में समर्थ थे। महाराजा तो नाममात्र के शासक थे। शासन का समग्र कार्य नञ्जराज के ही हाथों सिद्ध होता था। नरसिंह कवि भी मैसूर के ही निवासी थे तथा नञ्जराज के आश्रित थे। समय १८ शतक।

'नञ्जराज यशोभूषण'[१] ठीक शिवराजभूषण के समान ही ग्रन्थ है। इसमें ७ विलास हैं—जिनमें (१) नायक, (२) काव्य, (३) ध्वनि, (४) रस, (५) दोष, (६) नाटक, (७) अलंकार का क्रमशः निरूपण किया गया है। इस प्रकार यहाँ काव्य तथा नाट्य का एक साथ ही सरल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ विलास में कवि ने अपने आश्रयदाता की स्तुति में एक पूरा नाटक ही बना रखा है जिसमें 'नाटक' के समस्त लक्षणों का समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ-रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनुकरण पर लिखा गया है जिसकी विशेष छाया—ग्रन्थ की योजना तथा उदाहरणों पर—स्पष्ट रूप से पड़ी है। दक्षिण नायक के उदाहरणों में दिया गया यह पद्य कवि की काव्यशैली का पर्याप्त द्योतक है—

धम्मिल्ले नवमल्लिकाः स्तनतटे पाटीरचर्चां गले,
हारं मध्यतले दुकूलममलं दत्त्वा यशः कैतवात्।
यः प्राक् दक्षिण पश्चिमोत्तरदिशाः कान्ताः समं लालयन्,
आस्ते निस्तुलचातुरीकृतपदः श्रीनञ्जराजाग्रणीः॥

(पृ० ७)

१—गा० ओ० सी० ग्रन्थसंख्या ४७।

उपसंहार

अलंकार-शास्त्र का यही क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह हमारा साहित्य शास्त्र ६०० ई० से १८०० ई० तक अर्थात् १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल में फैला हुआ था। इसका आरम्भ-काल ६०० ई० से भी प्राचीन है। भरत के नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में भी अलंकार-शास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है परन्तु उस समय हमारा शास्त्र नाट्यशास्त्र का एक सामान्य अंग-मात्र ही था। इस शास्त्र का उद्गम भारत के किस प्रान्त में हुआ? इसका यथार्थ विवरण हम नहीं दे सकते। परन्तु इसकी विकासभूमि से हम पूर्णतः परिचित हैं। शारदा-देश कश्मीर ही साहित्य-शास्त्र के विकास की पवित्र भूमि है। भरत के निवास-स्थान का हमें ज्ञान नहीं हैं परन्तु भामह, उद्भट, रुद्रट, मुकुल भट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट जैसे महनीय आलोचकों की जन्मभूमि कश्मीर देश ही थी यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। बिल्हण शारदा देश (कश्मीर) को कविता-विलास तथा केशर-प्ररोह की जननी मानते हैं। इनमें हम अलंकार-शास्त्र के नाम को भी जोड़कर यह भली भाँति उद्घोषित कर सकते हैं कि जिस कश्मीर में कवियों ने अपनी कमनीय काव्यकला का प्रदर्शन किया उसी देश में काव्य के मर्मज्ञों ने काव्य की यथार्थ समीक्षा की। अतः यह भूमि संस्कृत के महाकवियों की ही नहीं प्रत्युत संस्कृत के महनीय आलोचकों की भी जन्मदात्री है। हमारे आलोचना-शास्त्र का जो सारभूत मौलिक अंश है उसका विवेचन और विवरण इसी कश्मीर देश में किया गया। प्राचीन आलंकारिकों में दण्डी ही ऐसे हैं जो कश्मीरी न होकर दक्षिण देश के निवासी थे। पिछले युग में मध्यभारत, गुजरात, दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में भी साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इन प्रान्तों के ग्रन्थकार विशेषतः 'व्याख्याकाल' से सम्बन्ध रखते हैं। फलतः उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखकर सिद्धान्तों का परिबृंहण किया। मौलिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया, परन्तु कश्मीरी आलोचकों की देन के सामने उनकी देन परिमाण में न्यून है। परन्तु हमारा शास्त्र कभी भी स्थावर नहीं रहा—एकदम जड़ तथा गतिशून्य।

यह क्रमशः विकासशील शास्त्र है जिसका परिचय प्रत्येक शताब्दी में आलोचक को पदे-पदे प्राप्त होता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्र के इतिहास को मोटे तौर से हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रारंभिक काल (अज्ञात काल से भामह तक)।

२. रचनात्मक काल (भामह से आनन्दवर्धन तक)।
६५० ई० से ८५० ई० तक

(क) भामह, उद्भट और रुद्रक (अलंकार सम्प्रदाय)।

(ख) दण्डी और वामन (रीति सम्प्रदाय)।

(ग) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि (रस-सम्प्रदाय)।

(घ) आनन्दवर्धन (ध्वनि-सम्प्रदाय)।

३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट तक
८५० ई० से १०५० ई०)।

(क) अभिनवगुप्त ।
(ख) कुन्तक।
(ग) महिमभट्ट।
(घ) रुद्रभट्ट।
(ङ) धनञ्जय।
(च) भोजराज।

४. व्याख्या-काल (मम्मट से जगन्नाथ तक
१०५० ई० से १७५० ई०)।

(क) मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि (ध्वनि मत)।

(ख) शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि (रसमत)।

(ग) राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह और अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि। (कविशिक्षा)

(घ) जगन्नाथ पण्डितराज, विश्वेश्वर भट्ट।

जैसा कि पहले कहा गया है, साहित्य-शास्त्र के आरम्भ का पता नहीं चलता कि कौन-सा ग्रन्थ सबसे पहिले लिखा गया था और उसका समय

क्या था ? भरत नाट्य-शास्त्र में चार अलंकार, दश गुण और दश दोषों का वर्णन कर ही अलंकार-शास्त्र की इतिश्री मानी गई है। भामह के काव्यालंकार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके पहिले अनेक ग्रन्थ साहित्य-शास्त्र पर निर्मित हो चुके थे, परन्तु न तो इनके ग्रन्थों का ही पता है और न ग्रन्थकारों का। भरत और भामह के बीच का युग हमारे शास्त्र के इतिहास में अन्धकार-युग है। इस युग के केवल एक आलोचक का पता चलता है और वे हैं मेधावी। भामह का काव्यालंकार इस प्रथम युग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसी पुस्तक के आधार पर भट्टि ने अपने भट्टिकाव्य में अलंकारों का विधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने ३८ स्वतन्त्र अलंकारों का सन्निवेश अपने ग्रन्थ में किया है। इस युग में नाट्यरस की बिस्तृत व्याख्या भरत ने की थी। परन्तु काव्य में रस की महत्ता की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं गया था।

साहित्य-शास्त्र का रचनात्मक युग भामह से आरम्भ होकर आनन्दवर्धन तक चला जाता है। यह दो सौ वर्षों का काल (६५० से ८५० ई०) हमारे शास्त्र के इतिहास में इसीलिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसी समय काव्य के मौलिक तत्त्वों की उद्भावना हमारे आलोचकों ने की। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट काव्य के उन बाह्य आभूषणों की रूपरेखा का निर्माण कर रहे थे जो अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं और जिनकी ओर काव्य के पाठकों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। इसी सम्प्रदाय के नाम पर इस शास्त्र का नाम अलंकार-शास्त्र पड़ा। दूसरी ओर दण्डी और वामन कविता की रीति तथा तत् संबद्ध दश गुणों की परीक्षा में संलग्न थे। इनकी दृष्टि में काव्य का सौन्दर्य गुणों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अलंकार तो केवल उसके अतिशय करनेवाले धर्म हैं। इन आचार्यों के उद्योग के फल-स्वरूप रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। इन ग्रन्थकारों की रचना के साथ ही साथ भरत के नाट्य-शास्त्र की गहरी छानबीन इसी युग में आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने अपने दृष्टिकोण से भरत के ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखीं तथा उनके रस-सिद्धान्त को समझाने का बड़ा उद्योग किया। परन्तु यह रसवाद अभी तक नाट्य के संबंध में ही था। काव्य में रसवाद का महत्त्वपूर्ण विवेचन आनन्दवर्धन से आरम्भ होता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आलोचक **आनन्दवर्धन** इसी युग की विभूति हैं। इन्होंने रस-सिद्धान्त की व्यवस्था काव्य में की तथा उसकी पूर्ण व्याख्या के लिए ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना की। इतने से ही वे सन्तुष्ट

न हुए प्रत्युत उन्होंने अलंकार और रीति के सिद्धान्तों को भी अपनी काव्य-पद्धति में समुचित स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि आनन्दवर्धन ने काव्य का सर्वांगीण वर्णन सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया। अलंकार-शास्त्र के इतिहास में यह काल सुवर्ण-युग माना जाता है क्योंकि साहित्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न मौलिक सम्प्रदाय इसी युग में उत्पन्न हुए और फूले-फले।

तीसरा काल **निर्णयात्मक काल** कहा जा सकता है। यह आनन्दवर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक (अर्थात् ८५० ई० से १०५० ई०) जाता है। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित होने में दो सौ वर्ष का समय लगा। एक तरफ तो अभिनवगुप्त इसकी शास्त्रीय व्याख्या करने में लगे थे और दूसरी ओर अनेक आलंकारिक इसके प्रबल विरोध करने में संलग्न थे। भट्टनायक, कुन्तक तथा महिमभट्ट की साहित्यिक कृतियों का यही युग है। अपने दृष्टिकोण से इन्होंने ध्वनि के खण्डन करने का बड़ा ही उग्र प्रयत्न किया परन्तु मम्मट ने इन विरोधी मतों की व्यर्थता दिखलाकर ध्वनि के मत को ही सर्वतः पुष्ट किया और उसे इतने दृढ़ आधारों पर सुव्यवस्थित कर दिया कि बाद के आलंकारिकों को उसे खण्डन करने का साहस ही नहीं हुआ।

इस शास्त्र का अन्तिम काल **व्याख्या-काल** कहलाता है जो मम्मट से आरम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (१०५० ई० से १७५० ई०) अर्थात् ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युग में कुछ आचार्यों ने (हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि) पूरी काव्य-पद्धति की समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। कुछ लोगों ने काव्य के विविध अंगों—विशेषतः अलंकार तथा रस पर—पृथक् ग्रन्थों का निर्माण किया। रुय्यक और अप्पयदीक्षित ने अलंकारों का विशेष वर्णन किया है। शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने अपने नाट्य-विषयक ग्रन्थों में रस का बड़ा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है। भानुदत्त ने भी इस कार्य में विशेष सहयोग दिया है। रूपगोस्वामी ने गौडीय वैष्णव मत के अनुसार **मधुर रस** की व्याख्या कर रस-साधना का मार्ग प्रशस्त बनाया। कुछ आलोचकों ने काव्य के व्यावहारिक रूप को बतलाने के लिए कवि-शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया। राजशेखर की काव्य-मीमांसा यद्यपि इसके पूर्व युग से संबद्ध है तथापि इसमें कवि-शिक्षा का ही विषय विशेष रूप से वर्णित है। क्षेमेन्द्र ने इसी युग में औचित्य के सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया। अरिसिंह और अमरचन्द्र तथा देवेश्वर ने 'कवि-कल्पलता' के द्वारा कविशिक्षा के विषय को व्यवस्थित तथा बहुत लोकप्रिय बनाया। प्राचीन

युग में मान्य अलंकार-ग्रन्थों पर सैकड़ों टीकाएँ तथा व्याख्याएँ इस काल में लिखी गईं जिनमें मौलिकता की अपेक्षा विद्वत्ता ही अधिक है।

इस युग के अन्त में दो बहुत बड़े प्रौढ़ आलंकारिक उत्पन्न हुए जिनके नाम पण्डितराज जगन्नाथ और वीरेश्वर पाण्डेय हैं। वीरेश्वर पाण्डेय ने 'अलंकार-कौस्तुभ' लिखकर अपने प्रकृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया। इनकी तुलना में पण्डितराज जगन्नाथ का कार्य विशेष मौलिक तथा उपादेय है। खण्डित होने पर इनका ग्रन्थ 'रसगंगाधर' युक्तिमत्ता और विवेचनशैली की दृष्टि से अलंकार-शास्त्र में अद्वितीय ग्रन्थ है। अलंकार-शास्त्र की गोधूलि-वेला में लिखे जाने पर भी यह प्रौढ़ता, गम्भीरता तथा विद्वत्ता में उसके मध्याह्न-काल में लिखे गये ग्रन्थों से टक्कर लेता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में ध्वनि का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः इसको दृष्टि में रखकर हम साहित्यशास्त्र के इतिहास को निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पूर्व-ध्वनिकाल, (२) ध्वनिकाल और (३) पश्चात्-ध्वनिकाल। आनन्दवर्धन ध्वनि सम्प्रदाय के उद्भावक हैं। अतः आरम्भ से लेकर आनन्दवर्धन तक का काल पूर्वध्वनिकाल कहलाता है। इस काल में रस-मत, अलंकार मत तथा रीति मत का विवेचन प्रस्तुत किया गया था। आनन्दवर्धन से मम्मट तक का काल ध्वनिकाल कहलायेगा, जिसमें ध्वनि-विरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्त का व्यवस्थापन प्रबल प्रमाणों के आधार पर किया गया था। ध्वनिपश्चात् काल मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक है जिसमें ध्वनिमत को अक्षुण्ण मानकर काव्य के विविध अंगों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया गया तथा प्राचीन ग्रन्थों को सुबोध बनाने के लिए लोकप्रिय टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गईं। अलंकार-शास्त्र के विस्तृत इतिहास का यही परिचय है।

भामह—
एक अध्ययन

[भामह अलंकारशास्त्र के आद्य ग्रन्थकार हैं। इस शास्त्र के इतिहास में उन्हें वही गौरव प्राप्त है जो व्याकरणशास्त्र में पाणिनि को तथा नाट्यशास्त्र में भरत को। ऐसे मान्य ग्रन्थकार के महत्त्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। परन्तु अभी तक इनके समय की गुत्थी ठीक रूप से सुलझाई नहीं गई है। यह उद्योग यहाँ किया गया है। पाठकों को ज्ञातव्य है कि ग्रन्थकार का यह मत आलोचकों को सर्वथा मान्य है। रोम विश्वविद्यालय के प्रख्यात संस्कृतज्ञ डॉ० तुशी ने स्वतन्त्र निबन्ध के द्वारा इस मत का प्रामाण्य अंगीकार किया है।]

प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में यह बात सर्वत्र चली आ रही है कि किसी ग्रन्थकर्ता का महत्त्व भविष्य में उसकी उपयोगिता पर निर्भर होता है। जितना ही अधिक किसी ग्रन्थकर्ता का ग्रन्थ भविष्य में उपयोग में लाया जायगा उतना ही अधिक उसका महत्त्व बढ़ता है। आज भी जब सर्वत्र सभ्यता का झण्डा फहरा रहा है और सभी अपनी संस्कृति को ऊँचे शिखर पर पहुँचाते चले जा रहे हैं, अरस्तू और अफ़लातून के नाम कम आदर से नहीं देखे जाते। इसका क्या कारण है? अवश्य उनके ग्रन्थ उच्च कोटि के साहित्य हैं, पर इतना ही नहीं। उनके ग्रन्थों का उपयोग जितना भविष्य में हुआ है उतना शायद ही किसी और का हुआ हो। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी ग्रन्थ का महत्त्व जानने के लिए यह देखना होगा कि कहाँ तक भविष्य में उसका उपयोग किया गया है और कहाँ तक उसकी कीर्ति विराजमान रही है।

भामह का महत्त्व

यदि अब हम अपने मान्य लेखक की ओर थोड़ी भी दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट विदित हो जायगी कि भामह उन थोड़े ही गिनती के ग्रन्थकारों में से हैं जिनका नाम भविष्य में संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के लेखकों ने लिया है। जहाँ तक हम जानते हैं शायद ही कोई लक्षण-ग्रन्थ किसी महत्त्व का होगा जिसमें भामह का नाम किसी न किसी प्रकार न लिया गया हो। प्रायः सभी लक्षण-ग्रन्थों में उनके वचन दिखाई पड़ते हैं। कुछ ने तो उनके विचारों को अपना बना लिया और कुछ ने उनके उन्हीं शब्दों का समावेश कर लिया। शास्त्रार्थ में भी उनके लिए एक महत्त्व का स्थान दिया गया और मत की समानता न होने पर भी उनको उचित सम्मान दिया गया। ऐसा सम्मान उनको एक-दो

शताब्दी तक ही नहीं आजतक भी मिलता चला आ रहा है। और यदि संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के इतिहास में किसी का नाम प्राचीन समय से चला आ रहा है तो वह भरत को छोड़कर भामह का ही है। सचमुच वे प्राचीनतम लक्षण-ग्रन्थ के लेखक हैं जिनका महत्त्व हम आज भी देखते हैं।

भारतवर्ष के प्राचीन ही लेखक नहीं, आजकल के सर्वत्र कीर्ति-प्राप्त विद्वान् भी उनकी ओर दृष्टि डाल रहे हैं। एक समय था जब भामह के समय और चरित्र पर बड़े वाद उठ खड़े हुए थे। इसमें केवल पूर्वीय शोधक-गण ही नहीं, बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने भी पूर्णतया भाग लिया था। यद्यपि आज भी कोई सिद्धान्त नहीं निकल सका है तथापि इस खोज ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर नवीन प्रकाश डाल रक्खा है।

भामह की खोज

यहाँ पर भामह के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों का, जो विद्वानों ने उठाये हैं और जिनका विचार किया गया है, संक्षिप्त संग्रह दे देना अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि भामह का नाम सर्वत्र सुनाई पड़ता था पर उनका ग्रन्थ पहले उपलब्ध न था। भामह के ग्रन्थ का कोई सूत्र न पाकर ब्यूलर निराश हो गये और उन्होंने अनुमान किया कि उनका ग्रन्थ सदा के लिए लुप्त हो गया[१]। सन् १८८० ई० में सर्वप्रथम यह ग्रन्थ गुरुदेव ओपर्ट को मिला पर उनके वर्णन से किसी विशेष बात का पता नहीं लगता[२]। संस्कृत लक्षणग्रन्थों की सूची में जेकब ने भामह के काव्यालंकार[३] का भी नाम दिया है पर यह नाम देना भी किसी उपयोग का न हुआ। एक कन्नड ग्रन्थ की एक प्रति में[४] के० बी० पाठक ने केवल इसका नाम दिया है। भामह के ग्रन्थ का कुछ ठीक-ठीक वर्णन सर्वप्रथम बैंगलोर के आर० नरसिंहाचार ने दिया। एक कन्नडी ग्रन्थ की भूमिका में[५] उन्होंने लिखा है कि उनके (भरत के) अनन्तर भामह का समय है जो कि अवश्य दण्डी के पूर्वकालीन हैं, क्योंकि दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उनके मत की समालोचना की है। लक्षण-ग्रन्थों में वे एक

---

१. Buhler's Kashmir Report, 1877.
२. List of Sanskrit Mss. in Private Libraries of Southern India, Vol. 1, No. 3731.
३. J. R. A. S. 1897-98.
४. कविराज Edited by K. B. Pathak, 1898.
५. काव्यावलोकनम् by नागवर्मा Edited by R. Narsimhachar 1903.

सम्मानित व्यक्ति हैं। उनके मत उस-उस स्थल पर सभी ग्रन्थकारों ने उनके अनन्तर दिये हैं। मद्रास प्रेसीडेन्सी कालेज के प्रो० रंगाचार्य को उनकी बहुमूल्य हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। वह लिखते हैं कि ग्रन्थ में कोई समय नहीं दिया है; पर शायद छठी शताब्दी के पूर्वभाग में वह रखा जा सकता है। कन्नडी ग्रन्थ की भूमिका में लिखे जाने के कारण संस्कृत विद्वानों की दृष्टि में यह बात पहले नहीं आई।

एम० टी० नरसिंह आयंगर के भामह पर लेख के अनन्तर संस्कृत विद्वानों की दृष्टि इस आलंकारिक की ओर गई[१]। उन्होंने उनके सम्बन्ध में प्रायः सभी प्रश्नों पर अपना विचार प्रकट किया। उनका विचार था कि भामह बौद्ध थे और दण्डी के अनन्तर उनका समय था। बार्नेट ने उसी वर्ष एक टिप्पणी लिखकर उनके मत का अनुमोदन किया और लिखा कि भामह आठवीं शताब्दि के पूर्वभाग में थे[२]। काणे ने इस मत का खण्डन करने का अवश्य प्रयत्न किया कि भामह बौद्ध थे पर उनका भी मत यही था कि वे दण्डी के अनन्तर हुए[3]। सन् १९०६ में के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण बंबई-संस्कृत-ग्रन्थावलि में प्रकाशित किया और उसी के परिशिष्ट में भामह का काव्यालंकार पहिले-पहिल प्रकाशित हुआ। त्रिवेदीजी ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी और उसमें भामह के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों पर विचार किया। उनकी युक्तियाँ प्रायः सभी नरसिंहाचार के मत को खण्डन करती थीं। इसके अनन्तर डा० याकोबी और प्रो० रंगाचार्य ने १९१० में[४] और अनन्ताचार्य[५] ने १९११ में लेख लिखा जिसमें उन्होंने त्रिवेदी के मत का ही समर्थन किया। नरसिंहाचार ने कुछ और नई युक्तियाँ देकर भामह को दण्डी के पूर्वकालीन होना सिद्ध किया[६]। उसी वर्ष के० बी० पाठक ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखकर अपने विरुद्ध दी हुई युक्तियों के खण्डन करने का प्रयत्न किया[७]। परन्तु दूसरे ही वर्ष त्रिवेदी ने दिखा दिया कि खण्डन

१—J. R. A. S. 1905 P. 535 ff.

२—J. R. A. S. 1905 P. 841.

३—J. R. A. S. 1908 .P. 543.

४—Introduction to काव्यादर्श 1910.

५—Brahmawadin 1911.

६—Ind. Ant. 1912 P. 90 ff.

७—Ind. Ant. 1912 P. 232 ff.

विद्वत्तापूर्ण होते हुए भी हृदयग्राही नहीं थे[१] । त्रिवेदी के लेख से सब विरोधी चुप हो गये और कुछ वर्षों तक कोई नई युक्तियाँ नहीं दिखाई दीं । डा० याकोबी ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा एक नया मार्ग भामह के काल-निर्णय के लिए निकाला । वही मार्ग काणे ने भी स्वतन्त्र रूप से अवलम्बन किया । डा० याकोबी ने यह सिद्ध करना चाहा कि भामह ने बहुत कुछ विचार धर्मकीर्ति से लिये हैं और इसलिए वह धर्मकीर्ति के अनन्तर ही रखे जा सकते हैं । बहुतों को तो यह युक्ति भामह के काल-निर्णय के लिए अन्तिम युक्ति प्रतीत हुई । डा० दे[२], नोबुल[३] आदि ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया ।

संस्कृत अलंकार-शास्त्र का विवेचन पिछले कुछ वर्षों से बड़े जोरों के साथ चल रहा है और कुछ नवीन ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं । काणे का नाम तो इस ओर अगाध पाण्डित्य और विस्तृत खोज के लिए प्रसिद्ध ही है[४] । डा० एस० के० दे ने संस्कृत अलंकार-शास्त्र का इतिहास लिखकर एक मार्के का काम किया है[५] । डा० नोबुल ने हाल ही में एक नई पुस्तक प्रकाशित की है[६] और बटुकनाथ भट्टाचार्य ने भी एक लेख कलकत्ता जर्नल आफ लेटर्स में लिखा है[७] ।

इतने ग्रन्थ और लेख प्रकाशित होने पर भी पूर्वलिखित मतों का एक स्थान पर संग्रह करने की कोई चेष्टा नहीं की गई । भामह का काव्यालंकार भी प्रतापरुद्रयशोभूषण के एक कोने में अभी तक पड़ा हुआ है । यहाँ पर इसलिए यह चेष्टा की जाती है कि भामह और उनके ग्रन्थ के सम्बन्ध में जितनी अधिक बातें ज्ञात हो सकें एकत्र संग्रह की जायँ और साथ ही साथ आधुनिक मतों की परीक्षा करके यह देखा जाय कि कहाँ तक नवीन मत ग्राह्य हो सकता है । आशा है, भामह में रुचि रखनेवाले विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा ।

१—Ind. Ant. 1913.
२—History of Sanskrit Poetics Vol. I. P. 48.
३—Nobel—Foundations of Indian Poetry P. 17.
४—साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका Bombay, 1923.
५—History of Sanskrit Poetics, 2 Vols. 1923.
६—Foundation of Indian Poetry, Calcutta 1935.
७—Calcutta Journal of Letters Vol. IX.

भामह का व्यक्तित्व

भामह के बारे में काव्यालंकार को छोड़कर और किसी ग्रंथ से हम लोग बहुत कम जानते हैं। पूर्व परम्परा से यही पता चलता है कि वे कश्मीर के रहनेवाले थे और ब्यूलर[1] आदि[2] भी इसी को मानते हैं। यद्यपि इसके पक्ष में परम्परा को छोड़कर कोई प्रबल युक्ति नहीं है पर इसके विरुद्ध भी मानने के लिए कोई कारण नहीं है। काव्यालंकार के अन्तिम श्लोक से[3] यह बात विदित होती है कि इनका नाम भामह था और यह रक्रिल गोमिन् के पुत्र थे। रक्रिल शब्द राहुल, पोत्तल, सोमिल और दूसरे इसी प्रकार के बौद्ध नामों से मिलता-जुलता है, और इससे मालूम होता है कि इस नाम का सम्बन्ध कुछ बौद्ध लोगों से है और यह विचार इस बात से और पुष्ट होता है कि गोमिन् बुद्ध के एक शिष्य का नाम था[4]। पाठक ने यह भी लिखा है कि गोमिन् पूज्य अर्थ में लिया जाता था[5]। चान्द्र व्याकरण के एक सूत्र से[6] यह सिद्ध है कि गोमिन् का पूज्य अर्थ था। एवं यह भी कहा जाता है कि भामह के ग्रन्थ के आरम्भ के श्लोकों में[7] प्रयुक्त सार्व सर्वज्ञ शब्द स्वयं बुद्ध ही का द्योतक है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में 'सार्व' शब्द बुद्ध के व्यापक प्रेम की शिक्षा से मिलता-जुलता है। हेमचन्द्र ने[8] तो जिन का एक नाम सार्व भी दिया है। जिन देव-मुनीश्वर[9] ने यही नहीं, 'सर्वार्थ' भी इनका नाम दिया है। इस विचार से कि बहुत से बौद्ध नाम

१—Buhler's Kashmir Report, P. 64.

२—Narsimhachar in his Introduction to नागवर्मा—काव्यालोकनम्: Ind. Ant. 1912. Krishnamacharya: History of Classical Sanskrit Literature.

३—अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिल गोमिसूनुनेदम्॥
—काव्या० ६।६४

४—J. R. A. S. 1905,

५—Ind. Ant. 1912.

६—गोमिन् पूज्ये 4. 11. 144.

७—प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥ काव्या० १।१।

८—अभिधानचिन्तामणि 1. 1. 25.

९—अभिधानचिन्ताशिलोञ्छ।

जैनों ने अपने में मिला लिये थे, यह अनुमान किया जा सकता है कि सार्व प्रारम्भ में बुद्ध का नाम था। बुद्ध का सर्वज्ञ नाम तो प्रसिद्ध ही है[1]।

अब इन सब बातों का विचार करते हुए यह कहा जाता है कि भामह को बौद्ध सिद्ध करने की उपर्युक्त युक्तियाँ इन्हीं कारणों से बिल्कुल ठीक नहीं हैं। काणे ने भी कहा है कि नाम का सादृश्य होना किसी बात के सिद्ध करने के लिए कोई महत्त्व का प्रमाण नहीं है[2]। जब हिन्दू और बौद्ध सैकड़ों वर्षों से एक साथ एक ही देश में रहते आ रहे थे, तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि एक ने दूसरे का नाम रख लिया हो। आज भी जब हम यह देखते हैं कि परस्पर भिन्न हिन्दू और मुसलमानों के नाम एक दूसरे से मिल जाते हैं तो संभव है कि ऐसा ही हिन्दू और बौद्धों के बारे में भी हो सकता है। यह बात भी हमें याद रखनी चाहिये कि बुद्ध स्वयं विष्णु के अवतार ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व से ही समझे जाते थे। त्रिवेदी की युक्ति के साथ-साथ हम यह कह सकते हैं कि गोमिन् बौद्धों के लिए ही केवल नहीं प्रयोग किया जाता था। निघण्टुकारों ने यह दिखाया है कि यह शब्द गोस्वामिन् का अपभ्रंश है। यह पदवी उत्तरी भारत में कश्मीरी ब्राह्मणों के नाम से जोड़ी जाती है और यह दक्षिण के आचार्य की द्योतक है।

किसी ग्रन्थकार के धार्मिक विचार उसके ग्रन्थ से समझने चाहिये, उसके नाम से नहीं। काव्यालंकार ग्रन्थ में समाप्ति पर्यन्त कोई बौद्ध विषयक बात नहीं है और न बुद्ध का जीवन या बुद्ध सम्बन्धी कथाओं का दिग्दर्शन है। पहले श्लोक में अवश्य सार्व सर्वज्ञ को अभिवादन किया गया है। पर सार्व का अर्थ केवल "सर्वस्मै हित" ही है[3] :—किसी कोश ने भी इसे केवल बुद्ध ही का नाम नहीं लिखा है। 'सर्वज्ञ' शब्द बुद्ध और शिव[4] दोनों के लिए समान रूप से कोशों में आया है। कुमारिल ने तो 'श्लोक वार्तिक' में सर्वज्ञ शब्द का पूर्ण विवेचन किया है। उसमें उन्होंने इसका अर्थ बुद्ध नहीं, सर्वज्ञ ईश्वर लिया है। यह देखने योग्य बात है कि अमरसिंह ने जो स्वयं बौद्ध थे किसी भी स्थान

१—सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः—अमरकोश।

२—Intr. साहित्यदर्पण, p. XVIII.

३—हितप्रकरणे णं च सर्वशब्दात् प्रयुज्यते।
ततश्छमिष्टया च यथा सार्वं सार्वीय इत्यपि ॥ काव्या० ६।५३

४—कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः—अमरकोश।

पर अमरकोश में सार्व शब्द बुद्ध के लिए नहीं रक्खा है। बौद्धों के अपोहवाद का खंडन भामह ने ऐसी भाषा में किया है जो एक बौद्ध ग्रन्थकार[1] करने का साहस नहीं कर सकता।

इन प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह को बौद्ध मानना नितान्त तर्कहीन है। 'सार्व' की बात जाने दीजिए; कोई भी बौद्ध 'अपोहवाद' का खण्डन नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसका अपना प्रख्यात सिद्धान्त है—बौद्धों का संकेत-विषयक मत जिसके प्रति सिर झुकाना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है।

उन्होंने वैदिक विधि और संस्कारों का वर्णन बड़े आदर के भाव से किया है। सोमपान करनेवाले राजा लोग ऊँची दृष्टि से सम्मानित किये गये हैं[2]। अनेक उदाहरणों में वैदिक देवताओं[3] का वर्णन है। शिव के द्वारा काम के भस्म करने की पौराणिक गाथा स्पष्ट रीति से कही गई है[4]। उन्होंने बहुत स्थानों पर रामायण के पुरुषों और कथाओं का वर्णन किया है। राम और परशुराम की भेंट[5], पिता की आज्ञा मानकर रामचन्द्र का दण्डकारण्य में

१—अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
　अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृतिः किल॥
　यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
　जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥ काव्या० ६।१६-१७

२—भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
　अलंकरिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा॥ काव्या० ४।४८

३—युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः। काव्या० २।२५
　समग्र-गगनायाम-मानदण्डो रथांगिनः।
　पादो जयति सिद्ध-स्त्री-मुखेन्दुर्नव दर्पणः॥ काव्या० ३।३६
　विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
　रथांगशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ॥ काव्या० ४।२१
　कान्ते इन्दु शिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
　पातां वः शम्भुशर्वाण्यौ··················॥ काव्या० ४।२७

४—स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
　हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥ काव्या० ३।२५

५—अत्याजयद्यथा रामः सर्वक्षत्र-वधाश्रयाम्।
　जामदग्न्यं युधा जित्वा सा ज्ञेया कोपवाधिनी॥ काव्या० ५,४४

निवास[१], सात ताल वृक्षों को एक ही बाण में मारना[२], हनुमान् का सीता अन्वेषण[३]—आदि अनेक रामायण की प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन भामह के काव्यालंकार में आया है।

रामायण से भी बढ़कर महाभारत के पुरुषों और कथाओं का वर्णन[४] आया है। भामह ने भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाओं के उदाहरण में पुरु[५] और भीष्म की[६] प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया है। उसी प्रकार युधिष्ठिर और शकुनि की द्यूतक्रीड़ा[७], दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा[८] आदि भी वहाँ[९] वर्णित हैं। एक बहुत ही सुन्दर श्लोक में भामह ने घर पर कृष्ण के आगमन के साथ विदुर का हर्ष-वर्णन किया[१०] है। एक दूसरे श्लोक में कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न का नाम ऐल पुरूरवा[११] के साथ आया है।

१—उदात्त शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत्॥ काव्या० ६,११

२—रामः सप्ताभिनत् तालान्। काव्या० ३,३२

३—उपलप्स्ये स्वयं सीतामिति भर्तृनिदेशतः।
हनूमता प्रतिज्ञाय सा ज्ञातेत्यर्थसंश्रया॥ काव्या० ४,३७

४—भामह का काव्यालंकार ३,७।५,३१।५,४१

५—जरामेष बिभर्मीति प्रतिज्ञाय पितुर्यथा।
तथैव पुरुणाभारि सा स्याद्धर्मनिबन्धनी॥ ५, ३६

६—अद्यारभ्य निवत्स्यामि मुनिवद् वचनादिति।
पितुः प्रियाय यां भीष्मश्चक्रे सा कामबाधिनी ५,३७

७—आहूतो न निवर्तेय द्यूतायेति युधिष्ठिरः।
कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी॥ ५,४२

८—भ्रातुर्भ्रातृव्यमुन्मथ्य यास्याम्यस्यासृगाहवे।
प्रतिज्ञाय यथा भीमस्तच्चकारावशो रुषा॥ ५,३९

९—काव्यालंकार २.४१.५,४१

१०—............गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते॥
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥ ३,५

११—भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेष नरवाहनः॥ ५,५९.

इन रामायण और महाभारत की कथाओं के साथ-साथ गुणाढ्य-निर्मित बृहत्कथा[1] में वर्णित उदयन और उसके पुत्र नरवाहन दत्त की कथा भी वर्णन की गई है। चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध मंत्री चाणक्य का नन्द के घर में रात्रि के समय जाना वर्णित किया गया है।

इन सब उपर्युक्त बातों को जब हम ध्यान में रखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि किस प्रकार एक मनुष्य लिखने के समय अपने धर्म को एकदम भूल जायगा और दूसरे धर्म के ग्रन्थों से उदाहरण लेना प्रारम्भ कर देगा। बौद्ध ग्रंथों में गाथाओं की कमी नहीं है। यदि भामह की इच्छा होती तो एक नहीं अनेक गाथाएँ मिल जातीं। यही बात नमिसाधु आदि के ग्रन्थों के देखने से स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने किस प्रकार अपने ही धर्मग्रंथों से गाथाओं का संग्रह किया है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अपोहवाद आदि के खण्डन में भामह बौद्धों के विचारों पर एकदम बिगड़ जाते हैं। शंकराचार्य के पूर्व बौद्धों का समय यदि हम याद करें और विचारें कि किस प्रकार राजा लोग बौद्धों की रक्षा करते थे, तो यह बात समझनी और भी कठिन हो जाती है कि किस प्रकार एक बौद्ध हिन्दू-धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है। हम यह बात स्वीकार करते हैं कि हमारे पास भामह को हिन्दू सिद्ध करने के लिए अकाट्य प्रमाण नहीं हैं, पर उनको बौद्ध बनाने की युक्तियाँ तो और भी खेल-सी मालूम होती हैं। इस प्रश्न पर तब तक कोई सिद्धान्त निकाला नहीं जा सकता तब तक कोई स्पष्ट युक्ति और भी न मिल जाय। वर्त्तमान समय में हम इतना ही कह सकते हैं कि वे बौद्ध की अपेक्षा ब्राह्मण ही थे।

काल-निर्णय

भामह के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्व का प्रश्न उनके काल का निर्णय करना है। इसी प्रश्न को लेकर इतने वर्षों तक घोर उत्तर-प्रत्युत्तर हो रहे थे। परन्तु इतने वर्षों तक निःस्वार्थ वाद के अनन्तर कुछ सिद्धान्त अवश्य निकल आना था। पर दुर्भाग्यवश फल उल्टा ही हुआ। सभी बातें सन्देह-ग्रस्त रह गईं। इसलिए यहाँ पर यथाशक्ति स्पष्ट रीति से भिन्न-भिन्न युक्तियाँ थोड़े में नीचे दी जाती हैं जिससे उनकी परीक्षा करके कुछ निष्कर्ष निकल आवे।

अनेक संस्कृत के ग्रंथकारों की भाँति भामह ने भी अपना समय सूचित करने के लिए कोई मार्ग नहीं दिखाया है। अन्तः या बाह्य कोई भी मार्ग

१—काव्यालंकार ४,३९ आदि।

नहीं है, जिससे समय का ठीक-ठीक पता लग जाय। अधिक से अधिक हम इतना ही इस समय कर सकते हैं कि जहाँ तक हो सके भामह का काल-निर्णय करने के लिए पूर्व अवधि और चरम अवधि निकाल लें।

इतने पर भी हम लोग दृढ़ भित्ति पर नहीं स्थित हैं। किसी प्रकार भामह के काल की चरम अवधि तो दूसरे ग्रन्थकारों के वचनों से और उद्धृत कथादि से मिल सकती है, पर पूर्व के अवधि-निर्धारण करने के समय कठिनाइयाँ आ उठती हैं। इसी स्थान पर तो विद्वानों के संघर्ष भी हुए हैं। पहिले तो हम लोग भामह के काल की चरम अवधि निश्चय कर लें।

भामह की चरम अवधि

सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ही भामह का नाम अपने ग्रन्थ में लिया है। इसके पूर्ववर्ती आलंकारिकों में उद्भट ने भामह के काव्यालंकार के ऊपर एक टीका लिखी थी। इस टीका का नाम था—**भामह विवरण** जिसमें भामह के 'काव्यालङ्कार' की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की गई थी। दुर्भाग्यवश यह टीका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इसके अस्तित्व का पूरा परिचय हमें मान्य आलंकारिकों के निःसन्दिग्ध निर्देशों से चलता है। प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त और हेमचन्द्र ने स्पष्टतः इस ग्रन्थ के वचनों तथा मतों को उद्धृत किया है[1]।

उद्भट के मौलिक ग्रंथ **काव्यालंकारसंग्रह** और भामह के **काव्यालंकार** की तुलनात्मक समीक्षा करने से भी मालूम होगा कि उद्भट को केवल

१—विशेषोक्ति लक्षणं च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन-प्रतिहारेन्दुराज की उद्भट के काव्यालंकार-संग्रह पर टीका पृ० १४।
"भामहोक्तं शब्दच्छन्दोभिधानार्थः" इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—अभिनवगुप्ताचार्य का ध्वन्यालोक-लोचन पृ० १०।
"तस्माद् गड्डलिकाप्रवाहेन गुणालंकारभेद इति भामहविवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्"—हेमचन्द्र-अलंकार चूड़ामणि, पृ० १७।
"अपि च शब्दानाकुलिता चेति तस्य हेतून् प्रचक्षते इति भामहीये 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविकम्' इति चोद्भटलक्षणे"—अलंकार-सर्वस्व पृ० १८३ (निर्णयसागर)।

टीका ही लिखकर संतोष नहीं हुआ। उन्होंने भामह के पदार्थों को जहाँ तक हो सका है अपना लिया है जैसा कि आगे दिखाया जायगा। उद्‌भट ने भामह के वाक्य-लक्षणों की नकल ही नहीं की है उनको शब्दशः वैसा ही उतार भी लिया है।

वामन की अलंकार सूत्र-वृत्ति से ठीक-ठीक पता चलता है कि वामन-को भामह के ग्रन्थ का पूरा पता था। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वामन ने कितने ही स्थानों पर[१] भामह के श्लोकों[२] को सूत्र का रूप दे दिया है और कहीं-कहीं पर[३] उन्होंने भामह के वही विचार[४] दे दिये हैं। एक स्थान पर वामन ने भामह का एक श्लोक वैसा का वैसा ही लिख दिया है[५] जो कि भामह ने शाखवर्द्धन[६] के नाम से उद्धृत किया था। और दूसरे स्थान पर[७] उन्होंने भामह के श्लोक[८] का कुछ भाग अशुद्ध उद्धृत कर दिया है और उसके एक शब्द के प्रयोग पर टिप्पणी लिखी है। भाषा में इतनी समानता, विचार में सादृश्य अकस्मात् ही नहीं आ सकता, यह अवश्य किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ के तथ्यों के समावेश करने ही से हो सकता है।

ऊपर लिखे हुए वचनों से यह तो स्पष्ट है कि भामह उद्‌भट और वामन के पूर्वकालीन थे। सौभाग्य से उद्‌भट का काल ठीक-ठीक निश्चित हो सकता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में[९] कई स्थानों पर

१—वामन काव्यालंकार सूत्र ४।२।१

२—भामह का काव्यालंकार २।३०

३—वामन ४।२।२०-२१

४—भामह २।५०

५—वामन ४।२।१०

६—भामह २।४६

७—वामन ५।२।३८

८—भामह २।२७

९—ध्वन्यलंकारान्तर प्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेश्यो भवतीति दर्शितं भट्टोद्‌-भटेन–ध्वन्यालोक (निर्णयसागर) पृ० ७६।

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्रप्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्‌भिः भट्टोद्‌भटादिभिः।

—ध्वन्यालोक पृ० १०८।

उद्भट का नाम दिया है और कल्हण का कथन है कि उद्भट जयापीड़ की सभा के सभापति थे। जयापीड़ का काश्मीर में राज्यकाल सन् ७७९ से सन् ८१३ ई० तक था। कुप्रबन्ध के कारण पण्डितों ने जयापीड़ का उसके राज्यकाल के अन्तिम भाग में कुछ अपमान किया। इसलिए उद्भट उनके दरबार में सन् ८०० ई० के लगभग अवश्य रहे होंगे। और इसी कारण सम्भवतः इनकी साहित्य-चर्चा आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुई होगी। उद्भट का काल सम्भवतः लगभग ८०० ई० माना जा सकता है।

इसी प्रकार वामन का काल भी निश्चित हो सकता है। राजशेखर सन् ९०० ई० के लगभग थे और उन्होंने वामन के मत का[1] उल्लेख किया है। वामन अवश्य इस प्रकार ९०० ई० के पूर्व रहे होंगे।

वामन ने अनेक श्लोक भवभूति[2] के नाटकों से लिये हैं। भवभूति का समय ७०० और ७५० के मध्य में ही है। वामन इसलिए ७५० के अनन्तर ही रहे होंगे। राजतरंगिणी[3] के अनुसार कोई वामन काश्मीर के जयापीड़ राजा के मंत्री थे और काश्मीरी पण्डितों में यह बात प्रचलित है कि काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति के रचयिता और यह मंत्री महोदय एक ही थे। इस प्रकार उद्भट और वामन समकालीन प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि उन दोनों में प्रतिद्वन्द्विता थी। पर आश्चर्य यह है कि ये दोनों अपने ग्रन्थों में एक दूसरे का नाम भी नहीं लेते। तथापि यह मानने में आपत्ति नहीं कि उद्भट और वामन का समय सन् ८०० ई० के लगभग अवश्यमेव था।

शान्तरक्षित ने भामह के काव्यालंकार[4] से तीन श्लोक[5] लिये हैं और कमलशील[6] टीकाकार ने स्पष्टतया उनको भामह का कहा है। शान्तरक्षित

१—"कवयोऽपि भवन्तीति वामनीयाः"—काव्यमीमांसा पृ० १४।
"आग्रह परिग्रहादपि पदस्थैर्यं पर्यवसायस्तस्मात् पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः" इति वामनीयाः—वही, पृ० २०।

२—इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः उत्तररामचरित = वामन ४।३।६।
'पिंगालीपक्ष्मलिम्नः' मालतीमाधव = वामन ५।२।१८

३—"मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥"—५।४९७।

४—तत्त्वसंग्रह श्लोक ९१२—१४ (G. O. S. No. XXX)

५—काव्या० ६।१७—१९

६—तत्त्वसंग्रह पृ० २१९

का समय ७०५ से ७६२ ई० तक था। इन्हीं सब कारणों से भामहका परकाल सन् ७०० ई० मानने में कोई आपत्ति नहीं मालूम होती।

अब भामह के पूर्वकाल का निश्चय करना चाहिए। यहीं पर कठिन आपत्तियाँ सामने आती हैं। विद्वानों ने इस विषय में अनेक मतों का उपन्यास किया है। उनमें से प्रधान-प्रधान मत विषय के सांगोपांग अध्ययन के लिए यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

भामह और न्यासकार

एक स्थान पर भामह ने न्यासकार का नाम लिया है। कुछ विद्वानों का विचार हुआ है कि इससे बहुत कुछ भामह के सम्बन्ध में निश्चित हो जायगा। इसी बात को लेकर वाद प्रारम्भ हुआ और बहुत काल तक चलता रहा। इस प्रश्न के उठाने का सम्पूर्ण श्रेय प्रो० के० बी० पाठक पर है जिन्होंने इस प्रश्न को उठाया और विद्वत्तापूर्ण युक्तियों द्वारा अपना मत मंडन करने की चेष्टा अकेले करते गये। उन्होंने समझा कि न्यासकार के नाम से भामह का निर्देश जिनेन्द्रबुद्धि से है जो काशिका-विवरण-पंजिका के बौद्ध रचयिता हैं और जिनको हम चीनी यात्री इत्सिंग के आधार पर सातवीं शताब्दी में रख सकते हैं। इसी अनुमान पर पाठक ने भामह को आठवीं शताब्दि[1] में रखने का प्रयत्न किया। पाठक का सामना करनेवाले के० पी० त्रिवेदी निकले जिन्होंने आखिर दम तक यही कहा कि पाठक का अनुमान बालू की भित्ति पर स्थित है[2] और कभी भी ठहर नहीं सकता। त्रिवेदी की युक्तियाँ प्रबल थीं और उनके मत का लगभग सभी ने अनुमोदन किया और आखिर में शायद पाठक को मानना भी पड़ा।

वे श्लोक जिनमें भामह के काव्यालंकार में न्यासकार का नाम आया है इस प्रकार हैं—

> **शिष्टप्रयोग—मात्रेण न्यासकारमतेन वा।**
> **तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत्॥**
> **सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।**
> **अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा॥**

उपर्युक्त श्लोकों का साधारण अर्थ यह है कि शिष्ट विद्वानों के प्रयोग के अनुसार और न्यासकार के मत से कवियों को ऐसा समास न प्रयोग करना

१—J. R. A. S. Bombay Vol. XXLII, Ind. Ant. Vol. XLI, 1912

२—Intro. to प्रतापरुद्रयशोभूषण PP. XXXV ff, Ind. Ant. XLII 1913

चाहिए जिसमें एक पद षष्ठी विभक्ति का हो और दूसरा तृच् प्रत्यय युक्त हो। यह दिखलाकर कि पाणिनि का सूत्र वृत्रहन्ता आदि उदाहरणों में ज्ञापक है वृत्रहन्ता आदि समास ग्राह्य नहीं हैं। इसी प्रकार ऐसा समास भी प्रयोगार्ह नहीं है जिसका एक पद षष्ठी विभक्तियुक्त हो और दूसरे में अक्प्रत्यय लगा हो। उदाहरणार्थ तद्गमक आदि।

भामह का इससे इतना ही मतलब है कि पाणिनि का सूत्र 'तृजकाभ्यां कर्तरि' सब अवस्था में माननीय है और षष्ठी तत्पुरुष समासें तृच् और अक् प्रत्ययवाले पदों के साथ न करना चाहिए। इसी कारण अपां स्रष्टा, वज्रस्य भर्ता, ओदनस्य पाचकः आदि में कोई समास नहीं हो सकता। अब हमें यह देखना चाहिए कि जिनेंद्रबुद्धि की काशिकाविवरणपंजिका में जिसको साधारण रीति से न्यास कहते हैं इस विषय का कैसा वर्णन है। जिनेन्द्रबुद्धि ने वह प्रकरण इस प्रकार लिखा है—

"अथ किमर्थं तृचः सानुबन्धस्योच्चारणम्? तृनो निवृत्त्यर्थम्।
नैतदस्ति तद्योगे न लोकाव्ययेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्।
एवं तर्हि एतदेव ज्ञापकं भवति तद्योगेऽपि क्वचित् षष्ठी भवतीति।
तेन भीष्मः कुरूणां भयशोक-हन्तेत्येवमादि सिद्धं भवति ॥"

उपर्युक्त वाक्य पाणिनि के 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२।२।१५) सूत्र के सम्बन्ध में आया है और इसमें न्यासकार तृच् प्रत्यय में 'च' अनुबन्ध की सार्थकता दिखा रहे हैं। पाणिनि ने 'त्रकाभ्यान्' न कहकर 'तृजकाभ्यां' कहा है। इस च् जोड़ने का क्या प्रयोजन है? जिनेन्द्रबुद्धि ने यही उत्तर दिया है कि तृच् प्रत्यय से षष्ठी समास नहीं बन सकता है, पर तृन् में कोई आपत्ति नहीं है। पर दूसरी ओर कठिनाई आ जाती है। 'न लोकाव्यय निष्ठाखलर्थ-तृनाम्' (पा० २।३।६९) सूत्र से तृन् प्रत्ययवाले शब्दों के साथ षष्ठी का प्रयोग नहीं होता। षष्ठी समास का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। आपत्ति का यही उत्तर देकर निराकरण हो जाता है कि यह सूत्र इस बात का ज्ञापक है कि षष्ठी तृजन्त पदों के साथ आ सकती है। इसलिए यह सिद्धान्त निकला कि जिन-जिन स्थानों पर एक समास में एक पद षष्ठी-विभक्तिक है और दूसरे में तृ लगा है तो उसे तृन् समझना चाहिए, तृच् नहीं। अब इन दोनों वाक्यों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट है कि भामह तृच् और अक् प्रत्ययान्त पदों के साथ षष्ठी समास का निषेध करते हैं। भामह के हृदय में पाणिनि का बड़ा

आदर था।[१] इस विशेष स्थल पर भी भामह पाणिनि को अक्षरशः मान रहे हैं। भामह ने तो न्यासकार का नाम देकर यह दिखाना चाहा कि न्यासकार ने भी पाणिनि के इस सूत्र को ज्ञापक कहकर ऐसे समास प्रयोग करने की अनुमति दे दी है। यह भी मालूम होता है कि न्यासकार ने 'वृत्रहन्ता' और 'तद्गमक' दो उदाहरण दिये थे। साधारण दृष्टि में भामह के शब्द स्पष्ट हैं और उसमें अर्थ का अनर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रोफेसर पाठक ने एक स्थान पर[२] इस वाक्य के समझाने की चेष्टा अपने ही तरीके से की है और अन्यत्र[३] अपना विचार संक्षेप में दिया है। हम पिछले स्थान से कुछ वाक्य यह दिखाने के लिए उद्धृत करते हैं कि किस प्रकार का विचार प्रोफेसर साहब का था। वह लिखते हैं—हमारा इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है कि भामह ने उपर्युक्त श्लोकों में 'वृत्रहन्ता' और 'तद्गमक' के समान षष्ठी समास की निन्दा की है और यह कहा है कि वे व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। यह भी कहा है कि ऐसे समास नवीन ग्रन्थ-कारों को न प्रयोग करने चाहिएँ। न्यासकार के मत से शिष्ट प्रयोग मात्र की तुलना करने पर भामह का यह कहना नहीं है कि वृत्रहन्ता को शिष्टों ने या न्यासकार ने ठीक कहा है। भामह ने वृत्रहन्ता को लिखकर केवल इतना ही कहा है कि इस प्रकार के षष्ठी तत्पुरुष समास न्यासकार की दृष्टि से ठीक थे। यह प्रमाण 'भीष्मः कुरूणां भयशोक-हन्तेत्येवमादि' वाक्य में इत्येवमादि पद से सिद्ध होता है और तृच् और तृन् की समीक्षा करनेवाले ज्ञापक से भी सिद्ध होता है जिसका प्रयोग वृत्रहन्ता के ऐसे सब षष्ठी समासों में आता है।

इस प्रकार प्रो० पाठक इस बात का हम लोगों को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि भेद रहते हुए भी भामह और जिनेन्द्रबुद्धि एक ही बात कह रहे हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है भामह और न्यासकार पाणिनि के ज्ञापक सूत्र से तृजन्त समास को निन्दनीय नहीं समझते। शायद तृन् का उस स्थान पर कोई वर्णन नहीं आया है। परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि ने तृन् के बारे में भी कुछ कहा है कि जहाँ पर ऐसे समास आवें वहाँ उन्हें तृजन्त नहीं तृन्नन्त समझना चाहिए।

१—श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्—भामह ६।६३।

२—J. R. A. S. Bombay Vol. XXIII, p. 138

३—Ind. Ant. XLI, 1912, p. 234.

इन सब ऊपर दी हुई बातों को और स्पष्ट करें तो अच्छा हो। पाणिनि का यह नियम है कि षष्ठी विभक्तिक शब्दों का समास तृजन्त और अक्-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कभी न हो। पर जब ऐसे समास बड़े-बड़े ग्रंथकारों के ग्रंथों में आने लगे तो कठिनाई बढ़ने लगी। वैयाकरणों को तो किसी न किसी प्रकार से उसे सिद्ध करना पड़ा और जब पाणिनि के सूत्रों में ही 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' आदि समास आने लगे तो सिद्ध करने के लिए वे बाध्य हुए। इस प्रश्न पर निम्नलिखित विचार की कल्पना की जा सकती है—

(१) कुछ लोगों का कहना है कि जब पाणिनि ने ही अपने सूत्रों में 'जनिकर्तुः प्रकृति' 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' आदि में ऐसे प्रयोग किये हैं, तो 'तृजकाभ्यां कर्तरि' सूत्र अनित्य और सर्वमान्य नहीं है। कुछ स्थानों पर ऐसे समास हो सकते हैं।

(२) काशिकान्यास के रचयिता जिनेन्द्रबुद्धि शायद कहना चाहेंगे कि यह तृन् प्रत्यय का विषय है, तृच् का नहीं और 'न लोकाव्यय' इत्यादि सूत्र से तृन् प्रत्यय के सम्बन्ध में षष्ठी-निषेध अनित्य है।

(३) कैयट आदि का यह कहना है कि ऐसी अवस्था में षष्ठी 'शेष षष्ठी' से सिद्ध हो सकती है। भट्टोजिदीक्षित ने यह प्रश्न सिद्धान्त-कौमुदी[1] में उठाया है और प्रौढ़ मनोरमा[2] में अपने विचारों का सारांश दिया है। वे शब्द कैयट ही का अनुसरण करते हैं।

(४) दूसरे शायद और होंगे जिनको व्याकरण की शुद्धि का बहुत अधिक विचार हो और ऐसे प्रयोग सर्वथा निषिद्ध मानते हों।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भामह का अधिकतर अन्तिम ही मत होगा जैसा कि सचमुच उनके काव्यालंकार में है। अलंकार-शास्त्रों के जाननेवाले शायद सबको विदित है कि व्याकरण की अशुद्धि और काव्य के

१—शेष षष्ठ्या इति। केचित्तु जनिकर्तुः प्रकृतिस्तत्प्रयोजको हेतुश्चेति निर्देशादनित्योऽयं निषेध इत्याहुः। न्यासकारस्त्वाह। तृन्नन्तमेतत्। न लोकेति षष्ठी-निषेधस्त्वनित्यः। त्रकाभ्यामिति वक्तव्ये तृचः सानुबन्धस्य ग्रहणाज् ज्ञापकमिति।

२—कथं तर्हि "घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन-विधातुश्च कलहः" इति शेषषष्ठ्या समासः इति कैयटः।

दोष समान नहीं हैं। एक पद व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी काव्य के नियमानुसार अच्छा पद नहीं होता। काव्य में वस्तु के साथ-साथ कहने का ढंग भी अधिक महत्त्व का है। कहने का ढंग यदि कुछ खटकता हो तो वह अच्छी कविता नहीं कहला सकती और न अच्छे कवि को वह रुचिकर होगी। भामह का यही विचार था। उन्होंने न्यासकार के मत का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे यही प्रतीत होता है कि उनके समय में भी व्याकरण की ऐसी अशुद्धियाँ हो जाती थीं जिन पर विद्वानों की दृष्टि पड़ जाती थी। शायद इस विषय पर सबसे अधिक महत्त्व का विचार यही है जो काव्यालंकार में दिया गया है कि पाणिनि के सूत्र ज्ञापक माने जाते थे और तृजकाभ्यां का निषेध सूत्र अनित्य माना गया था।

अब हम ऊपर दिये हुए चारों विचारों की भामह के विचार से तुलना करें और देखें कि किस विचार से भामह का विचार मिलता-जुलता है। यह तुरन्त ही पता लग जायगा कि भामह का विचार पहिले विचार के समान है और पहिला विचार दूसरे विचार से एकदम भिन्न है। यह दूसरा विचार जिनेन्द्रबुद्धि का है।

उदाहरणों की ओर यदि हम लक्ष्य दें तो मालूम होगा कि भामह ने अपने काव्यालंकार में वृत्रहन्ता उदाहरण दिया है पर जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास में 'भीष्मः कुरूणां भयशोकहन्ता' है। प्रो० पाठक कहते हैं कि 'न्यासकार के विचार से समस्त षष्ठी समास का उदाहरण भामह ने वृत्रहन्ता दिया है।' हमें समझ में नहीं आता कि क्यों भामह ने दूसरे उदाहरण का प्रयोग किया और न्यासकार के ही उदाहरणों को नहीं लिया ! विशेष कर उस अवस्था में जब कि उन्होंने न्यासकार के मत का इतना घोर विरोध किया है। अच्छे लेखकों में यह साधारण रीति है कि जब उनको किसी विषय का विचार करना होता है या सामान्यतः किसी बात का उल्लेख ही करना होता है तो वे उन्हीं उदाहरणों को दिया करते हैं। उदाहरण के लिए शरणदेव[1] को ही लीजिए। उन्होंने जब ऊपर दिये हुए वाक्यों को संक्षेप में देना चाहा तो उन्हीं जिनेन्द्रबुद्धि के उसी उदाहरण का उल्लेख किया। भट्टोजिदीक्षित ने[2] सचमुच अपना शास्त्रार्थ भिन्न रीति से

१—कथं भीष्मः कुरूणां भयशोकहन्तेत्युच्यते। तृन्नन्तमेतत्। न च लोकाव्यय-निष्ठेति (२।३।६९) षष्ठी निषेधः। यतस्तृजकाभ्यामित्यत्र तृचः सानुबन्धकस्योपादानं तृनो निवृत्त्यर्थं ज्ञापयति तृनो योगे क्वचित् षष्ठीति न्यासः।

२—कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः इति।

प्रारम्भ किया है पर उनका विचार जिनेन्द्रबुद्धि या शरणदेव से भिन्न था। उन्होंने न्यासकार के मत का न खण्डन ही किया है और न वैसा प्रतिपादन किया है। उन्होंने अपना शास्त्रार्थ एक बहुत साधारण श्लोक[1] के एक पाद से प्रारम्भ किया है जिसके विषय में कहा जाता है कि भवभूति ने बनाया था जब उनका शास्त्रार्थ किसी विद्वान् से हो रहा था।

जब एक विद्वान् दूसरे विद्वान् से शास्त्रार्थ करता है तब उसे अपनी भाषा का बहुत अधिक विचार रखना पड़ता है। जिनेन्द्रबुद्धि ने भी महाभारत के एक साधारण श्लोक को अपना उदाहरण दिया है। पर भामह की अवस्था एकदम भिन्न है। जब उन्होंने न्यासकार के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया, तब उन्हें उसी उदाहरण को रखना था और शायद उन्होंने वैसा किया भी है, पर वह उदाहरण प्रसिद्ध न्यासकार का नहीं, किसी दूसरे न्यायकार का होगा। 'सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः' में 'उदितः' स्पष्ट सिद्ध करता है कि प्रसिद्ध न्यासकार ने 'वृत्रहन्ता' ही को उदाहरण दिया था। भामह अपने लेख में 'उदितः' कभी न कहते यदि वे अकस्मात् ही अपना उदाहरण चुन लेते।

प्रो० पाठक का यह कहना कि जिनेन्द्रबुद्धि ही यहाँ न्यासकार हैं, सत्य नहीं मालूम होता। यद्यपि यह प्रो० पाठक ने दिखाना चाहा है कि और दूसरे न्यासकार नहीं थे, पर यह बात सिद्ध है कि जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास को छोड़कर अनेक न्यास पूर्वकाल में थे। त्रिवेदी[2] ने ठीक ही उल्लेख किया है कि माधवाचार्य के धातुवृत्ति[3] में क्षेमेन्द्रन्यास, न्यासोद्योत, बोधिन्यास, शाकटायनन्यास

१—भोज प्रबन्ध (निर्णयसागर)।

२—Ind. Ant. Vol. XLII, 1913, p. 261.

३—स्पष्टं चैवं गूपधूप इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्यादिषु। अज क्षेमेन्द्रन्यासे पणतेः सार्वधातुकेऽप्यायविकल्प उक्तः—धातुवृत्ति (मैसूर सं०) भाग १, पृ० २६६।

अकथितं च इत्यत्र न्यासे, निर्वहि हरि जिदण्डीन् प्रस्तुत्य···न्यासोद्योते च अजादीनां ग्रामादीनां चेप्सिततमत्वविशिष्टमित्युक्तम्—भाग २, पृ० ५२९

बोधिन्यासेऽपि सातिः सुखे वर्तते सौत्र इति। जिनेन्द्र-हरदत्तौ सातिर्हेतुमण्णयन्तः इति। शाकटायनन्यास कृतोऽप्ययमेव ' पक्षोऽभिमतः—भाग १, पृ० ९४।

इन सब वचनों में जिनेन्द्रबुद्धि विशेषकर उल्लिखित हैं।

आदि न्यास उल्लिखित किये गये हैं। प्रो० पाठक को यह कहकर बात को उड़ा देना, कि न्यास से प्रायः अर्थ व्याकरण की टीका[1] लिया जाता है, ठीक नहीं है और न इससे उनके मत में कोई बल ही आता है। काणे[2] ने सर्वप्रथम इस बात का उल्लेख किया है कि बाण के हर्षचरित में 'न्यास' पद आया हुआ है। वहाँ उन्होंने "कृतगुरुपदन्यासाः" लिखा है। शंकर टीकाकार उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिर्विवरणं यैः[3]—पर किसी ने यह दिखलाने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया है कि जिनेन्द्रबुद्धि हर्षवर्धन के समय के पूर्व थे। आर० नरसिंहाचार का कहना है कि एक न्यास 'पूज्यपाद' ने लिखा है जो राइस के मतानुसार सन् ५०० ई० के लगभग थे।

यदि यह सम्भव भी हो (जो नहीं है) कि भामह ने जिनेन्द्रबुद्धि ही न्यासकार का उल्लेख किया है, यह सिद्ध करना सरल नहीं है कि भामह जिनेन्द्र-बुद्धि के अनन्तर थे। ई० सन् ७०० के लगभग प्रो० पाठक का भामह को रखने के लिए एक ही आधार चीनी यात्री इत्सिंग की समझ में न पड़नेवाले उस समय के वैयाकरणों के बारे में कथन है। यह सब कहना ठीक नहीं माना जा सकता। डा० याकोबी[4] ने इसलिए ठीक ही, जिनेन्द्रबुद्धि के समय पर जो प्रो० पाठक ने लिखी है, शंका उठाई है। पूना में जिनेन्द्रबुद्धि के ग्रंथों का कुछ भाग देखते हुए किलहार्न ने कहा कि मेरा विचार सचमुच यह है कि जिनेन्द्र-बुद्धि ने हरदत्त की पदमंजरी से पूरी नकल की है। भविष्योत्तर पुराण के आधार पर डा० याकोबी[5] ने लिखा है कि हरदत्त ८७८ ई० में मर गये। जिनेन्द्रबुद्धि इस प्रकार कम से कम दसवीं शताब्दि में आते हैं। पर हमने पहले ही दिखाया है कि भामह का समय ७०० ई० के अनन्तर नहीं हो सकता। जिनेन्द्रबुद्धि के लिए हरदत्त की पदमंजरी से नकल करना और फिर भी भामह के पूर्व आना असम्भव है।

हम अब इस शास्त्रार्थ को यहीं समाप्त करते हैं। प्रो० पाठक के कथनानु-सार भामह ने जिस न्यासकार का उल्लेख किया है वह जिनेन्द्रबुद्धि नहीं हैं।

---

१. Ind. Ant. Vol. XLI., 1912, P. 233.
२. J. R. A. S. Bomb. 1909 p. 94.
३. हर्षचरित पृ० १३३।
४. J. R. A. S. 1908 p. 499
५. J. R. A. S. Bomb. Vol. XXIII p. 31.

वह कोई प्राचीन ग्रंथकार होंगे जिनका ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है और जिनको हम बिलकुल नहीं जानते। इसलिए **न्यासकार** के उल्लेख की सहायता से भामह का पूर्वकाल निश्चय करना कठिन है। हम लोगों को इसके निश्चय के लिए किसी दूसरी ओर दृष्टि डालनी चाहिए।

भामह और माघ

भामह का समय निश्चय करने के निमित्त प्रो० पाठक के लेख की जब हम विवेचना कर रहे हैं, तो विद्वान् प्रोफेसर[1] की एक अन्य बात पर जरा हम लोग ध्यान दें। प्रो० पाठक ने भामह का समय निकालने के लिए कुछ माघ-काव्य का विचार किया है और उससे समय निकालने की चेष्टा की है जो बिल्कुल समझ में नहीं आती। भामह ने एक स्थान पर[2] काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' लिखा है जिस लक्षण पर प्रायः सभी प्रसिद्ध आलंकारिकों का ध्यान गया है। माघ-काव्य में एक सुन्दर श्लोक इस प्रकार का है—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥

(शिशुपाल-वध २।८६)

अब यह कहा जाता है कि माघ को अवश्य ही भामह का लक्षण मालूम था और तभी इस प्रकार माघ ने लिखा है। यह बात यहाँ कोई आवश्यक नहीं है, इसीलिए हमलोग इस प्रश्न पर अधिक यहाँ विचार न करेंगे। जिनकी इच्छा हो वे काणे[3] का लेख पढ़ें जिसमें इसके खण्डन की युक्तियाँ दी हैं।

डा० जे० नोबुल लिखते हैं[4]—ऐसा कहा जाता है कि माघ ने भामह के काव्य के लक्षण का हवाला दिया है। यदि यह एक युक्ति भामह को माघ से पूर्व रखने की हो, तो मैं यह भी कहूँगा कि कालिदास ने भी भामह का लक्षण अपने काव्य रघुवंश में दिया है जब वे कहते हैं—**वागर्थाविव सम्पृक्तौ**। इसलिए भामह को कालिदास के भी पूर्व ले जाया जाय। यहाँ इतना ही कहना है कि वागर्थ की उपमा से माघ शायद कालिदास को ही लक्ष्य कर रहे हैं या किसी और विचार को। भामह के लक्षण से इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह युक्ति

---

१. J. R. A. S. Bomb. Vol. XXIII, p. 91. ff

२. काव्यालंकार १।१६.

३. J. R. A. S. Bombay Vol. XXIII, p. 1918.

४. The Foundations of Indian Poetry p. 15-16.

श्लोक[1] में कालिदास के दो श्लोकों[2] के विचार और शब्द आये हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास भामह के पूर्व थे।

दूसरी ओर दूसरे लोगों का विचार एकदम विरुद्ध है। डा० टी० गणपति शास्त्री लिखते हैं[3]—"मैं समझता हूँ कि भामहाचार्य कालिदास के बहुत पूर्व रहे होंगे। भामह ने मेधावि, रामशर्मा, अश्मकवंश, रत्नहरण, अच्युतोत्तर आदि संस्कृत कवियों और कविताओं का नाम लिया है जिनको हम बिलकुल ही नहीं जानते, पर जगत्प्रसिद्ध कालिदास या उनके इतने प्रसिद्ध किसी एक काव्य का नाम भी नहीं लिया है। यदि भामह कालिदास की एक भी कविता को जानते तो प्रतिज्ञा नाटिका की तरह उसकी कुछ न कुछ अवश्य आलोचना किये होते"। इसके अनन्तर इस विद्वान् पण्डित ने भामह की वही तीन कविताएँ[4] उद्धृत कीं जो हम ऊपर लिख आये और लिखा है कि—"इससे हम यह सिद्धान्त नहीं निकाल सकते कि भामह को मेघदूत काव्य मालूम था। यदि ऐसा हो तो यह भी कहना पड़ेगा कि भामह शुकसन्देश को भी जानते थे जो अभी कल लिखी गई है। इसलिए इन श्लोकों से मैं समझता हूँ कि हमारे आचार्य इस बात की साधारणतः शिक्षा देते हैं कि काव्यों में प्रेमियों की वायु, मेघ, चन्द्र ऐसे अप्राणियों द्वारा अथवा भ्रमर, चक्रवाक, शुक आदि न बोल सकनेवाले प्राणियों के द्वारा सन्देश भेजने की रीति ऐसे अवसरों पर निन्दनीय है जब तक सन्देश का भेजनेवाला अपनी साधारण अवस्था में हो। हमारे आचार्य का उपदेश मन में रखकर ही कालिदास ने कविता का

---

१. अस्मिन् जहीहि सुहृदि प्रणयाभ्यसूया-
माश्लिष्य गाढमगुमानतमादरेण।
विन्ध्यं महानिव घनः समयेऽभिवर्षन्
आनन्दजैर्नयन-वारिभिरुक्षतु त्वाम्॥

२. अथाभिषेको रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः कांचनकुम्भतोयैः॥
सरित् समुद्रान् सरसीश्च गत्वा रक्षः कपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥
रघुवंश १४।७-८

३. 'स्वप्न वासवदत्ता' की भूमिका (अनन्तशयन ग्रन्थमाला)

४. काव्यालंकार १।४२-४४

औचित्य समझते हुए, मेघदूत के प्रारम्भ में मेघ द्वारा सन्देश भेजने का पक्ष लेकर यह श्लोक कहा है—

धूमज्योतिः-सलिल-मरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।।

मेघदूत, श्लोक ५

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि भामह कालिदास के बहुत पूर्व थे।

यह जानना भी हृदयग्राही होगा कि डा० नोबुल[1] भी पहिले भामह को कालिदास के पूर्व माननेवाले थे। अब भी उनके मत में थोड़ा ही अन्तर पड़ा है क्योंकि इस प्रश्न में युक्ति कोई ठीक नहीं है, पर उनकी प्रवृत्ति अधिकतर कालिदास को भामह के पूर्व रखने की अपेक्षा भामह को ही कालिदास के पूर्व रखने की है।

दोनों पक्षों की युक्तियों का विचार करने से हम यह कह सकते हैं कि दोनों ओर से बहुत कुछ कहा जा सकता है और अब भी सचमुच कुछ निश्चित नहीं है। नहीं समझ में आता कि भामह के समक्ष बिना किसी सन्देश-काव्य के रहे, उन्होंने कैसे यह आलोचना कर दी। पर यह भी कहना उपयुक्त है कि भामह को कालिदास की और उनकी कविताओं की जानकारी क्यों नहीं हुई?

जो कुछ भी हो, इस शास्त्रार्थ को बहुत दूर तक ले जाना अनावश्यक है, क्योंकि यदि किसी पक्ष में भी यह निश्चय कर लें तो हमें भामह के समय निकालने में कोई सहायता न मिलेगी। कालिदास का ही समय अभी विचारास्पद है और इसीलिए उनके सहारे दूसरे का समय हम नहीं निकाल सकते।

भामह और भास

भामह के समय का विवेचन करने के निमित्त भामह और भास के भी सम्बन्ध की बातें उसी प्रकार की हैं जैसी ऊपर कही गई हैं यद्यपि इस सम्बन्ध में किसी ने यह नहीं कहा है कि भामह उस ग्रन्थ के रचयिता के अनन्तर हुए हैं जिनकी वे समालोचना कर रहे हैं। इस स्थान पर कठिनाई इस

---

१. Nobel—The Foundations of Indian Poetry pp. 14-15.

बात की है कि हम नहीं जानते कि किस ग्रंथ की समालोचना वे कर रहे हैं। भामह के काव्यालंकार के वे श्लोक जो इस समालोचना को सूचित करते हैं इस प्रकार हैं—

विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चरशून्यताम्।
अन्तर्योधशताकीर्णं सालंकायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम्॥
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि॥
शरा दृढधनुर्मुक्ता मन्युमद्भिररातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति काऽनुमा॥
हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसः॥
अस्यन्तो विविधान्याजावायुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यानां न हन्युर्बहवः कथम्॥
नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिऽप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैव नयन्ति नयवेदिनः॥
सचेतसो-वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
विशेषं वेद बालोऽपि कष्टं किन्तु कथं नु तत्॥४।३९-४६

वत्सदेश के राजा उदयन की कथाएँ प्राचीन भारत में सर्वत्र प्रचलित थीं। ऐसी भी कथाएँ हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध उदयन से नहीं है पर वे उदयन का नाम यत्र-तत्र ले लेती हैं। इसलिए जब हम ऐसी समालोचना भामह के ग्रन्थ में पाते हैं तो हम ठीक नहीं कह सकते कि यह समालोचना किस पर की गई है। डा० टी० गणपति शास्त्री का यह कथन है कि यह समालोचना प्रतिज्ञायौगन्धरायण पर ही की गई है। शास्त्रीजी कहते हैं—"ऊपर दिया हुआ विषय जिसकी समालोचना भामह ने की है प्रतिज्ञा नाटिका में पूरी तरह मिलता है। एवञ्च **'अणेण मम भादा हदो अनेन मम पिदा, अनेण मम सुदो'** यह प्राकृत जो प्रतिज्ञा नाटिका के प्रथम अंक में है भामह ने श्लोक के रूप में **'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम'** न्यायविरोध की परीक्षा में दिया है।"

विद्वान् शास्त्री के इस विचार के होते हुए भी हमारा विचार है कि इस समीक्षा में अनेक सन्देह हैं। भामह ने भास का या प्रतिज्ञायौगन्धरायण का नाम कहीं नहीं लिया है। वे गुणाढ्य की बृहत्कथा की ही समालोचना करते होंगे जो सबसे प्राचीन ऐसी कथाओं का संग्रह है। वह प्राकृत जिसका अनुवाद भामह अपने श्लोक में देते हैं वहीं पर मिलता हो एवं विद्वान् शास्त्री का यह सिद्धान्त जैसा कि काणे ने कहा है "बहुत जर्जर नींव पर ठहरा हुआ है।" यदि हम भामह के श्लोकों की परीक्षा अच्छी तरह करें, तो यह मालूम होगा कि वह कथा जिसकी समालोचना की गई है ठीक-ठीक प्रतिज्ञायौगन्धरायण में नहीं मिलती। अधिकतर तो वह कथा बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर में मिलती है और वे बृहत्कथा के संक्षेप रूप हैं। पर यदि यही सिद्ध हो जाय कि भास ही की समालोचना की गई है तो भी उससे अपना कोई मतलब नहीं निकलता। चौदह वर्षों तक पूरा विवाद न केवल भास के समय-निर्णय पर ही चल रहा है, पर उनके नाम पर छपे हुए ग्रन्थों की सत्यता पर भी। भास के समय का कोई निश्चित सिद्धान्त न होने के कारण भामह का पूर्वकाल निश्चय करने के लिए उसका प्रमाण देना निरर्थक है।

भामह और भट्टि

भट्टि और भामह के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विवेचन करना यहाँ शायद अनुपयुक्त न होगा। भारत के पण्डितों में यह परम्परागत विचार चला आ रहा है कि रावणवध या केवल भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टि ने काव्यालंकार के उदाहरणों के लिए ही दशम से त्रयोदश सर्ग तक काव्य लिखा है, जैसा कि दूसरा सर्ग पाणिनि के सूत्रों के लिए। टीकाकारों की उक्तियों से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। भट्टि ने दशम सर्ग शब्दालंकार और अर्थालंकार के उदाहरणों के लिए, एकादश माधुर्यगुण, द्वादश भाविक, त्रयोदश संस्कृत और प्राकृत काव्य के लिए लिखा ऐसा मालूम होता है। प्रसाद गुण चारों सर्गों में बराबर है। दशम सर्ग में अलंकारों के उदाहरणों के श्लोकों को यदि देखें, तो श्लोकों के क्रम और ढंग से यही मालूम होगा कि भट्टि के लिखने के समय भामह का काव्यालंकार उनके सामने था। जयमंगल और मल्लिनाथ अपनी टीकाओं में[1] अलंकारों के लक्षण देने के लिए भामह ही के काव्या-

---

1. शब्द-लक्षण-प्रधानेऽप्यस्मिन् काव्ये काव्यलक्षणत्वादधिकार-काण्डान्त-

लंकार को काम में लाये हैं। वे यदि चाहते तो आधुनिक और सर्वांग-सम्पूर्ण अलंकारशास्त्रों को काम में ला सकते थे, पर तब श्लोक लक्षणों से इतने मिलते-जुलते हुए न होते। भामह के काव्यालंकार में एक श्लोक है, जो थोड़ा ही परिवर्तन करने पर भट्टिकाव्य के श्लोक से मिलता है। भामह का श्लोक इस प्रकार है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ॥२।२०

भट्टि में श्लोक इस प्रकार है—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्-प्रियतया मया ॥ २२।३४

यहाँ यह बात तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से एक ने अवश्य दूसरे का ढंग चुराया है। श्रीवत्सांक मिश्र कहते हैं कि पहला श्लोक भामह का है। इस प्रमाण पर यह सिद्ध है कि भट्टि ने अपने श्लोक लिखने में भामह की नकल की है। यह सब बातें जो ऊपर कही गई हैं यही सिद्ध करती हैं कि भामह भट्टि के पूर्व हुए। भट्टि के समय के लिए हमें एक ही प्रमाण मिलता है और वह भट्टि-काव्य का अन्तिम श्लोक है—

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां,
श्रीधरसेन-नरेन्द्र-पालितायाम् ।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य,
प्रेयकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम् ॥२२।३५

काठियावाड़ के इतिहास से पता लगता है कि धरसेन नाम के चार राजा वलभी में जिसे आजकल वल कहते हैं राज्य करते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि किस धारसेन से यहाँ भट्टि का मतलब है। प्रो॰ बी॰ सी॰ मजुमदार ने सन् ४७३ ई॰ में—मन्दसोर सूर्य मन्दिर लेख में कहे हुए वत्सभट्टि और भट्टि-काव्य के रचयिता को इस आधार पर कि लेख के श्लोक और काव्य में शरद् ऋतु का वर्णन एक प्रकार का है एक समझा है। पर प्रो॰ कीथ ने इसे एक बहुत दुर्भाग्य का विचार कहा है। परन्तु दोनों विद्वान् प्रोफेसरों का मत है

रसलंकारमाधुर्य-भाविक-भाषासमाख्य-परिच्छेदचतुष्टयात्मकमारभमाणोऽस्मिन् सर्गे तावदलंकारपरिच्छेदं वदन्नादौ शब्दालंकारान् लेशतो दर्शयति।
(दशम सर्ग के प्रारम्भ में भट्टिकाव्य पर मल्लिनाथ की टीका।)

कि भट्टि भारवि और दण्डी के पूर्व हुए हैं। मि० त्रिवेदी से सहमत होकर हम इतना ही कह सकते हैं कि भट्टि छठी शताब्दि के अपर भाग में और सप्तम शताब्दि के पूर्व भाग में हुए हैं परन्तु सबसे अच्छा मार्ग काणे का पक्ष लेकर यह कहना है कि भट्टि ५०० और ६०० ई० के मध्य में किसी समय हुए थे। भट्टि के समय-निर्णय में कितना ही मतभेद क्यों न हो पर १९२२ तक किसी ने यह नहीं सुना था कि भट्टि भामह के पूर्व हुए थे। उसी वर्ष डा० याकोबी ने एक नये प्रकार से भामह का समय निकालना चाहा। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि भामह ने अपना पंचम अध्याय लिखने के लिए धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से सामग्री ली है। इससे आवश्यक हुआ कि भामह को ६५० ई० के अनन्तर रखा जाय। अब भट्टि जैसा कि ऊपर दिखाया गया है ६५० ई० के अनन्तर नहीं रखे जा सकते। इसीलिए विद्वानों ने भट्टि और भामह का सम्बन्ध दूसरे ढंग से देखना चाहा है। डा० एस० के० दे जो कि जहाँतक हम जानते हैं कभी भी याकोबी से भिन्न विचार नहीं रखते एक स्थान पर लिखते है—"एक समय था जब भट्टि की जयमंगला टीका के आधार पर यह विश्वास किया जाता था कि भट्टिकाव्य के अलंकार का अध्याय विशेष कर दशम सर्ग, भामह के अलंकारों के उदाहरण के लिए लिखा गया था, पर अब जो समय भामह के लिए निर्धारित किया जा रहा है उसमें यह माना गया है कि वे धर्मकीर्ति के अनन्तर हुए थे। इसलिए यह आवश्यक होगा कि भट्टि और भामह का सम्बन्ध फिर से ठीक किया जाय। दोनों विद्वान् डाक्टरों ने बड़े परिश्रम के साथ इस सम्बन्ध को ठीक करने का प्रयत्न किया है। इस स्थान पर ठीक करने का मतलब पहिली अवस्था को बिलकुल उलट देना है। विस्तारपूर्वक इसे ठीक करने की परीक्षा करने से कोई फल सिद्ध न होगा क्योंकि इसमें केवल आवश्यकता के वश होकर ऐसा उलट-फेर किया गया है। यह काम बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ है। यह तो ऐसा ही हुआ है जैसा एक बुद्धिमान् वकील ने किया ही था। उस वकील ने एक बार ऐसी बहस प्रारम्भ की जैसी कि प्रतिवादी की ओर से होनी चाहिए थी। तब उसे जैसे ही वह बहस समाप्त करने को था कि उसके एक साथी ने उसकी भूल सुझा दी। वह वैसे ही चलता रहा और तुरन्त जजों की ओर घूमकर कहने लगा कि इस प्रकार प्रतिवादी की ओर से कहा जाता। अब मैं उसका खंडन करता हूँ।

दण्डी और भामह

भामह के समय के विवेचन में महत्त्व का प्रश्न अब उपस्थित होता है।

काव्यादर्श के रचयिता दण्डी मध्य भारत के विद्वत् समाज में बड़े प्रसिद्ध थे। शायद उतनी प्रसिद्धि भामह को नहीं मिली क्योंकि उनके ग्रंथ का मिलना इतना सुलभ न था। अलंकारों के इन दोनों ग्रंथों की अच्छी तरह परीक्षा करने पर यह भाव उत्पन्न हो ही जायगा कि इन दोनों का आपस में सम्बन्ध है, चाहे किसी प्रकार से हो। कुछ तो ऐसे वाक्य हैं, जो दोनों में समान हैं। केवल अर्थों में नहीं, शब्दों में भी। अन्य ऐसे वाक्य हैं जो एक दूसरे की समालोचना[२] प्रतीत होते हैं। कुछ तो ऐसे विचार हैं चाहे वे परस्पर समान हों या भिन्न हों पर जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि काव्यालंकार और काव्यादर्श के मध्य घनिष्ठ संबंध है[३]।

दोनों ग्रंथों से चुने हुए विचारों से दोनों के समय का विवेचन प्रारम्भ हुआ। एक को दूसरे के पूर्व सिद्ध करने के निमित्त घोर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम एम्० टी० नरसिंह आयंगर ने प्रश्न को उठाया और दण्डी को भामह के पूर्व रखने का उनका विचार हुआ[४]। उन्होंने देखा कि उनकी युक्तियाँ त्रिवेदी[५], डा० जेकोबी[६], प्रो० रंगाचार्य[७], डा० गणपति शास्त्री[८], प्रो० पाठक[९] आदि बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा काट दी गईं। प्रो० पाठक ने तो पीछे से अपना मत बदल दिया[१०]। इस कारण कि भामह को ही पूर्व रखने के पक्ष में अधिकतर विद्वान् हैं। हमें आवश्यक नहीं है कि हम इस छोटे से अपने लेख को पक्ष और विपक्ष की सब युक्तियाँ देकर उलझा दें। काणे ने दोनों ओर की युक्तियों का संग्रह किया है और जो चाहे उनका विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ देख सकता

१—काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० २५। De-History of Sanskrit Poetics Vol. I pp.64-66.

२—De : The History of Sanskrit Poetics Vol. I pp. 65-66.

३—काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० २५-३५।

४—J. R. A. S. 1905 pp. 535 ff.

५—Intro. to प्रतापरुद्रयशोभूषण pp. XXIII ff, Ind. Ant. XLII ff; Bhand. Com. Vol. p. 40.

६—Z. S. M. G. LXIV. pp. 134. and 139.

७—Intro. to काव्यादर्श।

८—Intro. to स्वप्नवासवदत्ता p. XXV.

९—Int. to कविराजमार्ग p. XXV.

१०—J. B. B. R. A. S. XXIII p. 19, Ind. Ant. XLI p. 236. ff.

है[१] । मि० काणे ने निष्पक्ष भाव से दोनों पक्षों की युक्तियों को अच्छी तरह प्रतिपादन और परीक्षा करके यह सिद्धान्त निकाला कि किसी ओर भी इस प्रश्न पर अपना निश्चय देना संभव नहीं, यद्यपि युक्तियों के देखने से ऐसा मालूम होता है कि प्रवृत्ति दण्डी को ही भामह के पूर्व रखने की ओर जाती है । वह अपनी युक्ति थोड़े में इस प्रकार कहते हैं "यही सम्भव मालूम होता है कि भामह और दण्डी दोनों स्वतन्त्र विचारों को लेकर चलते हैं । भामह तो अलंकार दल की ओर अधिक झुके हैं और दण्डी भरत-दल की ओर । कोई भी पहले हुए हों, दोनों लगभग समकालीन हैं और ५०० ई० और ६३० ई० के मध्य में आ जाते हैं[२] । डा० दे ने तो कुछ मार्के की युक्तियाँ बल से देकर यही सिद्ध किया है कि जिस पक्ष में अधिक लोग हैं वही न्यायतः अधिक प्रबल है[३] ।

हम केवल एक-दो बातें कह देना चाहते हैं जो हमारे विचार से सिद्ध करती हैं कि भामह दण्डी के अनन्तर नहीं लाये जा सकते । दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के आरम्भ में प्राचीन कवियों की प्रशस्ति में अनेक श्लोक लिखे हैं जिनमें बाण, मयूर और अनेक दूसरे कवियों की स्तुति है[४] । इन प्रारम्भिक श्लोकों से हम यह भी जानते हैं कि दण्डी भारवि के प्रपौत्र थे, जो दुर्विनीत और सिंहविष्णु के राजाओं के समकालीन थे । तब यह समझना बिलकुल न्याययुक्त मालूम होता है कि दण्डी भारवि से चौथी पीढ़ी में आने के कारण सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में या आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए होंगे । इस कथन के लिए एक प्रमाण यह है कि दण्डी ने न केवल बाणभट्ट ही की स्तुति की है पर अपनी कथा में कादम्बरी और उसकी अन्य अवान्तर कथाओं का वर्णन दिया है और यह कथन ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि बाण ने अपनी पूर्वार्द्ध कादम्बरी में दिया है । यह प्रसिद्ध ही बात है कि बाण हर्षवर्धन के दरबार में रहे थे जिन्होंने ६०६ से ६४८ ई० तक राज्य किया था । उत्तर देश का एक कवि दस-बीस ही वर्ष में इतनी प्रसिद्धि नहीं

१—Intro. to साहित्यदर्पण pp. XXV—XXXV.

२—Ibid p. XXXV.

३—History of Sanskrit Poetics Vol. I pp. 64-70

४—भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः ।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः............॥

प्राप्त कर सकता जिस काल में समाचार पहुँचाना कठिन था कि दक्षिण का एक समालोचक भी उनके लिए इतनी प्रशंसा लिखे।

बहुत ही विश्वस्त प्रमाणों से यह भी दिखाया जा सकता है कि भामह बाण के पूर्व हुए थे। ध्वन्यालोक में[1] आनन्दवर्धन ने यह दिखाते हुए कि एक ही भाव चाहे उसे एक कवि ने प्रकट कर ही दिया हो नवीन सौन्दर्य ग्रहण कर सकता है यदि दूसरा उसी भाव को व्यंग्य रूप से प्रकट करे, यह सूचित किया है कि बाणभट्ट ने भामह के काव्यालंकार के एक श्लोक का भाव लेकर उसे अपने हर्षचरित में गद्य में वर्णन किया है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन को उस समय के काश्मीरी पण्डितों के परम्परागत विचार के आधार पर यह पूरा विश्वास था कि भामह बाण से बहुत पूर्वकाल में हुए थे जिससे वे उनके विचार को बड़ी होशियारी से ले सकते थे। इसलिए जब तक इस आनन्दवर्धन के कथन का खण्डन आज तक माने गये हुए समय सम्बन्धी निश्चय द्वारा न हो जाय जो कि असम्भव सा मालूम होता है तब तक भामह का दण्डी से पूर्वकाल में रहना कट नहीं सकता। उन विद्वानों को जो भामह और दण्डी को समय की दृष्टि से सन्निकट समझते हैं, आदर के भाव से देखते हुए हम यहाँ कहना चाहते हैं कि हम लोगों को यह सत्य नहीं मालूम होता। भामह शायद काश्मीर के रहनेवाले थे और दण्डी निश्चयपूर्वक दक्षिण के थे। यह समझ में नहीं आता कि इतने परस्पर भिन्न देश में रहनेवाले विद्वान् उस समय में एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए कैसे तैयार हो जाते। यह बात हटाई नहीं जा सकती कि दण्डी निश्चयपूर्वक समालोचना करने की दृष्टि से भामह के ग्रंथ को एकदम अन्तर्धान कर देना चाहते हैं। भारवि और माघ की भी कुछ ऐसी ही अवस्था थी। यद्यपि उनका समय एक दूसरे से बहुत भिन्न था प्रायः वे निकट ही रहते थे।

---

१. तथा विवक्षितान्यपर-वाच्यस्यैव शब्द-शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यङ्ग्य प्रकार समाश्रयेण नवत्वम्। तथा 'धरणी धारणायाधुना त्वं शेषः' (हर्षचरित VI Para 15 of Kane's Edition) इत्यादौ शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः। यदलंघित-मर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्। काव्यालंकार ३।२७.
इत्यादौ सत्स्वपि तस्यैवार्थे शक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्।—ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३६.

यह बात भाषा की दृष्टि से भी प्रमाणित हो सकती है। भामह के समय में प्राकृत की इतनी चाल न थी जितनी दण्डी के समय में थी। शायद सेतु-बन्ध, जिसकी इतनी प्रशंसा दण्डी के मुँह से सुनते हैं, लिखी ही न गई हो। यदि यह बात प्रमाणित हो जाय कि वररुचि के प्राकृत प्रकाश की सबसे प्राचीन टीका, **प्राकृत-मनोरमा** इन्हीं भामह ने लिखी है जो काव्यालंकार के रचयिता हैं, तो वह वररुचि के अनन्तर भामह ही का सबसे प्राचीन प्राकृत का व्याकरण होगा। यह भी यहाँ कहा जा सकता है, कि महाराष्ट्री—दूसरे प्राकृत नहीं—भामह के अर्थ के अनुसार वररुचि के नियमों का पालन नहीं करती। पीछे आये हुए टीकाकार वसंतराज आदि ने और विस्तृत रीति से सूत्रों को समझाने की चेष्टा की है। कुछ भी हो, यह निस्सन्देह स्पष्ट है कि समाज की अवस्था जैसी भामह ने अपने ग्रंथ में दिखाई है वैसी दण्डी के काव्यादर्श में नहीं है। भामह के समय का काव्य-लावण्य दण्डी के समय तक एकदम अन्तर्धान हो गया। सीधी सुन्दर रीति तब तक शब्द-काठिन्य में परिवर्तित नहीं हुई थी। बौद्धों और हिन्दुओं के शास्त्रार्थ ने शब्द की शक्ति की विवेचना उत्पन्न कर दी और अलंकार शास्त्र भी तब तक वह पूरा नहीं समझा जाता था, जब तक उसका विवेचन न करे। पर दण्डी के समय तक बिलकुल परिवर्तन हो गये। अलंकार-शास्त्रों में भी दोनों ग्रंथकारों के ग्रंथों में अनेक बातें समान और असमान मिलने लगीं। हम लोग समझते हैं कि दण्डी और भामह के समय में अन्तर दहाई का नहीं सैकड़ों का था।

भामह और धर्मकीर्ति

हम लोगों ने ऊपर दिखाया है कि ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के प्रमाण पर भामह बाण के अनन्तर, जो सप्तम शताब्दी के पूर्व भाग में थे, नहीं रखे जा सकते, लेकिन यह मत इस विचार से नहीं ठहर सकता कि भामह ने कुछ न्याय की बातें धर्मकीर्ति से ली हैं। डा० याकोबी ने इस बात का कुछ दूर तक विवेचन किया है और उसी सम्बन्ध में धर्मकीर्ति के समय का भी विचार किया है। ह्यून्त्सांग और इत्सिंग के भारत में आगमन के मध्य काल में धर्मकीर्ति थे, यह वे कहते हैं। ह्यून्त्सांग जिन्होंने भारत की यात्रा ६३० ई० से ६४३ तक की है इस बौद्ध नैयायिक के बारे में कुछ नहीं कहते। इत्सिंग ने, जिन्होंने यात्रा ६७१ ई० से ६९५ ई० तक की है, अवश्य उनके बारे में सुना है।

तारानाथ[1] धर्मकीर्ति को तिब्बत के नृप स्रोनत्सन गम्पो का समकालीन समझते हैं जो ६२७ से ६९८ ई० तक राज्य करते थे। इसलिए धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दि का मध्य भाग कहा जा सकता है। यदि यह सिद्ध हो जाय—जैसा कि याकोबी सिद्ध करना चाहते हैं—कि भामह ने सचमुच धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, तो आनन्दवर्धन का कथन बहुत कुछ असत्य हो जाय और भामह को अष्टम शताब्दि तक कम से कम खींच लाया जाय। हम लोग इन युक्तियों का थोड़ा विवेचन करके देखेंगे।

भामहने धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, इसके लिए जितनी युक्तियाँ हैं वे सब यही कहती हैं कि दोनों ग्रंथों में कुछ समानता है। ये समानताएँ केवल तीन हैं। एक-एक का विचार किया जायगा।

अनुमान विचार

(१) भामह ने अनुमान के यह दो लक्षण दिये हैं—

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थ-दर्शनं चापरे विदुः॥ (काव्या० ५।११)

हम लोग वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक की तात्पर्य-टीका से जानते हैं कि दूसरा लक्षण—जो यहाँ अनुमान का दिया है—दिङ्नाग का है। परन्तु पहिले लक्षण के बारे में क्या कहा जाय? डा० याकोबी लिखते हैं कि यह लक्षण किसी दूसरे दर्शनकार का है, पर यह दूसरे कौन हैं? डा० याकोबी कहते हैं कि वह धर्मकीर्ति हैं क्योंकि उनके न्यायबिन्दु में एक स्थान पर लिखा है—

अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च।
तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

यहाँ पर और दूसरे प्रश्न में भी हमें यही जानना है कि कोई विशेष विचार-जैसा लिंगस्य त्रैरूप्यम्—किसी विशेष व्यक्ति का है अथवा यह साधारण विचार कई व्यक्तियों का है। ऐसी युक्तियों का मान तभी हो सकता है, जब विचार मौलिक हो। दुर्भाग्य से यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। लिंगस्य त्रैरूप्यम्' यह एक साधारण लक्षण नैयायिकों का है, धर्मकीर्ति का निजी मौलिक नहीं। इस समय हमारा काम इसी से चल जाता है कि यह लक्षण दिङ्नाग ने अपने 'प्रमाण समुच्चय' में इस प्रकार स्वार्थानुमान के विषय में

---

१. विद्याभूषण History of Indian Logic pp. 305-6.

लिखा है[१]—"तीन प्रकार के चिह्नों से जिसका ज्ञान मिले उसी को स्वार्थानुमान—अपने लिए अनुमान—कहते हैं। इसी के संस्कृत रूप से क्या कुछ ठीक ऐसी ही बात धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से—जो ऊपर उद्धृत की है—नहीं मिलती ? इस सम्बन्ध में एक बात और कहनी है। जिस प्रकार भामह ने और दिङ्नाग ने यह लक्षण दिया है, उससे क्या यह नहीं प्रतीत होता कि यह न केवल दूसरे किसी और मूलग्रंथ से लिया गया है, बल्कि यह भी कि यह एक प्राचीन और सर्वमान्य विचार है। प्रमाण-समुच्चय के साथ-साथ न्यायप्रवेश में[२] लिङ्गस्य त्रैरूप्यम् का पूरा वर्णन है। चाहे कोई भी इसका रचयिता हो, यह किसी ने अभी तक सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की है कि यह ग्रंथ धर्मकीर्ति के अनन्तर लिखा गया है। इसलिए हम लोग कह सकते हैं कि भामह ने किसी प्रकार भी लिंगस्य त्रैरूप्यम् यह लक्षण धर्मकीर्ति से नहीं लिया है। हमारी तो प्रवृत्ति यहाँ तक लिखने की है कि भामह को इस मत में कम से कम दिङ्नाग का भी ऋणी न समझना चाहिए। बहुधा उन्हें यह ज्ञान किसी प्राचीन नैयायिक से मिला होगा।

(२) धर्मकीर्ति के कथन के समान भामह का दूसरा कथन 'दूषणं न्यूनताद्युक्तिः' है (काव्या० ५।२८) धर्मकीर्ति ने भी 'दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः' लिखा है।[३] समानता अवश्य चित्त को आकर्षण करनेवाली है पर प्रश्न फिर यही है कि क्या यह धर्मकीर्ति का मौलिक विचार है ?

(३) यही प्रश्न तीसरी समानता पर भी किया जा सकता है। वह यह है—जातयो दूषणाभासाः[४] (काव्या० ५।२९) क्या धर्मकीर्ति ने कोई नया विचार "दूषणाभासास्तु जातयः" कहकर किया है ? ऊपर लिखे हुए दोनों उदाहरणों में धर्मकीर्ति का कुछ भी मौलिक लिखा हुआ नहीं कहा जा

१—Dr. Vidyabhushana's History of Indian Logic p. 280.

२—यह ग्रन्थ अभी तक केवल तिब्बती भाषा में था। सौभाग्य से अब वह गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज में प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है।

३—न्यायबिन्दु (Peterson's edition) III 133, Benares Edn. में दूषणा न्यूनताद्युक्ति है, पृ० १३२।

४—न्यायबिन्दु (Peterson's Edn.) III. 140, Benares Edn. PP. 133.

सकता। दूषण और जाति पहिले के ग्रंथकारों को भी मालूम थे[1]। न्यायप्रवेश में ऐसे ही वर्णन दूषण जाति के अर्थ में हुए हैं[2]।

काणे ने[3] स्वतन्त्र रूप से कुछ समानताएँ भामह और धर्मकीर्ति के ग्रंथों की दी हैं, उनमें एक यह भी है कि भामह के काव्यालंकार का एक श्लोक धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु के एक वाक्य से बहुत कुछ मिलता है। भामह का श्लोक इस प्रकार का है—

> सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
> असाधारण-सामान्य-विषयत्वं तयोः किल ॥ काव्या० ५।५

धर्मकीर्ति ने इस प्रकार लिखा है—

द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च (पृ० १०) तस्य विषयः स्वलक्षणं (पृ० २१)...अन्यत् सामान्यलक्षणं (पृ० २४) सोऽनुमानस्य विषयः (पृ० २५) यहाँ पर भी फिर वही बात कही जा सकती है कि प्रमाणों का यह विभाग और लक्षण धर्मकीर्ति के अपने नहीं हैं। अक्षपाद के विरोधी प्रायः सभी नैयायिकों का अधिकतर यही विचार है। उदाहरण के लिए दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-समुच्चय में कहा है कि दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सब बातें उन्हीं से जानी जाती हैं इसलिए और कोई दूसरे प्रमाण नहीं हैं। डा० विद्याभूषण ने मूल संस्कृत इस प्रकार दिया है—

> प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
> प्रमेयं तच्च सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥

उपर्युक्त बातों से यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति के वह सब वाक्य मौलिक न होने के कारण भामह के वे ही मूल हैं यह हम कह नहीं सकते। धर्मकीर्ति के वे ही सब विचार हैं जो प्रसिद्ध विचार थे और जो बौद्ध न्याय के

१—इस सम्बन्ध में गौतम का न्यायसूत्र और उस पर वात्स्यायनभाष्य इस प्रकार है।

"साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" यह सूत्र १।२।१८ है। इसी पर वात्स्यायन लिखते हैं, "प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसंगो जायते स जातिः। स च प्रसंग साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थामनुपालम्भः प्रतिषेध इति। ....प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।

२—Vidyabhushan's History of Indian Logic P. 298.

३—Intro. to his edition of साहित्यदर्पण p. XL.

पूर्व भी विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में यह कहना कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही अपने सब विचार लिये हैं और किसी से नहीं, यह सर्वथा ठीक नहीं है। डा० याकोबी ऐसे साधारण विद्वान् नहीं हैं कि केवल आकस्मिक विचारों की समानता से ही कह देते कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार ग्रहण किये हैं। हम यह अनुमान करते हैं कि विचारों के शब्दों की समानता से ही याकोबी ने ऐसा अपना मत स्वीकार किया है। पर हम लोगों की दृष्टि से शब्दों की समानता किसी महत्त्व की नहीं है। केवल दूषण और जाति के ही सम्बन्ध में जो वाक्य आये हैं वे ही कुछ समान प्रतीत होते हैं। परन्तु वहाँ पर भी हम यह नहीं कह सकते कि धर्मकीर्ति ने सर्वप्रथम वे शब्द प्रयोग किये थे। जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वे धर्मकीर्ति के शब्द हैं उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उनका भामह ही ने सर्वप्रथम प्रयोग किया। इसमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। यदि शान्तरक्षित दर्शनशास्त्रकार होकर भी हमारे आलंकारिक के वचन ग्रहण कर सकता है, तो कोई कारण नहीं है कि धर्मकीर्ति भी वही न करे जब उसे कोई तैयार ग्रन्थ उसके मतलब के मिल जायँ।

हम बलपूर्वक इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्दों की समानता से ही निस्सन्देह कोई बात सिद्ध नहीं होती। ऐसी अवस्था में तीन बराबर के विचार सम्भव हैं और प्रत्येक सत्य माने जा सकते हैं। अब उपस्थित प्रश्न पर जब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते यह कहना न्याययुक्त न होगा कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार और शब्द ग्रहण किये हैं। यह भी उसी प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति ने भामह के शब्द ग्रहण किये हैं या दोनों ने किसी एक ही सूत्र से अपने-अपने विचार लिये हैं।

प्रत्यक्ष लक्षण

भामह ने धर्मकीर्ति के वाक्य ग्रहण किये हैं या नहीं? इसका सबसे अच्छा निश्चय करने का मार्ग यही होता कि धर्मकीर्ति के विशेष मतों के साथ भामह के मतों की तुलना की जाती। मध्यकाल के न्याय का कुछ भी हाल जो लोग जानते हैं उन सबको भले प्रकार विदित है कि धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के अनुयायी होते हुए भी एकदम उनका अनुकरण नहीं किया। धर्मकीर्ति की विशेषताएँ डा० विद्याभूषण ने[1] अच्छी तरह संग्रह की हैं और

१—Vidyabhushana's History of Indian Logic pp. 315—318.

इनके ऊपर थोड़ा भी विचार इस बात को सिद्ध कर देगा कि बौद्ध नैयायिक का कोई विशेष मत भामह ने ग्रहण नहीं किया है। ठीक इसके विरुद्ध प्रमाण हैं कि इससे बिलकुल उलटी बातें हुई हैं। यहाँ पर कुछ दी जा सकती हैं। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम्[1] है। एक महत्त्व का योग धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्[2] यह कर दिया है। 'अभ्रान्तं' यह पद ऐसा नहीं है कि कोई भी उनके अनन्तर आनेवाला हटा सकता है। दिङ्नाग का लक्षण बहुत व्यापक था और इसलिए सर्वत्र लगाया जा सकता था। इससे सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो सकती हैं। उद्योतकर ने सचमुच इसी प्रकार इसका अर्थ किया[3]। यह आपत्ति हटाने के लिए धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्तं' जोड़ दिया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष से केवल प्रत्यक्ष ज्ञान लिया जा सकता है दूसरा कुछ नहीं। कौन ऐसा होगा कि एक बार दोष दिखाने पर भी इतना व्यापक लक्षण ग्रहण करेगा।

भामह ने प्रत्यक्ष के दो लक्षण एक ही पंक्ति में दिये हैं। वह इस प्रकार है—प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन-काव्या० (५।६)। इन दो लक्षणों में से पहिला वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार दिङ्नाग का है और दूसरा उन्हीं के कथनानुसार दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु का है[4]। अब क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह यह लक्षण छोड़ देते यदि वे इसको जानते रहते। इसके साथ ही साथ धर्मकीर्ति ने कल्पना का जरा भिन्न मार्ग से लक्षण किया है। उनके अनुसार कल्पना का अर्थ "अभिलापसंसर्ग-

---

१—वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका में 'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति' पर इस प्रकार लिखा है—सम्प्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति अपर इति। Vidyabhushana's History of Indian Logic pp. 376-377; Dr. Randle's Fragments from Dinnaga pp. 8-10 देखिए।

२—न्यायबिन्दु (काशी) पृ० ११।

३—उन्होंने 'स्वरूपतो न व्यपदेश्यम्' इस प्रकार लिया है।

४—वाचस्पति मिश्र 'अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद् विज्ञेयं प्रत्यक्षम्' इस पर टीका लिखते हुए कहते हैं—तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति—Randle's Fragments from Dinnaga p. 12-13 भी देखिए।

योग्यप्रतिभासप्रतीतिः" है[1]। परन्तु उद्योतकर दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण का विवेचन करते हुए कहते हैं[2]—"अथ केयं कल्पना। नाम जातियोजनेति। यत् किल न नाम्नाभिधीयते न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते।" वाचस्पति मिश्र इसका लक्षण वादिनामुत्तरम् कहते हैं[3]। अब लक्षणवादी दिङ्नाग और दूसरे लोग होंगे जिनका ऐसा मत था। हम इस बात का अनुमान करते हैं कि भामह भी उनमें से एक थे, कम से कम उनको यह मत मालूम था, क्योंकि वह कहते हैं—'कल्पनां नाम जात्यादियोजनां प्रति जानते'—काव्या० (५।६) यह बात स्वीकार की जाती है कि धर्मकीर्ति की कल्पना का लक्षण शास्त्रीय ढंग से दिया गया है और उनके प्रत्यक्ष के लक्षण की भाषा बहुत शुद्ध है। यदि भामह एक महत्त्व के प्रश्न पर दो मत दे सकते तो हम समझते हैं कि यदि उपयोगी और उपयुक्त होता तो तीसरा मत भी देते, जैसे कि धर्मकीर्ति के लक्षण सचमुच हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात और लिखनी चाहिए। जहाँ तक हम लोगों को मालूम है धर्मकीर्ति ने कहीं पर भी अपने ग्रंथों में वसुबन्धु के मतों का आदर नहीं किया है, यद्यपि उनके शिष्य दिङ्नाग प्रमाण-स्वरूप माने गये हैं। परन्तु भामह ने प्राचीन वसुबन्धु के मतों का आलोचन किया है। हम लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि धर्मकीर्ति के समय तक, शिष्य दिङ्नाग के सामने वसुबन्धु की कीर्ति लुप्त हो गई थी। यह बहुत सम्भव है कि भामह ऐसे समय में थे जब वसुबन्धु भूले नहीं गये थे, प्रत्युत उनका विद्वान् लोग वैसा ही मान किया करते थे जैसा दिङ्नाग का।

भामह और दिङ्नाग

यहाँ पर इन ग्रंथों का सविस्तर तुलनात्मक विचार दे देना अवश्य लाभदायक होगा, पर इतने कम स्थान में यह असम्भव है। थोड़ी सी बातें यहाँ दी जा सकती हैं। भामह ने छः पक्षाभास दिये हैं[4], धर्मकीर्ति ने केवल

---

१. न्यायबिन्दु पृ० १३।

२. न्यायवार्तिक पृ० ४४।

३. तात्पर्यटीका पृ० १०२।

४. काव्या० ५।१३–२०।

चार[1]। यदि न्यायप्रवेश को देखें तो नव[2] मिलते हैं। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि इनमें भामह के लक्षण और उदाहरण कुछ 'न्यायप्रवेश' से अधिक मिलते हैं। धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त को त्रिरूप हेतु में[3] ले लिया है, परन्तु भामह ने उसको पृथक्[4] माना है जैसा कि न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय में है। न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय में दृष्टान्त के दो विभाग साधर्म्य और वैधर्म्य[5] द्वारा किये गये हैं। भामह ने भी ऐसा ही किया है पर धर्मकीर्ति में ऐसा कोई विभाग नहीं है। थोड़ी सी बातें जो यहाँ दी गई हैं वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि भामह का धर्मकीर्ति से कुछ भी ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

यदि यह सब बातें न भी प्राप्त होतीं तो भी यह दिखाना सम्भव था कि धर्मकीर्ति के अनन्तर भामह का आना हो ही नहीं सकता। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, धर्मकीर्ति सन् ६५० ई० में थे और दक्षिण भारत में रहते थे। शान्तरक्षित वंग देश में अष्टम शताब्दि के पूर्वभाग में रहते थे। अब हम लोग किसी प्रकार से अनुमान नहीं कर सकते कि उन दिनों में जब समाचार एक दूसरे देशों से मिलना कठिन था, पचास ही वर्ष में इतना काम हो गया— धर्मकीर्ति प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनका ग्रंथ काश्मीर जाता है, वहाँ भामह उससे अपना काम निकालते हैं, वह फिर प्रसिद्ध होकर बंगदेश पहुँचता है और वहाँ शान्तरक्षित उसका पूरी तरह अपने ग्रंथ में समावेश कर लेते हैं और यह सब काम पचास वर्ष में हो जाता है। यह बिलकुल सम्भव नहीं है। इस-लिए आनन्दवर्धन के कथन में सन्देह करने के लिए कोई युक्ति नहीं है कि बाण को भामह के ग्रन्थ का पता था। इसलिए ६०० ई० भामह के काल की पर-सीमा मानना अनुपयुक्त नहीं है।

---

१. न्यायबिन्दु पृ० ८४–८५।

२. History of Indian Logic pp. 290—291.

३. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते—न्यायबिन्दु पृ० ११७।

४. काव्यालंकार २।२१, ५।२६, २७।

५. History of Indian Logic pp. 286—87, 295—96. शब्दों की समानता भी यहाँ ध्यान में रखनी चाहिए। धर्मकीर्ति के भी ऐसे ही विभाग दृष्टान्ताभास के हैं।

न्यायप्रवेश-कर्ता

परन्तु उनके काल की पूर्वसीमा क्या होनी चाहिए ? पिछले विवेचन से सिद्ध है कि भामह उन मतों से अभिज्ञ थे जो वाचस्पति मिश्र के वचन के आधार पर दिङ्नाग के कहे जाते हैं। हमने यह भी दिखलाया है कि उनके मत उन मतों से भी मिलते हैं जिनका वर्णन न्यायप्रवेश में है। ननजीओ[१] और तकाकसु[२] कहते हैं कि यह ग्रंथ नागार्जुन का है, पर विधुशेखर भट्टाचार्य का विचार है कि ननजीओ ने संस्कृत में नामान्तर करने की भूल की है। स्वयं चीनी भाषा में नाम उसका 'यू लुण' है जिसका संस्कृत उल्था दिङ्नाग है[३]। परन्तु सुगिउरा[४] और उई[५] के अनुसार चीनी परम्परा के आधार पर न्यायप्रवेश शंकरस्वामी का कहा जाता है। इस मत के अनुसार दिङ्नाग का ग्रंथ **न्यायद्वार** है जो न्यायप्रवेश से बिलकुल भिन्न है। डा० रेण्डेल[६] का विचार है कि चीनी लोगों के आधार पर न्यायद्वार दिङ्नाग का ग्रंथ है, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है। इस अवस्था में यह असम्भव है कि दिङ्नाग न्यायप्रवेश के रचयिता हों। परन्तु तिब्बतियों के आधार पर न्यायप्रवेश को दिङ्नाग का ग्रंथ न मानने में कोई कारण नहीं है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने[७] कई अच्छी युक्तियाँ इस बात के सिद्ध करने के लिए दी हैं कि न्यायप्रवेश दिङ्नाग का ग्रंथ है। इसके साथ ही साथ एक बात प्रश्न में बहुत दूर तक उलट-फेर कर देती है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि शंकरस्वामी को न ह्युनत्संग और न इत्सिंग जानते थे। तिब्बत के मूल ग्रंथों में उनका नाम तक नहीं है। न्यायप्रवेश के चीनी अनुवाद से जो अनुवाद तिब्बत में हुआ है स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय चीनी भी शंकरस्वामी को नहीं जानते थे। यह सचमुच

१—Nanjio's Catalogue of the Chinese Tripitaka p. 270, No 1123, 1224.

२—A Record of the Buddhist Religion by Itsing pp. 177, 186.

३—The Nyaya Pravesha of Dinnaga—Indian Historical Quarterly Vol. III p. 154.

४—The Hindu Logic as Preserved in China and Japan pp. 36-37.

५—Vaisesika Philosophy p. 68.

६—Fragments from Dinnaga p. 61.

७—Indian Historical Quarterly Vol. III, pp. 154-59.

समझ में नहीं आता कि कैसे उनके नाम का सम्बन्ध न्यायप्रवेश से हो गया। कहीं पर कुछ गड़बड़ी इसमें छिपी हुई जरूर है। जब तक इस रहस्य का पता न लगे तब तक हम लोगों को सच्चा कारण न मालूम होगा कि कैसे चीनी लोग इसको शंकरस्वामी का कहते हैं। परन्तु जहाँ तक उस मूलग्रंथ से मालूम होता है—जो पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने छपवाया है[१]—यह सम्भव क्या, सत्य है कि यह दिङ्नाग का ग्रंथ है। विद्वान् सम्पादक ने उसे चीनी और संस्कृत ग्रंथों से मिलान किया है और शायद उनमें उन्हें विशेष भेद नहीं मालूम होता। इसलिए जो कुछ न्यायप्रवेश के तिब्बती पाठ-भेद के रचयिता के सम्बन्ध में कहा गया है वही अन्य पाठ-भेद के बारे में भी कहा जा सकता है।

हम लोगों की दृष्टि में इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आ जायगा यदि शंकरस्वामी ही न्यायप्रवेश के रचयिता सिद्ध हो जायँ। वह दिङ्नाग के शिष्य कहे जाते हैं और इसलिए अवस्था में कम होते हुए भी उनके समकालीन होंगे। इसलिए जब हम दिङ्नाग के ग्रन्थ और न्यायप्रवेश से भामह के मत और वाक्यों की स्पष्ट समानता देखते हैं तो हम निस्संदेह कह सकते हैं कि दिङ्नाग का समय ही भामह के समय-निर्धारण के लिए पूर्वसीमा है।

दिङ्नाग का समय

दिङ्नाग का काल उनके गुरु वसुबन्धु के काल पर निर्भर है। ननजीओ कहते हैं कि कुमारजीव ने वसुबन्धु की[२] एक जीवनी ४०१ ई० से ४०९ ई० के मध्य में लिखी है और परमार्थ ने जो ४९९ से ५६० ई० के मध्य में थे दूसरी जीवनी लिखी है[३]। परमार्थ से[४] हमें पता चलता है कि वसुबन्धु विक्रमादित्य के समकालीन थे जिसको कि विन्सेण्ट स्मिथ[५] गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त प्रथम निर्धारित करते हैं। वसुबन्धु जिनका ८० वर्ष की अवस्था में देहान्त हुआ २८० ई० और ३६० ई० के मध्य में जीवित थे। पर दुर्भाग्यावश सब विद्वान् इसपर सहमत नहीं हैं। दूसरा महत्त्व का मत यह कहता है कि वे

१—Gaekwod Oriental Series XXXIX Part II.

२—Nanjio's Catalogue of the Tripitak app. I. 64.

३—Ibid No. 1463.

४—Takakusu J. R. A. S. 1905, p. 44.

५—Early History of India, 3rd Edn. P. 320.

४२०—५०० ई०[१] के मध्य में थे। परन्तु अधिकतर विद्वान्[२] पहिले ही मत के हैं। इसलिए निस्सन्देह पहिला मत अधिक सम्भव प्रतीत होता है। यदि हम दूसरा मत मानें तो आगे का सब समय गड़बड़ा जाता है। तब हमें कुमारजीव के वसुबन्धु की जीवनी को कल्पित कथा माननी होगी और यह परम्परा विश्वास करने योग्य न होगी कि वसुबन्धु एक वृद्ध थे और उनके ग्रन्थ का कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

इसलिए हम ऊपर कही हुई युक्ति से कह सकते हैं कि वसुबन्धु २८० से ३६० ई० के मध्य में थे। अब दिङ्नाग, जो उनके शिष्य थे, उनसे कम अवस्था के थे और उन्हीं के समकालीन थे। इसलिए वे ४०० ई० के पूर्व अवश्य ही किसी समय रहे होंगे। अब यदि दिङ्नाग का समय लगभग ४०० मान लिया जाय तो उसी काल को भामह के काल की पूर्वसीमा माननी होगी। हम इसलिये निस्सन्देह कह सकते हैं कि भामह का काल दिङ्नाग और बाण के काल के मध्य में है। अर्थात् वे ४०० ई० और ६०० ई० के मध्य में विद्यमान थे।

उपसंहार

यदि भामह के काल के विषय में हम और ठीक कहना चाहें तो हमें यह देखना होगा कि वे दिङ्नाग के सन्निकट थे या धर्मकीर्ति के। हमने पहिले विवेचन में कहा है कि भामह का मत धर्मकीर्ति की अपेक्षा दिङ्-नाग से अधिक मिलता है। हमने यह भी दिखाया है कि भामह ऐसे काल में थे जब वृद्ध गुरुजनों की पूरी स्मृति थी। यह बात उन गुरुओं के बचे हुए ग्रन्थों की और भामह के ग्रन्थ की अच्छी तरह तुलना करने से मालूम हो जाती है। कुछ स्थानों पर उन्होंने पाठकों को विस्तारपूर्वक पढ़ने के लिए दूसरे ग्रन्थों का नाम भी दिया है जो शायद दिङ्नाग के ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। हमें यह भी विचार करना होगा कि भामह की कीर्ति को कन्नौज पहुँचने के लिए अवश्य समय लगा होगा जिससे कन्नौज के बाण ऐसे धुरन्धर कवि ने भी इतनी दूर काश्मीर के कवि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। यदि

१—Vidyabhusan's History of Indian Logic pp. 266-67.

२—Keith—Indian Logic and Atomism p. 98 Buddhist Philosophy P. 155. B. Bhattacharya's Foreword to तत्त्वसंग्रह pp. LXVI—LXXX.

इसके लिए एक शताब्दी का समय रख लिया जाय तो हम समझते हैं भामह को ५०० ई० के पूर्व रखने में बहुत क्षति न होगी। पर इतने से भी हम लोगों को सन्तोष नहीं होता। उनके लेख की शैली, विषय का प्रौढ़त्व आदि देखने से यही इच्छा होती है कि उनको और पूर्वकाल में ले जाया जाय और दिङ्नाग के समीप रखा जाय, यद्यपि कोई साक्षात् प्रमाण इसके लिए नहीं मिलता। काव्यालंकार का पंचम अध्याय दार्शनिक न्याय से भरा हुआ है। कहीं-कहीं तो शास्त्रार्थ की सी शैली प्रतीत होती है। इससे हमें विश्वास होता है कि भामह ऐसे समय में विद्यमान थे जब चारों ओर शास्त्रार्थ और विचार का वातावरण फैला हुआ था। भारतीय इतिहास का ऐसा समय दिङ्नाग जैसे विद्वानों के समय में हो सकता है। इधर-उधर वर्णनों से भी हम जानते हैं कि इस महान् आचार्य ने अपना सम्पूर्ण जीवन शास्त्रार्थ में ही व्यतीत किया। वे अपने समय में 'तर्क-पुंगव'—तर्क में श्रेष्ठ—कहे जाते थे; परन्तु ऐसा काल बहुत समय तक न था। न्याय-निर्णय, जो भामह के अलंकार-शास्त्र में एक बहुत आवश्यक विषय समझा जाता था, दण्डी के समय में कर्कश विचार समझा जाने लगा[1]। बाण के समय में भी हमें दिङ्नाग के समय का घोर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद नहीं मिलता। गुप्तों के पाँचवीं और छठी शताब्दी के शिलालेखों में भी इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता। इस प्रकार हमें यह विश्वास करने में कोई क्षति नहीं है कि शास्त्रार्थ का यह काल दिङ्नाग से ही समाप्त हो गया। इसलिए हम यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं—भामह दिङ्नाग के समकालीन थे या दिङ्नाग के कुछ ही अनन्तर हुए थे। अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भामह ४०० ई० के लगभग अवश्यमेव विद्यमान थे।

१—विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्।—काव्यादर्श।

सिद्धान्त
का
विकास

अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन सी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है? वह कौनसा पदार्थ है जो काव्य के अंगों में सबसे अधिक उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न के उत्तर में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं; कुछ गुण या रीति को, दूसरे लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा के समीक्षण में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से सम्भव हो सकती है—

(१) धर्म से।
(२) व्यापार से।
(३) व्यंग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं रहती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलंकार सम्प्रदाय; (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस-निरूपण के अवसर पर भट्ट नायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रसमत के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है। क्योंकि भट्ट नायक ने विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए ही इस नवीन व्यापार की कल्पना की है। अतः इसे एक पृथक् सम्प्रदाय न मानकर भरत के रससम्प्रदाय का अंग मानना युक्तियुक्त है।

व्यंग्यमुख से शब्दार्थ में वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ में ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है जो उनसे प्राचीन हैं तथा काव्य में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं। इन तीनों के नाम हैं—(१) अभाववादी, (२) भक्तिवादी, (३) अनिर्वचनीयतावादी। अभाववादी आचार्य (भामह, उद्भट आदि) काव्य में ध्वनि का सर्वथा अभाव मानते हैं। इसमें तीन छोटे-छोटे उपसम्प्रदाय हैं। कुछ लोग गुण और अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं परन्तु कुछ लोग अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश या अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं (अन्तर्भाववादी)। भक्तिवादी की सम्मति में ध्वनि भक्ति (लक्षणा) के द्वारा गम्य है, वह लक्षणा में ही अन्तर्भुक्त है। अतः उसके लिए एक नवीन काव्य-प्रकार मानने की आवश्यकता नहीं। अनिर्वचनीयतावादी के मत में ध्वनि काव्य में अनिर्वचनीय पदार्थ है। वह केवल बुद्धिगम्य है; उसकी शब्दतः आलोचना तथा निरूपण कथमपि शक्य नहीं। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी 'विमर्शिणी' में इन दो पद्यों को उद्धृत किया है जिनमें ध्वनि-विरोधी बारह सिद्धान्तों की गणना है—

"तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥
रसस्य कार्यताभोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥"

(विमर्शिणी पृष्ठ ९)

जयरथ ने इन बारह सिद्धान्तों को पूर्वोक्त आनन्दवर्धन के द्वारा निर्दिष्ट तीन सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त कर दिया है। आनन्दवर्धन ने इन तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। समुद्रबन्ध के इस विवेचन को उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।"

समुद्रबन्ध—अलंकारसर्वस्व टीका।

समुद्रबन्ध के इस विवरण में 'सम्प्रदाय' तथा 'सिद्धान्त' का पार्थक्य स्पष्टतः निर्णीत नहीं किया गया है। फलतः लेखक ने अलंकारशास्त्र के छः सम्प्रदायों की चर्चा कई स्थलों पर की थी, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, जैसा काणे साहब ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ अलंकारशास्त्र' में प्रतिपादित किया है। सम्प्रदाय सिद्धान्तों के ऐक्य पर अवश्यमेव आश्रित होता है, परन्तु दोनों में पार्थक्य है। सम्प्रदाय की संज्ञा पाने का अधिकारी वही सिद्धान्त हो सकता है जिसकी कोई परम्परा हो अर्थात् जो किसी आचार्य का विशिष्ट मत होकर ही सीमित न रहे, प्रत्युत परवर्ती आचार्यों द्वारा परिबृंहित तथा विकसित किया गया हो तथा जिसके माननेवाले अनेक आचार्यों की सत्ता विद्यमान हो। इस कसौटी पर कसने से 'वक्रोक्ति' तथा 'औचित्य' केवल 'सिद्धान्त' प्रतीत होते हैं। उन्हें सम्प्रदाय मानना कथमपि उचित नहीं है[१]। सम्प्रदाय तथा उनके प्रतिष्ठापक-पोषक आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस	भरत मुनि
(२) अलंकार	भामह, उद्भट, रुद्रट
(३) रीति	दण्डी, वामन
(४) ध्वनि	आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त

१—रस-सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक कौन था? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से रस का निरूपण सर्वप्रथम किया था, परन्तु आज न तो नन्दिकेश्वर के किसी रस-विषयक ग्रन्थ का ही पता चलता है और न उनके एतद्विषयक किसी मत का। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरत मुनि के नाम से संबद्ध है। भरत ही रस सम्प्रदाय के सबसे आदि तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो वैज्ञानिक निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य-संसार में एक अपूर्व वस्तु है। भरत का मुख्य उद्देश्य नाट्य का ही निरूपण था। इसीलिए उन्होंने नाट्य-विषयक रस का ही निरूपण विस्तार

१—द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३२३ (प्र० भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग)।

के साथ इन अध्यायों में किया है। इस प्रकार रस का निरूपण नाट्य के प्रसंग में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है और तदनन्तर काव्य के सम्बन्ध में रस का विवेचन पिछले आलंकारिकों का प्रयास है। भारतीय आलोचकों की सम्मति है कि सर्वश्रेष्ठ कविता नाट्यात्मक ही होती है और रस भी नाट्य से संबद्ध होने के कारण 'नाट्यरस' के नाम से प्रसिद्ध होता है। नाट्य की समग्र सामग्री का उपयोग यही है कि दर्शक के हृदय में रस का उन्मीलन किया जाय क्योंकि रसोन्मेष ही नाट्य का चरम अवसान ठहरा। नाट्य में रस की मुख्यता प्रतिपादन करने के कारण ही हम भरत को सम्प्रदाय का आद्य आचार्य मानते हैं।

रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है। भरत ने इस सूत्र पर जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सरल और सुबोध है। परन्तु पीछे के टीकाकारों ने इस सीधे तथा सरल सूत्र की व्याख्या करने में अपना सारा बुद्धि-वैभव खर्च कर दिया है। किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द उन्मीलित होता है वही रस है। इसकी व्यवस्था करने में भरत के टीकाकारों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से इसका विभिन्न प्रकार से अर्थ किया है। इस विषय में पाँच मत अतीव सुप्रसिद्ध हैं। इन मतों के व्यवस्थापक आलंकारिकों के नाम हैं—(१) भट्ट लोल्लट, (२) भट्ट शकुंक, (३) भट्ट तौत, (४) भट्ट नायक तथा (५) अभिनवगुप्ताचार्य। इन प्राचीन आचार्यों के मतों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भट्ट लोल्लट

(१) लोल्लट रस के विषय में उत्पत्तिवादी हैं। मुख्य रूप से रस नाटक के नायक के साथ संबंध रखता है। रामायण में राम सीता से प्रेम करते हैं। सीता को देखकर उनके हृदय में एक मनोहर भाव अंकुरित होता है जो अनुकूल परिस्थितियों में पुष्ट होकर प्रेम का रूप धारण करता है। यही घटना कवि नाटक में दिखलाता है और इसी का अभिनय रंगमंच पर किया जाता है। जो रस मुख्य रूप से उत्पन्न होता है वही रस राम की अवस्थाओं का अनुकरण करनेवाले नट में भी उत्पन्न होता है। इस रसोत्पत्ति में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सम्मिलित रूप से मिलकर कारण बनते हैं। स्थायीभाव को दर्शक के हृदय में अंकुरित करने का श्रेय विभाव

को प्राप्त होता है। विभाव दो प्रकार का होता है—आलम्बन तथा उद्दीपन। नायक और नायिका शृङ्गार रस के आलम्बन हैं और ऋतु, पुष्पवाटिका, मलयानिल, पावस आदि कारण जो इसको उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। अनुभाव वह है जो अंकुरित रस का अनुभव दर्शक तथा श्रोता को कराता है—अनुभावयतीति अनुभावः। जैसे शृङ्गार रस के अनुभाव हैं-कटाक्ष-विक्षेप, अश्रुप्रवाह, वैवर्ण्य, रोमाञ्च आदि आदि। संचारी भाव कतिपय क्षण तक टिकनेवाला वह भाव है जो आता-जाता रहता है और अपनी सत्ता से स्थायी को पुष्ट किया करता है। इन तीनों के संयोग से रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है परन्तु इन तीनों की रस के प्रति कारणता एकरूप नहीं है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है। इसलिए रस और विभाव में उत्पाद्य और उत्पादक सम्बन्ध रहता है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीतिगम्य होता है इसलिए रस और अनुभाव के साथ संबंध भिन्न होता है। संचारी भाव अपनी सत्ता से रस की पुष्टि करता है इसलिए रस के साथ उसका पोष्य-पोषक सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के उत्पादन के प्रति भिन्न-भिन्न रूप से कारण हुआ करते हैं। इसी लिए उक्त सूत्र में संयोग एकरूप न होकर त्रिविध है तथा रस की निष्पत्ति वस्तुतः रस की उत्पत्ति है। मुख्य वृत्ति से रस नाटक के अनुकार्य राम-सीता में ही उत्पन्न होता है, परन्तु उन्हीं के रूप का अनुसन्धान करनेवाले नटादिकों को भी रस की प्रतीति होती है।

लोल्लट के पूर्वोक्त मत में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वह दर्शक तथा अभिनय के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं करता। रस राम में ही वस्तुतः उत्पन्न होता है तो दर्शकों का उससे क्या सम्बन्ध है? दर्शक बिना किसी आनन्द-दायक प्रयोजन के अभिनय के लिए इतने व्यग्र क्यों रहते हैं? राम को इस भारतभूमि पर अवतीर्ण हुए न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गईं, उन्हें इस वर्तमान अभिनय से क्या सम्बन्ध? रस राम के अनुकरण करनेवाले नट में उत्पन्न होता है तो होता रहे, दर्शकों का इससे क्या सम्बन्ध? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर लोल्लट के मत से नहीं हो सकता। इसलिए शंकुक ने अपनी नयी व्यवस्था में इस त्रुटि को दूर करने का यथाशक्ति उद्योग किया है।

भट्ट शंकुक

(२) शंकुक—शंकुक रस के विषय में अनुमानवादी आलोचक हैं। वे

रस को अनुमान का विषय मानते हैं। रंगमंच के ऊपर अभिनय की कला में चतुर तथा काव्य-नाटक में व्युत्पत्ति रखनेवाला अभिनेता नाटक के मूल पात्रों का अभिनय इतनी स्वाभाविकता तथा रोचकता से करता है कि दर्शक आनन्द में विभोर हो जाते हैं और वे उस नट को ही राम से अभिन्न समझने लगते हैं। यह अभिन्नता 'चित्रतुरगन्याय' के ऊपर आश्रित होती है। है। जिस प्रकार चित्र में चित्रित तुरग वास्तविक गुण से भिन्न होता हुआ भी उसी की प्रतिकृति होने से भौतिक तुरग से अभिन्न माना जाता है, उसी प्रकार राम की भूमिका बाँधनेवाला नट भी राम से भिन्नाभिन्न सम्बन्ध रखता है। अतः राम में जो रस वस्तुतः उत्पन्न होता है उसी रस का अनुमान के द्वारा अभिनयनिपुण नट में भी आरोप किया जाता है। दर्शकमण्डली इस रस को अनुमान के बल पर ग्रहण करती है तथा आनन्द उठाती है। इस प्रकार भरत के सूत्र में 'संयोगात्' शब्द का अर्थ है अनुमानात् एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ है अनुमिति। यह अनुमिति नैयायिक अनुमान से भिन्न है। नैयायिक अनुमान तथ्यप्रतिपादक होने पर भी रूखा, सूखा तथा नीरस होता है परन्तु यह रसानुमान उससे नितान्त विलक्षण होता है और आनन्दोत्पादक होता है। इस मत में अनुकरण के बल पर नट में रस का अनुमान किया जाता है तथा अनुमानकर्त्ता दर्शक को भी उससे आनन्द मिलता है। इस प्रकार शंकुक का मत है कि रस अनुकरण रूप होता है।

भट्ट तौत

(३) भट्ट तौत ने इस मत का खण्डन बड़े विस्तार के साथ किया है[1]। अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्ट तौत को शंकुक के मत का प्रबल विरोधी बतलाया है। अनुमान की शास्त्रीय पद्धति के भीतर रस-निष्पत्ति का कथमपि निर्वाह नहीं हो सकता। अनुमान हेतु की विशुद्धि पर आश्रित रहता है, परन्तु रस के उन्मीलन के अवसर पर हेतु की सत्ता होने पर भी उसकी शास्त्रीय विशुद्धि की कमी ही रहती है। यथार्थ अनुमान की सिद्धि के लिए 'हेतु' के त्रिरूप होने की सर्वदा आवश्यकता रहती है। हेतु के तीन रूप इस प्रकार हैं—(१) पक्षे सत्ता अर्थात् अनुमान के विषयभूत पक्ष में उस हेतु

१—तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम् ......तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः (भट्टतौताः)।
अभिनवभारती, प्रथम खण्ड, पृ० २७५

का अस्तित्व; (२) सपक्षे सत्ता (पक्षके सदृश वस्तुओं में हेतु का अस्तित्व); (३) विपक्षाद् व्यावृत्तिः (पक्ष से भिन्न पदार्थों से हेतु का निरास) । इन तीनों गुणों की सत्ता होने पर ही हेतु से किसी अनुमान की सिद्धि अनिवार्यरूपेण होती है । यह शास्त्रीय नियम है । परन्तु इसका पालन साहित्य की रसानुमिति में कथमपि नहीं हो सकता । इसलिए भट्ट तौत रस की अनुमिति कथमपि स्वीकार नहीं करते ।

इस मत में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कथमपि आनन्ददायक नहीं हो सकता । अनुमान का प्रयोग तत्त्वबोध के लिए किया जाता है विशेष रूप से । किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए अनुमान सहायक होता है और उसका तात्पर्य इतना ही है कि अनुमान का सहारा लेकर किसी तथ्य का निरूपण किया जाय । धूम की सत्ता देखकर किसी पर्वत में निश्चित रूप से अग्नि का अस्तित्व बतलाना अनुमान का उद्देश्य है । परन्तु रसोद्बोध के प्रसंग में इस तात्पर्य की सिद्धि का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता । फलतः रस को अनुमान का विषय मानना कथमपि उपयुक्त नहीं प्रतीत होता ।

दर्शक के हृदय में आनन्दोद्बोध की किंचित् व्याख्या होने पर भी यह मत असली सिद्धान्त से बहुत दूर पड़ता है । नट के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के प्रदर्शन से जिस रस का अनुमान दर्शक करता है वह रस तो मूलतया नट में ही रहता है । दर्शक को इस अनुमान से यत्किञ्चित् ही लाभ होता है परन्तु अनुमान उस कोटि का आनन्द कभी भी नहीं उत्पन्न कर सकता जिसकी रसावेश के समय संभावना मानी जाती है । भट्ट तौत के खण्डन की यही दिशा है ।

भट्ट नायक

(४) भट्ट नायक—इन्होंने रस की व्याख्या में दर्शक के महत्त्व को भली भाँति अपनाया है । ये रस को न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति स्वीकार करते हैं और न उसकी व्यक्ति मानते हैं । प्रत्युत इन तीनों से विलक्षण रस की भुक्ति पर ही इनका आग्रह है । अतः ये भुक्तिवादी आचार्य हैं । काव्य में व्यापार ही मुख्य होता है । इस व्यापार के तीन रूप होते हैं—(१) **अभिधा, (२) भावकत्व, (३) भोजकत्व** । अभिधाके द्वारा शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है । भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण । इस व्यापार के बल पर नाट्य में अभिनीत पात्र अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देश को छोड़कर

सामान्य व्यक्ति के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का नायक दुष्यन्त हस्तिनापुर का चन्द्रवंशी राजा न होकर सामान्य रूप से एक शौर्य-मण्डित नेता के रूप में ही गृहीत किया जाता है। यह भावकत्व व्यापार के बल पर ही संभव होता है। भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस का भोग करता है तथा इस अवसर पर उसके हृदय में राजस तथा तामस भावों को सर्वथा दबाकर सात्त्विक भाव का ऐकान्तिक उदय हो जाता है। सात्त्विक भाव के उदय होने पर ही रसभुक्ति की दशा उत्पन्न होती है। इस मत के अनुसार सूत्र में 'संयोग' का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक संबंध तथा निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

इस मत में सबसे महत्त्व का तथ्य यह है कि यह दर्शक की दृष्टि से रस की व्याख्या करता है। यह भली भाँति समझाता है कि अभिनय के देखने से या किसी काव्य के पढ़ने से द्रष्टा या श्रोता के हृदय में रस का उद्बोध क्यों तथा किस प्रकार होता है। भट्ट नायक का यह मत रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के बहुत कुछ अनुकूल है। परन्तु इसमें आपत्ति की बात यही है कि इन्होंने शब्द के त्रिविध व्यापार की मनमानी कल्पना कर रखी है। 'अभिधा' व्यापार तो सर्वसम्मत है। परन्तु भावकत्व तथा भोजकत्व की कल्पना के लिए उनके पास क्या आधार है? स्वेच्छया शब्द-व्यापार की कल्पना उन्मत्त-प्रलाप के समान ही निन्दनीय तथा अमान्य होती है। अतः अलंकार-शास्त्र में इन नवीन दो व्यापारों को मानना एकदम अनावश्यक है। इसी लिए आलोचकगण इस मत में विशेष श्रद्धा नहीं रखते।

अभिनवगुप्त

(५) अभिनवगुप्ताचार्य—ये रस के विषय में व्यञ्जनावादी हैं। इनके मत से भरत सूत्र 'विभावानुभाव' में संयोग का अर्थ है व्यंग्यव्यञ्जकभाव तथा रसनिष्पत्ति का अर्थ है रस की अभिव्यक्ति या रस की व्यंजना। इनके अनुसार प्रत्येक श्रोता या वक्ता में स्थायी भाव—प्रेम, शोक, क्रोधादि—वासना रूप से विद्यमान रहता है। यह वासना पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है या इसी जन्म के काव्यादि के सेवन से प्रादुर्भूत होती है। परन्तु संस्कार रूप से यह रहती है अवश्य प्रत्येक द्रष्टा या श्रोता के हृदय में। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा इस स्थायी भाव की अभिव्यंजना होती है। ये भाव सामान्य रूप में ही गृहीत होते हैं। ललित वस्तुओं के गुणग्रहण के

अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूप से ही तथा संबंध-रहित होकर ही स्वीकृत किया जाता है। किसी वाटिका में लगे हुए गुलाब के फूल को देखिए। उसकी शोभा देखते हुए जब आपका चित्त आह्लादित होता है तब आपकी उसके प्रति कौन-सी भावना होती है; उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोड़ने के लिए आगे बढ़ते। शत्रु का समझते तो उससे द्वेष उत्पन्न होता। यदि किसी तटस्थ व्यक्ति का समझते तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः यह गुलाब का सुन्दर फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है, और न किसी उदासीन व्यक्ति का है[1]। इस विषय में संबंध के ग्रहण तथा परित्याग की कोई बात ही नहीं उठती। गुलाब एक सुन्दर फूल है। वह सुन्दर वस्तु का प्रतिनिधि है। ललित कला के विषय में साधारणीकरण का यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। अभिनवगुप्त ने इस सामान्य नियम का प्रयोग रस की मीमांसा के अवसर पर किया है। रस के उद्बोधक जितने भाव हैं, वे सामान्य रूप में ही गृहीत होते हैं और तभी रस की अभिव्यक्ति संभव है। रस की अभिव्यक्ति के समय भी अनुभवकर्त्ता अपने आपको भी सामान्य रूप में ही ग्रहण करता है। अनुभव के समय वह समझता है कि जितने सहृदय हैं उनके हृदय में उस रस की अनुभूति समान रूप से होती है।

रस आनन्द रूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जो वस्तु संसार में भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोध का कारण बनती है वही वस्तु काव्य में वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है और इसी लिए वह आनन्द का उद्बोधन करती है। व्यक्तिवादी अभिनवगुप्त का संक्षेप में यही मत है तथा अधिक मनोवैज्ञानिक होने के कारण आज का सुधी-समाज इसी मत को स्वीकार करता है। रस एक अलौकिक वस्तु है; लोक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यही इस मत का सार है।

रससंख्या

रसों की संख्या के विषय में आलंकारिकों में मतभेद दीख पड़ता है।

१—परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥
(साहित्य-दर्पण—३।१२)

भरत ने आठ रस कहे हैं[1]— (१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत। कुछ लोग 'शान्त' को नवम रस मानते हैं। परन्तु भरत तथा धनञ्जय ने नाटक में शान्तरस की स्थिति एकदम अस्वीकार की है[2]। इस अस्वीकृति का कारण यह है कि नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और इस अभिनय का प्राण है कार्य की बहुलता। परन्तु शान्तरस है, सब कार्यों का उपशम रूप। ऐसी दशा में शान्तरस का प्रयोग नाट्य में कैसे हो सकता है? काव्य में उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मुख्य रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' नामक दशम रस माना है (काव्यालंकार १२।३)। विश्वनाथ कविराज वात्सल्य को नवीन रस मानने के पक्षपाती हैं। गौड़ीय वैष्णवों की सम्मति में मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम रस है।

साहित्य में रसमत की महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक, जो क्रौञ्चवध से मर्माहत हुए महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ था, रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है। परन्तु अपने मत के अनुसार इसे अपने ग्रन्थों में ऊँचा-नीचा स्थान दिया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में रस को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। इन तीनों प्रकार की ध्वनियों में 'रसध्वनि' ही मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। भोजराज ने समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति और (३) रसोक्ति। इन तीनों में रसोक्ति को ही वे काव्य में मुख्य मानते हैं। इस प्रसंग में भोज का रसविषयक मत भी कम महत्त्व नहीं रखता। वे शृङ्गार रस को सब रसों में आदिम रस मानते हैं[3]। शृङ्गार अभिमान या अहंकार रूप

१—शृङ्गारहास्यकरुणे रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

—नाट्यशास्त्र ६।१५

२—शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।

—दशरूपक ४।३५

३—शृंगार वीरकरुणाद्भुत रौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।

होता है। इस मत को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने विपुलकाय शृङ्गार-प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना की है। विश्वनाथ कविराज भी रसवादी हैं। इन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा माना है। इनका सुप्रसिद्ध काव्यलक्षण है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। विश्वनाथ ने 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आनन्ददायक होने के कारण भाव, भावाभास, रसाभास आदि सभी को उन्होंने उसके अन्तर्गत रखा है। इस प्रकार उन्होंने रस का व्यापक अर्थ स्वीकार कर रस को ही समस्त काव्यों का मूलभूत तत्त्व अंगीकार किया है।

रुद्र भट्ट ने भरत के मतानुसार रस को ही काव्य की आत्मा माना है। अग्निपुराण ने काव्य में वक्रोक्ति-जन्य चमत्कार के प्रधान होने पर भी रस को ही काव्य का जीवन माना है—**वाक्-वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्** (३३६।३३)। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (पृ० ६) में रस को काव्य की आत्मा माना है। यह मत शौद्धोदनि को भी मान्य है—**अलंकारस्तु शोभायां रस आत्मा परे मनः**। (अलंकार शेखर पृ० ६)।

२—अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रवर्तक आलंकारिक भामह हैं तथा इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को अलंकार शब्द के द्वारा पुकारा जाता है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलंकार काव्य का प्राणाधायक तत्त्व है। अग्नि को उष्णता-रहित मानना जिस प्रकार उपहासास्पद है उसी प्रकार अस्वाभाविक है काव्य को अलंकारहीन मानना। मम्मट के काव्य-लक्षण के खण्डनकर्ता जयदेव ने इस सम्प्रदाय का हृदय रख दिया है जब वे कहते हैं कि **जो विद्वान् अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण (शीतल) क्यों नहीं**

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥

शृंगारप्रकाशः—प्रथम प्रकाश

मानता ? अलंकारहीन काव्य और अनुष्ण अग्नि एक ही कोटि की चीजें हैं जिसे केवल पागल ही सच्चा मान सकता है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८

रुय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

—अलंकार-सर्वस्व पृ० ७

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में चार ही अलंकारों का नाम-निर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक। अतः साहित्य के मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं, जिनमें से एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में १२५ तक पहुँच गई है। कालक्रम से अलंकारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है। उदाहरण के लिए 'वक्रोक्ति' अलंकार को लीजिए। भामह से लेकर कुन्तक तक वक्रोक्ति का मनोरम विकास भारतीय आलोचकों के चिन्तन का फल है। आद्य आलंकारिक भामह वक्रोक्ति को अलंकारों का जीवनाधायक तत्त्व मानते हैं। वे ऐसे अलंकार की कल्पना ही नहीं कर सकते जो वक्रोक्ति से रहित हो। उनका कथन नितान्त स्पष्ट है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

काव्यालंकार २।८५

वामन ने इसी को अर्थालंकार माना है और रुद्रट ने इसे शब्दालंकार स्वीकार किया है। अलंकारों का अनुशीलन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकारों के विवेचन में बड़ी ही मौलिकता दिखलाई है। वे लकीर के फकीर न होकर सर्वत्र मौलिक गवेषक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

आलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया है। अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धांत भी

निश्चित किये हैं। इसका संकेत पहले-पहल हमें रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकार-विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में 'एकावलीकार' विद्याधर का निरूपण बड़ा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है जिन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकारों का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व तथा महत्त्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचनाशास्त्र ही 'अलंकारशास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलंकार मत को माननेवाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात नहीं था परन्तु उन्होंने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलंकार का ही एक प्रकार माना है। विशेषकर रसवत्, प्रेयः, उर्जस्वी तथा समाहित अलंकारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय इन आलंकारिकों ने अन्तर्निविष्ट कर दिया है। भामह को महाकाव्य में रसों की आवश्यक स्थिति मान्य है[1]। उन्होंने प्रेय, रसवत् आदि अलंकारों के द्वारा रस के समग्र विषय का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि जहाँ शृंगारादि रसों की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है वहाँ रसवत् अलंकार की सत्ता नहीं मानी जा सकती[2]।

दण्डी भी रस तत्त्व से परिचित हैं और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रस और आठ स्थायी भावों का निर्देश किया है[3]। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं[4]। अतः दण्डी को रसतत्त्व से अपरिचित

१—युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।

भामह—काव्यालंकार १।२१

२—रसवद्-दर्शितस्पष्ट-शृङ्गारादि रसं यथा।
देवी समागमद् धर्ममस्करण्यतिरोहिता॥

—काव्यालंकार ३।६

३—इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। —काव्यादर्श २।२९२
प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता। —वही २।२८१।

४—मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। —वही १।५१।

मानना नितान्त अनुचित है। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर स्थायी भाव, संचारी भाव, जैसे पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही नहीं किया है प्रत्युत रस की नवप्रकारता मानी है[1]। रुद्रट भी काव्य में रस का निवेश विशेष यत्न से करने का उपदेश देते हैं[2]। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्त्व की महत्ता से पर्याप्त परिचित हैं, परन्तु उसे अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। अलंकारवादी आचार्य अपने सिद्धान्त से कथमपि च्युत नहीं हो सकता।

अलंकार और ध्वनि

इतना ही नहीं, इन आलंकारिकों को काव्य में प्रतीयमान अर्थ की भी सत्ता किसी रूप में अज्ञात न थी। रुय्यक की स्पष्ट समीक्षा है कि भामह तथा उद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर उसे अलंकार के भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है[3]। एकावली की टीका 'तरला' में मल्लिनाथ भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य मानते हैं[4] परन्तु उन्हें ध्वन्यभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का अपने अलंकार-ग्रन्थों में प्रयोग करते हैं परन्तु वे प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेप के भीतर प्रतीयमान अर्थ के अनेक प्रकारों को अन्तर्निविष्ट कर लिया है। भामह ने समासोक्ति अलंकार के लक्षण

१—रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादिरसादयम्।

उद्भट—काव्यालंकार ४

२—तस्मात्तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

रुद्रट—काव्यालंकार १२।२

३—इह तावत् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतया अलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।

रुय्यक—अलंकार सर्वस्व पृ० ३

४—अभाव एव ध्वनेरिति भामहप्रभृतयो मन्यन्ते।

—तरला पृ० २४

सर्वथा मान्य था। इन आलंकारिकों को हम आनन्दवर्धन के द्वारा वर्णित 'अन्तर्भाववादी' आचार्यों में अन्तर्भुक्त कर सकते हैं जिनकी सम्मति में प्रतीयमान अर्थ स्वतंत्र न होकर अलंकार-विशेष में अन्तर्भुक्त किया जाता था।

दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्त्व काव्य में स्वीकार किया वह किसी न किसी मात्रा में पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्त्व देकर भी अलंकार के वर्णन में उदासीनता नहीं दिखलाई। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं। परन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का जो प्रशस्त तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलंकारवादी आचार्य के वर्णन से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं, अपने काव्य-लक्षण में भी उन्होंने अलंकार को स्थान दिया है चाहे वह स्थान गौण ही क्यों न हो।

३—रीति-सम्प्रदाय

रीति-मतके प्रधान प्रतिपादक हैं आचार्य वामन। दण्डी ने भी रीतियों के वर्णन में बहुत सा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्त्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक के ग्रन्थ में नहीं दीख पड़ता। उनके सिद्धान्त की महनीयता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होंने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। यह रीति है क्या वस्तु? वामन कहते हैं कि **पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है**। पदों में वैशिष्ट्य गुणों के कारण ही उत्पन्न होता है, गुणों के अभाव में पद एक सामान्य रूप में ही स्थित रहते हैं। अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है—**विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा**। इसी लिए रीति-सम्प्रदाय गुण-सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है।

गुणों के सर्वप्रथम वर्णनकर्ता हैं भरत मुनि। उन्होंने दश प्रकार के काव्यार्थ गुणों का वर्णन नाट्यशास्त्र में किया है[1] जिनके नाम हैं श्लेष,

---

१—श्लेषः प्रसादः समता समाधिः,
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा कान्ति। रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख में (१५० ई०) भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का उल्लेख स्पष्टतः किया गया है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है। परन्तु भरत से उनकी व्याख्या में अनेक स्थलों पर अन्तर है। दण्डी ने गुणों में शब्दगत अथवा अर्थगत किसी प्रकार का विभेद स्वीकार नहीं किया है। वे इन दश गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग (वैदर्भी रीति) का प्राणभूत मानते हैं और गौड़ी रीति में इन गुणों में से कतिपय गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं।[1] अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा समाधि गुणों की आवश्यकता वैदर्भ मार्ग तथा गौड़ मार्ग दोनों को स्वीकार है। अतः दोनों रीतियों में इनका रहना आवश्यक है। परन्तु वैदर्भी रीति में अन्य सातों गुणों की सत्ता रहती है और गौड़ी रीति में उनके विपर्यय की।

वामन ने भी इन पूर्वोक्त दश गुणों—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति—को स्वीकार किया है परन्तु उनकी व्याख्या एकदम नवीन और मौलिक है। वे गुणों का दो प्रकार (द्वैविध्य) स्वीकार करते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं—शब्दगत तथा अर्थगत। इस विभाजन में गुणों के नाम में तो अन्तर नहीं है परन्तु उनकी कल्पना में पर्याप्त पार्थक्य है। शब्दगत गुणों के अर्थगत होते ही महान् अन्तर पड़ जाता है। उदाहरण के लिए माधुर्य की द्विविध कल्पना पर ध्यान दीजिए। शब्दगुण माधुर्य का अर्थ है—पृथक् पदत्वम्—अर्थात् वाक्य में पदों का पृथक्-पृथक् होना। यह तभी संभव है जब लम्बे-लम्बे समास न रखकर अलग-अलग पदों का प्रयोग किया जाय। परन्तु अर्थगुण माधुर्य वह है जिसमें उक्ति की विचित्रता विद्यमान हो—उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। जहाँ अर्थ का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसका सामान्य रूप से निर्देश न करके विचित्र भंगी से वर्णन किया जाय वहाँ अर्थगत माधुर्य होगा। उदाहरण के लिए यह श्लोक देखिए—

> रसवदमृतं, कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
> मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।

1—इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

काव्यादर्श १।४२

सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविद् जनो,
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥

वामन—काव्यालंकार ३–२–११

यहाँ कवि का अभिप्राय इतना ही है कि कामिनी का अधर संसार की समस्त मधुर वस्तुओं में अनुपम है। परन्तु इस अर्थ को भंगी से वर्णन करता हुआ वह पूछ रहा है कि अमृत रसवत् होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, मधु भी इससे भिन्न नहीं होता। आम का भी सरस फल अवश्य ही अधिक मधुर होता है। परन्तु रसान्तर को जाननेवाला कोई भी मध्यस्थ पुरुष बतलावे कि इस जगत् में प्रिया के अधर से बढ़कर कोई वस्तु स्वादु है ?

गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका। इनके पहले ही भामह ने दश गुणों के स्थान पर इन्हीं तीन गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद की कल्पना स्वीकार की थी[1]। इसी पक्ष या मत का अवलम्बन पिछले आलंकारिकों ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कविराज आदि ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है और यह दिखलाया है कि या तो अन्य गुणों का इसी में अन्तर्भाव होता है या वे दोषाभाव रूप हैं अथवा कहीं-कहीं वे गुण न होकर दोष ही हो जाते हैं। वामन के मार्ग का अवलम्बन केवल भोजराज ने किया है। इन्होंने गुणों के विभाजन तथा स्वरूप दोनों में विशेष अन्तर किया है। भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं—बाह्यगुण, आन्तरगुण तथा वैशेषिक गुण। गुणों की संख्या भी दस से बढ़ाकर चौबीस कर दी गई है (सरस्वतीकण्ठाभरण १।५८–६५)

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकार शास्त्र के आदिम युग में भामह से पूर्वकाल में कभी न कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौड़ीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्रमार्गी भामह ने इस विचारधारा की निन्दा की है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए और न गौड़ीय की निन्दा, प्रत्युत काव्य के शोभन गुणों की ही ओर ध्यान देना चाहिए। ये गुण हैं वक्रोक्ति से युक्तता, पुष्टार्थता, अग्राम्यता, अर्थ-सम्पन्नता आदि। मार्ग का विचार बिना किये हुए इन गुणों की जहाँ विद्यमानता रहेगी वहीं कमनीय काव्य होगा, चाहे वह मार्ग वैदर्भ हो या गौड़ीय हो। भामह के इस प्रतिवाद से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके समय

१—भामह—काव्यालंकार २।१–३

के आलंकारिक वैदर्भ मार्ग को स्पृहणीय मानते थे और गौड़ीय मार्ग को गर्हणीय। भामह ने इसी अन्ध परम्परा का प्रतिवाद किया है[1]। दण्डी में इन दोनों गुणों का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया गया है। वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वोक्त दशों गुणों से युक्त मानते हैं और गौड़ीय मार्ग में कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं। फलतः दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है और गौड़ीय मार्ग नितान्त हेय तथा अस्पृहणीय है। उन्होंने रीति का निर्देश गुण के आधार पर नहीं किया है। वामन के पूर्व रीति के विषय में यही कल्पना अलंकार-जगत् में प्रचलित थी।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ़ आधार पर निर्मित किया है। काव्य की आत्मा को खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। काव्य की आत्मा उनकी दृष्टि में रीति है[2], अन्य गुण नहीं—रीतिरात्मा काव्यस्य। दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियाँ मानते हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली।

वैदर्भी रीति में समग्र दश गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है। गौड़ीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण रहते हैं तथा पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य। पिछले आलंकारिकों ने इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगल श्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है—वच्छोमी (वैदर्भी), मागधी तथा पाञ्चालिका (पाञ्चाली)। रुद्रट ने लाटीया को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने आवन्ती, मागधी और लाटी की नई वृत्तियों को मानकर रीतियों की संख्या वामन की अपेक्षा दुगुनी (छः) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भावित तीन ही रीतियों का काव्य-जगत् में आज भी प्रचलन है[3]।

१—अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो, वैदर्भमिति नान्यथा॥

भामह—काव्यालंकार १।३५

२—वामन—काव्यालंकार—१।२।६

३—इस विषय का विशेष वर्णन देखिए—
बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग २, पृ० १३५–२४०

वामन ने अलंकारों को गुणों से पृथक् मानकर उनकी सुन्दर विवेचना की है। प्राचीन आलंकारिकों में वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। उपमा का महत्त्व तो भामह ने भी स्वीकार किया है और पिछले आलंकारिकों ने सादृश्यमूलक या औपम्यगर्भ अलंकारों का उसे ही मूल माना है। अतः उपमा को अलंकार-जगत् में सर्वप्रथम अलंकार मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वामन ने सब अलंकारों को ही उपमा पर अवलम्बित माना है। अतः वामन उन्हें 'उपमा-प्रपञ्च' के नाम से अभिहित करते हैं। इसी कारण से कतिपय अलंकारों के जो लक्षण उन्होंने दिये हैं वे अन्य अलंकारों से बिल्कुल भिन्न पड़ते हैं और इसी लिए उन्होंने पर्यायोक्त, प्रेयः, रसवत्, उर्जस्वी, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म नामक अलंकारों को अलंकार श्रेणी से ही हटा दिया है। वामन का 'वक्रोक्ति' अलङ्कार सादृश्य-मूलक लक्षणा है। उनका विशेषोक्ति अलंकार जगन्नाथ का रूपक है और उनका आक्षेप अलंकार मम्मट के प्रतीप या समासोक्ति से समानता रखता है।

रीति का महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। काव्य का मूल रूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय ने बड़ी मार्मिकता के साथ दिया है। इसी लिए आनन्दवर्धन ने कहा है कि रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य-तत्त्व के यथार्थ वर्णन में असमर्थ होते हुए रीतियों की प्रवर्तना की है—

> अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतत् यथोदितम्।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥
>
> —ध्वन्यालोक ३।५२

आनन्दवर्धन ने इस कारिका में वामन की ओर निर्देश किया है। यह देखने में तो निन्दा प्रतीत होती है परन्तु यह वास्तव में वामन की प्रशंसा है। आनन्द का कथन है कि रीति-सम्प्रदाय के निरूपण में काव्य-तत्त्व स्फुरित तो हुआ है, परन्तु इतने स्फुट रूप में नहीं जितना ध्वनि सम्प्रदाय में हुआ है।

रीति सम्प्रदाय को गुण और अलंकार के परस्पर पार्थक्य दिखाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करनेवाले समस्त धर्मों (अर्थात् गुणों) को भी अलंकार शब्द से व्यवहृत किया है[१]। परन्तु वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में काव्य की शोभा करनेवाले धर्म 'गुण' कहलाते हैं तथा उसके अतिशय करनेवाले धर्म 'अलंकार' के नाम से पुकारे जाते हैं[२]। अलंकार की अपेक्षा काव्य में गुण अधिक महत्त्वशाली हैं क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। बिना उनके काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती[३]। काव्यशोभा का एकमात्र आधायक धर्म है गुण ही। गुणयुक्त काव्य काव्य की महनीय पदवी से मण्डित होता है, गुणहीन काव्य नहीं। यदि कोई काव्य अंगना के यौवनहीन शरीर के समान गुणों से रहित हो तो वह कितने ही लोकप्रिय अलंकारों से भले ही सजाया जाय, उसमें शोभा नहीं होती। अलंकार उन्हें सुभग बनाने की अपेक्षा दुर्भग ही बनाते हैं[४]। कामिनी के शरीर में यौवन जो सुषमा उत्पन्न करता है वही सुषमा कविता में गुण उत्पन्न करता है। यौवनहीन शरीर भूषणों से सज्जित होने पर भी कमनीय नहीं दीखता, उसी प्रकार गुणहीन काव्य कदापि रुचिकर और मनोज्ञ नहीं बनता।

काव्य में रसविधान का अध्ययन अलंकार-सम्प्रदाय तथा रीति सम्प्रदाय के पारस्परिक उत्कर्ष का पर्याप्त द्योतक है। अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकार-

---

१—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

काव्यादर्श २।१

२—*काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः*—

वामन—काव्यालंकार ३।१।१–२

३—पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभा—नुपपत्तेः।—

वही—३।१।३ (वृत्ति)।

४—यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो
वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं
नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

वही—३।१।२ की वृत्ति में उद्धृत

वादी आचार्य रस को काव्य में बहिरंग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरंग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। रस अर्थगुण 'कान्ति'–के रूप में काव्य में आता है। कान्ति का लक्षण है दीप्तरसत्व। शृंगारादि रस उद्दीप्त होकर जहाँ प्रकट होते हैं वहीं कान्तिगुण होता है[1]। गुण के भीतर रस के अन्तर्भाव के कारण ही वामन ने रसवत् आदि अलंकारों का विधान अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। इस प्रकार कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य में रस की महत्ता स्वीकृत की गई है। वामन की वक्रोक्ति के भीतर 'अविवक्षित-वाच्य ध्वनि'–का अन्तर्भाव उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्त्वों का विवेचन इस मार्ग में पूर्व सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

यद्यपि अलंकार-शास्त्र के पिछले आचार्यों ने वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—इस मत को स्वीकार नहीं किया है तथापि उन्होंने रीति के तत्त्व को काव्य के लिए उपादेय मानकर स्वीकृत किया है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामञ्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय है आचार्य कुन्तक को। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ संबद्ध मानकर काव्य में रीति के महत्त्व को अंगीकार किया है। वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। परन्तु कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसी लिए उन्होंने इन नये नामों की उद्भावना की है—

(१) सुकुमारमार्ग (वेदर्भी रीति), २. विचित्र मार्ग (=गौड़ी रीति), (३) मध्यम मार्ग (=पाञ्चाली रीति)। इन रीतियों के लिए इन्होंने चार नये गुणों की भी कल्पना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार शास्त्र के इतिहास में भामह-पूर्व युग से लेकर इसके अन्त तक रीति काव्य का एक महनीय तत्त्व माना जाता था।

रीति की गरिमा पाश्चात्य आलोचकों ने भी अंगीकृत की है। फ्लाउबे (**Flaubert**), वाल्टर रेले (**Walter Raleigh**) तथा वाल्टर पेटर (**Walter Pater**) ने काव्य में रीति का पर्याप्त महत्त्व माना है। फ्लाउबे

१—दीप्तरसत्वं कान्तिः।

दीप्ताः रसाः शृङ्गारादयो यत्र स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वम्।

वामन—काव्यालंकार ३।२।१५

का कथन है कि जिस प्रकार जीवित प्राणियों में रक्त शरीर का पोषण करता है तथा इसके बाह्य स्वरूपका निर्णय करता है, उसी प्रकार काव्य में जीवनाधायक तत्त्व रीति ही है। रीति किसी वस्तु की समग्र अन्तरंगता तथा रंगीनता के साथ अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट तथा परिपूर्ण प्रकार है[१]।

वाल्टर रेले ने अपने रीतिविषयक निबन्ध में अंग्रेजी शब्द स्टाइल (Style) की उत्पत्ति तथा महत्त्व का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। Style शब्द लैटिन भाषा के स्टिलस या स्टाइलस (Stilus, Stylus) से निकला है जिसका अर्थ है 'लौह लेखनी'—लोहे की कलम। वे कहते हैं कि लेखनी चाहे मोम पर या कागज पर कुरेदती है, मानव प्रकृति में जो कुछ भावाभिव्यञ्जक होता है अथवा जो कुछ अत्यन्त तलस्पर्शी होता है वह उन सबकी प्रतीक होती है। लेखक के व्यक्तित्व का परिचय हमें उसकी लेखनी से ही होता है। उसकी आवाज में जोर हो सकता है, उसकी हस्त चेष्टाओं में भावों की अभिव्यंजना की शक्ति हो सकती है, परन्तु ये दोनों साधन—शब्द तथा चेष्टा-परिवर्तनशील होते हैं। व्यक्तित्व का स्थायी रूप से अन्तिम उन्मीलन है उसकी लेखनी। इसी लिए स्टाइल का काव्य में विशेष महत्त्व होता है[२]।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

संस्कृत वाङ्मय में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला

1—Style—a certain absolute and unique manner of expressing a thing in all its intensity and colour, as in living creatures the blood, nourishing the body, determines its very contour and external aspect, just so, to his mind the *matter*, the basis, in a work of art, imposed necessarily the unique, the expression, the measure, the rhythm—the form in all its characteristics.

Pater—Appreciations, Style (उद्धृत, पृ० ३७)

2—The pen, scratching on wax or paper, has become the symbol of all that is expressive, all that is intimate, in human nature; not only arms and arts, but man himself has yielded to it......other gesture shift and change and flit; this is the ultimate and enduring revelation of personality.

Walter Raleigh—Style पृ० २

आ रहा है और यह अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। उन्होंने चन्द्रापीड़ की राजधानी का वर्णन करते हुए वहाँ के विलासी जनों को वक्रोक्ति में निपुण बतलाया है—'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन।' अन्यत्र शुक और सारिका में एक विवाद चल रहा था। वह शुक चन्द्रपीड़ से कह रहा है—"एषापि बुध्यते एव एतावतीः वक्रोक्तीः। इयमपि जानात्येव परिहासजल्पितानि। अभूमिरेषा भुजंगभंगिभाषितानाम्।" (कादम्बरी) यहाँ वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीड़ालाप या परिहास-कथा के अर्थ में किया गया है। अमरुशतक में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में दीख पड़ता है[1]। यह तो हुई काव्य-ग्रन्थों में वक्रोक्ति की चर्चा। अब अलंकार ग्रन्थों में इसके निरूपण पर ध्यान दीजिए।

'वक्रोक्ति' का अर्थ ही है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन। प्राचीन काल से आलंकारिकों ने काव्य में किसी अतिशय कथन की सत्ता मानी है। साधारण बोलचाल में शब्दों का जिन अर्थों में व्यवहार होता है क्या उन्हीं अर्थों को लेकर कमनीय काव्य की रचना हो सकती है? कदापि नहीं। उसके लिए तो किसी न किसी प्रकार की विचित्र उक्ति की आवश्यकता होती है। काव्य में व्यापार की ही तो प्रधानता रहती है। साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत कथन-प्रकार वक्रोक्ति के नाम से अभिहित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकार-जगत् में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

भामह—काव्यालंकार २।८५

काव्य में वक्रोक्ति की इतनी उपादेयता भामह को मान्य है कि वे हेतु,

---

१—या पत्युः प्रथमापराधसमये सख्यापदेशं विना,
नो जानाति सविभ्रमांगवलना-वक्रोक्तिसंसूचनम्।

—अमरुशतक, श्लोक २

सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकार मानने के पक्षपाती नहीं हैं[1]। वे अलंकार के लिए वक्रोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं—"**वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते**[2],—अर्थात् वक्र अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। अभिनवगुप्त ने भामह का एक पद्य[3] उद्धृत कर वक्रोक्ति का लक्षण यह दिया है—**शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्** (लोचन, पृष्ठ २०८)। शब्द की वक्रता तथा अर्थ की वक्रता क्या है? इनका लोकोत्तर रूप से अवस्थान; अलौकिक रूप से स्थिति। भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप से होता है उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाता है। जैसे 'वह मर गया' ऐसा न कहकर वह 'कीर्तिशेष' हो गया कहना वक्रोक्ति के भीतर आता है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—(१) **स्वाभावोक्ति** तथा (२) **वक्रोक्ति**। स्वाभावोक्ति के भीतर उन स्थानों का अन्तर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वाभावोक्ति ही 'काव्यादर्श' में जाति नाम से आद्य अलंकार के नाम से गृहीत हुई है। स्वभाव-कथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय-कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रससंबद्ध अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। दण्डी का कथन है कि श्लेष की सत्ता से वक्रोक्ति और भी चमक उठती है—

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥'

—काव्यादर्श २।३६३

इस प्रकार दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति-कल्पना को स्वीकार किया है। भामह में वक्रोक्ति सब अलंकारों की मूल थी। वह सामान्य वार्तालाप—वार्ता—से भिन्न होती है परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से

१—**हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।**
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥

भामह—काव्या० २।८६

२—**भामह—काव्या० ५।६६**

३—**वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। वही १।३६**

पृथक् कर दिया है क्योंकि इस अलंकार के लिए वे अतिशय कथन को आवश्यक नहीं मानते।

वामन में भी वक्रोक्ति का वर्णन है। परन्तु उसका रूप भामह-प्रदर्शित वक्रोक्ति से नितान्त भिन्न है। जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का सामान्य मूलभूत आधार माना था, वहाँ वामन उसे अर्थालंकारों में परिगणित करते हैं। वक्रोक्ति उनकी दृष्टि से सादृश्य के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा ही है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं परन्तु सादृश्य आधार के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कही जाती है[1]। यथा—प्रातःकाल के समय तालाबों में कमल खिला और क्षणभर में कुमुद बन्द हो गया। यहाँ कमल के लिए उन्मीलन तथा कैरव के लिए निमीलन के प्रयोग में वक्रोक्ति है। उन्मीलन और निमीलन वस्तुतः नेत्र के धर्म हैं। परन्तु सादृश्य के कारण वे क्रमशः विकास और संकोच को लक्षित करते हैं। रुद्रट के समय में आकर 'वक्रोक्ति' एक शब्दालंकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवांछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति होती है। यथा—

> **अहो केनेदृशी बुद्धिः दारुणा तव निर्मिता।**
> **त्रिविधा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयो क्वचित्॥**
>
> —काव्यप्रकाश, उल्लास ९।

कोई वक्ता कह रहा है कि अहो किसने तुम्हारी बुद्धि को दारुण (क्रूर) बनाया है। श्रोता 'दारुणा' पद को दारु (काष्ठ) शब्द की तृतीया विभक्ति में मानकर उत्तर देता है कि बुद्धि त्रिगुणमयी तो सुनी गई है परन्तु दारुमयी (काष्ठमयी) बुद्धि तो कभी नहीं सुनी गई। रुद्रट के अनुसार इस उक्तिप्रत्युक्ति में वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार है। परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं। उनकी वक्रोक्ति का लक्षण है—'वैदग्धी भंगी भणितिः'—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढंग से कथन। इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकार के मूलतत्त्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्य-

---

१—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिरसाविति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः।

वामन—काव्यालंकार ४।३।८ सूत्र की वृत्ति।

मूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार की गई है।

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन—आत्मा—मानने के कारण ही कुन्तक का ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' कहलाता है और वे वक्रोक्ति-जीवितकार के नाम से आलंकारिकों के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के वे ही संस्थापक हैं। वे बड़े ही प्रौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता के कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के समकक्ष मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि, दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु इन्हें आलोचना में स्वतंत्र स्थान न देकर वक्रोक्ति का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं। वक्रोक्ति छः प्रकार की होती है—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्ध वक्रता, (३) पदोत्तरार्ध-वक्रता, (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता (६) प्रबन्ध-वक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर उन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमिटकर विराजने लगता है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका ग्रन्थ अलंकार शास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुगमन किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को ही अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालंकार ही मानने लगे थे। इस प्रकार वक्रोक्ति के महनीय काव्यतत्त्व को बीज रूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को और इस बीज को उदात्त रूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का यश आचार्य कुन्तक को है। ध्वनिवादी आलंकारिकों ने इनके वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य की आत्मा (जीवातु) रूप में तो नहीं स्वीकार किया, परन्तु वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त कर उन्होंने इनके निरूपण की महत्ता को स्पष्टतः अंगीकार किया है। पाश्चात्य आलोचकों ने भी वक्रोक्ति के तत्त्व को काव्य में माना है परन्तु इसका जितना सांगोपांग विवेचन कुन्तक ने किया है उतना कहीं नहीं मिलता। कुन्तक के सम्प्रदाय को कोई मान्यता दे अथवा न दे, परन्तु उनका 'वक्रोक्ति'-सिद्धान्त अलंकारशास्त्र में काव्य के एक मौलिक तत्त्व के रूप में सदा अमर रहेगा।

वक्रोक्ति तथा पाश्चात्य आलोचना

पश्चिमी जगत् के आलोचकों—प्राचीन तथा नवीन विवेचकों ने वक्रउक्ति की महत्ता का अंगीकरण किया है। यूनानी जगत् में अरस्तू तथा लांगिनस इसके विशेष पक्षपाती थे तथा वर्तमान काल में क्रोचे का अभिव्यंजनावाद (Expressionism) वक्रोक्ति का ही नवीन, परन्तु अधूरा, संस्करण है। अरस्तू ने काव्यशैली को महनीय होने के लिए वक्रोक्ति के विधान को नितान्त आवश्यक माना है। अरस्तू की उक्ति है—अपरिचित शब्दों (जैसे विचित्र शब्द, रूपक, वृद्धिगत रूप तथा कथन के सामान्य प्रकार से पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु) के प्रयोग करने से काव्यरीति विशिष्ट और कवित्वपूर्ण होती है[1]।

अरस्तू के इस वाक्य में 'कथन के सामान्य प्रकार से पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु'—everything that deviates from the ordinary modes of speech—वक्रोक्ति का प्रकारान्तर से सूचक है। अरस्तू ने इस नियम के लिए कारण भी बतलाया है। साधारण जनों की जो भाषा होती है, वह केवल लोक-व्यवहार के ही लिए प्रयुक्त होती है। उसका कार्य केवल सामान्य जनों के साधारण भावों का ही प्रकाशन होता है। काव्यगत चमत्कार तथा सरसता की अभिव्यक्ति करने की क्षमता उसमें नहीं होती। इसी लिए अरस्तू ने वक्रोक्ति को काव्य का उपयोगी तत्त्व स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध आलोचक लांजिनस 'भव्यता' (Sublimity) को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं। सहृदय के हृदय को प्रभावित करनेवाली कविता सर्वदा भव्यता से भूषित रहती है। 'भव्यता काव्य का परम सौन्दर्य साधन है। यह भव्यता वहीं होती है जहाँ लोक का अतिक्रमण रहता है, अलौकिक वस्तु में अलौकिकत्व का निवास रहता है। काव्य में सर्वत्र अलौकिकता विराजती है—अर्थ में, अर्थप्रकटन की रीति में, शब्द में तथा अलंकार में अलौकिक अर्थ की अभिव्यक्ति अलौकिक शब्द के द्वारा ही होती है। उन सबके लिए लोक-व्यवहृत शब्द अत्यन्त तुच्छ तथा असमर्थ प्रतीत होते हैं। यहाँ शाब्दिक

---

1. The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of un-familiar terms i. e. strange words, metaphors, lengthened forms, and every thing that deviates from the ordinary modes of speech.

—Poetics खं० २२, पृ० ६२

अलौकिकता का जो निर्देश लांजिनस ने किया है वह वक्रोक्ति का ही दूसरा नाम है[1] ।—

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वक्रोक्ति का ही प्रकारान्तर है[2] ।

४—ध्वनि-सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वशाली सम्प्रदाय यही ध्वनि सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना कर काव्य के भीतर निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। अब तक जिन काव्य-तत्त्वों का उद्गम तथा विकास साहित्य-शास्त्रों में होता आया था उन सबका ध्वनि के साथ सामंजस्य दिखाना इन आलोचकों का गौरवपूर्ण कार्य है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय नवम शताब्दी में उत्पन्न होनेवाले आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है। तब से लेकर आज तक एक हजार वर्षों के दीर्घकाल में ध्वनि-सिद्धान्त का ही बोलबाला है। इसके विरोध करनेवाले आचार्यों की भी कमी न थी। प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक तथा महिमभट्ट के हाथों ध्वनि-सिद्धान्त को प्रबल विरोधों का सामना करना पड़ा था। ये विरोध साधारण आलंकारिकों के सामान्य विरोध न होकर साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों के उग्र प्रहार थे। परन्तु भीतरी जीवट के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि में खरा उतरा और आजकल तो यह साहित्य-संसार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है? जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि काव्य कहलाता है[3]। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—वाच्य और

१—Sublimity is a certain consummateners and preeminence of phrase, and that the greatest poets and prose writers gained the first rank and grasped on eternity of fame, by no other means than this. For what is out of the common leads audience not to persuasion, but to Ecstasy (or transport).

—Longinus.

२—भारतीय साहित्यशास्त्र (द्वितीय खण्ड), पृ० ४०९–४४१

३—इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।

—काव्यप्रकाश १।४

प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य में वस्तुस्थिति के अवलोकन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। किसी सुन्दरी के शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक शरीर के अंग तथा अवयव से भिन्न लावण्य की पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है उसी प्रकार काव्य में भी उसके अंगों से पृथक् चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्त्तमान रहती है:

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

—ध्वन्यालोक १।४

अलंकार के इतिहास में ध्वनि की कल्पना आलोचकों की बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। लक्ष्य-ग्रन्थों में (काव्य) तो ध्वनि विद्यमान ही थी। लेकिन आनन्दवर्धन से पहले किसी ने उसे काव्य का महनीय तथा स्वतंत्र तत्त्व स्वीकार नहीं किया था। आनन्दवर्धन का गौरव इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा इस काव्य-तत्त्व को अन्य काव्यांगों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनि का साम्राज्य है। परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्य तत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बताकर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नहीं था। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलोचक भी मानते हैं। महाकवि ड्रायडन की यह उक्ति—More is meant than meets the ear (मोर इज मेण्ट दैन मीट्स दि इयर) कानों को जो सुनाई पड़ता है उससे अधिक काव्य में अपेक्षित अर्थ है—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। परन्तु पाश्चात्य जगत् में इस तत्त्व की व्यवस्था नहीं दीख पड़ती। अतः आलोचना के इतिहास में ध्वनि-सम्प्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इस तत्त्व की पहिली मार्मिक व्याख्या की है। लगभग उनके सौ वर्ष के बाद अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका लोचन में इस तत्त्व को दृढ़ीभूत किया। इसी समय कतिपय ध्वनि-विरोधी आचार्यों ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया। इन आचार्यों के आक्षेपों का उत्तर देकर मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में इस सिद्धान्त की पूर्ण व्यवस्था कर दी। तब से आज तक यह सिद्धान्त अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है।

ध्वनि की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? 'ध्वनि' शब्द तथा तत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैयाकरणों के ऋणी हैं। व्याकरण के अनुसार कानों को जो शब्द सुनाई पड़ता है वह अनित्य है, उससे किसी अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। घट शब्द को ही लीजिए। 'घ' अक्षर के उच्चारण के समय में टकार की स्थिति ही नहीं है और टकार के उच्चारण के समय घकार उच्चरित होकर आकाश में विलीन हो चुका है। ऐसी दशा में 'घ' और 'ट' इन दोनों वर्णों के एकत्र होने का संयोग ही उपस्थित नहीं होता और बिना दोनों के संयोग हुए अलग-अलग वर्णों से अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती। इसी लिए वैयाकरण लोग एक ऐसे नित्य शब्द की कल्पना करते हैं जिससे अर्थ फूटता है—आविर्भूत होता है। स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः—इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से फूटता है, अभिव्यक्त होता है वह स्फोट कहलाता है। यही नित्य तथा आदर्श शब्द है[1] जो पूर्वापर क्रम से विहीन है, अखण्ड है तथा एकरस है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते हैं। इसे ही ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के इस 'ध्वनि' शब्द को लेकर आलंकारिकों ने विस्तृतीकरण किया है। व्याकरण में ध्वनि तो केवल अभिव्यंजक शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है परन्तु साहित्य-शास्त्र में इसका प्रयोग अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों के लिए होने लगा। ध्वनि सिद्धान्त का यही मूल है।

ध्वनि-मत रसमत का ही विस्तृतीकरण प्रतीत होता है। रस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटक के ही संबंध में पहिले-पहल किया गया था। यह रस कभी वाच्य नहीं होता, शब्द की मुख्या वृत्ति के द्वारा कभी प्रकट नहीं होता, प्रत्युत व्यंजनावृत्ति के द्वारा व्यक्त होता है। नाटक का मुख्य अभिप्राय रस का उन्मीलन है। और इस उन्मीलन के लिए साधारणतः विस्तृत काव्यरचना की आवश्यकता है। यदि एक ही रमणीय पद्य हो तो यह हम नहीं कह सकते कि उससे पूर्ण रस की अभिव्यक्ति होगी। संभव है कि उससे रस के किसी अंग का भान भले ही हो परन्तु समग्र रस का आस्वादन साधारणतया उससे नहीं हो सकता। अतः यदि हम रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करें तो ऐसे स्फुट या मुक्तक पद्य काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत

१—न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः।
अर्थस्य वाचका वर्णाः किंतु स्फोटः स च द्विधा॥
शेषकृष्ण—स्फोटतत्त्वनिरूपण-श्लोक ३

हो जाते हैं। रस वाच्य न होकर व्यंग्य ही होता है। अतः इसी युक्ति को स्वीकार कर 'ध्वन्यालोक' ने चमत्कारपूर्ण व्यंग्य अर्थ से समन्वित होनेवाली कविता को ही उत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—

"महाकवि का यह मुख्य व्यापार है कि वह रस, भाव को ही काव्य का मुख्य अर्थ मानकर उन्हीं शब्दों तथा अर्थों की रचना करे जो उसकी अभिव्यक्ति के अनुकूल हों। रस-तात्पर्य से काव्य-निबन्धन की यह प्रथा भरत आदि में भी पाई जाती है। रस काव्य और नाट्य दोनों का जीवनभूत है[1]।"

अतः आनन्दवर्धन ने भरत के रस मत को ही विकसित कर अपने ध्वनिमत का विस्तार किया है। यह केवल कल्पना नहीं है बल्कि एक तथ्य वस्तु है।

कला में ध्वनि

ध्वनि सिद्धान्त का महत्त्व इसी में नहीं है कि वह काव्य के अन्तस्तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है प्रत्युत वह कला के मूल तत्त्व को भी स्पर्श करता है। कोई भी कला क्यों न हो जब तक वह किसी भीतरी तत्त्व की ओर संकेत नहीं करती तब तक उसे हम कमनीय कला नहीं कह सकते। संगीतज्ञ लोग कहते हैं कि वीणा के स्वर दो प्रकार के होते हैं—एक तो वह जो साधारणतया कान को सुनाई पड़ते हैं और सुखद प्रतीत होते हैं; दूसरा स्वर पहिले स्वर के भीतर बड़े सूक्ष्म रूप में रहता है। इसकी भी अभिव्यक्ति प्रथम स्वर के साथ ही होती है परन्तु यह गुणीजनों के अभ्यस्त कानों को ही सुनाई पड़ती है। तथ्य बात यह है कि प्रत्येक कला में दो स्तर होते हैं—बाहरी और भीतरी। चित्रकला इसका स्पष्ट निदर्शन है। किसी चित्र को बनाने में 'तूलिका', रंग और फलक की आवश्यकता पड़ती है। इनकी सहायता से जो चित्र चित्रित किया जाता हैं वह हमारे नेत्रों को सुख देनेवाला बाहरी पदार्थ है। परन्तु उस चित्र से करुणा, दीनता, दया तथा दरिद्रता की जो अभिव्यक्ति होती है वह

---

1. अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यत् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोपनिबन्धनम्। एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति।...रसादयो हि द्वयोरपि तयो(काव्यनाट्ययोः)र्जीवितभूताः। ध्वन्यालोक पृ० १८१—८२।

हृदयगम्य वस्तु है[1]। वही चित्रकला का मूल तत्त्व है। वही वस्तु उस चित्र का जीवन है, प्राण है, ध्वनि है। चित्र और काव्य में अन्तर केवल इतना ही है कि चित्रकार रेखाओं तथा वर्णों से अपने उस भाव की अभिव्यक्ति करता है। कवि शब्दों के द्वारा उसे प्रकाशित करता है। आनन्दवर्धन ने कला के इसी मूल तत्त्व की व्याख्या अपने ग्रन्थ में की है और इसी लिए उनका इतना महत्त्व है—

"सारभूतो हि अर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरवस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात् शब्दवाच्यत्वेनैव।"

ध्वन्यालोक पृ० २१

सारभूत अर्थ स्वशब्दों से वाच्य न होकर यदि प्रकाशित किया जाय, तो विशेष शोभा धारण करता है। अंग्रेजी भाषा में भी इसी अर्थ का द्योतक यह कथन है-Art lies in concealing Art. कला को छिपा रखने में ही कला का महत्त्व है। यह प्रकारान्तरेण 'ध्वनि' की स्वीकृति है।

ध्वनिकार ध्वनि को तीन भागों में विभक्त करते हैं—(१) रसध्वनि, (२) अलंकार-ध्वनि, (३) वस्तुध्वनि। रसध्वनि के भीतर केवल नवरसों की ही गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, उनके आभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि आदि की भी गणना है। वस्तुध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी तथ्य-कथन मात्र की अभिव्यंजना की जाय। अलंकार-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों में प्रकट किये जाने पर 'अलंकार' का रूप धारण करता। इन तीनों में रस-ध्वनि ही श्रेष्ठ है। अंग्रेजी भाषा के महाकवि वर्ड्सवर्थ ने कविता का जो लक्षण दिया है—कविता मानव हृदय की प्रबल भावनाओं का स्वतः उद्गार है[2]—वह रस ध्वनि का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। महाकवि वाल्मीकि के हृदय में क्रौञ्च-वध के कारण क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर शोक का जो प्रबल भाव जगा वही श्लोक रूप में स्वतः प्रकट हो

१—देखिए अजन्ता का वह चित्र जिसमें अपनी पुत्री के साथ कोई स्त्री बुद्ध से भिक्षा माँग रही है। इस चित्र में दीनता की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

२—Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings.

गया। यही रसध्वनि है। महत्त्वपूर्ण होने से वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है। वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। इसलिए वे वाच्य से उत्कृष्ट अवश्य होते हैं। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है—' आलोचकों का यही परिनिष्ठित मत है[1]। काव्य का अभ्यासी कवि चित्र-काव्य से अभ्यास भले करे, परिपक्व मतिवाले कवियों का एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनि काव्य' में ही होता है[2]।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं —(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत व्यंग्य, (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य में वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं। चित्रकाव्य में शब्द तथा अर्थ के अलंकारों से ही काव्य में चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है। सच्चे कवि का कार्य यह नहीं है कि वह रस से संबंध न रखनेवाली कविता के लिखने में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे। जो रस के तात्पर्य को बिना समझे कविता करने में प्रवृत्त होते हैं उन्हीं अव्यवस्थित कवियों की वाणी चित्रकाव्य की ओर झुकती है। काव्यपाक वाले (काव्य में परिपक्व) कवियों की कविता का लक्ष्य सदा रसमय काव्य की ही रचना होती है[3]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार गुण और अलंकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है। गुण वे ही धर्म

१—तेन रस एव वस्तुतः आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यात् उत्कृष्टौ तौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मा इति सामान्येन उक्तम्। लोचन पृ० २७।

२—प्राथमिकानां अभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्। लोचन पृ० २७।

३—एतद् च चित्रं कवीनां विश्रृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य-प्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानींतनानां तु न्याय्ये काव्यनय-व्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।

ध्वन्यालोक, पृ० २२१।

होते हैं जो रसलक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में शौर्य तथा वीर्य आदि धर्म उसकी आत्मा के साथ संबद्ध रहते हैं उसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के मूलभूत रस के ऊपर आश्रित रहते हैं। अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म हैं। जिस प्रकार मनुष्य के हाथ की अँगूठी पहले उसके हाथ की ही शोभा बढ़ाती है और तदनन्तर उस मनुष्य की आत्मा को भी सुशोभित करती है उसी प्रकार अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्द को, उपमा आदि अर्थालंकार अर्थ के ऊपर आश्रित होकर इन्हीं अंगों को सुशोभित करते हैं। तदनन्तर परोक्ष रूप से रस का भी—यदि वह विद्यमान हो—उपकारक करते हैं। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म। अलंकारों की स्थिति काव्य में हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यंभावी है। दोनों के भेद को ध्वनिकार ने इस कारिका में बड़ी ही सुन्दर रीति से समझाया है—

तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्[1] ॥

ध्वन्यालोक २।७

ध्वनिकार संघटना को तीन प्रकार का मानते हैं—(१) असमासा, (२) मध्यमसमासा और (३) दीर्घसमासा। इनमें से प्रत्येक प्रकार एक विशिष्ट रस के अनुकूल होता है। संघटना के औचित्य का विचार रस के कारण, वक्ता के कारण तथा वर्ण्य विषय के कारण निश्चित किया जाता है।

काव्य में दो प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं—शब्दवृत्ति और अर्थ-वृत्ति। उपनागरिका, परुषा तथा ग्राम्या (कोमला) तो वाचक अर्थात् शब्द के ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ हैं। कैशिकी और आरभटी, सात्वती तथा भारती वाच्य या अर्थ के ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ हैं। इनको रीति के समान ही समझना चाहिए। रस के तात्पर्य से निवेशित होने पर अर्थात् रसा-नुकूल होने पर ही वृत्तियाँ काव्य तथा नाट्य की शोभा बढ़ाती हैं। यदि वे रस

१—ये तमर्थं रसादिलक्षणमंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनराश्रितास्ते अलंकारा मन्तव्याः कटकादिवदिति।

ध्वन्यालोक २।७ की वृत्ति।

के प्रतिकूल हों तो उनका विधान कथमपि काव्य में श्लाघनीय नहीं माना जाता[1]। ध्वनिवादियों के अनुसार दोष वही है जो मुख्य अर्थ का ह्रास या नाश करे—मुख्यार्थापहतिर्दोषः—मुख्य अर्थ होता है रस। अतः काव्य में रस को दूषित करनेवाले दोष ही पक्के काव्यदोष हैं। वाक्यार्थ दोष आदि अन्य दोषों की कल्पना इसी रस दोष की कल्पना पर अवलम्बित रहती है।

इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को काव्य में मुख्य तत्त्व मानकर काव्य-तत्त्वों का पूर्ण सामञ्जस्य दिखलाया है।

पश्चिमी आलोचना में व्यंग्य अर्थ

काव्य में व्यंग्य अर्थ ही मुख्य होता है, पश्चिमी आलोचकों की भी यही सम्मति है। प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक एबरक्राम्बी ने ठीक ही कहा है कि साहित्यकला कुछ मात्रा तक सदैव व्यंजनात्मक होती है। और साहित्यकला का सबसे उत्कर्ष यह है कि वह व्यंजना की शक्ति को ऐसी व्यापक, ऐसी विशद तथा सूक्ष्म भाषा में प्रकट करे जितना संभव हो सकता है। अभिधा शक्ति के द्वारा जो अर्थ वाच्य होता है उसकी पूर्ति भाषा की व्यंजना शक्ति कर देती है। उनके शब्द मननीय हैं[2]।

अंग्रेजी के मान्य आलोचक रिचर्ड्स ने काव्यगत अर्थ के चार प्रकार निश्चित किए हैं—

(1) Sense, (2) Feeling, (3) Tone और (4) Intention.

१—तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारः, ता एता कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवितभूताः इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

ध्वन्यालोक—पृ० १८२।

२—Literary art, therefore, will always be in some degree suggestion; and the height of literary art is to make the power of suggestion in language as commanding; as far-reaching; as vivid, as subtle as possible. This power of suggestion supplements whatever language gives merely by being plainly understood and what it gives in this way is by no means confined to its syntax.

—Abercrombie : Principles of Literary Criticism.

'सेन्स' का अभिप्राय है वक्ता के द्वारा कही गई वस्तु। 'फीलिंग्' का अर्थ है हृदयगत भाव। 'टोन' का अर्थ है सुर या आकृति अथवा वक्ता और बोद्धव्य के सम्पर्क का ज्ञान। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि वक्ता[१] अपने श्रोताओं की ओर दृष्टि रखकर अपने वाक्यों का विन्यास करता है। श्रोताओं के परिवर्तन के साथ-साथ वक्ता के वाक्यों के सुर में भी परिवर्तन होता है। वक्ता और बोद्धव्य के इसी सम्पर्क को रिचर्ड्स टोन के नाम से पुकारते हैं। ये तीनों अर्थ वाच्यार्थ के अन्तर्गत आते हैं। बाकी बचा Intention या अभिप्राय। हमारी दृष्टि में यही व्यंग्यार्थ या ध्वनि है। इस शब्द की विशिष्ट व्याख्या करते समय उनके कथन से यह स्पष्ट है। वे कहते हैं कि लेखक बहुत सी बातें कहना चाहता है, परन्तु शब्दों के द्वारा वह प्रकट नहीं करता। किसी भी ग्रन्थ की आकृति या रचना या विकास में एक विशेष तात्पर्य होता है जो पूर्वोक्त तीनों प्रकारों में अथवा उनके सम्मिलन में कथमपि परिगणित नहीं किया जा सकता। यही तात्पर्य या व्यंग्यार्थ होता है लेखक का अभिप्राय[२]।

अध्यापक मिलर की सम्मति में काव्य का अर्थ वही होता है जो व्यंजित होता है। अतः व्यंग्य अर्थ को ही काव्य का मुख्य अर्थ मानना उचित है[३]—

१—The speaker has ordinarily an attitude to his listener. He chooses or arranges his words differently as his audience varies, in automatic or deliberate recognition of his relation to them. The tone of his utterance reflects his awareness of this relation, his sense of how he stands towards those he is addressing.

—Practical Criticism p. 182.

२—Where conjecture or the weight of what is left unsaid is the writer's weapon.........It is no long step to admitting that the form or construction or development of a work may frequently have a significance that is not reducible to any combination of our other three functions. This significance is then the author's intention.

Richards—Practical Criticism p. 356.

३—That which is suggested is Meaning.

—I. Miller. The Psychology of Thinking. p. 154.

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य में जिस गम्भीरतम सूक्ष्म व्यंग्य अर्थ की गम्भीर मीमांसा की है उसकी सत्ता पाश्चात्य आलोचकों ने भी बहुशः स्वीकृत की है।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय के स्थापन का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकार को भिन्न मानकर 'सहृदय' नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी। प्राचीन आलंकारिकों ने ध्वनि की कल्पना करने का श्रेय सर्वसम्मति से आनन्दवर्धन को ही प्रदान किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष महत्त्व इसी लिए रखते हैं कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' नामक टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को युक्तियों से पुष्ट तथा प्रामाणिक बनाया। भट्टनायक ने ध्वनि के सिद्धान्तों का जो खण्डन किया था उसका मुँहतोड़ उत्तर देकर अभिनवगुप्त ने ध्वनि के तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इनका 'लोचन' इतना पाण्डित्यपूर्ण और प्रमेयबहुल ग्रन्थ है कि उसकी सहायता बिना 'ध्वन्यालोक' का पूर्ण दर्शन ही नहीं हो सकता। अभिनवगुप्त एक महनीय दार्शनिक भी थे। उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से ध्वनि के विवेचन करने में बड़ी मार्मिकता दिखाई है। उनके अनन्तर मम्मटाचार्य ने विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि सिद्धान्त को दृढ़तर आधारों पर संस्थापित किया। काव्य-प्रकाश के पंचम उल्लास में इन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों के मतानुयायी विद्वानों की युक्तियों का दृढ़तया तिरस्कार कर व्यंजना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापना की। इनका ग्रन्थ कारिका-बद्ध होनेपर भी समासशैली में लिखा गया है और बहुत ही सारगर्भित है। इसके ऊपर जितनी टीकाएँ बनीं उतनी टीकाएँ किसी भी साहित्य ग्रन्थ पर नहीं हैं। इसी लिए ये 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' के नाम से साहित्य-जगत् में विख्यात हैं। मम्मट के पूर्ववर्ती भोजराज ने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्तों का अपूर्व समन्वय अपने ग्रन्थों में उपस्थित किया है। ये ध्वनि की अपेक्षा रस मत के विशेष पक्षपाती हैं। मम्मट के पश्चाद्वर्ती विश्वनाथ कविराज ने साहित्य-दर्पण में ध्वनि की पर्याप्त मीमांसा की है। परन्तु उपयोगी होने पर भी यह मीमांसा मौलिक नहीं है। इसके ऊपर काव्य-प्रकाश की गहरी छाप है। अन्तिम समय के सबसे बड़े आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ हैं जिनकी

कृति 'रस-गंगाधर' ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—ध्वनिकृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात् (रसगंगाधर पृ० ४२५)।

ध्वनि-विरोधी आचार्य

(१) प्रतिहारेन्दुराज—यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ। ध्वनिवादी और ध्वनिविरोधी आचार्यों में बहुत दिनों तक गहरा संघर्ष चलता रहा। सर्वप्रथम ध्वनि का विरोध किस आचार्य ने किया ? इसका निर्णय करना कठिन है। बहुत सम्भव है मुकुल-भट्ट का ध्वनि-विरोध सबसे प्राचीन है। 'अभिधावृत्ति मातृका' में इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नई थी और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे[1]। इनके शिष्य प्रतिहारेन्दु-राज ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है और ध्वनि के तीनों भेदों—अलंकार, वस्तु और रस—के ध्वन्यालोक में जो उदाहरण दिये गये हैं उनको इन्होंने अलंकारों के उदाहरण प्रमाणित किये हैं[2]। उदाहरण के लिए 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' पद्य को लीजिए। इसे ध्वनिकार ने अवि-वक्षित-वाच्य-ध्वनि का उदाहरण माना है। (ध्वन्यालोक पृ० ६१) परन्तु प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार यह अप्रस्तुत-प्रशंसा का ही एक भेद है[3]। इसी प्रकार से ध्वनि के अन्य उदाहरणों को भी उन्होंने अलंकार के ही दृष्टान्तों के भीतर सिद्ध किया है। अलंकारवादी आचार्य होने के कारण इनका ध्वनि को अलंकार के अन्तर्भुक्त मानना उचित ही है।

मुकुलभट्ट तथा प्रतिहारेन्दुराज ने प्रसंगवश ध्वनि के सिद्धान्तों का चलता खण्डन कर दिया है परन्तु तीन ऐसे प्रचण्ड आलंकारिक हुए जिन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के केवल खण्डन के लिए ही अपने गंभीर ग्रन्थों की रचना की। इनके नाम हैं भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट। भट्टनायक अभिनवगुप्त से

१—लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम् ॥

अभिधावृत्तिमातृका पृ० २१

२—प्रतिहारेन्दुराज—उद्भट के काव्यालंकार की टीका, पृ० ७९–८५

३—वही।

कालक्रम में कुछ प्राचीन थे। कुन्तक उनके समकालीन थे तथा महिमभट्ट अभिनवगुप्त से कुछ ही पीछे आविर्भूत हुए थे। ये तीनों ही साहित्य के मौलिक आलोचक थे और तीनों ही काश्मीरी थे।

(२) भट्टनायक—इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदय-दर्पण' था। महिमभट्ट ने लिखा है कि उन्होंने 'दर्पण' के बिना दर्शन ही किये अपने नवीन ग्रन्थ 'व्यक्ति-विवेक' की रचना की। उनके टीकाकार ने यहाँ दर्पण से अभिप्राय 'हृदयदर्पण' से माना है जिसे वे 'ध्वनिध्वंस' ग्रन्थ के नाम से अभिहित करते हैं। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण ही ध्वनि के खंडन के लिए किया गया था। अभिनवगुप्त के लोचन से इसकी पर्याप्त पुष्टि भी होती है। उन्होंने भट्टनायक के ग्रन्थ से ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनमें 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं का मार्मिक खण्डन है। यह तो सर्वप्रसिद्ध ही है कि ये काव्य में रस के पक्षपाती थे परंतु रस की व्याख्या के लिए व्यंजना का सिद्धान्त इन्हें मान्य न था। ये भुक्तिवादी थे और व्यापारत्रय की कल्पना कर रस सिद्धान्त के व्याख्याता थे।

(३) कुन्तक—ध्वनि सिद्धान्त का साक्षात् खण्डन करना कुन्तक का ध्येय नहीं था। इनका वक्रोक्ति-जीवित ग्रन्थ इनके मौलिक सिद्धान्त का मण्डन करता है। उसका लक्ष्य ध्वनि का खण्डन करना उतना नहीं है जितना वक्रोक्ति का मण्डन करना। ये आनन्दवर्धन को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और उनके ध्वनि सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। परन्तु ध्वनि को ये वक्रोक्ति का ही प्रकारान्तर मानते हैं। रस की उपयोगिता काव्य में इन्होंने स्वीकार अवश्य की है परन्तु रस स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेदमात्र है।

(४) महिमभट्ट—इनके ग्रन्थ का नाम ही है 'व्यक्ति-विवेक' अर्थात् व्यक्ति या व्यंजना का विवेचन। आरम्भ के ही श्लोक में इन्होंने ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य यह बतलाया है कि ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत बतलाने के लिए ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है[1]। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' की लक्षणवाली कारिका

---

[1] अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥
व्यक्तिविवेक १।१

(१।१३) को लेकर बड़ी ही सूक्ष्म रीति से उसका खण्डन किया है। आनन्द-वर्धन के पहले ऐसा एक सम्प्रदाय था जो ध्वनि को लक्षणा के द्वारा सिद्ध मानता था। इसी मत का प्रकृष्ट मण्डन हम इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में पाते हैं। ध्वन्यालोक में जो श्लोक ध्वनि के उदाहरण रूप से दिये गये हैं उन्हें ये अनुमान के द्वारा ही सिद्ध करने का उद्योग करते हैं। महिमभट्ट के पाण्डित्य में किसी प्रकार की विमति नहीं है। इनके ध्वनि-खंडन पर कोई आस्था भले न करे परन्तु इन्होंने काव्यदोषों का इतना मार्मिक तथा विदग्धतापूर्ण विवेचन किया है कि ध्वनिवादी मम्मट भी उनको ग्रहण करने से पराङ्मुख नहीं हुए। मम्मट के दोष-प्रकरण पर महिमभट्ट की गहरी छाप स्पष्ट दीखती है।

औचित्य सिद्धान्त

संस्कृत आलोचना की आलोचक जगत् की महती देन है—औचित्य तत्त्व। यह साहित्य-शास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य का जीवित या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य-जगत् में बहुत ही प्राचीन काल से चली आती थी। भरत के नाट्यशास्त्र में ही सिद्धान्त रूप में तो नहीं, परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है उसका उसी रूप में, उसी वेश में, उसी मुद्रा में अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है। इसी लिए नाट्यशास्त्र प्रकृति (पात्र) के भाषावेश आदि के विधान पर इतना जोर देता है। साधारणतया प्रकृति तीन प्रकार की होती है—(१) दिव्य, (२) अदिव्य और (३) दिव्यादिव्य। इन तीनों के स्वभाव में मूलतः वैलक्षण्य है। रंगमंच के ऊपर इनका यथार्थ विधान ही नाट्यकार की कला का चरम विकास है। दिव्य, देवता प्रकृति के कार्य अदिव्य प्रकृति में कभी नहीं दिखलाए जा सकते और न उनके भाषण-प्रकार मनुष्य मात्र में ही सुसंगत हो सकते हैं। अनेक अध्यायों में भरत ने इस विषय का सांगोपांग वर्णन किया है। इनसे स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे। काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है।

इस प्रसंग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते ॥
नाट्यशास्त्र २३।६८

जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता । यदि कोई पात्र करधनी को अपने गले में और हाथ में पहने तो वह उपहास का ही पात्र होगा । करधनी का स्थान है कमर । वहीं पहनने पर होती है उसकी उचित शोभा। करधनी को कमर में न कसकर अगर मणिबन्ध में बाँधने का उद्योग किया जायगा, तो वह सहृदयों के अट्टहास का ही भाजन बनेगा । यह पद्य स्पष्ट घोषित करता है कि हमारे आद्य आलोचक भरत को ललित-कला में औचित्य का सिद्धान्त मान्य था ।

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं जिन्होंने औचित्य की काव्य में पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभंग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा ॥
ध्वन्यालोक ।

अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है । अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं होता । रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्ध, काव्य में कल्पना और विधान ।

आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन काश्मीरी आलोचकों की अच्छी खबर ली है जो ध्वनि के सिद्धान्त से बिना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे । उन्होंने दिखलाया है कि ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है । ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । अतः औचित्य तथा ध्वनि परस्परोपकारक तथ्यों के रूप में काव्य-जगत् में अवतीर्ण होते हैं ।

अभिनव-गुप्त के साहित्य-शास्त्र में प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे । ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि औचित्य-विचार-चर्चा नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है । औचित्यको यह महनीय स्थान देने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है । औचित्य किसे कहते

हैं ? उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके साथ सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—औचित्य—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

औचित्यविचारचर्चा—कारिका ७

यह औचित्य ही रस का जीवितभूत है, प्राण है तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥

वही—कारिका ३

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। उदाहरण के लिए देखिए—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥

इस पद्य में प्रस्तुत रस विप्रलम्भ शृंगार है। इसके प्रथमार्ध में रेफ का अनुप्रास तथा उत्तरार्ध में लकार का अनुप्रास प्रकृत रसके नितान्त पोषक हैं। लकार-बहुल प्रयोग तथा गलितप्राय पदों का विन्यास विप्रलम्भ शृंगार के सर्वथा उत्कर्षक होते हैं। यह हुआ अलंकार-औचित्य का उदाहरण। इसके विपरीत टवर्ग का अनुप्रास शृंगार रस के सर्वथा प्रतिकूल होता है। इस बात पर बिना ध्यान दिये हुए कवि राजशेखर ने कर्पूरमंजरी की विरह-व्यथा के वर्णन में जो यह टकार का व्यूह खड़ा किया है वह सर्वथा अनुचित है—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु,
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे,
झाठे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को साहित्यशास्त्र में व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु उन्हें ही इसका उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है।

क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है; इसे विशेष प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं। उनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद 'ध्वन्यालोक' में पूर्णतया विद्यमान हैं। क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण पद्य भी भरत के पूर्वोक्त पद्य की व्याख्या-सा प्रतीत होता है। क्षेमेन्द्र कहते हैं कण्ठ में मेखला, नितम्ब पर सुन्दर हार, हाथ में नूपुर, चरण में केयूरपाश पहनने से कौन व्यक्ति उपहास का पात्र नहीं बनता? इसी प्रकार शरण में आये हुए व्यक्ति के ऊपर शूरता दिखलाना और शत्रु के ऊपर करुणा करना क्या किसी प्रकार औचित्यपूर्ण है? सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

> कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
> पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
> शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
> औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

आलोचना यंत्र

इस प्रकार भारतीय अलंकार-शास्त्र ने आलोचना-जगत् को तीन महनीय काव्य-तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण देन दी है। ये तत्त्व हैं—औचित्य, रस और ध्वनि। इनमें औचित्य सबसे अधिक व्यापक तत्त्व है। इसके बिना न तो रस में सरसता है और न ध्वनि में महत्ता। औचित्य के तत्त्व पर साहित्य-शास्त्र का समग्र सिद्धान्त आश्रित है। इसे महामहोपाध्याय डा० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने अपने निम्नांकित यन्त्र में बड़ी सुन्दर रीति से दिखलाया है[१]।

यह यन्त्र साहित्यशास्त्र के सम्प्रदायों का एकत्र प्रकाशक है। भारत में साहित्य-सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर अलंकार तक का विकास है। इसके भीतर एक बड़ा तथा दूसरा छोटा वृत्त है। बड़ा वृत्त औचित्य का प्रतिनिधि है। औचित्य ही भारतीय साहित्यशास्त्र का सबसे बड़ा काव्य-तत्त्व है। इस बड़े वृत्त के भीतर एक बड़ा त्रिकोण है जिसका शीर्षस्थान है रस, और ध्वनि एवं अनुमिति आधार-रेखा के दोनों छोर हैं। इसका अर्थ यह है

१—Kuppu Swami Shastri—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit pp. 27—31 (Madras 1945)

कि भारतीय साहित्य में रस ही सबसे अधिक उपादेय तत्त्व है। इसे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन भी काव्य की आत्मा मानते हैं तथा ध्वनिविरोधी आलोचक कुन्तक और महिमभट्ट भी काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। आधार-रेखा के एक छोर पर है ध्वनि और दूसरे छोर पर है अनुमिति। ये दोनों रस की व्याख्या करनेवाले भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। ध्वनि-मत के उद्भावक हैं आनन्दवर्धन जिनके अनुसार रस की अभिव्यक्ति व्यंजना-शक्ति के द्वारा होती है। अनुमिति ध्वनिविरोधी सकल सम्प्रदायों का प्रतिनिधि है। अनेक आचार्यों ने व्यंजना-शक्ति का खण्डन करते हुए रस की प्रतीति भिन्न ही प्रकार से स्वीकृत की है। भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस की व्याख्या की, तो महिमभट्ट ने अनुमिति के द्वारा रस का विवरण प्रस्तुत किया है। ये दोनों आचार्य ध्वनि के उदय के समकालीन हैं। इस बड़े त्रिकोण के द्वारा काव्य के अन्तरंग तत्त्व अर्थात् प्राणभूत सिद्धान्तों की समीक्षा है।

भीतरी छोटा वृत्त काव्य के बाह्य रूप का विवेचन करता है। इस वृत्त की परिधि है वक्रोक्ति। इसका अर्थ यह है कि इस वृत्त के भीतर त्रिकोण द्वारा जिन काव्य-तत्त्वों का निदर्शन किया गया है उन सबको व्याप्त कर वक्रोक्ति स्थित रहती है। इस वृत्त के भीतर छोटा त्रिकोण है जिसका शीर्ष-बिन्दु रीति है, आधार-बिन्दु गुण और अलंकार हैं। रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्य हैं वामन और गुणों को काव्य में महत्त्व देनेवाले आचार्य दण्डी हैं। काव्य में अलंकार की प्रधानता को स्वीकार करनेवाले आचार्य भामह हैं। गुण और अलंकार—दोनों सम्प्रदाय प्रायः एक ही समय में उत्पन्न हुए। कालक्रम के अनुसार भामह का अलंकार-सम्प्रदाय दण्डी के गुण-सम्प्रदाय से प्राचीन है। रीति, गुण और अलंकार—ये तीनों काव्य के बहिरंग साधन हैं। इन तीनों गुणों का वक्रोक्ति पर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। वक्रोक्ति की कल्पना को अग्रसर करनेवाले आचार्य कुन्तक हैं। यह कहना न होगा कि वे वक्रोक्ति के भीतर ही अन्य काव्य-तत्त्वों का समावेश मानते हैं। इस प्रकार इस यन्त्र में अलंकार-शास्त्र के पूर्वोक्त छहों सम्प्रदायों का पारस्परिक संबंध व्यवस्थित रूप से दिखाया गया है। इस यन्त्र के ठीक अनुशीलन से भारतीय साहित्य-शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का तुलनात्मक महत्त्व सरलता से समझ में आ जाता है।
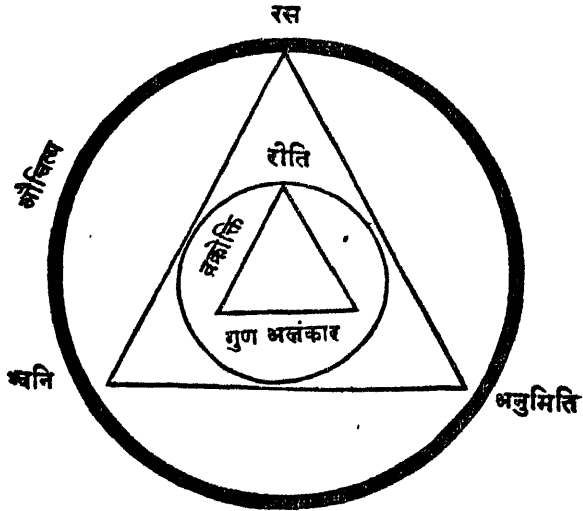
औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥

कवि-रहस्य

सत् कविरसनाशूर्पी—
निस्तुषतर-शब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधा दासी ॥

❀

अवयः केवलकवयः
केवल-कीरास्तु केवलं धीराः ।
कवयः पण्डितकवयः
तानवमन्ता तु केवलं गवयः ॥

कवि

काव्य के कविकर्म होने के कारण 'काव्य' के स्वरूप-ज्ञान के निमित्त 'कवि' की रूपोपलब्धि नितान्त आवश्यक है। 'कवि' शब्द 'कु वर्णे' अथवा 'कुङ् शब्दे' धातु से औणादिक इ प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न होता है (अच इः— उणादि सूत्र ४।१३८)। राजशेखर की सम्मति में कवि शब्द की निष्पत्ति 'कव् वर्णे' धातु से हुई है और इसीलिए वे 'कवि' का अर्थ वर्णनकर्ता मानते हैं। 'कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः' इति भट्टगोपालः। कवि रस तथा भाव का विमर्शक होता है। वह चिड़ियों की तरह चहकता है। पक्षियों के कलकूजन के समान कवि का भी कूजन हमारे श्रवणों में सुधा-धारा प्रवाहित करता है। उसके कूजन (काव्य) के मधुर अर्थ से हम परिचित भले ही न हों, पर सत्कवि की भणिति श्रोताओं के कानों में उसी प्रकार सुधा उँडेलने लगती है जिस प्रकार मालती की माला, जिसके सुभग सौरभ की मादकता दर्शकों तक पहुँचे बिना भी लोगों के नेत्रों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

> अविदितगुणापि सत्कवि-
> भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
> अनधिगतपरिमलापि हि
> हरति दृशं मालतीमाला॥
>
> (सुबन्धु-वासवदत्ता, श्लोक ११)

परन्तु अधिकांश भारतीय आलोचकों की दृष्टि में 'कवि' का प्रधान कार्य होता है वर्णन। मम्मट के मत में 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म होता है (लोकोत्तरवर्णना-निपुणं कविकर्म) अर्थात् वस्तु के यथा-वस्थित रूप के वर्णन में कवि के कवित्व का पर्यवसान नहीं होता, प्रत्युत उसके वर्णन में लोकोत्तरता का, अतिशय का पुट सर्वदा वर्तमान रहता है। भट्ट तौत भी कवि को 'वर्णनानिपुण' बतलाते हैं। तथ्य यह है कि कवि का प्रधान कार्य होता है किसी वस्तु का, किसी घटना का, लोकोत्तर रूप से वर्णन। बिना वर्णन के कवि का यथार्थ रूप विकसित नहीं होता। कवि क्रान्तदर्शी होता है—कवयः क्रान्तदर्शिनः। अतीत और अनागत, व्यवहित तथा प्रति-

बद्ध वस्तुओं का दर्शन नैसर्गिक कवि के लिए स्वतः सिद्ध है। कवि के साथ तत्त्वज्ञता का अविनाभाव-सम्बन्ध रहता है। वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान हुए बिना कवि कवि नहीं हो सकता। वस्तु के बाहरी आवरण को हटाकर वस्तु के अन्तस्तल तक पहुँचना कवि के लिए परमावश्यक होता है। वह कवि नहीं है प्रत्युत 'हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता' है, इधर-उधर से नोच-खसोट-कर कविता की काया तुन्दिल करनेवाला तुक्कड़ है जो वस्तु की ऊपरी सतह-पर ही तैरता रहता है और उसके भीतरी स्तर तक न तो पहुँच सकता है और न पहुँचता है। अतः दर्शन सत्कवि के लिए सबसे प्रथम आवश्यक गुण है। परन्तु द्रष्टा होने पर भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता, जब तक अपने-प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर उसे प्रकट नहीं करता। भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति कवि के लिए उतनी ही प्रयोजनीय है जितना उन भावों का दर्शन। **कवित्व के दो आधार-स्तम्भ हैं—दर्शन और वर्णन।** इन दोनों के पूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। वाल्मीकि महर्षि थे, तत्त्वों के द्रष्टा थे परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञान को शब्द के माध्यम द्वारा प्रकट नहीं किया तब तक उन्हें कवि की महनीय संज्ञा प्राप्त नहीं हुई। न जाने कितनी बार विभिन्न भावों ने उनके हृदय को अपना निकेतन बनाया होगा परन्तु कवि की संज्ञा उन्हें तभी प्राप्त हुई जब क्रौञ्ची के करुण स्वर से उनका कारुणिक हृदय पिघल उठा और उनका आन्तरिक शोकभाव श्लोक के माध्यम से बाहर फूट पड़ा।

आचार्य अभिनवगुप्त के विद्यागुरु **भट्टतौत** ने कवि के स्वरूप के विवेचन में बड़े पते की बात कही है कि कवि 'अनृषि' नहीं होता—कवि ऋषि ही होता है। मन्त्र का द्रष्टा पुरुष ही 'ऋषि' की महनीय उपाधि धारण करता है—**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**। कवि दर्शनयुक्त होने के कारण ही 'ऋषि' कहलाता है। वस्तु के विचित्र भाव को अर्थात् अन्तर्निहित धर्म को तत्त्व रूप से जानना ही दर्शन कहलाता है। शास्त्र में इसी तत्त्व-दर्शन के कारण कवि कवि के नाम से अभिहित होता है। परन्तु लोक में कवि की संज्ञा दर्शन तथा वर्णन के कारण से एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ है। कवि वही है जिसमें दर्शन के साथ वर्णन का मञ्जुल संयोग रहता है। संस्कृत के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का उदाहरण ही इस सिद्धान्त की पुष्टि में भली भाँति दिया जा सकता है। उनका दर्शन स्वच्छ था जो नित्यरूप से उन्हें प्राप्त था परन्तु लोक में उनकी कविता तब तक उदित नहीं हुई जब तक उन्होंने अपने दर्शन को वर्णन का रूप नहीं दिया। र्शन है आन्तरिक गुण और वर्णन है बाह्य गुण। इन दोनों में मञ्जुल सामञ्जस्य

होने पर ही कविता की स्फूर्ति होती है। दर्शन तथा वर्णन का संमिश्रण ही काव्य-कला के चरम विकास का आधारपीठ है। भट्टतौत का यह सिद्धान्त बड़ा ही मौलिक तथा तथ्यपूर्ण है —

नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना[1]॥

प्रतिभा के सहारे कवि काव्य-जगत् का स्रष्टा होता है। इस सृष्टि-कार्य में उसकी श्लाघनीय शक्ति का नाम है प्रतिभा। ब्राह्मी सृष्टि की अपेक्षा कविसृष्टि में निजी वैशिष्ट्य है, सातिशय वैलक्षण्य है। ब्रह्मा अपने सृष्टिकार्य में एकान्त स्वातन्त्र्य का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत वह प्राणियों के कर्म के अनुसार ही सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है, परन्तु कवि अपनी सृष्टि में नितान्त स्वतन्त्र होता है। उसकी रुचि जिधर झुकती है, मन जिधर तरंगित हो उठता है, वैसी ही सृष्टि वह झट प्रस्तुत कर देता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

—ध्वन्यालोक

कवि वह जादूगर है जिसके जादू के सामने जगत् का प्रत्येक पदार्थ रस-भाव से सम्पन्न दीखने लगता है। वस्तु कितनी भी नीरस क्यों न हो, रस-तात्पर्यवाले कवि के हाथ लगते ही उसमें विलक्षण परिवर्तन हो जाता है—वह विचित्र रूप से आकर्षक बन जाती है, रस-सम्पत्ति से मण्डित होकर वह निरतिशय सरस तथा आह्लादक हो जाती है।[2] इसलिए कवि के उपकरण

१—ये श्लोक भट्टतौत-रचित 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ के प्रतीत होते हैं। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ के महत्त्व का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि 'ध्वन्यालोक-लोचन' के रचयिता अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। दुर्भाग्यवश मूलग्रन्थ के समान यह टीका भी अनुपलब्ध है। इन श्लोकों को हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' पृ० ३१६ पर उद्धृत किया है।

२—तस्मान्नास्त्येव तद् वस्तु यत् सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेः तदिच्छया

की अवधि नहीं होती। कवि अपने काव्य की सामग्री समस्त विश्व से ग्रहण करता है और अपनी शक्ति के प्रभाव से उसमें नाना प्रकार का वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। इसीलिए कवियों की महनीय परम्परा देखकर नीलकण्ठ कवि हताश नहीं होते। उनका कथन है कि एक कवि की रचना देखकर मुझे सरस्वती का खजाना खाली जान पड़ता है। परन्तु सरस्वती-मन्दिर में प्रवेश कर देखने से तो यही प्रतीत होता है कि कविकोटि इसके एक कोने में ही पड़ी हुई है—मन्दिर का पूरा आँगन नवीन कवियों के उद्योग के लिए अभी पूरा खाली पड़ा हुआ है। सचमुच प्रतिभाशाली कवि के लिए न तो विषय की कमी है और न कल्पना का ह्रास। शारदा का यह विशाल मन्दिर उसके लिए सावकाश बना हुआ है—

पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्
सारस्वतं कोषमवैमि रिक्तम्।
अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा॥

—शिवलीलार्णव १। १८

कवि के लिए इससे बढ़कर महत्त्व की बात ही क्या हो सकती है कि भगवती श्रुति भी उस अनन्त-ब्रह्माण्डनायक को 'कवि' के ही नाम से पुकारती है, न उसे 'शाब्दिक' कहती है न 'तार्किक'। इस जगत् का निर्माता तथा नियन्ता न 'वैयाकरण' कहा गया है न 'नैयायिक', परन्तु कहा गया है 'कवि'। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह 'कवि' के लिए भूषण की बात है—

स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं
काष्ठा परा सा कविता ततो नः॥

—शिवलीलार्णव १। १६

तदभिमत-रसांगतां न भजते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति।

—ध्वन्यालोक, पृ० ४९८ (काशी सं०)

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है—**प्रज्ञा नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा मता**—नये नये अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के अनुसार पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होनेवाली कोई कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है।—"प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।"[1] वामन के अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति होती है वही कार्य प्रतिभा के द्वारा भी होता है। प्रतिभा है क्या? यह पूर्व जन्म से आनेवाला विशिष्ट संस्कार है। यह वासना रूप से कवि-हृदय में निवास करता है। प्रतिभा के बिना काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि निष्पन्न हुआ भी तो वह काव्य उपहास का पात्र बनता है[2]। वामन का यह तथ्यकथन काव्य में प्रतिभा की गहरी उपादेयता का पुष्ट परिचायक है।

भट्टगोपाल के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादानरूप संस्कार-विशेष है। जिस प्रकार वृक्ष को देखने से बीज की कल्पना की जाती है उसी प्रकार काव्यरूपी कार्य के द्वारा इस वासना शक्ति की सत्ता का अनुमान किया जाता है[3]। राजशेखरके अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है जो कवि के हृदय में शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को, उक्ति के मार्ग को तथा इसी प्रकार अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है। प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए पदार्थ परोक्ष ही रहता है। परन्तु प्रतिभायुक्त व्यक्ति नेत्र-शक्ति से विहीन होने पर भी पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान देखता है और वर्णन करता है। राजशेखर ने एक बड़े ऐतिहासिक तथ्य का परिचय इस प्रसंग में दिया है। वे कहते हैं कि

१—वक्रोक्तिजीवित पृ० ४९

२—कवित्व बीजं प्रतिभानम्। १।३।१६

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्, जन्मान्तरागत-संस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्॥

वामन—काव्यालंकारसूत्र, १।३।१६ सूत्र पर वृत्ति

३—कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णनानैपुण्यलक्षणस्य बीजमुपादानस्थानीयः संस्कारविशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः।

वही—१।३।१६ की टीका

मेधाविरुद्र और कुमारदास आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे परन्तु उनके काव्यों में सांसारिक पदार्थों का वर्णन जो इतना सचित्र और सटीक है वह प्रतिभा के ही विलास का फल है[१]।

इन विभिन्न आचार्यों के मतानुसार प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है—ऐसा मानस धर्म है जो दूसरे जन्म में होनेवाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होनेपर उत्पन्न होता है। इसी के बल पर कवि उन वस्तुओं के वर्णन में भी समर्थ होता है, उन तत्त्वों के उन्मीलन में भी कृतकृत्य होता है जो साधारण मानव-बुद्धि से कथमपि साध्य नहीं होते। संस्कृत के समग्र आलंकारिकों ने प्रतिभा को कवित्व का बीज माना है। प्रतिभा के सहारे ही महाकवि कालिदास ने[२] शाकुन्तल में हेमकूट पर्वतपर होनेवाले उन अद्भुत व्यापारों का तथा [३]मेघदूत में अलकापुरी के उन विलक्षण दृश्यों का वर्णन किया है जो भारतवर्ष में रहनेवाले कवि के द्वारा कथमपि दृष्ट नहीं हो सकते।

भामह के अनन्तर दण्डी ने काव्य-साधक हेतुओं में प्रतिभा के साथ शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। उनकी सम्मति में केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं होती। उसके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोग का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है[४]। प्रतिभा तो पूर्वजन्म की वासना के गुणों पर आश्रित रहती है। यदि किसी कवि को प्रतिभा की देन नहीं मिली है तो दण्डी उसे निरुत्साहित होकर काव्य-कला से पराङ्मुख होने की सलाह नहीं देते। वे यह भी आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्र से तथा यत्न से कविता की उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कवि

१—या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते॥
काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० ११—१२

२—शाकुन्तल, अंक ७।१२

३—मेघदूत-उत्तरभाग (पद्य १—१०)।

४—नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पदः॥
दण्डी—काव्यादर्श १।१०३

के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखलाती है[1]। इस प्रकार दण्डी की सम्मति में कवि के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन तीनों का योग होना नितान्त आवश्यक होता है।

वामन

वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। वे प्रतिभा को प्रतिभान शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य-रचना में उद्यम, काव्योपदेश करनेवाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान—चित्त की एकाग्रता—को भी काव्य-रचना का सहायक स्वीकार किया है। एकाग्र चित्तवाला व्यक्ति ही अर्थों का साक्षात्कार करता है तथा अपने काव्य में उसे निबद्ध करता है। इस विषय में वामन बहुत ही व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि अवधान देश और काल से उत्पन्न होता है। एकान्त तथा निर्जन स्थान में एवं ब्राह्म मुहूर्त में चित्त आपसे आप प्रसन्न होता है। ऐसे स्थान तथा ऐसे समय में कविता की उपासना करनेवाला साधक अपने मनोरथ में निःसन्देह सिद्ध होता है[2]। वामन का यह उपदेश आज भी हमारे लिए उसी प्रकार माननीय तथा उपादेय है जिस प्रकार से यह प्राचीन काल में था। अवधान कवित्व का महनीय साधन है।

रुद्रट

रुद्रट ने भी काव्य-कारणों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को एक

१—न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

दण्डी—काव्यादर्श १।१०४

२—तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः। काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्। कवित्वबीजं प्रतिभानम्। चित्तैकाग्र्यमवधानम्। तद्देशकालाभ्याम्।

वामन—काव्यालंकार १।३।१२—१८

कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु मानते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है उसी का नाम शक्ति है —

मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

रुद्रट—काव्यालंकार १।१५

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों काव्यसाधनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखनेवाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है। दोष दोनों तरह से उत्पन्न होते हैं, अशक्ति से भी तथा अव्युत्पत्ति से भी। जिस प्रकार प्रतिभा से रहित कवि अनेक दोषों का उत्तरदायी होता है उसी प्रकार व्युत्पत्तिहीन कवि की भी दशा है। परन्तु इन दोनों में पहिले प्रकार का दोष बड़ा ही जघन्य होता है। उसकी तुलना में दूसरे प्रकार का दोष अकिञ्चित्कर है। प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्द की उक्ति नितान्त सुव्यक्त है —

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥

—ध्वन्यालोक।

आचार्य मंगल

आनन्द से ठीक विपरीत मत है आचार्य मंगल का, जो प्रतिभा और व्युत्पत्ति में व्युत्पत्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ है बहुज्ञता। व्युत्पत्ति के बल पर ही कवि-वचन की एकदिशा नहीं होती। वे सब दिशाओं में अव्याहत गति से फैलते हैं। अभ्यस्त विषय में तथा प्रत्यक्षीकृत विषय में किस कवि की वाणी प्रवृत्त नहीं होती? कवि ने जिस विषय को स्वयं देखा है तथा जिसका अभ्यास स्वयं किया है उसका वर्णन वह किसी न किसी प्रकार कर ही सकता है तथा करता भी है। परन्तु यह क्या कविता है? कवि-वाणी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई आवरण नहीं होता। वह इस जगत् के प्रत्येक स्थान को, प्रत्येक दिशा को स्पर्श करती हुई प्रवाहित

होती है और यह तभी सम्भव है जब कवि शास्त्रों में व्युत्पत्ति प्राप्त करता है[1]। इसीलिए आचार्य मंगल व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते हैं। व्युत्पत्ति ही कवि के अशक्तिजन्य सभी दोषों को आच्छादित कर देती है[2]।

राजशेखर

महाकवि राजशेखर ने इस विषय में अपने मत को प्रकट करते हुए कतिपय प्राचीन आलंकारिकों के मतों का भी उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि—चित्त की एकाग्रता[3]। समाहित होनेवाला चित्त ही अर्थों का उन्मीलन करता है। सारस्वत-रहस्य—काव्य-निर्माण—का उन्मेष तभी होता है जब कवि उसकी आराधना मनोयोग से करता है। इसकी सिद्धि का सबसे बड़ा उपाय यही है कि पदार्थों को भली भाँति जाननेवाले चित्त को काव्यकला की ओर एकाग्र किया जाय[4]। आचार्य मंगल की सम्मति इस विषय में भिन्न[5] है। वे अभ्यास को ही काव्य-कर्म में सब से अधिक उपयोगी साधन मानते हैं। राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न

१—प्रसरति किमपि कथञ्चन,
नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं,
यद्वाचः सर्वतोदिक्काः॥

काव्यमीमांसा अ० ५, पृ० १६

२—कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धी-चित्रचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥

वही।

३—काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते। इति श्यामदेवः।

वही—अ० ४, पृ० ११

४—सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो,
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥

वही, अं० ४, पृ० ११

५—"अभ्यासः" इति मंगलः। वही।

है। वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते है[१]। वे समाधि तथा अभ्यास दोनों को शक्ति का उद्भासक मानते हैं। केवल शक्ति ही काव्य में हेतु होती है। शक्ति का विस्तार प्रतिभा और व्युत्पत्ति के द्वारा होता है और शक्ति के द्वारा प्रतिभा और व्युत्पत्ति का विकास होता है। शक्तिसम्पन्न पुरुष को ही वस्तुओं का प्रतिभास होता है तथा वही पुरुष शास्त्र में व्युत्पत्तिलाभ करता है। इसलिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति की जननी होने के कारण राजशेखर शक्ति को ही काव्य के लिए सबसे अधिक उपादेय कारण मानते हैं। इस विषय में उनका मत बहुत कुछ रुद्रट से मिलता है। इनके मत का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—
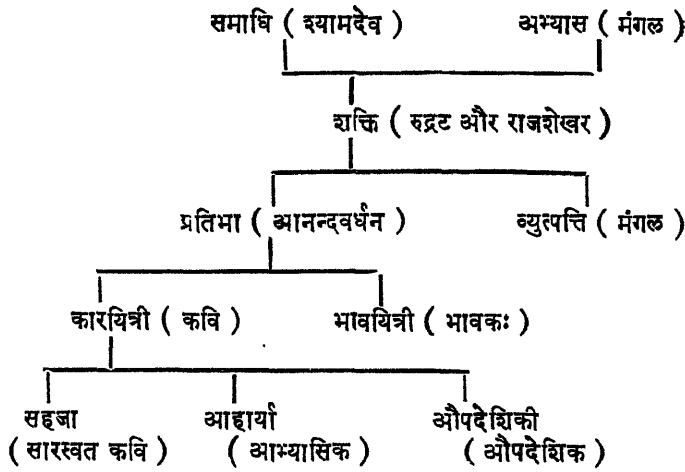
राजशेखर ने प्रतिभा को दो भागों में विभक्त किया है—**कारयित्री** और **भावयित्री**। कवि को काव्यकर्म में उपकार करनेवाली प्रतिभा **कारयित्री** कही जाती है। इसी के बल पर कवि नवीन अर्थ की कल्पना करता है तथा उन्हें शब्दों का मञ्जुल वस्त्र पहनाकर सहृदयों के मनोरंजन के लिए उपस्थित करता है। **भावयित्री** प्रतिभा वह है जिसकी सहायता से भावक या आलोचक कवि के श्रम और अभिप्राय समझने में कृतकार्य होता

१—सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतु इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।

—काव्यमीमांसा

है। इस प्रकार राजशेखर की सम्मति में आलोचना-कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कवि-कर्म। आलोचक वही हो सकता है जो भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न हो। उचित भी यही प्रतीत हो रहा है। जिस शक्ति के बल पर कवि काव्य-रचना में समर्थ होता है उसी शक्ति के बल पर उस काव्य-रचना का मूल्यांकन करना भी उचित है।

कारयित्री प्रतिभा को राजशेखर ने तीन भागों में विभक्त किया है—(१) सहजा, (२) आहार्या और (३) औपदेशिकी। सहजा शब्द-का अर्थ है जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाली वस्तु। जो प्रतिभा पूर्व जन्म के संस्कार की अपेक्षा रखती है और इस जन्म के थोड़े ही संस्कार से उद्बुद्ध हो जाती है वही सहजा कहलाती है। आहार्या शब्द का अर्थ है—आहरण के योग्य। आहार्या प्रतिभा जन्म और संस्कार से उत्पन्न होती है परन्तु उसको उद्बुद्ध करने के लिए अत्यन्त अधिक अभ्यास की अपेक्षा होती है। औपदेशिकी प्रतिभा मन्त्र, तन्त्र आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है। उसके विकसित होने में इसलिए विलम्ब होता है कि उसका उपदेशकाल भी यहीं है और उसका संस्कार-काल भी इसी जन्म में है। फलतः उसे विलम्ब से सफल होना स्वाभाविक है।

मम्मट

आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। शक्ति प्रतिभा का ही दूसरा नाम है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता और निष्पन्न होने पर वह काव्य लोक-प्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विद्याओं के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती हैं उसी का नाम निपुणता है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत व्युत्पत्ति को ही मम्मट ने निपुणता का नाम दिया है। काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य-कला के निरन्तर चिन्तन का ही नाम अभ्यास है। सद्गुरु की उपासना कवि की बुद्धि के विकास में काम-धेनु के समान फलवती मानी जाती है। विद्यावृद्ध पुरुषों के साथ समागम कवि के लिए क्या नहीं करता ? वह अर्थ के ग्रहण में कवि की बुद्धि को विकसित करता है, मन को ऊहापोह के काम में विशद बनाता है। किस शब्द का प्रयोग कहाँ उचित है और कहाँ अनुचित, किसी पद के हटाने में कविता में कौन-सा दुर्गुण उत्पन्न हो जाता है, और उसके रखने पर

कितनी रोचकता आ जाती है—इन विषयों का ज्ञान विद्या-वृद्ध के साथ परिचय होने से ही होता है[1]। सच तो यह है कि काव्यमर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओं के लिए अमृत का काम करती है। 'काव्यज्ञ' से अभिप्राय केवल उन व्यक्तियों से नहीं है, जो केवल काव्य की सृष्टि में ही प्रवीण हैं, प्रत्युत उन लोगों से भी है जो काव्य की आलोचना में दक्ष हैं। अतः काव्य के अभ्यास करनेवाले व्यक्ति को व्यावहारिक कवि तथा आलोचक दोनों से शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने-पर भी कवि अपने मनोरथ में तब तक कृतार्थ नहीं होता जब तक वह सद्गुरु की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नहीं करता। मम्मट ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास, इन तीनों को काव्य का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है और इसीलिए उन्होंने इस सुप्रसिद्ध कारिका में 'हेतु' शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है, बहुवचन में नहीं (हेतुर्नतु हेतवः)—

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

—काव्यप्रकाश १।३

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि काव्यस्फूर्ति के निमित्त शक्ति या प्रतिभा तो सर्वातिशायी साधन है, परन्तु उस शक्ति को व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा विकसित करने की भी आवश्यकता होती है। शुष्क ईंधन के योग से जैसे अग्निस्फुलिंग एक नितान्त स्पष्ट लपट के रूप में परिवर्तित हो जाता है, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के योग से प्रतिभा की भी वही दशा है। इसीलिए आचार्यगण तीनों को काव्यसाधना में समन्वित कारण मानते हैं।

२—काव्यमातरः

'काव्य का मूलस्रोत क्या है' इस विषय में प्राचीन आचार्यों में बड़ा मतभेद है। 'काव्य का वर्ण्य-विषय क्या है' यह प्रश्न बड़ा ही रोचक है

---

१. प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते ॥

—काव्यमीमांसा, अ० ४, पृ० ११

परन्तु साथ साथ कठिन भी है। कवि को अपने काव्य के लिए कहां से प्रेरणा मिलती है तथा वह अपनी कविता में किन वस्तुओं का वर्णन करता है? इसे निश्चित रूप से बतलाना निश्चय ही कठिन है। कवि का उत्तरदायित्व बड़ा ही महान् होता है। जगत् की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे कवि अपनी कविता के लिए सामग्री ग्रहण नहीं करता और उसका अपने काव्य में समावेश नहीं करता। कवि स्वयं स्रष्टा है। वह अपनी कल्पना के बल पर एक नये जगत् की सृष्टि करता है। इस सृष्टि की सामग्री वह अपने सामने विद्यमान रहनेवाली ब्राह्मी सृष्टि से ही ग्रहण करता है। इस सृष्टि से यथार्थतः परिचय पाना ही 'व्युत्पत्ति' है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति—ये कवि के दक्षिण और वाम भुजाओं की भाँति उसकी सदा सहायता करती हैं। प्रतिभा की पर्याप्त सहायिका होती है व्युत्पत्ति। भरत मुनि का यह कथन नितान्त तथ्यपूर्ण तथा असंदिग्ध है—

न तत् ज्ञानं, न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

—नाट्यशास्त्र १।११७

जगत् में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, ऐसी कोई विद्या नहीं है, कला नहीं है, ऐसी कोई युक्ति नहीं है, और ऐसा कोई कर्म नहीं है जो नाट्य में दिखलाई न पड़े। अर्थात् संसार की समग्र विद्याएँ नाट्य के अंग हैं। भामह ने भी कविकर्म की महनीयता दिखाने के लिए भरत के शब्दों को ही प्रकारान्तर से दुहराया है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो! भारो महान् कवेः॥

—भामह-काव्या० ५।४

रुद्रट ने भी भामह का पदानुसरण कर कवि को सब प्रकार के विषयों से परिचित होने की बात लिखी है। लोक में ऐसा न कोई वाच्य है और न वाचक है, न कोई शब्द और न अर्थ है जो काव्य का अंग न हो सके। इसी लिए कवि को सर्वज्ञ होने की आवश्यकता है —

विस्तरतस्तु किमन्यत् तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा॥

रुद्रट—काव्यालंकार १।१

संक्षेप में कविता का विषय है लोक और शास्त्र[1]। 'लोक' से अभिप्राय है स्थावर और जंगम पदार्थों के वृत्त से[2]। पाश्चात्य कवियों के अनुसार काव्य का विषय है मनुष्य और प्रकृति (मैन एण्ड नेचर)। इन दोनों का समावेश हमारे यहाँ लोक के अन्तर्गत किया गया है। 'शास्त्र' तथा विद्या से अभिप्राय है व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीति आदि से। काव्य की अर्थ-योजना में इनका कितना उपयोग है इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं है। कविता में शुद्ध शब्दों का प्रयोग पहिली आवश्यक बात है और यह शब्द-शुद्धि 'व्याकरण' के अध्ययन से ही प्राप्त की जा सकती है। पदों के अर्थ का निश्चय 'कोश' की सहायता से किया जाता है। शब्दार्थ की सन्देहदोला में झूलनेवाले कवि की स्थिति बड़ी ही डाँवाडोल हुआ करती है। वह न तो ऐसे शब्द को ग्रहण ही कर सकता है और न उसका त्याग ही। ऐसी दशा में कोश ही उसकी सहायता करता है। कोश, राजा तथा कवि दोनों की सार्थकता का प्रधान हेतु होता है। लोक-प्रयोग की परीक्षा से सामान्य रूप से अर्थ का ज्ञान संभव है परन्तु उनकी विशेष रूप से अर्थ की जानकारी कोश के द्वारा गम्य होती है। छन्दःशास्त्र के अध्ययन से वृत्तों में उत्पन्न होने वाले सन्देह का निराकरण होता है। काव्य के अनुशीलन से छन्दःशास्त्र का सामान्य ज्ञान हो जाता है परन्तु वृत्तों के विशेष रूपको जानने के लिए छन्दःशास्त्र का गाढ़ अध्ययन नितान्त आवश्यक है। कला-शास्त्र की सहायता से कला के सिद्धान्तों का ज्ञान कवि प्राप्त करता है। कलाओं की संख्या चौंसठ मानी गयी है जिसके भीतर अनेक व्यावहारिक तथा ललित कलाओं का सन्निवेश किया गया है। इन कलाओं का समावेश कवि को अपने काव्य में प्रसंगानुसार करना ही पड़ता है। अतः इसके स्वरूप को ठीक से जानने के लिए कला-शास्त्र का अध्ययन करना कवि के लिए नितान्त आवश्यक है। कामशास्त्र के विषयों का परिचय वात्स्यायन-सूत्र आदि ग्रन्थों से करना चाहिए। राजनीति, दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र आदि के परिचय के लिए तद्विषयक ग्रन्थों का अनुशीलन तथा अभ्यास कवियों के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय होता है।

विनयचन्द्र ने अपनी 'काव्य-शिक्षा' में निम्नांकित विषयों से कवि को परिचित होना आवश्यक बतलाया है—

१—लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।

२—लोकवृत्तं लोकः। लोकः स्थावरजंगमात्मा च। तस्य वर्त्तनं वृत्तमिति। —वामन, काव्या०, १३१, १३२

तर्कपरिचय, व्याकरण-परिचय, चाणक्य-परिचय, धनुर्वेदीय, उत्पाद्य-संयोग, भारत-परिचय, रामायण-परिचय, मोक्षोपाय-परिचय, आत्मज्ञान-परिचय, धातुवाद-परिचय, पुरुष-लक्षण-परिचय, द्यूतपरिचय, चित्र-परिचय, वृक्षपरिचय, वनेचरपरिचय, भक्तिपरिचय, विवेकपरिचय, प्रशम-परिचय, हस्तिपरिचय, वैद्यक-परिचय, शास्त्र-परिचय, गजलक्षण-परिचय एवं तुरगलक्षण-परिचय।

क्षेमेन्द्र ने भी अपने 'कविकण्ठाभरण' में कवियों की जानकारी के लिए ऐसे ही आवश्यक विषयों की एक लम्बी फिहरिस्त दे रखी है।

राजशेखर ने काव्यार्थ के मूल का वर्णन करते हुए इनके सोलह भेदों का विस्तार के साथ वर्णन किया है।[1] वे मूल ये हैं—

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शनशास्त्र), समय-विद्या (तन्त्रशास्त्र), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र,नाट्यशास्त्र, काम-शास्त्र), लोक (प्राकृत तथा व्युत्पन्न मनुष्य), विरचना (कवि की प्रतिभा से निर्मित कथा-विशेष), प्रकीर्णक (विविध वस्तु यथा—हस्तिशिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद, आदि) उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-संयोग और संयोगविकार। तथ्य यह है कि काव्य का क्षेत्र संकुचित नहीं है। उसके लिए मनुष्य, प्रकृति तथा शास्त्र समग्र विषयों का ज्ञान अपेक्षित रहता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों की सम्मति है—

श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः।
अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्[2] ॥

—काव्यमीमांसा

'कवित्व' की दवा क्या है? वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण तथा अन्य तत्सदृश ग्रन्थों के अर्थ का चिन्तन तथा किसी वस्तु के वर्णन की कला का अभ्यास। चिन्तन तथा अभ्यास मिलकर काव्य के लिए प्रधान औषध का काम करते हैं।

३—अर्थव्याप्ति

(काव्यार्थ की सीमा)

काव्य में निर्दिष्ट अर्थ का क्षेत्र कहाँ तक विस्तृत है? इस प्रश्न का विचार-पूर्ण उत्तर भी संस्कृत के आलोचकों ने दिया है। द्रौहिणि नामक

१. देखिए काव्यमीमांसा, अ० ८, पृ० ३५।
२. काव्यमीमांसा, पृ० ३६,

आचार्य की सम्मति में अर्थ-व्याप्ति तीन प्रकार की होती है—(१) दिव्य, (२) दिव्यमानुष और (३) मानुष। 'दिव्य' का अर्थ है स्वर्ग में रहनेवाले देवताओं के मिश्रित चरित्र का चित्रण। 'दिव्यमानुष'—स्वर्ग तथा मर्त्यलोक के व्यक्तियों के मिश्रित चरित्र का वर्णन। यह अनेक प्रकार से काव्य में संभव होता है। एक तो वह प्रकार है जिसमें दिव्य पुरुष का मर्त्यलोक में और मर्त्य पुरुष का स्वर्गलोक में जाने का वर्णन किया जाय। इसका दूसरा प्रकार तब होता है जब दिव्य पुरुष मर्त्य रूप धारण कर ले और मर्त्य व्यक्ति दिव्य रूप को ग्रहण करे। तीसरे प्रकार में दिव्य इतिवृत्त (इतिहास) की कल्पना की जाती है। चौथे प्रकार में मर्त्य व्यक्ति के प्रभाव के कारण दिव्य भाव की प्राप्ति का वर्णन किया जाता है। 'मानुष' प्रकार में केवल मर्त्य लोक के निवासियों का चरित्र वर्णित रहता है।

राजशेखर के अनुसार यह अर्थ-व्याप्ति सात प्रकार की होती है। ऊपर वाले तीन भेद में ये निम्नलिखित चार भेदों को जोड़कर इनकी संख्या सात मानते हैं—(४) पातालीय, (५) मर्त्यपातालीय, (६) दिव्य-पातालीय, (७) दिव्यमर्त्य पातालीय। पातालीय भेद तब होता है जब पाताल के निवासियों के चरित्र का काव्य में वर्णन किया जाय। मर्त्य-पातालीय तब होगा जब मर्त्य और पाताल, इन दोनों लोकों का चरित्र एकत्र मिश्रित कर वर्णित हो। दिव्यपातालीय भेद में स्वर्ग तथा पाताल के निवासियों से संबद्ध चरित्र का वर्णन किया जाता है। जब तीनों लोकों—दिव्य, मर्त्य, पाताल—का वर्णन एकत्र अपेक्षित होता है उसे दिव्य मर्त्य-पातालीय कहते हैं।

उद्भट का मत

तात्पर्य यह है कि काव्य का अर्थ निःसीम है, अवधिरहित है, सीमा-विहीन है, अपरिमित है। आचार्य उद्भट के अनुयायियों ने इस विपुल अर्थराशि को दो भागों में विभक्त किया है—(१) विचारितसुस्थ (२) अविचारित-रमणीय। 'विचारितसुस्थ' अर्थ उसे कहते हैं जो तर्क तथा युक्ति से विचार करने पर शोभन तथा रुचिकर प्रतीत होता है। 'अवि-चारित-रमणीय' अर्थ वह होता है जिसमें तर्क तथा युक्ति का उपयोग न करके केवल कल्पना के बल पर रमणीय अर्थ की सृष्टि की जाय। पहले प्रकार का उदाहरण है शास्त्र तथा दूसरे प्रकार का उदाहरण है काव्य।

कालिदास का यह पद्य काव्यार्थ की विशेषता को समझने के लिए उदाहरण-रूप से दिया जा सकता है—

> स आकाशमसिश्यामसुत्पत्य परमर्षयः ।
> आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥

—कुमारसंभव ६।३६

श्लोक का भावार्थ है कि मन के समान वेगवाले महर्षि लोग तलवार के समान श्याम रंग वाले आकाश में उड़कर हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक स्थान में पहुँचे। इस पद्य में आकाश को कालिदास ने 'असिश्याम' (तलवार के समान श्याम रंगवाला) लिखा है, परन्तु क्या यह बात सही है? युक्तियों के बल पर विज्ञान हमें बतलाता है कि आकाश का कोई भी निजी रंग नहीं है। फिर भी कल्पना के बल से कवि अपने अनुभव का उपयोग करता है।

भामह ने भी एक सुन्दर उदाहरण देकर इस विषय को समझाने का प्रयत्न किया है —

> असिसंकाशमाकाशं शब्दो दूरादुपैत्ययम् ।
> तदेव वारिसिन्धूनामहो स्थेमा महार्चिषः ॥

—भामह काव्यालंकार ५।३४

इस पद्य में भामह ने आकाश को तलवार के समान, शब्द को दूर से आनेवाला, नदी के जल को एकाकार तथा अपरिवर्तनशील एवं आकाश के सूर्यचन्द्रादिक ग्रहों का स्थिर होना वर्णित किया है। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या यह दृश्य कभी संभव है? नदी का प्रवाह इतना वेगवान् होता है कि उसका जल क्षणक्षण में बहता चला जाता है और परिवर्तित होता रहता है। ऐसी दशा में नदी के जल को 'तदेव'—वही (अपरिवर्तन-शील) कहना कहाँ तक न्यायसंगत है? इसी प्रकार विज्ञान हमें सिखलाता है कि आकाश के तेजस्वी ग्रह (चन्द्र, शुक्र आदि) गतिशील हैं, एक स्थान पर नहीं रुकते। ऐसी दशा में इन ग्रहों का स्थिर होना वर्णित करना उचित नहीं है। उद्भट के अनुसार ये दोनों श्लोक 'अविचारित-रमणीय' के मनोरम उदाहरण हैं।

परन्तु राजशेखर को इस मत में नितान्त अरुचि है। यदि काव्य केवल तथ्यरहित काल्पनिक वस्तुओं का ही रूप प्रस्तुत करता है तो हमारे लिए उसका कोई उपयोग है ही नहीं। कौन ऐसा भलामानुस होगा जो पदार्थों के असत्य रूप के परिचय पाने के लिए ही काव्यों के अनुशीलन का अश्रान्त

परिश्रम स्वीकार करेगा? इसलिए राजशेखर की यह परिनिष्ठित सम्मति है—शास्त्र तथा काव्य के कर्ताओं को वस्तु का स्वरूप जैसा प्रतिभात होता है उसका वर्णन वे उसी रूप में करते हैं[1], अपनी ओर से नमक-मिर्च नहीं मिलाते।

पदार्थ का द्वैविध्य

समस्या गम्भीर तथा विचारणीय है। पदार्थ का रूप काव्य में किस प्रकार निबद्ध होना चाहिए? पदार्थ का रूप दो प्रकार का होता है—(१) **स्वरूप-निबन्धन** तथा (२) **प्रतिभास-निबन्धन**। प्रथम प्रकार में पदार्थ के यथावस्थित तात्त्विक यथार्थ रूप का उपबृंहण होता है तथा दूसरे प्रकार में कवि के द्वारा अनुभूत अनुभवगम्य रूप की सृष्टि होती है। प्रथम प्रकार की प्राप्ति होती है दार्शनिक जगत् में। दूसरे प्रकार की उपलब्धि होती है काव्य-जगत् में। स्वरूप-निबन्धन होता है विज्ञान का विषय तथा प्रतिभास-निबन्धन होता है काव्य का विषय। काव्यतथ्य तथा वैज्ञानिक तथ्य के परस्पर विभेद का भी यही रहस्य है। वैज्ञानिक अपने यन्त्रों की सहायता से किसी पदार्थ के यथार्थ रूप के समझने में कृतकार्य होता है। कवि की वह दृष्टि नहीं। उसके पास अपना विशिष्ट साधन है प्रतिभा। प्रतिभा के बल पर पदार्थ का जो रूप कवि की दृष्टि में प्रतिभासित होता है उसी के वर्णन में वह संलग्न रहता है। अतः काव्य में वैज्ञानिक तथ्यों को खोजने का कोई भी आलोचक श्रम नहीं करता। तथापि काव्यसत्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है। वनस्पतिशास्त्री से जाकर गुलाब के विषय में पूछिये। वह गुलाब की पुष्प-जाति का नाम बताएगा, उसके उगने के कारणों का विवरण देगा; उसके रूप, रंग, अंग-प्रत्यंग, पत्ते-पँखुड़ियों का विश्लेषण कर देगा। गुलाब के यावत् ज्ञातव्य वस्तुओं का विश्लेषणपूर्वक विवरण उपस्थित कर देगा। बस यही होता है वस्तु का 'स्वरूप-निबन्धन' रूप। कविजी के पास जाकर गुलाब का हाल पूछिये। वे भीनी-भीनी गन्ध फैलानेवाले, मधुकरों की भीड़ को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, चटकीले

१—न स्वरूपनिबन्धनमिव रूपमाकाशस्य। सरित् सलिलादेर्वा। किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्।.........
यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धनोपयोगि॥
(का० मी०, अ० ९, पृ० ४४)

रंग से रंजित, जनमत-रंजन के प्रधान हेतु पुष्पराज का एक चमकीला चित्र शब्दों के माध्यम द्वारा झट प्रस्तुत कर देंगे। यही हुआ वस्तु का 'प्रतिभास-निबन्धन' रूप। पहिला है वैज्ञानिक का क्षेत्र, तो दूसरा है कवि का क्षेत्र। दोनों का वस्तु-रूप के विवरण में निजी महत्त्व तथा वैशिष्ट्य है। दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं। वैज्ञानिक का चित्रण होता है विश्लेषणात्मक, तो कवि का होता है संवलनात्मक। वैज्ञानिकों के लिए आवश्यक होती है प्रज्ञा, तो कवि के लिए उपादेय होती है प्रतिभा। राजशेखर का यही महनीय मन्तव्य है जो आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों को भी सर्वथा मान्य है। आधुनिक जगत् के मान्य मनोवैज्ञानिक युग का प्रतिभाजन्य सृष्टि का वर्णन राजशेखर के मत को पुष्ट कर रहा है[1]।

लोल्लट का मत

आचार्य आपराजिति (लोल्लट) ने भी काव्यार्थ के विचार के अवसर पर एक बड़े ही पते की बात कही है। उनका मत है—**"रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य"**। रस-सम्पन्न अर्थ का ही निबन्धन काव्य में उचित होता है, नीरस का नहीं। संस्कृत महाकाव्य में 'स्नान, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रभात आदि का वर्णन विषय की पुष्टि के लिए तथा काव्य को महनीय बनाने के हेतु एक प्रकार से आवश्यक होता है। परन्तु यह वर्णन प्रकृत रस के अनुकूल होना चाहिए। काव्य में जिस रस का उन्मेष कवि को अभीष्ट हो उस रस के साथ इन विविध विषयों के वर्णन का सामञ्जस्य होना ही चाहिए। परन्तु इतना स्मरण रखना होगा कि सरस होने पर भी यह वर्णन मात्रा में अत्यधिक न होना चाहिए। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की नीति व्यवहार-जगत् के समान काव्य-संसार के लिए भी जरूरी ही है। औचित्य की दृष्टि से वर्ण्य-वस्तु की मात्रा का विचार भी नितान्त आवश्यक है—

---

1. Active phantasies are called forth by intuition by an attitude directed to the perception of unconscious contents in which libido immediately invests all the elements emerging from the unconscious, and, by means of association with parallel material, brings them to defnition and plastic form. Yung—Psychological Types, P. 574.

मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्या-चन्द्रोदयादि - वाक्यमिह ।
सरसमपि नाति बहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥
—का० मी०, अ० ९, पृ० ४५

रसवादी आचार्य होने के नाते लोल्लट का रसमय वस्तु पर यह आग्रह सर्वथा शोभन तथा युक्तियुक्त है। वे उन कवियों की खिल्ली उड़ाने से तनिक भी नहीं चूकते जो समुद्र, नदी आदि के वर्णन के अवसर पर नीरस वस्तुओं के विस्तृत वर्णन में ही अपनी काव्यकला का चरम अवसान समझते हैं। उनका यह उद्योग अपने कवित्व के प्रकाशन के लिए ही होता है, काव्य की प्रकृत-सेवा के लिए नहीं[1]।

राजशेखर लोल्लट के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं। इस विषय में उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग महाकवियों को भी सर्वथा ग्राह्य है। भारतीय आलोचकों तथा कवियों ने नग्न प्रकृति के चित्रण पर अपने काव्यों में कभी आग्रह नहीं दिखलाया है। यही कारण है, पश्चिमी साहित्य में प्रकृति का जैसा नग्न वर्णन उपलब्ध होता है वैसा संस्कृत-साहित्य में अधिक नहीं मिलता।

माघकवि ने सूर्योदय का कितना चित्रमय वर्णन उपस्थित किया है। इस वर्णन को पढ़ने से सूर्योदय का सजीव दृश्य आँखों के सामने चित्रित दिखाई पड़ता है। इसकी यथार्थता का अनुभव पर्वतीय प्रदेश में सूर्योदय को निरखनेवालों को निःसन्देह होता है।

विततपृथुवरत्रा-तुल्यरूपैर्मयूखैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभिः
जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥
—शिशुपालवध ११।४४

कवि कहता है कि जिस प्रकार घड़ा (कलश) रस्सी की सहायता से कुएँ से बाहर निकाला जाता है उसी प्रकार पूर्वसमुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशा किरणरूपी रस्सियों से खींचकर बाहर निकाल रही है। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल होता है, उसी प्रकार प्रातःकाल में चहचहाती चिड़ियाँ शोर मचा रही हैं। चारों ओर फैली

१—यस्तु सरिदद्रिसागर पुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥
—का० मी०, अ० ९, पृ० ४५

हुई, मोटी रस्सियों के समान किरणों के द्वारा, दिशारूपी नारियों से बाहर खींचे जाते हुए सूर्य का यह वर्णन कितना सरस, कितना रमणीय और सचित्र है !

नदी का यह निम्नांकित वर्णन कितना रोचक और मर्मस्पर्शी है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

—वही ४।४७

पहाड़ी नदियाँ कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं । ये निडर होकर पर्वत की गोद में लोटपोट किया करती हैं । अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं । आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं । इस कारण रैवतक, चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा, जान पड़ता है प्रेम के कारण, रो रहा है । नदियों को पर्वत की पुत्री की कल्पना तथा उनके कलकल ध्वनि की करुण क्रन्दन से उपमा कितनी सजीव और मर्मस्पर्शी है ।

महाकवि माघ का यह वर्णन प्रकृत रस से पूर्ण समञ्जस है तथा औचित्य की परिमिति के अन्तर्गत है । इसीलिए यह ग्राह्य तथा श्लाघ्य है । फलतः रसान्वय अथवा रसानुकूलता किसी भी वर्णन की चमत्कारिता के लिए नितान्त आवश्यक है । लोल्लट के मत का अनुगमन आलोचकों तथा कवियों ने समान भाव से किया है ।

४—कवि-शिक्षा

राजशेखर ने कवियों के लिए कुछ बहुत ही व्यावहारिक नियम लिखे हैं जिनके अनुसरण करने से आज भी हमारे कविगण विशेष लाभ उठा सकते हैं । कविता लिखते समय कवि को अपनी शक्ति का स्वयं विचार करना चाहिए कि काव्य-कला के सम्बन्ध में मेरा कितना संस्कार है ! किस भाषा की कविता लिखने में मेरी शक्ति है ? जिन लोगों के लिए कविता लिखी जा रही है उनका झुकाव किधर है ? किस प्रकार के लोगों की गोष्ठी में उस कविता का पाठ होनेवाला है ? किस विषय में कवि का चित्त स्वतः लगता है । इन बातों का विचार करके ही कवि को किसी भाषा-विशेष में कविता करनी चाहिए । यह सम्मति पूर्व आचार्यों की है परन्तु राजशेखर की सम्मति में यह नियम-निर्धारण एकदेश कवि के लिए है । परन्तु स्वतन्त्र कवि के

लिए तो एक भाषा के समान सभी भाषाएँ होती हैं। जिस भाषा की ओर उसकी रुचि हुई उसी में सरस कविता की वर्षा करने लगता है।

कवि के लिए किसी विशिष्ट भाषा में कविता करने के लिए देश-विशेष भी कारण होता है। जैसे बंगाल में रहनेवाला कवि यदि तेलगु भाषा में कविता करे तो यह उचित नहीं होगा और मद्रास का निवासी कवि गुजराती में काव्य-रचना करे तो यह भी उपयुक्त नहीं है। राजशेखर ने इस विषय का बड़ा ही सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। सप्तम शताब्दी के आरम्भ में किस देश का निवासी किस भाषाविशेष में अनुराग करता था इसका उल्लेख आज भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजशेखर का कथन है कि गौड़ (बंगाल) आदि पूर्वी देशों के कवि संस्कृत भाषा का विशेष आदर करते थे। लाट देश (गुजरात) के निवासी प्राकृत भाषा में रुचि रखते थे। मरुभूमि (राजपूताना), टक्क (विपाशा तथा सिन्धु नदी के बीच का पंजाब का प्रान्त) तथा भादानक (उत्तरी भारत का कोई स्थान-विशेष) के कवि अपभ्रंश से मिली-जुली हुई भाषा का प्रयोग करते थे। अवन्ति (उज्जैन) तथा दशपुर (मालवा का मन्दसोर नामक स्थान) के कविगण पैशाची से प्रेम रखते थे। परन्तु मध्यदेश के मध्य (पाञ्चाल देश तथा कान्यकुब्ज प्रदेश) में निवास करनेवाला करनेवाला कवि सब भाषा में काव्यरचना करने में चतुर होता है।

> गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
> सापभ्रंश-प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
> आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते,
> यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥
>
> —काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५१

कवि को अपनी काव्यशक्ति पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। केवल लोकों के अपवाद के कारण से अपनी अवहेलना न करे। आजकल के कुछ कविगण कवि-सम्मेलन में अपनी कविता बड़े उत्साह के साथ सुनाने जाते हैं। परन्तु अशिक्षित जनता के हँस पड़नेपर, अथवा उनकी कविता की खिल्ली उड़ाने पर उनका उत्साह भंग हो जाता है, उनका हौसला पस्त हो जाता है और वे सदा के लिए कविता लिखने से विरत हो जाते हैं। ऐसे कवियों को याद रखना चाहिए कि जनता निरंकुश हुआ करती है। अतः उसके अपवादमात्र से अपनी जुगुप्सा कदापि न करे। उसे अपनी आत्मशक्तिपर पूरा विश्वास रखना

चाहिए। तभी उसे काव्यकला में सफलता मिल सकती है। इस विषय में राजशेखर का यह कथन कितना सटीक है—

जनापवादमात्रेण, न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात् स्वयमात्मानं, यतो लोको निरंकुशः॥

—काव्यमीमांसा, अ० १०, पृ० ५१

लोगों की रुचि भी काव्य के विषय में कितनी विलक्षण हुआ करती है। वे वर्तमान जीवित कवि—चाहे वह कितना भी बड़ा (महान्) क्यों न हो—के काव्य में सदा छिद्रान्वेषण ही किया करते हैं। दिवंगत कवि की कविता को तो वे बड़े आदर की दृष्टि से देखते है। दूसरे देश में रहनेवाले कवि की कविता की स्तुति करते हैं; परन्तु वर्तमान कवि के काव्य से उन्हें ऐसी चिढ़ होती है कि सदा उसकी अवहेलना ही किया करते हैं। इसीलिए संस्कृत में यह कहावत है कि प्रत्यक्ष कवि का काव्य, कुलकामिनी का रूप तथा घरेलू वैद्यकी विद्या शायद ही किसी को अच्छी लगती है :—

प्रत्यक्षं कविकाव्यञ्च, रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च, कस्मैचिद् यदि रोचते॥

—काव्यमीमांसा

जनता की काव्यप्रवृत्ति का वर्णन राजशेखर ने इन शब्दों में कितना सुन्दर किया है—

गीतसूक्तिरतिकान्ते, स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोकः, स्तवज्ञः सुमहत्यपि॥

—का० मी०—वही

संस्कृत के महाकवि भवभूति इस विषय में भुक्तभोगी थे। उनकी सुन्दर कविता लोगों के निरादर की पात्री बनी हुई थी। लोगों की इस प्रवृत्ति से चिढ़कर ही उन्होंने अन्य कवियों को उपदेश दिया है कि पूर्ण विचार के साथ कविता करनी चाहिए। लोगों की निन्दा के डर से काव्य-कला का परित्याग करना कथमपि उचित नहीं हैं। ऐसी कौन-सी कविता है जिसकी जनता निन्दा नहीं करती? उनका तो यह स्वभाव ही है। स्त्रियों की सदाचारिता तथा कविता की विशुद्धि में साधारण मनुष्य भी सन्देह करता हैं।

सर्वथा व्यवहर्तव्यं, कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

—उत्तररामचरित, अंक १।२

इसीलिए महाकवि कालिदास ने जनता को काव्यकला का प्रतिनिधि आलोचक न मानकर मर्मज्ञ विद्वान् को ही आलोचना का अधिकारी माना है। उनके मतानुसार किसी भी कला का प्रयोग तब तक साधु तथा शोभन नहीं है जब तक विद्वानों का (जनता का नहीं) उससे सन्तोष नहीं होता। विद्वानों—काव्यकला के मर्मज्ञों—का परितोष ही सुन्दर कविता की सच्ची कसौटी है—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

—शाकुन्तल १।२

जनता किस प्रकार अच्छे कवियों की कविता में भी व्यर्थ छिन्द्रान्वेषण किया करती है इसका एक सुन्दर उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

कहा जाता है कि एक बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किसी कवि-सम्मेलन में अपनी कविता सुना रहे थे। उन्होंने अपनी कविता में किसी ऐसी वस्तु का वर्णन किया था जो कवि-समय के अनुकूल नहीं थी। सम्भवतः उन्होंने वसन्त में कौए का वर्णन किया था जब कि कवि-प्रथा के अनुसार कोकिल का वर्णन होना चाहिए था। उस सम्मेलन में दम्पति किशोर नामक कविंमन्य एक सज्जन भी बैठे हुए थे। उन्होंने हरिश्चन्द्र को भरी सभा में नीचा दिखलाने के लिए तथा उनकी कविता की खिल्ली उड़ाने के लिए, बड़े तपाक से उठकर कहा कि कविजी! आपकी कविता में वसन्त ऋतु में कौए उड़ा करते हैं; यह अन्वेषण आपने कब से किया है? भला, हाजिर-जवाब हरिश्चन्द्र कब चूकनेवाले थे। उन्होंने दम्पति किशोर को मुँहतोड़ जवाब देते हुए कहा कि महाराज (गुरु)! जब तक आप जीवित हैं तभी तक कौए हैं; नहीं तो फिर हम कोकिल के कोकिल ही रहेंगे। भारतेन्दु का यह करारा जवाब सुनकर किशोर जी की बोलती बन्द हो गयी और वह अपना मुँह लटकाये छिपकर घर चले गये।

कविता की कसौटी

लोकप्रियता को काव्य की कसौटी मानना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता। निरंकुश लोक की प्रशंसा का मूल्य ही क्या है? जनता में काव्य के गुण-दोषों को समझने की क्षमता ही कहाँ? लोग अधिकतर कौतुक-प्रेमी हुआ करते हैं। कविता में थोड़ी-सी भी सुन्दरता होने पर यदि वह लोगों के कौतुक की वृद्धि करती है तो बालक, स्त्रीजन तथा हीन जाति के लोगों के मुँह से यह तुरन्त ही चारों ओर फैल जाती है। अतः

विवेकहीन जनता की आलोचना को ही कवि को अपने काव्य की कसौटी नहीं मानना चाहिए। उसे काव्य-मर्मज्ञों की ही सम्मति का ही सदा समादर करना चाहिए—

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम्॥

—का० मी०, अ० १०, पृ० ५१

राजशेखर ने सरस्वती के उपासक कवियों के लिए बड़े ही उपयोगी व्यावहारिक नियमों का वर्णन किया है। उनका कथन है कि कवि को अपने आधे रचे हुए काव्य को किसी के सामने नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उस ग्रन्थ के समाप्त होने में बाधा उपस्थित होती है और वह कभी समाप्त नहीं होता। नवीन काव्य को किसी एक व्यक्ति के सामने कभी नहीं पढ़ना चाहिए क्योंकि यदि वह व्यक्ति उस काव्य को अपना बतलाने लगे तो किसकी गवाही देकर वह जीता जायगा। अपनी कविता के ऊपर कवि को सुन्दर होने का पक्षपात नहीं करना चाहिए। क्योंकि पक्षपात करने से वह कविता के गुण-दोषों को ठीक-ठीक समझने में वंचित रह जाता है। उसे कभी घमण्ड भी नहीं करना चाहिए क्योंकि अभिमान का लेश भी सब संस्कारों को नष्ट कर देता है। कवि को चाहिए कि कविता लिखने के अनन्तर किसी दूसरे व्यक्ति से उसकी परीक्षा कराये। परीक्षा बहुत ही आवश्यक होती है क्योंकि उदासीन व्यक्ति काव्य के गुण-दोषों के विवेचन में जितना समर्थ होता है उतना उसका रचयिता नहीं होता। दुःख है कि हिन्दी के वर्तमान कविगण इस परम्परा को छोड़ते चले जा रहे हैं। उर्दू के कवियों में 'इसलाह' लेने की जो परम्परा अब तक विद्यमान है वह इसी नियम का अनुसरण करती है।

अपने को कवि माननेवाले व्यक्तियों के सामने भी कविता का पाठ नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के सामने पढ़ी गयी कविता अरण्यरोदन के समान ही निष्फल होती है या विनाश को प्राप्त होती है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों की यह मान्य सम्मति है कि कविमानी व्यक्ति के सामने सूक्ति का कभी पाठ न करे। वह व्यक्ति उस कविता का तिरस्कार ही नहीं करता प्रत्युत अपने काव्य में दूसरे कवि के भावों को बाँधकर नष्ट भी कर देता है—

इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं
पठेन्न सूक्तं कविमानिनः पुरः।

न केवलं तां न विभावयत्यसौ
स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि ॥

काव्यमीमांसा अ० १० पृ० ५८

यह तो प्रसिद्ध ही है कि राजा भोज के दरबार में ऐसे कवि थे जिन्होंने एक या दो बार कोई भी कविता सुन ली तो उन्हें याद हो जाती थी। राजा भोज ने एक बार यह आज्ञा दी कि यदि कोई कवि कोई नयी कविता सुनाएगा तो उसे प्रतिश्लोक एक लक्ष रुपया पुरस्कार दिया जायगा। अनेक कवि बड़े परिश्रम से अपनी अपनी कविता बनाकर लाये और उन्होंने उसे भोज के दरबार में सुनाया। परन्तु राजा के दरबार के पण्डितों ने कहा कि यह कविता नयी नहीं है बल्कि मेरी लिखी हुई है क्योंकि यह मुझे याद है तथा उसे भरी सभा में, पढ़कर सुना दिया। इस पर वह विचारा कवि लज्जित हो गया। कहने का आशय यह है कि इस प्रकार की साहित्यिक चोरी होती थी। अतः राजशेखर ने नवीन कवियों को इससे बचने के लिए पहले से ही सावधान कर दिया है।

५—कवि-चर्या

भारतीय आलंकारिकों के ऊपर यह लांछन लगाया जाता है कि काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की छानबीन में व्यस्त रहने के कारण उन्होंने इस शास्त्र की व्यावहारिक शिक्षा पर कभी दृष्टिपात नहीं किया। परन्तु यह दोषारोपण नितरां असत् तथा निराधार है। हमारे आलोचक सिद्धांत तथा व्यवहार दोनों विषयों के पारखी थे। **काव्यसमीक्षा** तथा **काव्यसृष्टि**—दोनों ही उनके समभावेन लक्ष्य थे। उनका ध्येय केवल उपलब्ध काव्यों के गुण और दोष का विवेचन ही नहीं था, प्रत्युत नवीन काव्यों की रचना भी।

काव्य की रचना के ऊपर देश तथा काल का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य से यहाँ के आलंकारिक पूर्ण रूप से परिचित थे। हम उन वश्यवाक् कवियों की चर्चा इस प्रसंग में नहीं करते, सरस्वती जिनकी चेरी बनकर सदा अनुगमन किया करती। उनके लिये काव्यसृष्टि के हेतु न तो कोई समय है और न कोई देश। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होते हैं। उनके ऊपर न देश का प्रतिबन्ध रहता है और न काल का नियमन। जिस जगह

उनका चित्त रम जाता है या जिस समय उनके हृदय में स्फूर्ति जग उठती है वे अव्याहत गति से काव्य की विपुल राशि की सृष्टि कर देते हैं। सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र सारस्वत कवि के लिये ये नियम आवश्यक नहीं हैं। सर्वदेश और सर्वकाल में वह कविता कर सकता है। वह सब नियमों से मुक्त होता है। स्थान और समय की पाबन्दी उसके लिये होती ही नहीं।

कवि के लिये बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच या पवित्रता दोनों आवश्यक हैं। शौच तीन प्रकार का होता है—वाक्-शौच, मनःशौच तथा कायशौच। **'वाक्शौच'** का अर्थ वाक्शुद्धि है अर्थात् मुख से किसी अश्लील, असंगत या अपवित्र शब्द को न निकालना। **'मनःशौच'** से अभिप्राय मन की पवित्रता से है। अर्थात् मन को न क्षुब्ध करने वाले किसी भाव–क्रोधादिक–को न लाना। **'कायशौच'** का अर्थ शरीर की पवित्रता से है अर्थात् शरीर को स्वच्छ तथा पवित्र रखना है। इनमें से प्रथम दो—वाक्शौच और मनःशौच–शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न होता है और तीसरा शुद्धता के साथ रहने से। पहिले दो आन्तरिक शुद्धि से सम्बन्ध रखते हैं और तीसरा बाह्य शुद्धि से।

कवि को सर्वदा पवित्रता के साथ रहना चाहिए। उसके हाथ और पैर के नाखून कटे रहने चाहिए, मुख में पान का बीड़ा एवं गले में फूलों की माला हो। वह बहुमूल्य तथा सुसज्जित वस्त्र से अलंकृत हो तथा शरीर उबटन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों के प्रयोग से सुसंस्कृत होना चाहिए। कवि के लिये पवित्रता के साथ रहना ही सरस्वती का आवाहन करना है। कवि जिस स्वभाव का होता है उसका काव्य भी उसी के अनुरूप ही होता है। प्रायः यह कहा जाता है कि जिस प्रकार का चित्रकार होता है उसका चित्र भी उसी प्रकार का होता है। कवि को चाहिए कि वह मुस्कराते हुए, प्रसन्न वदन होकर बातचीत करे। भला मुहर्रमी सूरतवाला कवि क्या कविता कर सकता है? कवि जो कुछ बोले उसके कथन का प्रकार अनूठा होना चाहिए। काव्य का सर्वस्व तो उक्ति की विचित्रता ही ठहरी। इसीलिये काव्य-साधना में प्रयुक्त होने वाले कवि के वाक्यों में वक्रोक्ति का पुट होना आवश्यक है। कवि को जहाँ कहीं काव्य की सामग्री मिल जाय उसे ग्रहण करना चाहिए। उसे रहस्य का अन्वेषक होना चाहिए। वस्तु के भीतर पैठकर उसके तत्त्व को ग्रहण का उद्योग करना चाहिए। किसी वस्तु के सतह के ऊपर तैरना कवि को शोभा नहीं देता। वह बिना पूछे किसी के काव्य में दोष की उद्भावना न करे और यदि उसकी सम्मति जानने के लिये कोई काव्य उसके सामने रखा जाय तो उसके दोष-गुणों का यथार्थ विवेचन कर दे।

कवि को अन्य कवि के काव्यों में द्वेष-बुद्धि के द्वारा दोष की उद्भावना नहीं करनी चाहिए। सुकवि वही होता है जो दूसरे की कविता सुनकर सन्तुष्ट होता है, नहीं तो अपनी कविता, चाहे वह आलोचना की दृष्टि से कितनी भी निकृष्ट क्यों न हो किसे नहीं अच्छी लगती ? इस विषय में महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव की यह सूक्ति प्रत्येक कवि को स्मरण रखनी चाहिए।

> अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः।
> परभणितिषु तृप्तिं यान्ति सन्तः कियन्तः॥
> निजघनमकरन्दस्यन्द-पूर्णालवालः
> कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः ?
>
> —प्रसन्नराघव (प्रस्तावना)

गोस्वामी तुलसीदास ने भी दूसरे की कविता का आदर करना प्रत्येक सज्जन का कर्तव्य बतलाया है। नहीं तो अपनी कविता, वह सदोष हो या गुणवती, भला किसे अच्छी नहीं लगती ?

> निज कवित्त केहि लाग न नीका।
> सरस होय अथवा अति फीका॥

कवि का निवास-स्थान

कवि का निवास-स्थान खूब साफ-सुथरा होना चाहिए। उसमें छःओं ऋतुओं के अनुकूल विविध स्थान होने चाहिए। कवि का वह घर कैसा ? जिसमें शीतकाल में ठंढ के कारण हाथ पैर ठिठुर जायँ और ग्रीष्म ऋतु में साँय-साँय कर चलनेवाली लू के मारे देह झुलस जाय। उसके घर के सामने सुन्दर लताओं से मण्डित, स्निग्ध छाया से सम्पन्न वृक्षवाटिका होनी चाहिए। उसके पास क्रीडा-पर्वत होना चाहिए जिसपर बावली और तलैया हो। छोटी-छोटी नहरें उस मकान के पास सदा जल से किलोल करती हुई रहें जिससे प्रकृति की स्निग्धता कवि-हृदय को सरस तथा शीतल बनाने में सदा समर्थ बनी रहे। कवि के बगीचे में नाना प्रकार के पक्षियों का समुदाय होना चाहिए। कहीं पर कोयल आम के पेड़ पर बैठी हुई अपनी कूक टेर रही हो; तो कहीं पपीहा 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की रट लगा रहा हो। कहीं हंसों के जोड़े क्रीडा कर रहे हों तो कहीं कुररी अपनी विषाद भरी वाणी से वियोग की कथा सुना रही हो। कहीं पर चकवा और चकवी दिन में एक संग किलोल करते हुए संयोग के प्रतीक बने हों और रात के होते ही बिछुड़ कर अपने करुण-क्रन्दन से कवि

के हृदय में भी करुणा उत्पन्न कर रहे हों। इनके अतिरिक्त तोता और मैना एक साथ बैट कर सरस प्रेम की कहानी कहते हुए दिन बिता रहे हों। कवि के सुन्दर उपवन में होना चाहिए लताओं का सुन्दर कुञ्ज, जिसमें धूप की गर्मी किसी को न सतावे। इसके अतिरिक्त उस उपवन में सुन्दर झूला होना चाहिए जिसमें अवकाश के समय बैठकर मनो-विनोद ही न किया जाय प्रत्युत शारीरिक क्लान्ति भी दूर हो सके। यदि कवि का मन कभी खिन्न या उदास हो तो उसको प्रसन्न करने के लिये आज्ञाकारी नौकर होने चाहिए अथवा कवि को एकान्त स्थान का सेवन करना चाहिए।

कवि के परिजनों को (नौकरों) चतुर होना चाहिये। उनकी वाणी में वक्रता और वर्णन में चमत्कार होना चाहिये। इस प्रसंग में हम उस फारसी शायर की बांदी की वचन-चातुरी की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, जिसने किसी अब्दुल्ला नामक शायर का परिचय गबदुल्ला नाम से देकर अपने मालिक को चमत्कृत किया था। सुनते हैं कि दिल्ली के किसी शायर के पास अपनी शायरी में मस्त तथा अपने इल्म के घमण्ड में चूर कोई शायर फारस से मिलने के लिए आए। कवि के घर का दरवाजा बन्द था। अतः उन्होंने बाहर से ही जोर से खटखटाया। शायर ने अपनी नौकरानी से कहा कि बाहर जाकर देख, कौन इस बुरे वक्त इतने जोर से दरवाजा खटखटा रहा है। मालिक का हुक्म पाकर नौकरानी ने दरवाजा खोला तो बाहर किसी भले आदमी को खड़ा पाया। बाँदी के पूछने पर उन्होंने अपना नाम अब्दुल्ला बताया तथा अपने आने का मतलब कह सुनाया। बांदी लौटकर अपने मालिक के पास आई और अर्ज किया कि फारस के कोई मियाँ गबदुल्ला नाम के शायर आप से मुलाकात करने के लिये दरवाजे पर खड़े हैं। गबदुल्ला नाम सुनते ही दिल्ली के शायर आग बबूला होकर अपनी बाँदीपर बरस पड़े और बोले हरामजादी! अबदुल्ला कह अब-दुल्ला। भला ग़बदुल्ला किसी का नाम होता है। बाँदी ने कहा कि आपका कहना बिल्कुल बजा है. लेकिन मैं क्या करूँ! खुदा ने उनकी दाहिनी आँख में पहिले से ही नुक्ता लगा रखा है। एनके ऊपर नुक्ता देने से गैन ही होता है। फारस के शायर बाँदी की यह बात सुनकर बड़े अचम्भित हुए। बात यह थी कि उनकी दाहिनी आँख में फूली पड़ी थी। इसी को लक्ष्यकर बांदी ने यह उक्ति कही थी। शायर ने सोचा कि जिसके घर की बाँदी इतनी चतुर है भला उसका मालिक कितना बड़ा शायर होगा। उससे विवाद करने के हौसला को अपने दिल में दबा कर वे उल्टे पाँव फारस लौट गए।

कवि का अध्ययन-गृह

कवि के अध्ययन-गृह में लेखन की सामग्री सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। क्योंकि कवि को कविता की जब स्फूर्ति हो तो उसकी कविता को शीघ्र लिपिबद्ध किया जा सके। इसीलिये कवि के कमरे में खड़िया और श्यामपट्ट होना चाहिए। लेखनी और दावात, ताड़पत्र और भूर्जपत्र आदि लेखन की सामग्री सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। बहुत से आचार्य इन्हीं बाह्य-साधनों को काव्य-विद्या का परिकर (साधन) मानते हैं। उनका कहना है कि इन वस्तुओं को देखकर कविहृदय में लिखने की स्फूर्ति स्वयं जागरित होती है परन्तु कविवर राजशेखर इन बाह्य-साधनों को महत्त्व नहीं देते हैं। वे तो प्रतिभा को ही काव्य का परिकर मानते हैं। बात भी सच्ची यही है। प्रतिभाविहीन कवि के लिये बाहरी साधन सुन्दर होने पर भी क्या सहायता कर सकते हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भारतीय हरिश्चन्द्र जब कभी घर से बाहर निकलते थे तो उनके पीछे-पीछे उनका नौकर कलम-दावात और कागज लेकर साथ चला करता था। रास्ते में ही खड़े होकर जब उन्हें भावावेश आता था तब वे अपनी कविता को लिपिबद्ध कर देते थे। कहा जाता है कि "फिसाने आज़ाद" के सुप्रसिद्ध रचयिता पण्डित रतननाथ सरशार स्वभाव से ही आलसी थे और बहुत आग्रह करने पर ही कुछ लिखा करते थे। उस समय जो कुछ भी लेखन-सामग्री उन्हें मिल जाती थी उसी से ही वे अपना काम चला लेते थे। यदि लिखने के लिये कलम न मिली तो सींक ही सही। अच्छा कोरा कागज न मिला तो अखबार का टुकड़ा ही सही। परन्तु ऐसा जीवन कवि के लिये आदर्श नहीं है। राजशेखर ने कवि के गृह तथा अध्ययनस्थान एवं उसके रूप का जो आदर्श चित्र खींचा है वह हमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में पूर्णतया मिलता है।

कविता करने का समय

कवि को नियत समय पर ही कविता करनी चाहिए, क्योंकि अनियत काल में होनेवाली काव्य की प्रवृत्ति कभी सफल नहीं हो सकती। इसलिये कवि को चाहिए कि दिन और रात को प्रहर के अनुसार चार भागों में बाट लें। प्रातःकाल उठकर सन्ध्या-पूजन से निवृत्त होने के पश्चात् उसे सारस्वत सूक्त का पाठ करना चाहिये। सरस्वती के सेवक को सरस्वती की उपासना करना उचित ही है। तदनन्तर अपने अध्ययन-गृह में बैठकर उसे काव्य की

विद्या तथा उपविद्या का एक प्रहर तक मनन करना चाहिए। व्याकरण, कोष, छन्दःशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र ही काव्य की विद्याएँ हैं और चौसठ कलायें उपविद्या के अन्तर्गत आती हैं। काव्यकला के लिये उपयोगी होने के कारण इनका प्रातःकाल में अभ्यास करना नितान्त उपयोगी होता है। इन विद्याओं का नूतन संस्कार प्रतिभा के विकास करने में जितना समर्थ होता है उतना अन्य संस्कार नहीं। दिन के दूसरे प्रहर में कवि काव्य की रचना करे। लगभग दोपहर के समय वह पुनः स्नान करे और स्वास्थ्य-प्रद भोजन करे। भोजन के अनन्तर तीसरे पहर में काव्य-गोष्ठी का आयोजन करे।

६—काव्यगोष्ठी

प्राचीन भारत में बड़ी-बड़ी काव्यगोष्ठियों तथा सरस समाजों का आयोजन होता था जिसमें नानाप्रकार के साहित्यिक मनोविनोदों की धूम मची रहती थी। कतिपय मनोविनोदों की यहाँ सामान्य चर्चा की जा रही है।

(१) प्रतिमाला या अन्त्याक्षरी—इसमें एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसका प्रतिपक्षी पंडित श्लोक के अन्तिम अक्षर से आरम्भ कर एक दूसरा श्लोक पढ़ता था। यह परम्परा लगातार चलती रहती थी।

(२) दुर्वाचन योग—इसमें ऐसे कठोर उच्चारण वाले शब्दों का श्लोक सामने रखा जाता था जिसे पढ़ना बड़ा ही कठिन कार्य था। कामसूत्र की जयमंगला टीका की रचयिता ने उदाहरण के लिये यह श्लोक दिया है:—

> द्रंष्ट्राग्रद्धर्यो प्रग्यो द्राक क्ष्मामश्वन्तः-स्थामुच्चिक्षेप।
> देव भ्रुटक्षिद्धयृत्विक्रस्तुत्यो युष्मान्सोऽव्यात् सर्पारकेतुः॥

(३) मानसी कला—यह प्राचीन भारत का सरस साहित्यिक विनोद था। कमल या किसी अन्य वृक्ष के पुष्प अक्षरों की जगह पर रख दिए जाते थे। उसे पढ़ना पड़ता था। पढ़नेवाले की चातुरी यह थी कि वह ईकार, ऊकार आदि मात्राओं की सहायता से ऐसा छन्द बना ले जो सार्थक भी हो और छन्दों के नियम के विरुद्ध भी न हो। इस प्रकार यह कला बिन्दुमती नामक क्रीड़ा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस कला का और भी कठिन रूप तब होता था जब पढ़नेवाले के सामने फूल आदि कुछ भी न रखकर उसे केवल एक बार सुना दिया जाता था कि कहाँ कौनसी मात्रा है और कहाँ अनुस्वार, विसर्ग है।

(४) अक्षरमुष्टि—नाम का भी एक ऐसा साहित्यिक विनोद प्राचीन भारत में होता था। यह विनोद दो प्रकार का होता था (क) साभासा और (ख) निरवभासा। (क) साभासा अक्षरमुष्टि संक्षिप्त बोलने की कला है जैसे फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीनों महीनों के लिये इनके आदि अक्षरों को ग्रहण कर "फाचैवै" कहना। इस प्रकार से रचित श्लोकों का अर्थ करना बड़ा ही कठिन होता था। इस विषय में एक प्राचीन कथा इस प्रकार की सुनी जाती है।

कहते हैं कि एक गाँव में दो पण्डित रहते थे। उन्होंने अपनी विद्या को पूर्ण करने के लिये काशी आना निश्चित किया। इन पण्डितों में एक वैयाकरण था और दूसरा वैदिक। वैयाकरण तो पराया माल खाता हुआ मजे में काशी में दिन बिता रहा था परन्तु वैदिक बड़ा ही नैष्ठिक था। उसने विद्या (वेद) का अच्छा अभ्यास किया और कुछ ही दिन में प्रकाण्ड पण्डित बन बैठा। जब इन पण्डितों का अध्ययन समाप्त हो गया तब इन्होंने घर जाने का निश्चय किया। ये दोनों रास्ते में एक घनघोर जंगल में पहुँचे और वहीं रात्रि हो गई। भोजनभट्ट वैयाकरण ने अब भोजन बनाने की तैयारी की। चावल, दाल, लकड़ी आदि सारा सामान मिल गया परन्तु कहीं खोजने पर भी उस जंगल में आग नहीं मिली। वैयाकरण ने परेशान होकर अपने मित्र से कहा कि आग कहाँ से लाई जाय? इसके बिना रसोई बनना तो कठिन ही है। वैदिक ने कहा कि अग्नि तो नैष्ठिक ब्राह्मण के मुँह में निवास करती है। अतः फूँक मारो, आग आप से आप जल उठेगी। वैयाकरण ने अनेक बार फू, फू, किया परन्तु आग न जली। उन्हें इस कार्य में असफल देखकर वैदिक ने एक बार फूंक मारी और आग आप ही आप जल उठी। वैयाकरण को वैदिक की यह करामात देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने अपने मन में सोचा कि यदि यह मेरे साथ गाँव लौटकर चलेगा तो इसके अलौकिक पाण्डित्य और चमत्कारी करामात के कारण गांववाले इसी का आदर करेंगे और मुझे कोई नहीं पूछेगा। अतः इसे जान से मार डालना चाहिए। यह निश्चय कर उसने वैदिक को मारने की तैयारी की। जब वैदिकजी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने वैयाकरण से कहा कि यह पत्र मेरे पिताजी को देना। वैयाकरण ने वैदिक की हत्या कर दी और गाँव में आकर उस पत्र को उनके पिता को दे दिया।

पत्र को पाकर वैदिक के पिता बड़े अचंभित हुए क्योंकि उस पत्र में

केवल चार अक्षर,—अ, प्र, शि, ख—लिखा था। उनकी समझ में इस पत्र का कुछ भी आशय नहीं आया और वह राजाभोज के पास जाकर उस पत्र को अपने पण्डितों के द्वारा पढ़वाने की प्रार्थना की। भोज ने अपने पण्डितों को एक मास अवसर देते हुए कहा कि यदि इस अवधि के भीतर इस पत्र को कोई न पढ़ सका तो सबको फाँसी दे दी जायेगी। अवधि के बीतने में एक दिन शेष था परन्तु अर्थ किसी से नहीं लगा। भोज की सभा के एक विशिष्ट पण्डित वररुचि उदास होकर जंगल को भाग निकले। वहाँ वे एक पेड़ के नीचे बैठे जहाँ सियारिन सियार (शृगाल) से मांस खाने को कह रही थी। शृगाल ने कहा कि घबराओ नहीं, कल भोज की सभा में अनेक पण्डित मारे जायेंगे तब उनका पवित्र माँस खूब छक कर खाना। शृगालिन ने इसका कारण पूछा तो शृगाल ने सारा किस्सा कह सुनाया। शृगालिन ने फिर पूछा—क्या तुम उस पत्र का आशय जानते हो? शृगाल ने कहा—हाँ! जब शृगालिन ने इसके आशय को स्पष्ट करने के लिये बहुत हठ किया तब शृगाल ने बताया कि पत्र का अर्थ यह है—

अनेन तव पुत्रस्य, प्रसुप्तस्य वनान्तरे।
शिखामारुह्य पादेन, खड्गेन निहतं शिरः॥

वररुचि पेड़ के नीचे बैठा हुआ सारा वृत्तान्त सुन रहा था। दूसरे दिन उसने पत्र का आशय बतलाते हुए इस श्लोक को भोज की सभा में पढ़ सुनाया और इस प्रकार उसने सभी पण्डितों के प्राणों की रक्षा की।

ऊपर की यह कथा साभासा अक्षरमुष्टि का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है।

(ख)—**निरवभासा अक्षरमुष्टि**—गुप्तरूप से बातचीत करने की कला है। इसके लिये प्राचीनकाल में नानाप्रकार के संकेत प्रचलित थे। हथेली और मुष्टि को भिन्न-भिन्न आकार में दिखलाने से अक्षरों के भिन्न-भिन्न वर्ग सूचित होते थे जैसे कवर्ग की सूचना के लिये मुष्टि को बाँधना पड़ता था तथा चवर्ग के लिये हथेली को पत्ते के समान बनाना पड़ता था। इसी प्रकार अन्य वर्गों की सूचना का क्रम निश्चित था। वर्ग बतलाने के अनन्तर उसके अक्षर बतलाये जाते थे। इसके लिये अंगुलियों का प्रयोग किया जाता था। जैसे ग कहना हो तो पहले मुष्टि बाँधी जाती थी और फिर तीसरी अंगुली उठाई जाती थी। इस प्रकार अक्षरों की सूचना के अनन्तर मात्रायें बतलाई जाती थीं। यह कार्य अँगुलियों के पोरों से अथवा चुटकी बजाकर किया

जाता था। इन पुराने संकेतों का द्योतक एक पुराना श्लोक इस प्रकार है:—

> मुष्टिः किशलयं चैव, च्छटा चारीपताकिका।
> पताका-कुशमुद्राश्च, मुद्रा वर्गेषु सप्तसु॥

इसी प्रकार के 'बिन्दुच्युतक' नामक मनोविनोद में सारे पद्य से अनुस्वार हटा दिये जाते थे और तभी श्लोक में सार्थकता आती थी। इस प्रसंग में नैषधकार का यह प्रख्यात पद्य स्मरण आये बिना नहीं रहता जिसमें उन्होंने दमयन्ती के 'बिन्दुच्युतक' की चातुरी का रुचिर उल्लेख किया है—

> चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी
> घनास्त्रबिन्दुस्रुति-कैतवात् तव।
> मसारताराक्षि ससारमात्मना
> तनोषि संसारमसंशयं यतः॥
>
> —नैषध ९।१०४

आशय है कि हे इन्द्रनील के समान स्निग्ध श्यामल पुतली से युक्त नेत्रवाली दमयन्ती, तुम नेत्रों से घने आँसू की बूंदों के बहाने के 'बिन्दुच्युतक' में अपनी चतुरता प्रकट कर रही हो। इस 'संसार' को तुम निःसंदेह स्वयं 'संसार' बना रही हो। संसार में बिन्दु के च्युत करने पर ही 'संसार' बन सकता है। संसार अपने आप तो एक निःसार पदार्थ ठहरा। तुम्हारे ही कारण से वह सार वस्तु से सम्पन्न (संसार) प्रतीत हो रहा है।

इसके ठीक विपरीत 'बिन्दुमती' में श्लोक में से समस्त अक्षर हटा दिए जाते थे और केवल बिन्दु ही अवशिष्ट रह जाते थे। कवि को इन बिन्दुओं के स्थान से उन अक्षरों की पूर्ति करनी पड़ती थी जो वहाँ से हटा दिये गये थे। एक दूसरे मनोविनोद में सभी मात्राएँ श्लोक में से हटा ली जाती थीं और कवि को मात्राओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। इसे 'मात्राच्युतक' कहते थे। इसी भाँति के मनोविनोद को साहित्यजगत् में चित्रयोग के नाम से पुकारते हैं[१]। इन्हीं विनोदों[२] के द्वारा कवि को दिन का तीसरा पहर बिताना चाहिए।

१—राजशेखर-काव्यमीमांसा अध्याय १० पृ० ५२

२—इन चित्रयोगों के विशेष वर्णन के लिये देखिए—(क) दण्डी—काव्यादर्श (ख) रुद्रट काव्यालंकार अध्याय ५ (ग) कामसूत्र की जयमंगला टीका १।३।१६

दिनचर्या

दिन के चौथे पहर में कवि को चाहिए कि वह अकेले या अपने परिमित मित्रों के साथ बैठकर दिन के पूर्वार्द्ध में रचे हुए काव्य की परीक्षा करे। काव्य की अनुपरीक्षा या समीक्षा इसीलिये आवश्यक होती है कि रस के आवेश में काव्य रचते समय कवि की विवेकिनी दृष्टि नहीं रहती है। भावावेश में आकर कवि को जो कुछ मन में आता है उसे लिखता चला जाता है। उस समय उसे विचार करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिये सायंकाल में आवेश से रहित होकर अपनी कविता की समीक्षा करे। कविता में जो अनावश्यक वस्तु हो उसका त्याग करे, जिस भाव या शब्द की कमी हो उसकी पूर्ति कर दे और भूली हुई बात का अनुसन्धान कर शब्दार्थ का उचित स्थान सन्निवेश करे।

सन्ध्याकाल होते ही सन्ध्या-वन्दन कर सरस्वती का पूजन करे। उसके अनन्तर दिन में रचित तथा परीक्षित काव्य को किसी लेखक-द्वारा लिपिबद्ध कराए। यह लेखक सब भाषा में कुशल, शीघ्र लिखनेवाला, सुन्दर अक्षर-वाला तथा अनेक लिपियों को जानने वाला होना चाहिए। उसे वक्ता के संकेत को झट से समझ लेना चाहिए। इसके अनन्तर स्त्रियों के साथ मनो-विनोद के लिये बातचीत करनी चाहिये। संस्कृत के आलंकारिकों ने कवि के जीवन को बड़ा नैष्ठिक और सदाचारी होने के लिये आग्रह किया है। इसीलिये कवि के जीवन में नैतिक अव्यवस्था को सह नहीं सकते हैं। रात्रि का दूसरा और तीसरा प्रहर सोने में बिताना चाहिए। चौथे प्रहर या ब्राह्ममुहूर्त में कवि को जगकर काव्यार्थ का चिन्तन करना चाहिए। वामन ने चित्त की एकाग्रता को काव्य की निष्पत्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक माना है। इसे वह 'अवधान-शब्द' के नाम से पुकारते हैं[1]। अवधान होता है देश और काल से[2]। निर्जन स्थान और ब्राह्ममुहूर्त में चित्त बाह्य विषयों से उपरत होकर प्रसन्न तथा एकाग्र हो जाता है[3]। इसीलिये महाकवि कालिदास तथा माघ ने भी ब्राह्ममुहूर्त को कविकर्म के लिये नितान्त उपर्युक्त बतलाया है। कालिदास का अनुभव है कि रात्रि के अन्तिम प्रहर से चेतना प्रसाद को ग्रहण करती है—

१—चित्तैकाग्र्यम् अवधानम्। वामन १।३।१७

२—तद्देशकालाभ्याम्। वही १।३।१८

३—विविक्तो देशः। रात्रियामस्तुरीयः कालः। वही १।३।१९-२०

पश्चिमाद् यामिनी-यामात् प्रसादमिव चेतना ।

—रघुवंश १७।१

माघ रात्रि के अन्तिम प्रहर को राजाओं तथा कवियों के अर्थचिन्तन के लिये सब से उपर्युक्त समय बतलाते हैं क्योंकि इसी समय बुद्धि प्रसन्न होकर गहन से गहन विषयों को समझने में समर्थ होती है ।

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान् ।
उदधिमहति राज्ये काव्यवद्-दुर्विगाहे ॥
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥

—शिशुपालवध ११।६

७—कवि-सम्मेलन

आदर्श राजा सरस कवियों का केवल आश्रयदाता ही नहीं होता था प्रत्युत वह स्वयं कमनीय काव्यकला का उपासक होता था। यह निश्चित है कि राजा के कवि होनेपर उसकी प्रजा में कविता के लिये विशेष आदर होता है और काव्यरचना की ओर सबका ध्यान आकृष्ट होता है । राजा को चाहिए कि कवियों के सम्मान के लिये कवि-समाज का आयोजन किया करे । इसके लिये आवश्यक है कि वह कवियों और गुणीजनों के लिए एक विशिष्ट सभा-भवन तैयार कराए जिसमें सोलह खम्भे, चार दरवाजे, आठ मत्तवारणी (बरामदा) हों । सभा-भवन के बीच में एक मणिवेदिका बनाई जानी चाहिए जो कि एक हाथ ऊँची हो और जो चार खम्भों से युक्त हो। इस मणिवेदिका के ऊपर राजा का सिंहासन होना चाहिए। राजा के चारों ओर भिन्न भिन्न भाषाओं के गुणी तथा कविजन बैठें। राजा के उत्तर ओर संस्कृत भाषा के कवियों के लिए स्थान होना चाहिए। उनके बाद उसी ओर वेदविद्या में निपुण, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिवेत्ता, वैद्य, ज्योतिषी तथा इसी प्रकार के अन्य विद्वानों के लिए स्थान होना चाहिए। राजा के आसन के पूर्व ओर प्राकृतभाषा के कवि बैठें । इसके अनन्तर नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव तथा इसी प्रकार के अन्य गुणीजनों को स्थान देना चाहिए। राजा के पश्चिम ओर अपभ्रंश भाषा के कवियों को बैठाना चाहिये । उनके अनन्तर चित्रकार, मणिकार, स्वर्णकार तथा लौहकार एवं इसी

प्रकार के अन्य शिल्पों के वेत्ता व्यक्तियों का स्थान हो। राजा के दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवि का स्थान हो। इसके अनन्तर गणिका, इन्द्रजाल के पण्डित तथा शास्त्रोपजीवी, मल्लविद्या में निपुण, पुरुष अपना आसन ग्रहण करें। ऐसी सजी हुई सभा में बैठकर राजा को काव्यगोष्ठी प्रवृत्त करनी चाहिए।

ऐसी गुणिगणपण्डित पण्डित-मण्डली में कविता-पाठ करना कोई हँसी-खेल की बात नहीं थी। प्रतिस्पर्द्धी कवि अपने विपक्षी की कविता में सदा जागरूक रहते थे। नये कवि को राजसभा के इस चाकचिक्य से ऐसा चकाचौंध हो जाता था कि उसके मुँह से बोली ही नहीं निकलती थी। राजसभा में प्रथम बार आए हुए कवि की वाणी की उपमा एक कवि ने नवविवाहिता वधू से दी है जो बुलाए जाने पर भी आगे पैर नहीं रखती। गले से उलझकर रह जाती है। पूछने पर भी नहीं बोलती है, काँपने लगती है, स्तंभित हो जाती है। वह अचानक फीकी पड़ जाती है, गला रुँध जाता है, नेत्रों का प्रकाश फीका पड़ जाता है, मुख की शोभा मन्द हो जाती है। बड़े कष्ट की यह बात है कि प्रतिभा-सम्पन्न कवि की भी वाणी ऐसी राजभाषा में नवोढ़ा वधू के समान आचरण करती है। कवि की वाणी और नवोढ़ा वधू में कितनी आश्चर्यजनक समानता है:—

> नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्,
> पृष्टा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तम्भं समालम्भते।
> वैवर्ण्यं स्वरभंगमञ्चति बलान्मंदाक्षमन्दानना,
> कष्टं भो! प्रतिभावतोऽप्यभिसभं वाणी नवोढायते॥

राजसभा में कवियों को परस्पर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण कभी-कभी अपनी असाधारण मेधा शक्ति और असामान्य उदारता दिखलाने का अवसर मिलता था। मध्ययुग की यह कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्रीहर्ष के वंशज हरिहर नामक कवि गुजरात के राजा वीरधवल की सभा में आए। उस समय राजा के प्रधानमन्त्री थे विद्वानों के आश्रयदाता वस्तुपाल और राजकवि थे सोमेश्वर। कवि हरिहर ने इन तीनों की स्तुति में एक पद्य बनाकर अपने एक शिष्य के हाथ राजसभा में भेजा। राजा और मन्त्री ने तो उसे सहर्ष ग्रहण कर लिया परन्तु राजकवि सोमेश्वर इस तिरस्कारपूर्ण बर्ताव से चिढ़ गए। दरबार में धीरे-धीरे हरिहर की ख्याति बढ़ने लगी।

उधर सोमेश्वर का विरोध-भाव भी बढ़ता ही गया। किसी अवसर-पर जब राजा ने 'वीरनारायण' नामक महल बनवाया तब उसपर प्रशस्ति खुदवाने के लिए सोमेश्वर कवि ने १०८ श्लोकों की रचना की। राजा की आज्ञा से जब वे सभा में अपने श्लोकों को सुना चुके तब राजा ने हरिहर पंडित की सम्मति माँगी। हरिहर पंडित ने इन श्लोकों की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि ये! श्लोक बड़े ही सुन्दर हैं? ये ही श्लोक महाराज भोजराज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक प्रासाद के गर्भगृह में खुदे हुए हैं। मुझे भी ये याद हैं, सुन लीजिए। राजा के आदेश पर हरिहर पंडित ने सभी श्लोकों को अक्षरशः कह सुनाया जिसे सुनकर सारी सभा आश्चर्यित हो उठी। राजकवि सोमेश्वर का सारा रंग फीका पड़ गया। दूसरे दिन वस्तुपाल की सम्मति से सोमेश्वर हरिहर पण्डित की शरण में गए और अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाए रखने की प्रार्थना की। हरिहर दयार्द्र होकर पिघल उठे और अगले दिन भरी सभा में राजा से निवेदन किया कि राजन्! यह प्रशस्ति-श्लोक वस्तुतः सोमेश्वर की ही रचना है। सरस्वती की कृपा से मुझे यह वरदान प्राप्त है कि एक बार ही सुनकर मैं १०८ श्लोकों को अक्षरशः सुना सकता हूँ। राजा को इस अलौकिक स्मरण-शक्ति पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने दोनों कवियों में मेल कराकर दोनों को पुरस्कृत किया।

इसी विषय में एक दूसरी कथा इस प्रकार है। गुजरात के राजा वरधवल के प्रधान मन्त्री वस्तुपाल की सभा में इन्हीं हरिहर पंडित का बड़ा ही सम्मान था। उसी दरबार के एक दूसरे कवि का नाम मदन पंडित था। दोनों कवियों में इतनी प्रतिस्पर्धा थी कि वस्तुपाल दोनो को राजसभा में झगड़े के डर से एक साथ उपस्थित होने का अवसर ही न देते थे। परन्तु द्वारपाल की असावधानी से एक बार ऐसा दुर्योग जुट ही गया। हरिहर कवि दरबार में अपना काव्य सुना रहे थे कि मदन पंडित आ धमके। वे आते ही हरिहर पंडित को डाँटने लगे और कहने लगे कि ए हरिहर! घमण्ड छोड़ो। कविराज रूपी मतवाले हाथियों का अंकुश मैं मदन कवि स्वयं आ गया हूँ:—

"हरिहर! परिहर सर्वं कविराज-गजाङ्कुशो मदनः।"

इस पर हरिहर पण्डित ने तपाक से उत्तर दिया कि मदन! मुँह बन्द करो, हरिहर के अतीत चरित का स्मरण तो करो। जानते नहीं हो कि हरने मदन को भस्म कर डाला था:—

"मदन ! विमुद्रय वदतं हरिहरचरितं स्मरातीतम् ।"

इतने पर भी बात रुकी नहीं, बल्कि बढ़ती ही गई। तब वस्तुपाल ने झगड़े को दूर करने के लिये उन दोनों कवियों से निवेदन किया कि नारिकेल को लक्ष्य करके आप लोग सौ सौ श्लोक बनाइये। इसमें जो पहले श्लोक बनाएगा उसकी ही जीत होगी। दोनों श्लोक-रचना में जुट गये। मदन ने तो सौ श्लोकों को पूरा कर लिया परन्तु तब तक हरिहर पण्डित साठ ही श्लोक बना पाए थे। इस पर मन्त्री ने कहा कि हरिहर पण्डित तुम हार गए। हरिहर ने झट से कविता बना कर सुनाई— अरे गँवई का जुलाहा! ग्रामीण स्त्रियों के पहनने के लिये सैकड़ों घटिया किस्म के कपड़ों को बुनकर अपने को परेशान क्यों कर रहा है? भले आदमी, कोई सुन्दर तथा नयी एक ही ऐसी साड़ी क्यों नहीं बनाता जिसे राजाओं की प्यारी पटरानियाँ भी अपने वक्षःस्थल से एक क्षण के लिये भी न उतारें:—

"रे रे ग्राम—कुविन्द! कन्दलयता वस्त्राण्यमूनि त्वया,
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुशः स्वात्मा किमायास्यते।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्त्वया सूय्यतां,
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः॥"

इस सुन्दर श्लोक से प्रसन्न होकर मन्त्री ने दोनों कवियों का सम्मान किया। इन दोनों उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि राजा की सभा में रहने वाले पण्डित वाक्चातुरी में कितने निपुण होते थे।

राजा के द्वारा काव्य-परीक्षा

राजा देश का स्वामी होता है। अतः वह जिस काव्य का आदर करता है वही काव्य लोगों में भी मान्य और आदृत होती है। अतः उसे चाहिये कि लोकोत्तर काव्य के लेखक कवि को यथोचित पुरस्कार से पुरस्कृत करे। यह पुरस्कार केवल मुद्रा के ही रूप में नहीं होना चाहिए बल्कि वह सहृदयता और गुणग्राहकता के रूप में भी होना चाहिए। कवि के लिये गुणग्राहकता का प्रदर्शन ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार है। इस प्रसंग में कल्हण पण्डित ने काश्मीर-नरेश मातृगुप्ताचार्य की सहृदयता का जो वर्णन किया है वह यथार्थ होने पर भी कितना विलक्षण है।

कहते हैं कि महाकवि भर्तृमेण्ठ 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना कर किसी गुणग्राही राजा की खोज में इधर उधर घूमते-घूमते कश्मीर

पहुँचे। उस समय कश्मीर के राजा थे मातृगुप्ताचार्य जो स्वयं एक उच्चकोटि के कवि थे। भर्तृमेण्ठ उनके दरबार में पहुँचे और राजा की आज्ञा से अपनी कमनीय कविता सुनाने लगे। इधर काव्य की समाप्ति हो चली उधर काव्य के भले या बुरे होने के बारे में राजा के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। राजा के इस मौनावलम्बन से कवि मन ही मन बड़े दुःखित हुए और इसे अपनी कविता का निरादर समझा। ग्रन्थ के समाप्त हो जाने पर कवि जब उसे वेष्टन में बाँधने लगे तब राजा मातृगुप्त ने उस पुस्तक के नीचे सोने की थाली मँगाकर इस विचार से रखवा दी कि कहीं उस ग्रन्थ का लावण्य पृथ्वी पर टपक कर नष्ट न हो जाय—काव्य-रस चूकर पृथ्वी पर गिर न पड़े। राजा की इस सहृदयता तथा काव्यमर्मज्ञता से भर्तृमेण्ठ इतने आह्लादित हुए कि इसे ही उन्होंने अपना पूरा सत्कार समझा और राजा के द्वारा पुरस्कार में दी हुई अतुल सम्पत्ति को पुनरुक्त ही माना।[1] सच है महाकवि गुणग्राहता का अभिलाषी रहता है, वह वैभव का दास नहीं होता। भर्तृमेण्ठ ने राजा मातृगुप्ताचार्य के सामने 'हयग्रीववध' नामक जो अपना महाकाव्य सुनाया था और जिसकी सरसता और मधुरता पर मुग्ध होकर उन्होंने पुस्तक के नीचे सुवर्ण-थाल रखकर अपनी सहृदयता का परिचय दिया था, उस महाकाव्य के सरस दो पद्य नमूने के रूप में यहाँ दिये जाते हैं:—

> घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ ! प्रेमबन्धं तरुण्याः,
> पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पंकानुलेपम्।
> दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरम्या
> रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः॥

ऐ हाथी के बच्चे! अब हथिनी का प्रेम छोड़ दे। वह तो बन्धन में डालकर स्वयं भाग गई है। घास खाओ और अपने शरीर पर रस्सी बाँधने से

१—हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम्।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः॥
अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात्।
लावण्यनिर्याणभिया राजाऽधः स्वर्णभाजनम्॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम्॥
—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग (२६४-६६)

होने वाले घावों पर कीचड़ का सुखद लेप लगाओ। शबरसुन्दरियों के विलास से रमणीय और नर्मदा तट पर उगने वाले वृक्षों के पुष्पराग से धूसरित विन्ध्य की पहाड़ियाँ अब तुमसे बहुत दूर हो गई हैं। कामिनी के प्रेम के कारण संसार-जाल में फँसे हुए पुरुषों को लक्ष्य कर यह कितनी सुन्दर अन्योक्ति कही गई है।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्,
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला,
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

कवि हयग्रीव के वर्णन में कह रहा है कि जब वह अपनी इच्छा से ही टहलने घूमने के लिये भी इधर-उधर निकल जाया करता था तब इस समाचार को सुनकर अमरावती के दरवाजों को इन्द्र अत्यन्त डर से शीघ्र बन्द कर देता था। जान पड़ता था कि अमरावती भय से, आँखों को बन्द करके बैठी हो। इस पद्य में उत्प्रेक्षा का चमत्कार बड़ा ही मनोहर है।

कवि का समादर

राजा को चाहिए कि अपने राज्य के प्रधान नगर में काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिये 'ब्रह्म-सभा की' स्थापना करे। इनमें जो कवि या शास्त्रज्ञ परीक्षा में उत्तीर्ण हों उसे ब्रह्मरथयान तथा पटबन्धन का सम्मान राजा अवश्य प्रदान करे। जब पण्डित राज-सभा में विजयी होता था तब उसके रथ राजा स्वयं खींचते थे। इसे ब्रह्मरथयान कहते थे। और जब राजा स्वयं पण्डित के मस्तक पर सुवर्णपट्ट बाँध देते थे तब उसे पट्टबन्ध कहते थे। विजेता कवि का यहाँ तक सम्मान होता था कि कभी-कभी राजा स्वयं कवि की पालकी में अपना कन्धा लगा देते थे। ऐसे ही सम्मान का वर्णन महाकवि भूषण के प्रसंग में आता है। कहा जाता है कि शिवाजी के दरबार को छोड़कर जब भूषण पन्ना के नरेश छत्रसाल के दरबार में आए तब राजा ने कवि का बड़ा ही समादर किया। महाकवि भूषण पालकी पर चढ़कर चले आ रहे थे। जब राजा ने यह समाचार सुना तब कवि की अगवानी (स्वागत) के लिये दौड़ पड़े और उनकी पालकी में स्वयं अपना कन्धा लगाकर भूषण को अपने महल में ले आए। भूषण राजा के इस अलौकिक समादर से इतने प्रसन्न हुए कि निम्नांकित पद्य की रचना कर उन्होंने यह आश्चर्य प्रकट किया कि मुझे यह ज्ञात नहीं होता कि इस असाधारण सम्मान

श्रीहर्ष ने शास्त्रार्थ के लिये उदयनाचार्य को चुनौती दी थी। परन्तु जब वे सामने न आए तो उनके ग्रन्थों का खण्डन अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ में भलीभाँति किया और इस प्रकार अपने पिता के अपमान का बदला चुकाया।

८—काव्य-पाठ

काव्य-रचना के समान ही काव्य-पाठ भी एक मनोरम कला है। अनेक लेखक कविता के लिखने में सफल हो सकते हैं परन्तु कविता के पढ़ने में उसे ही सफलता मिलती है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है। जिस प्रकार काव्य की रचना में जन्मान्तरीय संस्कार कारण माना जाता है उसी प्रकार कण्ठ का माधुर्य भी जन्मान्तर के अभ्यास का ही फल होता है। हमारे आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि काव्य-पाठ का सौन्दर्य एक जन्म का फल न होकर अनेक जन्मों के संस्कार का परिपक्व परिणाम है। इस विषय में आलोचकों ने जिन नियमों का अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है, वे आज भी उपादेय हैं तथा उनके अनुसरण करने से विदग्ध सभा में भी कवि अपनी कविता-पाठ कर कीर्ति कमा सकता है।

कवि लोग उसी काव्य-पाठ की प्रशंसा करते हैं जो ललित हो, काकु से युक्त हो, स्पष्ट हो, अर्थ के विचार से जिसमें शब्दों का परिच्छेद (पृथक्-करण) किया गया हो और जिसमें कान को सुख देने वाले अलग-अलग वर्णों का विन्यास हो।

> ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
> श्रुति-सुख-विविक्त-वर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥
>
> —काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ३३

महर्षि पाणिनि ने वर्णों के उच्चारण की विधि बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार व्याघ्री अपने पुत्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने दाँतों से दबाकर ले जाती है और दाँतों से उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाती क्योंकि वह डरती रहती है कि बच्चे कहीं गिर न जायँ और दाँत उनमें चुभ न जायँ, उसी प्रकार वर्णों के उच्चारण करनेवाले को भी सावधान होना चाहिए कि कहीं वर्ण उसके मुँह से गिर न जायँ और कहीं कोई वर्ण मुँह के भीतर ही रहकर अनुच्चारित न रह जायः—

यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वत् वर्णान् प्रयोजयेत् ॥
—पाणिनीयशिक्षा,

इसी का अनुसरण कर राजशेखर ने भी काव्य-पाठ के चार भेद बतलाए हैं जिनमें पहला गुण है (क) गंभीरता। काव्य के पढ़ते समय स्वरों में सान्द्रता होनी चाहिये। इस गुण के अभाव में शब्द का स्वर 'भाँय' 'भाँय' के समान कानों को कष्ट देता है। (ख) अनिष्ठुरता—अर्थात् स्वरों की कोमलता जिसके कारण काव्य कानों को कर्कश न प्रतीत होकर कोमल तथा सुखद जान पड़े। (ग) तार और मद्र स्वर का निर्वाह—अर्थात् प्रसन्न अर्थ होने पर वाणी का धीमे स्वर से उच्चारण करना चाहिए और इसके विरोधी काव्य-पाठ के अवसर पर उसे ऊँचे स्वर से पढ़ना चाहिये।[1] यह सामान्य नियम है। इस नियम के अनुसार किसी कविता के पढ़ने में पहले जिस स्वर को आरम्भ करे उसका निर्वाह अन्त तक करना चाहिए। दोनों स्वरों का मिश्रण कर अपने पाठ को कलुषित न बनाए। (घ) चौथा गुण संयुक्त-वर्ण-लावण्य है—अर्थात् संयुक्त वर्णों का सौन्दर्य। अनेक वर्णों के संयोग से जो संयुक्त वर्ण तैयार होते हैं; उनका पाठ साधारण रीति से कठिन होता है। अतः उनका ऐसा उच्चारण करे कि जिससे उनमें सुन्दरता का उन्मीलन हो:—

गम्भीरत्वमनैष्ठुर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः ।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः ॥
—का० मी० वही

काव्य-पाठ की तभी प्रतिष्ठा होती है जब विभक्तियाँ स्फुट हों, समासों को अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से स्पष्ट उच्चारण किया गया हो, पदों की सन्धि अलग-अलग जान पड़े। यह तभी सम्भव है जब अलग-अलग पदों का एक साथ उच्चारण न किया जाय और न समस्त (समास से युक्त) पदों को पृथक् किया जाय, न क्रिया-पदों का ऐसा उच्चारण करे जिससे वे मलिन प्रतीत

१—प्रसन्ने मन्द्रयेत् वाचं तारयेत् तद्विरोधिनि ।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम् ॥
का० मी० अ० ७ पृ० ३३

हों। इन नियमों के आश्रय लेने पर ही काव्य की प्रतिष्ठा होती है तथा कवि यशस्वी बनता है—

> विभक्तयः स्फुटा यत्र, समासाश्चाकदर्थिताः।
> अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥
> न व्यस्तपादयोरैक्यं न भिदा तु समस्तयोः।
> न चाख्यातपदम्लानि विदधीत सुधीः पठन्॥
>
> —काव्य-मीमांसा अ० ७

समस्त पदों को अलग-अलग करके पढ़ने से जो अनर्थ होता है उनका पूर्ण आभास इस प्राचीन कथा में मिलता है।

सुनते हैं कि कोई व्यासजी थे जो जन्म से तो अन्धे थे परन्तु रामायण की कथा बड़ी सुन्दर कहा करते थे। अन्धे होने के कारण उन्होंने रामायण के श्लोकों के पढ़ने का भार किसी नवयुवक शिष्य पर छोड़ रखा था। शिष्य रामायण पढ़ता जाता था और व्यासजी उसकी सुन्दर व्याख्या कर जनता को रिझाते थे। कथा-समाप्ति पर उन्हें प्रचुर दक्षिणा मिलती थी परन्तु वे इतने अर्थ-लोलुप थे कि अपने सहायक शिष्य को उस द्रव्य में से बहुत थोड़ा धन दिया करते थे। चेला अपने गुरु के इस व्यवहार से बड़ा दुःखी था और अपने गुरु को छोड़ने का अवसर ढूँढ़ रहा था। आखिर वह अवसर आ ही गया। श्रोताओं का जमघट जुटा हुआ था। वृद्ध व्यासजी बड़े अनुराग और लगन के साथ कथा कह रहे थे। कथा खूब जमी थी। इसी अवसर पर वह चतुर शिष्य जोरों से बोल उठा—'दशरा-मशराः'। व्यासजी ने इस पद का अर्थ न लगते देखकर शिष्य से इसे फिर से पढ़ने का आग्रह किया। परन्तु सधे हुए शिष्य ने फिर दुहराया—"दशरा–मशराः"। व्यासजी ने समझ लिया दाल में काला है। रामायणी कथा कहते हुए उम्र बीत चली, बाल सफेद हो गए, परन्तु कभी भी दशरा-मशराः उनके कानों में न पड़ा था। श्रोताओं को किसी प्रकार सन्तोष देकर उन्होंने उस दिन बिदा किया और कथा-समाप्ति के अनन्तर अपने शिष्य को एकान्त में कहा कि आज से कथा की दक्षिणा में तुम्हारा भी हिस्सा रहेगा; आधा तुम्हारा आधा मेरा। चेलाराम चेत गये और दूसरे दिन उसने कथा के अवसर पर इन पदों का शुद्ध उच्चारण करते हुए पढ़ा—दश-राम-शराः। शुद्ध पाठ सुनते ही व्यासजी को श्लोक का ठीक अर्थ लग गया और उन्होंने श्लोक के यथार्थ अर्थ को समझा कर श्रोताओं का पर्याप्त मनोरंजन किया।

कविता का पाठ रसानुकूल होना चाहिए। विप्रलम्भ शृंगार की कविता सदा मन्द स्वर में पढ़ी जानी चाहिए। इसके विपरीत उत्साहमयी वीर कविता के पाठ के लिये ऊँचे स्वर का प्रयोग करना उचित होता है। औचित्य के भेदों में एक प्रकार पाठौचित्य भी होता है जिसमें सन्दर्भ तथा रस के अनुकूल कविता का पाठ उचित ढंग से किया जाता है। विरह-वेदना से पीड़ित कोई सुन्दरी अपनी सखियों से निवेदन करती है—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिशानिशं बाला।

विप्रलम्भ शृंगार से लबालब भरे हुए इस श्लोक का आनन्द मन्द्र स्वर से पढ़ने में ही आ सकता है। इसके ठीक विपरीत वीररसोत्पादक भट्ट नारायण का यह श्लोल देखिए—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतिकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटाऽन्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

इस पद्य को जबतक ऊँचे स्वर में नहीं पढ़ा जायगा तबतक श्लोक का चमत्कार स्फुट रूप से अभिव्यक्त नहीं होगा।

कहा जाता है हिन्दी के महाकवि भूषण के काव्य-पाठ का ढंग बड़ा ही निराला था। अपनी वीररसमयी, फड़कती कविता को जब वे जोश में आकर तारस्वर से पढ़ने लगते थे तब जनता के ऊपर उसका प्रभाव बड़ा ही अधिक पड़ता था। ऐसी प्रसिद्धि है कि वे अपने घर से रुष्ट होकर शिवाजी के दरबार में अपनी कविता सुनाने के लिए पूना पहुँचे। रात्रि हो गई थी, स्थान बिल्कुल अपरिचित था। अतः वे किसी धर्मशाला या मन्दिर में ठहर गए। थोड़ी देर में शिवाजी महाराज वेष बदलकर अपनी प्रजा के दुःख तथा सुख का समाचार जानने के लिये उस धर्मशाले में आ पहुँचे। उन्होंने इस नवागन्तुक अतिथि से पूछा कि तुम कौन हो और यहाँ क्यों आए हो? भूषण ने कहा कि मैं एक साधारण कवि हूँ और कल गुणग्राही शिवाजी महाराज के दरबार में अपनी कविता सुनाने के लिये आया हूँ। शिवाजी ने पूछा कि क्या मैं वह कविता सुन सकता हूँ? तब भूषण ने बड़े ऊँचे स्वरों में, बड़े उमंग तथा जोश के साथ अपनी ओजमयी निम्नांकित कविता पढ़ सुनायी।

इन्द्र जिमि जम्भपर, बाड़व सुअम्ब पर,
रावण सदम्भपर रघुकुल राज है।
पवन बारिवाह पर, सम्भु रतिनाहपर,
ज्यों सहस्रबाहुपर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंडपर चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुण्डपर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंसपर, कान्ह जिमि कंसपर,
त्यौं म्लेच्छवंशपर शेर शिवराज है॥

शिवाजी इस वीर रस से ओतप्रोत तथा तारस्वर से जोश के साथ पढ़ी गई कविता को सुनकर फड़क उठे और कविजी से कहा कि इस कविता को एक बार और पढ़िए। इस प्रकार उन्होंने इस कविता को भूषण के मुँह से ५२ बार सुना और प्रसन्न होकर भूषण को ५२ गाँव, ५२ हाथी, ५२ लाख रुपए दिये।

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता, महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कोमल कविता के पाठ करने में बड़े निपुण थे। एक तो उनका वेश ही बड़ा सुन्दर था—कन्धे पर लटकते हुए घुंघराले बाल, शरीरपर सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, सुन्दर चमकता हुआ वदन। जब भारतेन्दुजी कविता-पाठ करने के लिये खड़े होते थे तो एक अजीब समां बँध जाता था। यों तो प्रत्येक छन्द में निबद्ध कविता को वे सुन्दर रीति से पढ़ते थे परन्तु वे सरस सवैया के कवि ही न थे प्रत्युत मनोरम पाठ करने में दक्ष भी थे। उनके मधुर कण्ठ से पढ़ी गई सवैया सुनकर श्रोतागण लोटपोट हो जाते थे। घनानन्द की 'सवैया' उन्हें बड़ी प्रिय थी और उनका वे बड़े प्रेम से पाठ किया करते थे तथा विशेष कर इस सवैया का—

"अतिसूधो सनेह को मारग है, तँह नेकु सयानप बाँक नहीं।
तुम कौनसी पाटी पढ़े हो लला, मन लेत हो देत छटाँक नहीं॥"

प्रान्तीय कवियों का कविता-पाठ

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में भारत के विभिन्न प्रान्तों के निवासी कविजनों के काव्य-पाठ का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। भारत एक महान् देश है जहाँ के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न भाषाओं को भिन्न-भिन्न स्वरों में पढ़ने का ढंग प्रचलित था। ऐतिहासिक दृष्टि से राजशेखर के इस वर्णन का बड़ा ही

महत्त्व है। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले काव्य-पाठ के विषय में कवि-परम्परा कैसी थी इसका परिचय हमें राजशेखर के इस विवरण से भली-भाँति मिलता है।

काशी से पूरब के कवियों के विषय में उनका कहना है कि वे लोग संस्कृत कविता का पाठ बड़ा ही सुन्दर करते थे, परन्तु प्राकृत कविता का पाठ बड़ा ही कर्कश होता था[1]। गौड़देशीय संस्कृत-पाठ की प्रशस्त प्रशंसा करते हुए राजशेखर ने लिखा है कि गौड़देशीय ब्राह्मण का पाठ न तो अत्यन्त स्पष्ट होता है, न अत्यन्त आश्लिष्ट (मिला हुआ) होता है, न रूखा होता है और न अत्यन्त कोमल होता है, न मन्द होता है और न अत्यन्त ऊँचा ही होता है। अर्थात् वह मध्यम स्वर में काव्य का पाठ करता है[2]। इस विषय में राजशेखर ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना कर रही हैं कि ए भगवान्! मैं अपना अधिकार छोड़ने के लिये उद्यत हूँ। या तो गौड़-देशीय कवि प्राकृत का पढ़ना छोड़ दें अथवा उनके लिये दूसरी सरस्वती हो—

> ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
> गौडो त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती॥

भारत के पश्चिमी भाग अर्थात् गुजरात प्रान्त के कविजन संस्कृत के द्वेषी होते थे। वे प्राकृत कविता को बड़े लटक के साथ पढ़ते थे। ललित वचन के उच्चारण के कारण उनकी जीभ बड़ी मीठी मालूम पड़ती थी[3]। सुराष्ट्र (काठियावाड़) एवं त्रवण (पश्चिमी भारत का एक प्रान्त) के कविजन संस्कृत कविता को अपभ्रंश कविता के उच्चारण विधान के अनुसार

१—पठन्ति संस्कृतं सुष्ठु कुण्ठाः प्राकृतवाचि ते।
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः॥

का० मी०, अ० ७ पृ० ३३

२—नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रूक्षो नातिकोमलः।
न मन्द्रो नाति तारश्च पाठो गौडेषु बाडवः॥

का० मी० अ० ७ पृ० ३४

३—पठन्ति लटभं लाटाः, प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥

वही—

पढ़ते थे[1]। राजशेखर ने अपने बालरामायण में लाट देश (गुजरात) को प्राकृत कविता का केन्द्र माना है। इस प्रसंग में वे लिखते हैं कि प्राकृत संस्कृत की योनि है। वह सुलोचनी स्त्रियों की जिह्वापर आनन्द देती है, जिसको सुनते ही संस्कृत भाषा के अक्षरों का रस भी कटु प्रतीत होता है। जो स्वयं कामदेव का निवासस्थान है, उस प्राकृत का पाठ करनेवाली लाट देश की सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं।

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच—
स्ताँल्लाटाँल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥

राजशेखर—बालरामायण

गुर्जरदेशीय लोगों का प्राकृत-प्रेम इतना अधिक है कि आज भी वे संस्कृत-शब्दों का विशुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। तुलसी को वे तलसी कहते हैं, मुकुन्द को मकन्द और शिव का उच्चारण शव करते हैं। महाराष्ट्र पण्डितों का गुर्जरदेशीय पण्डितों के संस्कृत उच्चारण की यह आलोचना कितनी समीचीन है।

तुलसी तलसी जाता, मुकुन्दोऽपि मकुन्दताम्।
गुर्जराणां मुखं प्राप्य शिवोऽपि शवतां गतः ॥

इस श्लोक से पता चलता है कि गुजराती लोग संस्कृत शब्दों के इकार और उकार के स्थान पर अकार का उच्चारण करते हैं। यह उच्चारण की प्रवृत्ति प्राकृत भाषा से आई है क्योंकि प्राकृत-भाषा के व्याकरण के अनुसार किन्हीं संस्कृत-शब्दों का इकार और उकार अकार हो जाता है।

भारत के उत्तरी प्रान्तों में काश्मीर ही संस्कृत काव्यकला का केन्द्र था। शारदापीठ होने के कारण वहाँ के कवि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते थे। महाकवि बिल्हण ने कविता के विलास को केसर-प्ररोह का सहोदर माना है। उनके मत से केसर और कविता कश्मीर में ही पैदा होती है। इन दोनों का अंकुर किसी दूसरे देश में नहीं जमता। वे कहते हैं—

१—सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि ॥

वही, पृ० ३४

सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविता विलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टः तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥
विक्रमाङ्कदेवचरित १।१०

बिल्हण की यह उक्ति वस्तुतः यथार्थ है। कश्मीर के कवियों ने सरस कविता का निर्माण कर सरस्वती के भण्डार की पूर्ति की है। परन्तु उनके संस्कृत श्लोकों का पाठ सुन्दर नहीं होता। वह इतना कडुआ होता है कि जान पड़ता है मानो कोई गुडुची का रस कानों में उड़ेल रहा हो। राजशेखर कहते हैं :—

शारदाया: प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः।
कर्णे कडूची कण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु ॥
काव्यमीमांसा, अ० ७ पृ० ३४

कश्मीर के उत्तर गिलगित प्रान्त में जो संस्कृत भाषाभाषी व्यक्ति होते थे उनमें कितना ही संस्कार किया जाय परन्तु संस्कृत शब्दों का सर्वदा सानुनासिक ही पाठ करते थे[1]।

दक्षिण भारत के लोगों के उच्चारण के विषय में राजशेखर ने कर्णाट देश तथा द्रविड़ देश के कवियों का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि चाहे कोई भी रस हो, कोई भी रीति हो, कोई भी गुण हो परन्तु कर्णाट देश का कवि गर्व के साथ जोशीले स्वरों में टंकार के साथ बोलता है[2]। इससे विपरीत दशा है द्रविड़ देश के कवि की जो गद्य, पद्य अथवा चम्पू को संगीत के स्वर में पढ़ता है। काव्य के प्रकार पर बिना विचार किए हुए वह सबको गा-गाकर पढ़ता है[3]।

राजशेखर ने भारतवर्ष के मध्यदेश (वर्तमान 'उत्तर प्रदेश') के कवियों के काव्य-पाठ की बड़ी प्रशंसा की है। उनका कहना है कि इन कवियों का

१—ततः पुरस्तात् कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः ॥ का० मी० वही पृ० ३३

२—रसः कोप्यस्तु कोप्यस्तु, रीतिः कोप्यस्तु वा गुणः।
सगर्वसर्वकर्णाटाः टंकारोत्तरवादिनः ॥
अ० ७ पृ० ३४

३—गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोपि द्रविडः कविः ॥ वही—पृ० ३४

संस्कृत काव्य-पाठ रीति का अनुगमन करता है, गुणों का निधान है, सम्पूर्ण वर्णों के उच्चारण की अभिव्यक्ति करता है, यतियों के द्वारा वह विभक्त रहता है। उनका काव्य-पाठ इतना मधुर होता है कि वह श्रोताओं के कान में मधु की धारा उड़ेल देता है। राजशेखर कहते हैं—

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां,
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

काव्यमीमांसा, अ० ७ पृ० ३४

महाकवि सुबन्धु ने कानों में मधुधारा बहानेवाली, सत्कवि की कविता का जो वर्णन किया है वह राजशेखर के द्वारा वर्णित मध्यदेशीय कवियों के काव्य में विशेष रूप से चरितार्थ होता है।

आजकल भी मध्यदेश की काशी नगरी में निवास करनेवाले पण्डितों का संस्कृत का उच्चारण शुद्ध, सुन्दर, मनोरम तथा आदर्श माना जाता है।

अनधिगतगुणापि हि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥

—वासवदत्ता

९—कवि-कोटियाँ

विषय-दृष्टि से कविभेद

राजशेखर ने कवियों का काव्य के विषय की दृष्टि से तीन भेद किया है—(१) शास्त्र-कवि (२) काव्य-कवि और (३) उभय-कवि। श्यामदेव नामक आचार्य की सम्मति में इनमें क्रमशः एक दूसरे से बड़ा होता है। शास्त्र-कवि सबसे निम्नश्रेणी का होता है। उससे बढ़कर होता है काव्य-कवि और सबसे श्रेष्ठ है उभय-कवि। परन्तु राजशेखर इस मत के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक कवि अपने विषय में श्रेष्ठ होता है। यह विभाग विषय की दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक विषय का कवि अपने विषय में स्वतन्त्र है। न राजहंस चन्द्रकिरण के पान करने में कभी समर्थ होता है और न चकोर पानी से दूध को अलग कर सकता है। नीर-क्षीर

विवेक हंस का कार्य है और चन्द्रिका-पान चकोर का। दोनों अपने विषय में कुशल हैं। इसी प्रकार विषय की दृष्टि से कवियों की भी व्यवस्था है।

शास्त्र-कवि काव्य में रस सम्पत्ति का सम्पादन करता है और काव्य-कवि शास्त्र के तर्क-कर्कश अर्थ को भी उक्ति की विचित्रता से मनोरम बना देता है। परन्तु उभय-कवि शास्त्र और काव्य, दोनों में परम प्रवीण होता है। इसलिये शास्त्र-कवि और काव्य-कवि का प्रभाव एक समान हुआ करता है। दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक भाव भी हुआ करता है। अर्थात् शास्त्र-कवि को काव्य की मधुरता तथा सरसता को ग्रहण कर उसे अपने काव्य में लाने का उद्योग करना चाहिए। यदि वह शास्त्र में ही एकांगी रूप से प्रवण होगा तो उसकी कविता माधुर्य से विहीन होने के कारण जनमन का अनुरंजन नहीं कर सकती। इसी प्रकार काव्य-कवि को भी शास्त्र का संस्कार होना चाहिये क्योंकि शास्त्र का संस्कार काव्य-रचना में महती सहायता करता है। काव्य में एकांगी रूप से प्रवण होने से शास्त्र के गम्भीर तत्वों का विवेचन काव्य में नहीं हो सकता। इस लिये काव्य और शास्त्र, दोनों का उपकार्योपकार्य भाव मानना नितान्त शोभन तथा युक्तियुक्त है।

शास्त्र-कवि

शास्त्रकवि वराहमिहिर की रसमयी कविता देखिये। कवि अग्निप्रदाह का शास्त्रीय वर्णन मनोरम शब्दों में कर रहा है—

वातोद्धतश्चरति वह्निरतिप्रचण्डो,
ग्रामान् वनानि नगराणि च संदिधक्षुः।
हा हेति दस्युगणपातहता रटन्ति,
निःस्वीकृता विपशवो भुवि मर्त्यसंघाः॥

—बृहत्संहिता

यदि काव्यकवि शास्त्र के तत्वों का विवेचन भी अपने काव्य में कोमल शब्दों में प्रसंगतः करता है तो उसका शास्त्रीय विवेचन भी इसी प्रकार रोचक तथा ज्ञानवर्धक होता है। महाकवि माघ और श्रीहर्ष में कवित्व तथा पांडित्य का अद्भुत विकास दृष्टिगोचर होता है। अतः इनके काव्य में एतद्विषयक दृष्टान्तों की विशेष बहुलता है। माघ ने प्रातःकाल के वर्णन-प्रसंग में उपयुक्त राग के ग्रहण तथा अनुचित राग के निषेध की बात बड़े मार्मिक ढंग से कही है—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकु श्रावक—स्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥
—शिशुपाल वध, ११।१

श्री हर्ष ने निम्नांकित श्लोक में योगशास्त्र के तत्त्व का निर्देश कर कितनी मार्मिकता अभिव्यक्त की है :—

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामा दरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥
—नैषध-चरित ३।२

वैशेषिक मत की दूसरी संज्ञा है औलूक दर्शन । अन्धकार तत्त्व के विषय में वैशेषिक मत के आचार्यों ने बड़ा ही गम्भीर विचार किया है । इसी को लक्ष्य करते हुए श्री हर्ष ने वैशेषिक मतानुयायी विद्वानों पर बड़ी ही सुन्दर छीटाकशी की है । तमिस्रा में दर्शन की क्षमता रखता है उलूक तथा तमस्तत्त्व के निरूपण की क्षमता रखता है औलूक्य दर्शन ।

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां,
वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्,
क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।
—नैषध २२।३६

इन कवियों के अवान्तर प्रकार भी अनेक होते हैं ।

(१) शास्त्रकवि तीन प्रकार का होता है—

(क) जो विभिन्न छन्दों में शास्त्र का विधान करता है ।

(ख) जो शास्त्र में काव्य का संविधान करे अर्थात् शास्त्र लिखते समय काव्य की सुन्दर सामग्री का भी स्थान-स्थान पर निवेश करे; जैसे वराहमिहिर और भास्कराचार्य ने अपने ज्योतिष के ग्रन्थों में ऋतुवर्णन आदि कमनीय अवसरों पर बड़ी ही रोचक तथा रसपेशल कविता लिखी है ।

(ग) जो काव्य में शास्त्र के अर्थ को रखता है जैसे भट्टि ।

महाकवि भट्टि ने अपने विश्रुत काव्य में व्याकरण शास्त्र के नियमों का उदाहरण इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है कि कोई भी व्यक्ति भट्टि काव्य की सहायता से व्याकरण का प्रवीण पण्डित बन सकता है।

काव्यकवि

२—राजशेखर ने काव्यकवि के आठ प्रकार बताए हैं। काव्यगत वैशिष्ट्य या चमत्कार के कारण यह विभाजन स्वीकार किया गया है। ये भेद हैं—(१) रचनाकवि (२) शब्दकवि (३) अर्थकवि (४) अलंकारकवि (५) उक्तिकवि (६) रसकवि (७) मार्गकवि और (८) शास्त्रार्थकवि।

(१) **रचनाकवि**—उसे कहते हैं जिसकी पदरचना अत्यन्त सुन्दर हो अर्थात् अनावश्यक, अधिक तथा अपुष्टार्थक पदों की भी योजना केवल अनुप्रास लाने के लिये की गई हो।[1]

(२) **शब्दकवि**—जिस कवि के काव्य में शब्दों की योजना अत्यन्त सुन्दर हो अर्थात् एक ही शब्द के विन्यास से काव्य में सच्चा चमत्कार उत्पन्न हो जाय वह होता है शब्दकवि। संस्कृत के राजशेखर शब्द-कवि के प्रख्यात उदाहरण हैं। 'श्रुति-मर्मज्ञ' के लिये उनका 'श्रुत्यर्थवीथिगुरुः' ऐसा ही सुन्दर शब्द है। लैटिन भाषा के महनीय कवि वर्जिल तथा अंग्रेजी भाषा के महाकवि टेनिसन इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। टेनिसन के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने अपने महाकाव्य 'इन मेमोरियम' के संस्कार करने में अनवरत बीस वर्ष लगाए, तब कहीं यह अनुपम काव्य निष्पन्न हुआ। वर्जिल तो इस सौशब्द्य के प्रधान आचार्य माने जाते हैं जिनके विषय में इस कला के विशेषज्ञ टेनिसन की यह उक्ति नितान्त प्रसिद्ध है—

Landscape-lover, lord of language
more than he that sang the Work and Days,
All the chosen coin of fancy
flashing out from many a golden phrase.
How that singest wheat and woodland, tilth
and vineyard, hive and horse and herd;

१—अधिकानामपुष्टार्थानामपि पदानामनुप्रासाय छन्दः पूरणाय च अर्थानुगुण्येन रचितत्वादियं पदरचना ॥

भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण २।६९

All the charm of all the muses
often flowering in a lonely word.

(३) अर्थकवि—नवीन अर्थ, नूतन घटना तथा अभिनव स्थिति की कल्पना करने में प्रवीण कवि 'अर्थकवि' कहलाता है।

(४) अलंकारकवि—अलंकार की योजना में निपुण कवि इस नाम से पुकारा जाता है।

(५) उक्तिकवि—'उक्ति' का अर्थ है कथन का विलक्षण प्रकार। इस विषय में चतुर कवि 'उक्तिकवि' कहलाता है। जैसे किसी युवति की यौवन-दशा का वर्णनात्मक यह पद्य—

> उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
> स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।
> स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय—
> स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य ॥

युवति का अभिनन्दनीय उदर मानिनी के श्वास से टूटने योग्य है। मानिनी की आहों की हवा से युवती का उदर टूट पड़ता है। स्तनतट की विशालता ऐसी है जैसे लतातुल्य भुजाएँ उसकी सीमा को चाट रही हैं। मुख-रूपी चन्द्रमा ऐसा चमकता है मानो नेत्रों के पनाले के द्वारा वह बिल्कुल पीने योग्य है—इस प्रकार उस सुनयनी के शरीर में यौवन कमनीय क्रीड़ा कर रहा है। इस पद्य में उक्ति की विचित्रता है।

(६) रसकवि—रस को काव्य में प्रधानता देनेवाला कवि।

(७) मार्गकवि—काव्य में विशिष्ट रीति को आदर देनेवाला कवि मार्ग कवि कहलाता है।

(८) शास्त्रार्थकवि—काव्य में शास्त्र के विशिष्ट अर्थों को कोमल पदावली में प्रस्तुत करनेवाला कवि।

विचार करने से स्पष्ट होगा कि इन प्रकारों में अनेक प्रकार अलंकार शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों की ओर लक्ष्य करके ही निर्दिष्ट किए गए हैं।

अवस्थागत कविकोटि

राजशेखर ने अवस्था को दृष्टि में रख कर कवियों के दस भेद निर्धारित किये हैं—

(१) काव्यविद्यास्नातक, (२) हृदयकवि, (३) अन्यापदेशी, (४) सेविता, (५) घटमान, (६) महाकवि, (७) कविराज, (८) आवेशिक, (९) अविच्छेदी और (१०) संक्रामयिता ।

(१) **काव्यविद्यास्नातक**—जो व्यक्ति कवित्व की कामना से काव्य की विद्याओं (व्याकरण, छन्दःशास्त्र, अलंकार-शास्त्र आदि) तथा उपविद्याओं (चौसठकला) के ग्रहण करने के लिये गुरुकुल में जाकर निवास करता है वही काव्यविद्यास्नातक कहलाता है ।

(२) **हृदयकवि**—वह है जो कविता तो बनाता है परन्तु संकोचवश उसे छिपा रखता है, न बाहर प्रकट करता है; न पत्र, पत्रिकाओं में छपने के लिये उसे भेजता है । उसकी कविता का प्रचार उसके हृदय तक ही सीमित है । अतः उसे हृदयकवि कहते हैं ।

(३) **अन्यापदेशी**—वह कवि है जो स्वयं कविता तो करता है परन्तु दोष के भय से वह दूसरे की रचना कहकर लोगों में उसका प्रचार करता है । अनेक कवि आरम्भिक दशा में दूसरों के ही नाम से अपनी कविता का प्रचार करते हैं ।

(४) **सेविता**—वह कवि है जो प्राचीन कवियों की कविता की छाया लेकर कविता का अभ्यास करता है ।

(५) **घटमान**—वह कवि है जो स्फुट कविता तो सुन्दर लिख लेता है परन्तु कोई प्रबन्धकाव्य नहीं लिख सकता । आजकल के हिन्दी के अधिकतर वर्तमान कविगण 'घटमान' कवि की श्रेणी में रखे जा सकते हैं ।

(६) **महाकवि**—वह है जो प्रबन्ध काव्य की रचना में समर्थ होता है । मुक्तक काव्य की रचना करना तो सरल काम है परन्तु प्रबन्ध काव्य की रचना—जिसके अंग और उपांग परस्पर सम्बद्ध हों तथा रससंवलित हों—अतीव दुष्कर व्यापार है । ऐसे ही प्रबन्ध काव्य की रचना को लक्ष्य कर महाकवि माघ ने कहा है—

> बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिभाषते ।
> अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥
>
> —शिशुपालवध २।७३

प्रकीर्ण कविता की रचना में अधिकतर मनमानी कल्पना का ही राज्य रहता है, अतः बहुत से कवि स्फुट कविता बाँधते देखे जाते हैं, परन्तु अर्थ-

सम्बन्ध से संवलित पुष्ट प्रबन्ध की रचना किसी ही भाग्यशाली कवि के लिलार में लिखी रहती है।

संस्कृत के कवियों ने प्रबन्ध-रचना को विशेष महत्त्व दिया है। इसीलिये संस्कृत में महाकाव्यों की संख्या बहुत ही अधिक है। यह दुःख की बात है कि हिन्दी में प्रबन्ध-काव्य की रचना आज भी बहुत ही कम हो रही है।

(७) कविराज—राजशेखर के अनुसार कवियों की सब से उन्नत कोटि कविराज की है। कविराज वही होता है जो कि सब प्रकार की भाषा में कविता लिखने में समर्थ होता है। प्रत्येक प्रकार के प्रबन्ध में तथा प्रत्येक प्रकार के रस में जो स्वतन्त्रतया सिद्ध हो वही कविराज की महनीय पदवी से अलंकृत किया जाता है[1]। राजशेखर यह मानते हैं कि यह पद सर्वश्रेष्ठ है और इसके पाने के अधिकारी संसार में इने-गिने दो-चार ही कवि होंगे। सरस्वती भी ऐसे वश्यवाक् कवि की दासी बनकर उसका अनुगमन किया करती है। ऐसे ही रससिद्ध कविराज तथा पारदसिद्ध वैद्यराज की प्रशंसा भर्तृहरि ने समभावेन इस प्रख्यात पद्य में की है:—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये, जरामरणजं भयम्॥

अब तक कवियों की वर्णित सातों अवस्थाएँ विकास तत्त्वानुयायी हैं— क्रम-क्रम से विकास को प्राप्त होने वाली हैं अर्थात् काव्य विद्या-स्नातक की दशा से आरम्भ कर जो व्यक्ति प्रतिभा तथा अभ्यास के बल पर आगे उन्नति करता जाता है वह कविराज की सबसे उन्नत कोटि प्राप्त करने में समर्थ होता है। ये सातों अवस्थाएँ बुद्धिमान् तथा आहार्य-बुद्धि नामक कवियों की हैं। औपदेशिक कवि की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं जो नीचे दिखाई जाती हैं—

(८) आवेशिक—मन्त्र तथा तन्त्र आदि की उपासना से काव्यरचना में सिद्धि पाने वाला व्यक्ति तभी कविता करता है जब वह आवेश में आता है। ऐसे कवियों को 'आवेशिक' कहते हैं।

(९) अविच्छेदी—जो जब चाहता है तभी बिना किसी प्रतिबन्ध के कविता करता है उसे अविच्छेदी कवि कहते हैं, क्योंकि उसकी इच्छा का कभी विच्छेद नहीं होता है।

१—यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिन् तस्मिन् च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।

काव्यमीमांसा अ० ५ पृ० १९।

(१०) संक्रामयिता—उसे कहते हैं जो स्वयं सिद्ध मन्त्र होकर मन्त्र के ही बल पर अबोध कन्या तथा कुमारों में, बालक तथा बालिकाओं में, सरस्वती का संक्रमण करता है अर्थात् उन्हें काव्यरचना की शक्ति तथा स्फूर्ति प्रदान करता है। सरस्वती के संक्रमण कराने के कारण वह 'संक्रामयिता' कहलाता है। ऐसा कवि उपासना में लब्धप्रतिष्ठ सिद्ध पुरुष ही हो सकता है।

वामन के मतानुसार काव्य-शिक्षा के अधिकारी के भेद से कवि दो प्रकार के होते हैं—(१) अरोचकी (२) सतृणाभ्यवहारी। ये दोनों शब्द वैद्यकशास्त्र से लिए गए हैं। अरोचकी वह व्यक्ति है जो स्वाद का विशेषज्ञ होता है और इसीलिए उसे साधारण स्वाद की वस्तु अच्छी नहीं लगती। सतृणाभ्यवहारी वह पुरुष होता है जो किसी वस्तु विशेष का बिना स्वाद लिये ही उसे खा डालता है। यदि किसी व्यक्ति को जलपान करने के लिये मिश्री दी गई और वह मिश्री के साथ ही मिश्री के खुज्जे को भी खा डालता है, तो उसे सतृणाभ्यवहारी कहेंगे। लक्षणा के द्वारा इनका क्रमशः अर्थ होता है विवेकी और अविवेकी। वामन का कहना है कि विवेकी पुरुष को काव्य-शिक्षा दी जा सकती है। वह काव्य का अधिकारी हो सकता है[1]। परन्तु अविवेकी को शास्त्र की शिक्षा कथमपि नहीं दी जा सकती[2]। पात्र को ही शास्त्र की शिक्षा दी जाती है, कुपात्र को नहीं। पानी में यदि कतक डाला जायगा तो वह उसे शुद्ध कर सकता है परन्तु कीचड़ में कतक को डालने से वह पंक को कदापि शुद्ध नहीं कर सकता है।[3]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जो विवेकी पुरुष हैं शास्त्र उन्हीं का उपकार कर सकता है किन्तु जो स्वभाव से ही बिवेकरहित हैं उनका उपकार शास्त्र के द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। जड़ व्यक्ति को शास्त्र का शिक्षण उसी प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार भस्म में हवन करना, मरुभूमि में पानी का बरसना और बहिरे को गाना सुनानाः—

अयं भस्मनि होमः स्यादियं वृष्टिर्मरुस्थले।
उदमश्रवणे गानं यज्जडे शास्त्रशिक्षणम्॥

वामन—का० लं० सू० की टीका १।२।४

१—पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात्। का० लं० सू० १।२।२
२—नेतरे तद्विपर्ययात्। वही १।२।३
३—न शास्त्रमद्रव्येषु अर्थवत्। वही १।२।४
न कतकं पंकप्रसादनाय। वही १।२।५

काव्योपासनामूलक कविभेद

काव्यकला की उपासना की दृष्टि से राजशेखर ने कवियों के चार भेद किए हैं:—(१) असूर्यंपश्य, (२) निषण्ण, (३) दत्तावसर, (४) प्रयोजनिक।

(१) असूर्यंपश्य—कवि वह होता है जो गुहा के गर्भ में, भूमिगृह में, प्रवेश करके नैष्ठिक वृत्ति से कविता करता है। 'असूर्यंपश्य' शब्द का अर्थ है सूर्य को न देखने वाला। इस नामकरण का तात्पर्य यह है कि यह कवि कविता की उपासना में इतना व्यस्त रहता है कि वह अपने एकान्त निवास को छोड़कर बाह्य जगत् के प्रपंचों में तनिक भी नहीं फँसता। ऐसे कवि के लिये क्या काव्यकाल का विधान किया जा सकता है! उसके लिये तो सब समय काव्य-रचना के अनुकूल हैं।

(२) निषण्ण—निषण्ण कवि कहलाता है जो रसावेश के समय में ही कविता करता है। वह नैष्ठिक वृत्ति से नहीं रहता। काव्य-क्रिया में अभिनिवेश होने पर ही वह काव्य की रचना करता है। ऐसे कवि के लिये अभिनिवेश का समय ही उसके लिये काव्य-रचना का समय है।

(३) दत्तावसर—इस श्रेणी में उन कवियों की गणना है जो नौकरी-चाकरी के द्वारा अपनी जीविका के साथ ही साथ कविता का अभ्यास करते हैं। उनके जीविकोपार्जन से काव्य-रचना का कोई संघर्ष नहीं होता। ऐसे कवि के लिये काव्य-रचना का समय परिमित ही होता है। ब्राह्ममुहूर्त ऐसे कवि के लिये काव्यरचना की सिद्धि का बड़ा ही उपयुक्त समय है। प्रतिभा की स्फूर्ति होने के कारण यह अवसर 'सारस्वत' मुहूर्त भी कहा गया है। दूसरा अवसर भोजन के उपरान्त होता है जब भोजन से तृप्त होने पर विक्षेपों तथा बाधाओं को दूरकर चित्त स्वस्थ हो जाता है। पालकी के ऊपर यात्रा करते समय भी काव्य-रचना की जा सकती है क्योंकि इस अवसर पर चित्त के एकाग्र होने का संयोग प्राप्त होता है। ऐसे कवि के लिये काव्यरचना के निमित्त यही अवसर है। इस कवि को दत्तावसर इसीलिये कहते हैं कि यह अवसर या अवकाश मिलने पर ही काव्य की सेवा में प्रवृत्त होता है।

(४) प्रायोजनिक—किसी विशिष्ट प्रयोजन को लक्ष्य कर जो कवि कविता लिखता है वह प्रायोजनिक कहलाता है। जैसे किसी राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर अथवा किसी महान् व्यक्ति के आगमन पर या विवाहादिक उत्सव-विशेष पर, या किसी के बिदाई के अवसर पर जो कवि कविता

लिखता है वह प्रयोजन विशेष को लक्ष्य कर काव्य-रचना करने के कारण 'प्रायोजनिक' नाम से पुकारा जाता है।

प्रतिभाजन्य भेद

इसी प्रतिभा-भेद के कारण राजशेखर के अनुसार कवि भी तीन प्रकार के होते हैं।—(१) सारस्वत, (२) आभ्यासिक और (३) औपदेशिक। सारस्वत कवि की सरस्वती पूर्वजन्म के संस्कार से काव्य-कला में प्रवृत्त होती है। वह स्वतः बुद्धिमान् होता है। उसकी काव्यकला के विकास के लिये अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। अभ्यासिक कवि का मूल रहस्य है—अभ्यास। इसी अभ्यास के बल पर वह काव्य-कर्म में कृतकृत्य होता है। उसकी सरस्वती इसी जन्म के अभ्यास से उद्भासित होती है। इसीलिये उसे 'आहार्य-बुद्धि' कहते हैं। औपदेशिक कवि उपदेश के बल पर ही अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन करता है। वह गुरु के उपदेश के कारण मन्त्र-तन्त्र का अभ्यास करता है और इसी के कारण उसकी काव्य-कर्म में स्फूर्ति होती है।

इन तीन प्रकार के कवियों में कौन श्रेष्ठ है और कौन हीन? यह भी विवाद का विषय है। श्यामदेव की सम्मति में इस विभाजन में पूर्व निर्दिष्ट कवि ही दूसरे से श्रेष्ठ होता है। सारस्वत कवि को वे कवियों में मूर्धन्य मानते हैं क्योंकि वह अपने विषय में स्वतन्त्र होता है और किसी का अंकुश नहीं मानता। आभ्यासिक कवि की कविता परिमित होती है परन्तु औपदेशिक कवि सबसे हीन श्रेणी का होता है और निरर्गल कविता करता है[1]। परन्तु राजशेखर इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका तो मत यह है कि उत्कर्ष ही श्रेयस्कर होता है और यह तभी संभव है जब अनेक गुणों का समुदाय एकत्र हो। यह दुर्लभ अवश्य है परन्तु असंभव नहीं। बुद्धिमत्ता, काव्य-कर्म में अभ्यास, मन्त्र का अनुष्ठान—ये तीनों गुण जिस व्यक्ति में एकत्र होते हैं वही कविराज की महनीय उपाधि से विभूषित किया जा सकता है। इस विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजशेखर के अनुसार वही व्यक्ति

१—"तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्" इति श्यामदेवः। यतः—

सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मितः।
उपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ॥

का० मी०, अ० ४, पृ० १२

सर्वश्रेष्ठ कवि या कविराज हो सकता है जो उपर्युक्त तीनों गुणों से युक्त हो[1]।

मौलिकतामूलक कविभेद

रचना की मौलिकता की दृष्टि से कवियों के चार भेद होते हैं:—

(१) उत्पादक कवि—वह होता है जो अपनी प्रतिभा के बलपर अपने काव्य में नवीन भाव की तथा नूतन अर्थ की रचना करता है। अपने निर्माण के निमित्त वह किसी भी कवि का ऋणी नहीं होता।

(२) परिवर्तक कवि—वह है जो प्राचीन कवि के भाव को फेर-फार कर अपना बना लेता है। अपनी निपुणता के सहारे अपनी रचनाओं में आवश्यक परिवर्तन कर उसके ऊपर अपने व्यक्तित्व की छाप दे देता है।

(३) आच्छादक कवि—दूसरों की रचना को छिपाकर तत्सदृश अपनी रचना का प्रचार करनेवाला कवि इस नाम से पुकारा जाता है।

(४) संवर्गक कवि—यह कवि दूसरों के माल पर पूरी डकैती करनेवाला होता है। 'संवर्गक' का अर्थ होता है डाकू। अतः दूसरे के काव्य को खुल्लम-खुल्ला अपना कहकर प्रकट करनेवाला ढीठ कवि इस नाम से पुकारा जाता है। मौलिकता की दृष्टि से प्रथम प्रकार का कवि ही श्लाघनीय होता है। अन्य तीनों प्रकार के कवियों में मौलिकता का टोटा रहता है। संवर्गक कवि तो होता है पूरा डकैत, जो दूसरे की कविता को बलपूर्वक निजी रचना बताकर दूसरे के धन पर गुलछर्रे उड़ाता है और लोक में अपनी काव्यकला की विपुल प्रख्याति का प्रचार करता है। कहना न होगा कि इन चारों में उत्पादक कवि ही श्लाघनीय होता है, अन्य कवि न तो किसी श्लाघा के पात्र होते हैं, न आदर के भाजन।

इस विषय में पण्डितों में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

१—"उत्कर्षः श्रेयान्" इति यायावरीयः। स चानेके गुणसन्निपाते भवति। किञ्च—

बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥

—वही पृ० १३

कविरनुहरति च्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चौरः ।
सर्वप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

भावार्थ—जो दूसरों के काव्य के छायामात्र का अनुकरण करता है वह होता है 'कवि'। जो अर्थ या भाव का केवल अनुकरण करता है वह होता है 'कुकवि'। जो पद, वाक्य आदि का अनुकरण करता है वह होता है 'चोर', परन्तु जो समस्त प्रबन्ध, पद-वाक्य, अर्थ-भाव सब किसी का हरण कर लेता है, उस साहस करनेवाले डाकू कवि को नमस्कार है।

अर्थापहरणमूलक कवि-भेद

दूसरे के काव्यार्थ का अपहरण करनेवाले कवियों में भी राजशेखरने पार्थक्य का विवेचन किया है। ये कवि *अयस्कान्त या चुम्बक के समान* होते हैं जो दूसरों का अर्थ ग्रहण करके भी उसमें अपने गुणों का समावेश कर देते हैं तथा उसमें सर्वथा नवीनता की भ्रान्ति उत्पन्न करने में कृतकार्य होते हैं। ऐसे कवियों की पाँच कोटियाँ होती हैं—

(१) **भ्रामक कवि**—पुराने कवियों के द्वारा अदृष्ट भावों का वर्णन कर जो कवि पाठकों में अपनी मौलिकता का भ्रम उत्पन्न कर देता है वह कहलाता है—भ्रामक कवि।

(२) **चुम्बक कवि**—जो दूसरे की उक्तियों को स्पर्श करनेवाली उक्तियों में नया रंग भरकर उन्हें चटकीला तथा मनोहारिणी बना डालता है वह कहलाता है—चुम्बक कवि।

(३) **कर्षक कवि**—जो दूसरे कवियों के शब्दों तथा अर्थों को खींचकर अपनी रचना में निबद्ध कर देता है उसकी संज्ञा है—कर्षक कवि।

(४) **द्रावक कवि**—जो दूसरे की उक्तियों का सार लेकर अपने काव्यों में इस प्रकार रख देता है कि उनका प्राचीन रूप जाना नहीं जाता अर्थात् अनजाने ही उसकी उक्तियों में प्राचीन कवियों की उक्तियों का सादृश्य उपलब्ध होता है उसका नाम है—द्रावक कवि।

(५) **चिन्तामणि कवि**—पूर्वोक्त चारों कवियों को प्राचीन कवियों के भावापहरण करने के कारण 'लौकिक' कहते हैं, परन्तु यह अन्तिम प्रकार 'अलौकिक' कहलाता है। इसका अपर नाम है—**अदृष्टचरार्थदर्शी** अर्थात् किसी के भी द्वारा नहीं दृष्ट अर्थ का द्रष्टा कवि। राजशेखर का कथन बड़ा ही सारदर्शी है—

चिन्तासमं यस्य रसैकसूति—
रुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः ।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः
कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥

(का० मी०, १२ अ०, पृ० ६५)

जिसके चिन्तन के साथ ही साथ प्रधानतया रस को उत्पन्न करने तथा चित्ररूप वाले ऐसे अर्थों का समुदाय झटिति उत्पन्न हो जाता है जिसके दर्शन का सौभाग्य भी पुराने निपुण कवियों को नहीं होता वह अद्वितीय कवि 'चिन्तामणि' के नाम से विख्यात होता है ।

इनमें से प्रथम चारों कवियों के अन्य आठ प्रकार होते हैं जिनका वर्णन अर्थसंवाद के प्रकरण में दिखाया जायगा ।

१०—काव्य-संवाद

'संवाद' का अर्थ है अन्य-सादृश्य । भिन्नकर्तृक काव्यों में जो परस्पर सादृश्य दीख पड़ता है वही काव्यसंवाद के नाम से साहित्य ग्रन्थों में उल्लिखित किया गया है । काव्यमूल की समीक्षा करने पर काव्य तीन प्रकार का सिद्ध होता है—

(१) अन्ययोनि (निश्चित रूप से दूसरे कवि के काव्य का आधार मानकर निर्मित रचना);

(२) निह्नुतयोनि (प्राचीन कवि की रचना पर आश्रित होने पर भी इस काव्य का मूल एकदम छिपा रहा है),

(३) अयोनि (मौलिक रचना—कवि की प्रतिभा के बल पर निर्मित नूतन काव्य) ।

इन तीनों प्रकार के काव्य में प्रथम दो भेद के दो-दो अवान्तर भेद भी स्वीकृत किए गए हैं । और इन अवान्तर भेदों के भी आठ अन्य प्रकार माने गए हैं । इस प्रकार की समीक्षा से काव्य के ३२ भेद सिद्ध होते हैं ।

(क) अन्ययोनि

अन्ययोनि काव्य के दो भेद होते हैं:—

(१) प्रतिबिम्बकल्प तथा (२) आलेख्यप्रख्य।

(क) प्रतिबिम्बकल्प अर्थात् प्राचीन काव्य के सामने रखने पर नवीन काव्य उसका केवल प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है—हूबहू एक समान, बिना किसी अन्तर तथा पार्थक्य के। आनन्दवर्धन ऐसे काव्य को 'अनन्यात्म' तथा 'तात्विक-शरीर-शून्य' मानते हैं। जो काव्य प्राचीन काव्य के समग्र अर्थ को ग्रहण कर रचित है वह सचमुच तात्विक शरीर से शून्य रहता है। राजशेखर की दृष्टि में भी काव्यहरण का यह प्रकार अग्राह्य होता है—

> अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
> तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्[1]॥

दोनों काव्यों में शाब्दिक कथन का ही अन्तर होता है। अर्थ तो एकदम हूबहू वही होता है। अतः दोनों काव्यों में परमार्थतः कोई भेद रहता ही नहीं। इसीलिए ऐसा अर्थहरण सर्वथा निन्दनीय तथा नितान्त अग्राह्य श्रेणी में आता है।

(ख) आलेख्यप्रख्य—(चित्र के समान)। नवीन काव्य प्राचीन काव्य का अनुकरण होने पर भी नूतन संस्कार के द्वारा परिष्कृत किए जाने के कारण चित्र के समान प्रतीत होता है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में यह काव्य 'तुच्छात्म' है अर्थात् पृथक् शरीर होने पर भी वह शोभन नहीं है। अतः वे इसे सर्वथा अग्राह्य मानते हैं, परन्तु राजशेखर इसके ग्रहण के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि अनेक सामग्री से संस्कार युक्त होने से यह काव्य चित्र के समान चटकीला दीखने लगता है और प्राचीन काव्य से भिन्न न होने पर भिन्नवत प्रतीत होता है। 'चित्रतुरगन्याय' के अनुसार यह काव्य चमत्कृत, पृथक्-शरीर-सम्पन्न तथा सर्वथा उपादेय होता है—

> कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति।
> तत् कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥

भगवान् शंकर के कण्ठदेश में भौरों के समान काले-काले साँप विराजमान हैं। प्रतीत होता है कि चन्द्रमा की सुधा से सिक्त होने पर कालकूट के अंकुर निकल आये हैं। इस अर्थ को द्योतित करना यह प्राचीन पद्य है—

१—काव्यमीमांसा, अ० १२, पृ० ६३

होता है उसी प्रकार प्राचीन पद्य की छाया रखने पर भी नवीन तत्त्व के प्रतिपादन के कारण उक्ति श्लाघनीय मानी जाती है:—

तत्त्वस्यान्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥

•(ध्वन्या० ४।१४)

राजशेखर भी इसी मत के समर्थक हैं[१] ।

(२) परपुरप्रवेश—वह अर्थहरण का प्रकार है जिसमें दोनों व्यक्तियों में मूल तत्त्व तो एक ही है, परन्तु सजावट की भिन्नता है, भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंगों के द्वारा वस्तु का उपन्यास पृथक् रूप से किया गया है—

मूलैक्यं यत्र भवेत् परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः ।
तत् पुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम् ।।

इस नवीन भेद का वर्णन राजशेखर ने ही किया है, आनन्द वर्धन इस प्रभेद से परिचित नहीं हैं ।

तुल्यदेहितुल्य के आठ अवान्तर भेद माने गए हैं—

(१) विषयपरिवर्तन—पहले कहे गए विषय में विषयान्तर मिलाकर उसका स्वरूपान्तर कर देना ।

(२) द्वन्द्वविच्छित्ति—जिस पदार्थ का वर्णन प्राचीन उक्ति में दो प्रकार से किया गया हो, उसके केवल एक रूपका ग्रहण करना ।

(३) रत्नमाला—पूर्व अर्थों का अर्थान्तरों के द्वारा परिवर्तन ।

(४) संख्योल्लेख—पूर्व उक्ति में उल्लिखित संख्या को बदल देना ।

(५) चूलिका—पहिले जो सम कहा गया हो उसे विषम कहना अथवा पहिले जो विषम कहा गया हो उसे सम कहना ।

(६) विधानापहार—निषेध को विधि रूप से कहना ।

(७) माणिक्यपुञ्ज—बहुत अर्थों का एकत्र उपसंहार ।

(८) कन्द—कन्द को कन्दल रूपों में परिवर्तन अर्थात् समष्टि रूप से निर्दिष्ट अर्थ का व्यष्टि रूप से वर्णन करना ।

१—विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।
तत् तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

—का० मी०, पृ० ६२

परपुर-प्रवेश के भी आठ भेद होते हैं:—

(१) हुडयुद्ध—एक प्रकार से निबद्ध वस्तु को युक्ति पूर्वक बदल देना। कुमार सम्भव में हिमालय का वर्णन करते हुए कालिदास की उक्ति—

> अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
> एकोहि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

हिमालय अनन्त रत्नों के उद्गम का स्थान है। इसलिये हिमरूप दोष के होते हुए भी उसके सौभाग्य का नाश नहीं हुआ। जिस प्रकार किरणों में चन्द्रमा की कालिमा डूब जाती है उसी प्रकार गुणों के समुदाय में एक दोष दब जाता है।

अब इसी सिद्धान्त के विपरीत प्रदर्शन के निमित्त नवीन युक्ति का उपन्यास देखिए। कविका कहना है कि जो व्यक्ति गुण-समुदाय में एक दोष के छिप जाने की बात कहता है वह नहीं जानता कि एक ही दारिद्र्य-रूपी दोष हजारों गुणों को नष्ट कर देता है। युक्ति की नूतना देखिए—

> एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
> तेनेव नूनं कविता न दृष्टं, दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी॥

(२) प्रतिकञ्चुक—एक प्रकार से वस्तु को अन्य प्रकार की वर्णन करना।

(३) वस्तुसञ्चार—एक उपमान को दूसरे उपमान में बदल देना।

(४) जातुवाद—शब्दालंकार को अर्थालंकार के रूप में बदल देना।

(५) सत्कार—किसी वस्तु का उत्कर्ष के साथ परिवर्तन कर देना।

(६) जीवञ्जीवक—पहले जो सदृश था उसे असदृश कर देना।

(७) भावमुद्रा—प्राचीन उक्ति का आश्रय लेकर प्रबन्ध की रचना।

(८) तद्विरोधी—प्राचीन उक्ति के विरुद्ध नवीन उक्ति का निर्माण।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' में कवि प्रकारों का निदर्शन करते हुए काव्य-संवाद की भी बात लिखी है। उनकी दृष्टि में कवियों की ६ श्रेणियाँ होती हैं—

> छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
> भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः॥

अर्थात् (१) दूसरे की काव्य की केवल छाया लेकर कविता करनेवाला, (२) एक आध पद लेकर, (३) श्लोक का एक पाद लेकर, (४) समग्र श्लोक

को लेकर, (५) कवि-शिक्षा प्राप्त कर कविता करनेवाला, (६) अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के बल पर काव्यनिर्माण करनेवाला। इनमें से प्रथम चार प्रकार के कवियों का काव्य 'काव्यसंवाद' के भीतर आता है। इस विषय का सामान्य निर्देश वामन तथा आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक का चतुर्थ उद्योत ने) प्रथमतः किया था, परन्तु इसका विस्तृत तथा विशिष्ट अनुशीलन राजशेखर की काव्य-मीमांसा में उपलब्ध होता है (अध्याय ११ तथा १२)। राजशेखर के विवरण का सामान्य रूप ऊपर प्रदर्शित किया गया है। इस रोचक विषय की समीक्षा हमारे आलोचकों की अन्तर्दृष्टि की पर्याप्त परिचायिका है।

पश्चिमी साहित्य के आलोचकों ने भी इस 'अर्थापहरण' पर यत्र-तत्र विचार किया है। इसे वे 'प्लेजिअरीज़्म' के नाम से पुकारते हैं। परन्तु उनका विवरण प्रायः साधारण रूप का ही परिचायक है। भारतीय आलोचकों की दृष्टि इस विषय में काफी पैनी है। उन लोगों ने इसका अध्ययन गम्भीरता के साथ किया है तथा विषय का विशेष विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। मौलिक गवेषणा तथा प्रतिभा का भी विलास इसमें पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। ऊपर के वर्णन से यह नितान्त स्पष्ट है।

तुलसीदास और जयदेव

अँगरेजी में कहावत है कि 'पोयट्स आर बार्न, नाट मेड' कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। समग्र प्रतिभाशाली कवियों का इतिहास इस सिद्धांत की यथेष्ट पुष्टि करता है। कविता प्रतिभा की सुदृढ़ भित्ति पर ही अच्छी तरह खड़ी हो सकती है। जिस कवि में इस प्रतिभा का—नवोन्मेषिणी प्रज्ञा का—अभाव है, जो कवि अपनी स्वाभाविक कल्पना के पंखों पर उड़कर स्वर्गीय भाव-सुधा को मर्त्यलोक में लाना नहीं जानता, भला उसकी कविता-कामिनी के हाव-भाव सहृदयों के रसीले हृदय को कभी खींच सकते हैं! उसके मधुर शब्दविन्यास कभी कर्णपुटों में सुधा की वर्षा कर सकते हैं! उसके मनोरम भाव क्या कभी रसिकजनों के चित्त में चुभ सकते हैं? क्या उसके ललित अलंकारों की छटा कभी इन प्यासे नयनों को तृप्त कर सकती है? कदापि नहीं। रस से सरसाती, चित्त में घाव करनेवाली कविता के लिये प्रतिभा की परमावश्यकता है। संस्कृत साहित्य के आलंकारिक-शिरोमणि मम्मटाचार्य ने भी कविता के त्रिविध साधन बतलाते समय 'प्रतिभा' को ही सबसे पहला स्थान दिया है। इस प्रतिभा का विकास कवि के हृदय में जन्म

से ही होता है—पूर्वकालीन संस्कार के बल से इस प्रतिभा की निर्मल धारा कवि के हृदय में प्रबल वेग से बहने लगती है। वाल्मीकि की जिह्वा से अकस्मात् ही कविता का प्रवाह निकलने लगा था। अंधे होमर को किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं मिली थी। उसकी क्रमबद्ध शिक्षा के विषय में भी ग्रीक इतिहास मौनव्रत अवलंबन किए हुए है। वह अपनी प्रतिभा के अनुपम विमान पर चढ़कर ही सैकड़ों वर्ष पूर्व घटित होनेवाले ट्रोजन संग्राम की छोटी से छोटी घटनाओं को देखता था और अपने अमर महाकाव्य 'ईलियड' में वर्णन करता था। महाकवि शेक्सपियर की वह अनुपम नाट्य-कला तथा अनमोल कविता उसकी प्रतिभा के बल से ही प्रसूत हुई थी। अतएव यदि आलोचकगण सच्चे कवि को खराद़ा गया न समझ कर जन्म से ही चमकनेवाला, अँधेरे को उजेला बनानेवाला हीरा समझें तो वह सिद्धान्त सत्यता से बहुत दूर न होगा।

काव्य सामग्री

उक्त सिद्धान्त की सत्यता को मानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कविगत प्रतिभा के अंकुर को उपजाने के लिये, उसे हरा-भरा बनाकर पल्लवित करने के लिये अनेक साधन-रूपी खाद की आवश्यकता होती है। इन सामग्री के बिना हृदय में छिपी हुई शक्ति का—सर्वतोगामिनी प्रचंड प्रतिभा का—सम्यक् विकास वास्तव में जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। यह सामग्री उसके उद्बोधन में, उसे जनता के नेत्रों के सामने प्रगट होने में अनेक सहायता प्रदान करती है। इस सामग्री को हम 'निपुणता' तथा 'अभ्यास' के नाम से पुकारना यथोचित समझते हैं। संसार के विभिन्न कार्यों का अवलोकन कर उसका समुचित अनुभव प्राप्त करना तथा प्रकृति देवी के मनोरम मंदिर को देख उसके वास्तविक रहस्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। देश और काल का असीम प्रभाव कवि के हृदय पर बिना हुए रह ही नहीं सकता। सांसारिक अनुभव से कवि की प्रतिभा और भी प्रौढ़ बनती है। जिस काल में कवि का जन्म हुआ है, उस समय की विशिष्ट विचार-लहरी का छींटा उसकी कविता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उस समय की भावनाओं की तरंग उसके काव्य में जरूर दिखाई देगी। उसी भाँति देश का प्रभाव भी कविता के मनोहर वेश में बहुत कुछ वैचित्र्य पैदा कर सकता है। इन साधनों के समान ही प्राचीन कविता का अध्ययन तथा मनन भी कवि

को सुचारू-रूप में गढ़नेवाले पदार्थों में उन्नत स्थान रखता है। नवीन कविता करने का अभ्यास तथा प्राचीन काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन काव्य-साधनों में एक विशिष्ट साधन है। प्रत्येक देश के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अपनाने में तनिक भी नहीं हिचकते, क्योंकि वे तो उनके अध्ययन के प्रधान अंग हैं। इन साधनों की सहायता से कवि की ईश्वरदत्त प्रतिभा का उद्बोधन हो सकता है तथा कतिपय अंशों में नवीन प्रतिभा का जन्म भी हो सकता है। अनेक ऐसे कविवर हो गए हैं जिनमें स्वाभाविक प्रतिभा की न्यूनता की पूर्ति बहिर्जगत् के अनुभव से यथेष्ट की गई है। ऐसे बहुत से कवि मिलेंगे जिन्होंने इन्हीं साधनों के सहारे अत्युत्तम कविता की है। अतएव वास्तविक कवि वही है जिसमें प्रतिभा के बीज जन्म से ही निहित हों। तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त साधनों के द्वारा कवि बनाया भी जा सकता है—उसे देश तथा कालरूपी साँचे में ढाला भी जा सकता है।

भावसादृश्य

यही कारण है कि कवियों में भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं तो दो भिन्न-देशीय कवियों के एक ही विषय पर मजमून बलात्कार लड़ जाते हैं। कवि-प्रतिभा की गति प्रायः संसार में एक ही समान रहती है। इस प्रतिभा के बल पर जब एक ही विषय पर कविता लिखी जा रही हो, तब विचारों का लड़ जाना कोई असम्भव व्यापार नहीं। परन्तु कहीं-कहीं कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अनूठे भावों को—अनुपम सूझ को—जान बूझकर अपनाता है। जो भाव अनोखे होते हैं, जिनमें अलौकिकता की अधिक मात्रा रहती है, वे अध्ययनशाली कवि के स्वच्छ हृदय पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। ऐसे भाव उसके हृदय पर अपनी छाप बैठा देते हैं, वे कवि की निज की कमाई सम्पत्ति हो जाते हैं। अतएव जहाँ समुचित अवसर मिलता है, वहाँ कवि उन भावों को प्रकट किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। उन भावों के परकीय होने का विचार उसके हृदय से सदा के लिए पृथक् हो जाता है। कविता लिखते समय वे भाव स्वतः ही, बिना किसी ज्ञात परिश्रम के, उसके नेत्रों के सामने फिरने लगते हैं। कवि उन्हीं स्वर्गीय सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्र अपने शब्दों से सर्वसाधारण के सामने खींचता है। यह भावों का अपनाना 'अर्थापहरण' नामक दोष से सर्वथा मुक्त है। यदि कवि किसी दूसरे कवि के भाव को लेकर उसकी रमणीयता की रक्षा न कर

सके, उसके अनूठेपन को बनाए न रखे, तो वह वास्तव में 'कविर्वान्तं समश्नुते' का लक्ष्य बनाया जा सकता है परन्तु यदि वह उन भाव चित्रों के गाढ़े रंग में कुछ भी कमी नहीं होने देता, यदि कवि के शब्दों में उतरकर वे भाव अपनी सरसता तथा अलौकिकता को नहीं खो बैठते, तो वह कवि वास्तव में सच्चे कवि का उच्च पद पाने का प्रधान अधिकारी है।

वही कवि सच्चा कवि है जो प्राचीन भावों पर भी अपनी अनुपम छाप डाल दे, अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल से उनमें नई रंगत पैदा कर दे और उनमें कुछ दूसरा ही अनोखापन ला दे। आलोचकगण इसका ही 'मौलिकता' के नाम से सादर स्वागत करते हैं। कौन ऐसा भाव है जिसे प्राचीन कवियों ने नहीं अपनाया है? तथापि उन्हीं भावों को अपने साँचे में ढाल, अपनी प्रतिभा की विमल छाप लगा, उनमें नई चमक पैदा करना ही तो मौलिकता है। संस्कृत साहित्य के प्रधान आलोचक आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वही रूखे-सूखे पेड़ हैं, वही पत्रों से रहित शाखाएँ हैं, वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब कुछ पुराना है, परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति में नवीन परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। वृक्षों में नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं, शाखाएँ हरी-भरी सी दिखाई देती हैं, मंजरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने। उसी भाँति कवि भी पुराने भावों में नवीनता उपस्थित कर उन्हें चोटीले बना देता है। कहीं शब्द बदल देता है तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। अब भाव दूसरे से उधार ली हुई सम्पत्ति नहीं रह जाता, बल्कि अपना कमाया हुआ निज का धन हो जाता है।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

कविकुल-शेखर राजशेखर ने आनंदवर्धनाचार्य की ही उदार सम्मति को अपने शब्दों में दुहराया है:—

शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

समग्र संस्कृत साहित्य हिन्दी कवियों के लिये पैतृक सम्पत्ति है। उन्हें उसका पूर्ण रूप से अपनी कविता में उपयोग करने का अधिकार है। यही कारण है कि अनेक हिन्दी कवियों पर प्राचीन संस्कृत कवियों की छाया स्पष्टतः झलकती है परंतु हिंदी के महा-कवियों ने भावों को लेकर भी

उन्हें अत्यंत रमणीय बना डाला है, जिससे वे भाव मौलिक से जान पड़ते हैं। कविता-कामिनी-कांत तुलसीदास ने भी अनेक प्राचीन संस्कृत कवियों के भावों को अपनाकर अपने 'रामचरित मानस' को सुशोभित किया है। रामायण की भूमिका में महात्मा तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ में वर्णित सिद्धान्त अनेक आगम, निगम, पुराण ग्रंथों से लिए गए हैं।

नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

तुलसीदास ने अनेक विमल दार्शनिक गीतादि धर्म-ग्रंथों से, राम का अधिकांश आख्यान अध्यात्म रामायण से तथा अनेक कथोपकथन हनुमन्नाटक से लिए हैं, यह बात तो सर्वप्रसिद्ध ही है; परंतु रामायणीय कथा-विषयक एक और अनुपम ग्रन्थ है जिसकी छाया रामायण के अधिकांश अनूठे भावों पर पड़ी है। यह ग्रंथ जयदेव प्रणीत 'प्रसन्नराघव' नामक संस्कृत नाटक है।

प्रसन्नराघव का रचना-काल

'प्रसन्नराघव' नाटक में जैसा कि इसका सार्थक नाम प्रकट कर रहा है, रामचन्द्र के जीवन-वृत्तांत का अभिनयात्मक वर्णन है। नाटक में जितने आवश्यक गुण होने चाहिएँ, उनमें से अनेक गुणों की न्यूनता यद्यपि इस नाटक के पढ़नेवालों को खटकेगी, तथापि कविता की दृष्टि से, प्रसन्न-कारिणी शक्तियों की दृष्टि से, यह नाटक अधिक मूल्य रखता है। इस नाटक के कर्ता का नाम 'जयदेव' है। यह कविवर अमर गीती-काव्य गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। गीतगोविन्द के रचयिता के पिता का नाम भोजदेव तथा माता का रमादेवी था; परन्तु प्रसन्नराघव के कर्ता के पितृदेव का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रादेवी था। इनका गोत्रकौंडिन्य था। प्रसन्नराघव की रचना रामचरितमानस से करीब डेढ़ सौ वर्ष पहले हो चुकी थी। साहित्यदर्पण के कर्ता विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि-काव्य के उदाहरण में 'कदली कदली करभः करभः' वाला प्रसन्नराघव का पद्य उद्धृत किया है जिससे निश्चित है कि जयदेव अवश्य विश्वनाथ (चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध) से प्राचीन थे। चन्द्रालोक में जयदेव ने मम्मटाचार्य के काव्य-लक्षण की हँसी उड़ाई है जिससे इनका समय मम्मटाचार्य (भोजन के समकालीन, १२ वीं

सदी) से पीछे तथा विश्वनाथ के पहले ठहरता है। अर्थात् यदि हम इन्हें तेरहवीं सदी का कवि कहें तो अनुचित न होगा। अतएव जयदेव ने इन समान भावों को रामचरित मानस से नहीं लिया; क्योंकि वे तो तुलसीदास से सैकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे। भाव-समानता से यही सिद्धांत निकलता है कि तुलसीदास ने ही जयदेव के अनूठे भावों को अपनाकर अपने 'मानस' को सुन्दर बनाया है।

बिम्ब प्रति-बिम्ब भाव

जयदेव ने नाटक की 'बालकाण्ड' वाली प्रस्तावना में रामचन्द्र के आदर्श-चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वास्तव में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र समग्र विश्व के लिए अनुकरण की सामग्री है। आदर्श पितृभक्ति, पुत्र-स्नेह, भ्रातृ-प्रेम तथा पत्नी-प्रेम का अनुपम सम्मेलन जैसा यहाँ दिखायी देता है, वैसा संसार के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन में नहीं मिलता। अतएव जयदेव की राम-विषयक प्रशंसा वास्तव में सत्य है। वे कहते हैं कि ज्योंही कोई मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को प्रकट करना चाहता है, त्योंही भगवती सरस्वती उसकी जिह्वा पर आ बैठती हैं—अपने पतिदेव की क्रीड़ा-भूमि को भी छोड़कर करोड़ों कोसों से दौड़ती हुई आकर उसकी जीभ पर विराजमान हो जाती हैं। इस सुदूर मार्ग को पार करने का परिश्रम किसी तरह भी कम नहीं होता। इसके लिए केवल एक ही सुगम उपाय है। और वह है रामचन्द्र के गुणगरिमापूर्ण चरित्र का कीर्तन। रामचन्द्र के गुणानुवाद-रूपी सुधामयी वापी में यदि वह गोता न मारें, तो उनका परिश्रम किसी भाँति दूर नहीं हो सकता। धन्य है राम के गुणों का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने में समर्थ है।

झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्
महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।
अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामय-दीर्घिकाम् ॥

(प्रसन्नराघव पृष्ठ ५)

तुलसीदास जी ने भी अपने आराध्य देव राम के गाथा-कीर्तन के विषय में अनेक प्रशंसाएँ बालकाण्ड में की हैं। वे भी यही कहते हैं—

भगति हेतु विधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
राम-चरित-सर बिनु अन्हवाये। सो स्रमु जाइ न कोटि उपाये॥

रसिक पाठक इन दोनों उक्तियों को साथ-साथ पढ़ें और देखें कि इनमें गहरा भाव-साम्य है या नहीं। श्लोक में रघुपति-चरित की श्लाघा का रूपक सुधामय दीर्घिका से दिया गया है, महात्मा जी ने उपमान तथा उपमेय की एकलिंगता के साहित्यिक नियम की रक्षा के अभिप्राय से, भाव को अपनाकर भी, स्त्रीलिंग का सहारा छोड़, रामचरित का रूपक 'सर' से बाँधा है। भाव तो एक समान है ही, परन्तु इस प्रकार अलंकार का निर्वाह भी ठीक ढंग पर किया गया है।

वाटिका भ्रमण

रामचरितमानस का वाटिका भ्रमण भी हिन्दी साहित्य में कविता की दृष्टि से अनूठी चीज है। साधारण शब्दों में मर्मस्पर्शी भावों का वर्णन करना तुलसीदास का ही श्लाघनीय व्यापार है। अधिकांश रामायणी इस वाटिका-भ्रमण को तुलसीदास के कल्पना-मय मस्तिष्क की उपज मानते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। प्रसन्नराघव में सीता का अपनी प्यारी सहेलियों के साथ गिरिजा का पूजन तथा उपवन में वसंत की बहार खूब चुने हुए शब्दों में वर्णित है। जिस मार्मिक ढंग से तुलसीदास ने इसका शाब्दिक चित्र खींचा है, वह तो उनका ही खास ढंग है; परन्तु लेखक की सम्मति है कि वाटिका-वर्णन का विचार प्रसन्नराघव से ही तुलसीदास को मिला। रामचन्द्र सीता के नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर लक्ष्मण को उधर देखने से रोकते हैं, क्योंकि परस्त्री की शंका से ही रघुवंशियों का मन संकुचित हो जाता है।

"परस्त्रीति शंकापि संकोचाय रघूणाम्"

इसी भाव पर तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा का छींटा देकर यों कहा है—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरैं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।

नाटक में धनुष तोड़ने के लिये रावण और बाण में अनेक वाक्प्रबंध दिखलाया गया है। अन्त में बाणासुर शिवधनुष को उठाने लगता है। अत्यन्त परिश्रम करता है; परन्तु वह जड़ पिनाक टस से मस नहीं होता। इस विषय

पर जयदेव एक सुन्दर उदाहरण देते हैं कि सती स्त्रियों का मन कामी-जनों के बारंबार प्रार्थना करने पर भी जरा भी अपने प्राकृतिक स्थान से नहीं टलता। यही दशा उस धनुष की थी।

बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
नेदं धनुश्चलति किञ्चिदपीन्दुमौलेः।
कामातुरस्य वचसामिव संविधानै-
रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्।
(पृ० २७)

तुलसीदासजी ने भी इस प्रसंग पर इसी अनुपम उपमा की सहायता ली है।

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा।
डिगै न सम्भु-सरासन कैसे। कामीवचन सती मन जैसे।

कहना व्यर्थ होगा कि यह उपमा जयदेव के ही नाटक से ली गई है।

परशुराम-प्रसङ्ग

रामचरित मानस का राम-परशुराम संवाद सजीवता में अपना सानी नहीं रखता। लक्ष्मणजी की व्यङ्ग्योक्ति वास्तव में मर्मस्पर्शिणी है। परशुराम को जैसी फबती लक्ष्मण ने सुनाई है, वैसी रामायण में और कहीं सुनने को नहीं मिलती। यह सम्वाद तुलसीदास के हास्यमय हृदय का पता देता है। यह महात्माजी की निज की कल्पना से प्रसूत माना जाना चाहिए; तथापि इसके अधिकांश भाव प्रसन्नराघव से लिए गए हैं। हाँ, 'कुम्हण-बतिया' की उपमा आदि अनेक चमत्कारिणी उक्तियाँ खास तुलसीदास की ही हैं; तथापि कतिपय भावों पर जयदेव की छाया बहुत साफ़ दीख पड़ती है।

रामचन्द्र परशुराम का बड़प्पन दिखाते हुए आपस में समर-व्यापार को निंद्य ठहराते हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन्, आप ठहरे ब्राह्मण और मैं ठहरा क्षत्रिय; मेरा बल अत्यन्त हीन है; परन्तु आप उत्कृष्टता के शिखर पर चढ़े हुए हैं; क्योंकि मेरा बल तो केवल धनुष है जिसमें केवल एक ही गुण है (प्रत्यञ्चा) है, परन्तु आपका अस्त्र—यज्ञोपवीत-नव गुणों (सूतों) से सुशोभित है। युद्ध तो समबल के साथ करना समुचित होता है; परन्तु मुझमें और आपमें तो आकाश-पाताल का अंतर है; भला कहिए तो सही, मैं कभी आपसे लड़ने के योग्य हूँ!

भो ब्रह्मन् ! भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नः
सर्वे हीनबलाः वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्धनि ।
यस्मादेकगुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजा-
मस्माकं, भवतां पुनर्नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम् ।
(पृ० ८२)

अब जरा देखिए, तुलसी के इष्ट राम भी इन्हीं शब्दों में संग्रामवार्ता को बुरा ठहराते हैं—

हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा । कहहु त कहाँ चरण कँह माथा ॥
देव एकगुन धनुष हमारे । नवगुन परम पुनीत तुम्हारे ॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे । छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥

देखिए, पुराने मजमून में कैसी जान डाल दी गई है। 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' वास्तव में इस उद्धरण की जान है। यह तुलसी की खास कल्पना है; मूल में इस विषमालंकार की छटा देखने को नहीं मिलती। हाँ, इतना अवश्य कहेंगे कि 'नवगुन परम पुनीत तुम्हारे' में प्रसाद की उतनी मात्रा नहीं जितनी 'नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्' में है।

राम अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी राय है कि पुराना धनुष तो छूते ही टूट गया; इसमें हमारा दोष ही क्या ?

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः ।
भगवन्नात्मनैवेदमभ्यजत करोमि किम् ॥ (पृ० ८१)

रामचरित मानस में भी यही बात कही गई है:—

छुवतहि टूट पिनाक पुराना । मैं केहि हेतु करौं अभिमाना ॥

पिनाक को पुराना बतलाकर तुलसीदास ने पद्य के विषय को अपना बना डाला है।

सुंदरकाण्ड

सुंदरकाण्ड में जितनी समता दृष्टिगोचर होती है, उतनी और कहीं नहीं दिखाई देती। पद पद पर तुलसीदास ने जयदेव के भावों को अपनाया है। परंतु ये भाव ऐसे समुचित अवसर पर और सुचारुरूप से बैठाए गए हैं कि इनमें परकीयता की गंध भी नहीं आती।

रावण के भय दिखाने पर सीता कह रही है कि हे रावण, ज्यादा बक-झक मत कर। केवल दो ही चीजें ऐसी हैं जो मेरे कण्ठ को छू सकती हैं। पहली चीज तो कमल के समान कांतिवाला रघुनाथ का भुज, और दूसरी तेरी निर्दय तलवार! क्या सुंदर भाव है!

विरम विरम रक्षः! किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।
रघुपति - भुजदण्डादुत्पलं श्यामकान्तेः
दशमुख! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्॥

(पृ० १२७)

तुलसीदास की सीता भी ऐसी ही आदर्श पतिप्राणा है। वह साफ शब्दों में राम के बिना मरना स्वीकार करती है:—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु-भुज करि-कर-सम दसकंधर।
सोइ भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा॥

अब सीता रावण की भयंकर तलवार चंद्रहास से ही अपना सिर काटने की प्रार्थना कर रही है। वह कह रही है कि चंद्रहास! रामचंद्र की विरहाग्नि से उत्पन्न हुए मेरे संताप को मिटा दो। तुम में ताप मिटाने की शक्ति अच्छी मात्रा में विद्यमान है; क्योंकि तुम अपनी धार में शीतल जल ही धारण करते हो। इसी शीतल जल से मेरे हृदय में सुलगनेवाली आग बुझा दो, बस यही प्रार्थना है।

चंद्रहास हर मे परितापं
रामचंद्र - विरहानलजातम्।
त्वं हि कांतिजित - मौक्तिकचूर्णं
धारया वहसि शीतलमम्भः।

(पृ० १२७)

रामायण की सीता भी ऐसी ही प्रार्थना सुनाती है:—

चंद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संतापं॥
सीतल निसि तव असि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

देखिए, पिछली चौपाई पद्य के पूर्वार्द्ध का अक्षरशः अनुवाद है।

नाटक में सीता त्रिजटा से अग्नि लाने के लिये कहती है; परन्तु त्रिजटा के अग्नि सुलभ न होने की बात कहने पर सीता अशोक से ही आग माँग रही है। वह कहती है—हे निर्दयी अशोक! मेरे लिये अग्नि की एक चिनगारी भी तो प्रकट करो। विरहियों के संताप के लिये तुम अपने नूतन पल्लवों के रूप में अग्नि की शिखावली धारण किए हो, ज़रा एक भी कणिका दो तो सही।

> अलमकरुणं चेतः श्रीमदशोक वनस्पते!
> दहनकणिकामेकां तावन्मम प्रकटीकुरु।
> ननु विरहिणां सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
> नवकिसलयश्रेणीव्याजात् कृशानुशिखावलीम्।

(पृ० १२९)

रामायण में सीताजी की भी उक्ति इसी प्रकार है:—

> सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।
> नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहु निदाना।

सीता की विषम दशा देख पेड़ पर छिपे हुए हनुमान ने मुद्रिका गिरा दी। सीता ने समझा कि मेरी प्रार्थना पूरी हुई, अशोक ने अग्नि की कणिका मेरे लिये गिरा दी है। वह कह रही है—

"हला! पश्य पश्य निपतितं तावदस्य शिखरादङ्गारखण्डकम्"

तुलसीदास जी ने भी यही बात लिखी है:—

> कपि करि हृदय बिचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
> जनु असोक अङ्गार दीन्ह हरषि उठि कर गहेऊ॥

परंतु वह तो थी राम की अँगूठी। झट हनुमान आगे बढ़ आए और सीता से अपने को राम का दूत बताया। सीता बहुत डरी; परंतु विश्वास होने पर नर और वानर के अयोग्य सम्मेलन की कथा पूछने लगी। जिस प्रकार नाटक की सीता "केन पुनर्नरवानराणामीदृशं सखित्वं निर्मितम्!" कह रही है, उसी भाँति रामायण की सीता भी 'नर बानरहि संग कहु कैसे' पूछती है।

सम्मेलन की समस्या हल हो जाने पर सीता राम की दशा के विषय में प्रश्न करती है। तब हनुमान राम की विषम दशा का मार्मिक वर्णन करते हैं। वह कहते हैं कि हे सीता, तुम्हारे विना राम को हिमांशु सूर्य की तरह ताप-कारी जान पड़ता है; नया मेघ दावानल सा प्रतीत होता है; नदियों के जल से संपृक्त वायु क्रुद्ध साँप के निःश्वास सा जँचता है; कुवलय वन कुंत के जंगल

सा जान पड़ता है; तुम्हारे वियोग में राम के लिये यह संसार ही विपरीत हो गया; सुखदायक वस्तु में भी दुःख ही उत्पन्न हो रहा है:—

हिमांशुश्चण्डांशुर्नवजलधरो दावदहनः
सरद्वीचीवातः कुपितफणिनिःश्वासपवनः।
नवा मल्ली भल्ली, कुवलयवनं कुंतगहनं
मम त्वद्विश्लेषात् सुमुखि! विपरीतं जगदिदम्॥

(पृ० १३२–३३)

तुलसी ने भी यही बात हनुमान के मुख से कहलवाई है। देखिए तो कितनी घनिष्ठ समता है:—

राम-वियोग कहेउ तब सीता। मो कहुँ सकल भए विपरीता॥
नव-तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससिभानू॥
कुबलय बिपिन कुंतवन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा। उरग-स्वास सम त्रिविध समीरा॥

हनुमान आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं कि राम जी चाहते हैं कि किसी को मैं अपने दुःख की कहानी, प्रेम कथा सुनाकर किसी तरह दुःख से मुक्त हो जाऊँ। परंतु वह स्नेह-सार कौन जानता है? मेरा मन ही इस प्रेम तत्त्व को जानता है; परन्तु वह तो मेरे पास नहीं। वह तो सदा तेरे समीप रहता है। प्रिये! मैं क्या करूँ। यह प्रेम-कहानी कौन किसे कह सुनावे? हृदय का यह सच्चा रहस्य, प्रेम की यह नई कसौटी, विरह में मन की दशा कितने अच्छे शब्दों में व्यक्त की गई है:—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।
जानात्येकं शशधरमुखि! प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि॥

(पृष्ठ १३३)

रामायण में भी सरल शब्दों के द्वारा यही रहस्य व्यक्त किया गया है:—

कहेहु ते दुख घटि कछु होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्वप्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहिं पाहीं। जानु प्रीति रस इतनहिं माँही।

और अनेक वर्णनों में भी प्रसन्नराघव की छाया रामायण में पाई जाती है। बिभीषण-परित्याग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के विलाप आदि का वर्णन जयदेव के ही ढंग पर किया जाता है।

लंकाकाण्ड

लंका-युद्ध समाप्त हो गया है। सब वीरगण विजय से मत्त हो रहे हैं। इतने में पूर्वाकाश के तिलक चंद्रमा का उदय होता है। सुग्रीव, राम, लक्ष्मण, हनुमान आदि के मुख से जयदेव ने चंद्रोदय का बड़ा ही आनंददायक वर्णन कराया है। बिभीषण चंद्रमा को एक पराक्रमी सिंह के रूप में देखते हैं। चंद्रमारूपी सिंह ने अपने मयूखरूपी नखों से अंधकार के मत्त हस्ती को चीर डाला है। हाथ के बिखरे हुए मुक्ता की तरह आकाश में तारे छिटके हैं। यह सिंह अब तक पूर्व दिशारूपी गुफा के अंदर सोया हुआ था। अब उठकर वह आकाश-रूपी कानन में घूम रहा है। कैसा सांगोपांग रूपक है।

मयूख नखर त्रुटत्तिमिर कुम्भि कुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारका-कपटकीर्णमुक्ताकणः।
पुरंदर-हरिद्दरी-गुहागर्भ-सुप्तोत्थित-
स्तुषारकर-केसरी गगनकाननं गाहते॥
(पृ० १५९)

इस वर्णन के आधार पर ही तुलसीदास ने लंका के पहले सुमेरु पर्वत पर चन्द्रोदय का वर्णन किया है। देखिए इस वर्णन में पूर्व रूपक को ही अपनाया गया है:—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेजबल रासी।
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केहरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ तल मुक्ता तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥

उपसंहार

जितने भाव प्रसन्नराघव तथा रामचरित मानस में अत्यन्त सदृश जान पड़ते हैं, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। लेखक का अभिप्राय है कि कितनी सफाई से प्राचीन भाव अपनाए गए हैं—किस तरह तुलसीदास ने उन प्राचीन भावों में रमणीयता पैदा कर दी है। यह काम किसी साधारण कवि का नहीं है, वरन्तु किसी प्रतिभाशाली कवि की ही लेखनी का प्रभाव है जो प्राचीन भावों

काव्य-रहस्य

सत्सूत्रसंविधानं सदलङ्कारं सुवृत्तमच्छिद्रम् ।
को धारयति न कण्ठे सत्काव्यं माल्यमर्घ्यं च ॥

❀

शब्दशक्त्यैव कुर्वाणा सर्वदा नवनिर्वृतिम् ।
काव्यविद्या श्रुतिगता स्यान्मृतस्यापि जीवनी ॥

१—काव्य की प्रेरणा

(१)-भारतीय मत

मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति हेतुमूलक होती है। बिना किसी बलवान् निमित्त के वह किसी भी प्रवृत्ति के लिए उद्योगशील नहीं होता। काव्यकला मानव की उच्चतम आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रतीक है। बुद्धि के किसी विकसित उच्चतर स्तरपर पहुँचकर ही मनुष्य अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थयुगल का मधुर माध्यम पकड़ता है। वह अपने प्रातिभ चक्षु के द्वारा पदार्थ की मधुर झाँकी पाता है; वह जगत् के पदार्थ तथा अन्तर्जगत् के भाव में रस का अक्षय उत्स पाकर अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है। इतने से ही वह कृतकार्य नहीं होता, प्रत्युत उसी आनन्द का प्रकाशन अपनी कला के द्वारा सम्पन्न कर दर्शक तथा पाठक को आनन्दमय बनाने का भी प्रयत्न करता है। यही अभिव्यञ्जना उसकी अनुभूति का चरम अवसान है।

हमारे मनीषियों की प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि आनन्द के अनुभव के लिए ही विश्वस्रष्टा ने सृष्टि की रचना की। वह स्वयं रस से तृप्त है; किसी प्रकार न्यून नहीं है—रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः (अथर्व० १०।८।४४)। रसतृप्त विश्वकर्ताकी सृष्टि भी एक अखण्ड रस की धारा से चारों ओर व्याप्त है। इसके मधुर सरोवर शत-सहस्र संख्या में चारों ओर भरे हुए हैं। उनसे रस का आस्वादन करने के हेतु हमारे प्राण सदा व्याकुल रहते हैं। रस-प्राप्ति मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। आनन्द की अनुभूति के लिये ही प्राणी बेचैन होकर इधर-उधर भटकता है। रस पाने के लिये उसके चित्त बेचैन हैं, प्राण आकुल हैं। इस रस का अनुभव पाकर मनुष्य शब्दमय या रेखामय या स्वरमय या चित्रमय माध्यम द्वारा अपनी उपलब्ध तृप्ति को बाहर प्रकट करता रहता है। वह स्वार्थी नहीं है; वह क्षुद्र स्वार्थ का केन्द्रीभूत निकेतन नहीं है कि वह समग्र रस चुपचाप अपने ही आप पान कर जाना चाहता हो। वह अपने 'स्व' को इतना विस्तृत तथा व्यापक बना देता है कि उसके लिये कोई 'पर' रहता ही नहीं। इसी व्यक्तित्व के प्रसार को, अपने 'स्व' को 'पर' के साथ तादात्म्य को साहित्य की भाषा में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गई है। रस की उपलब्धि के अनन्तर रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है—कला।

अब विचारणीय प्रश्न है कि कला या साहित्य के मूल में कौन-सी प्रेरणा कार्य करती है? कौन वस्तु उसे कला के उन्मीलन तथा काव्य के सर्जन के लिए अग्रसर करती है? सन्ध्याकाल में रक्ताभ वारिदमाला से आवृत तथा मञ्जुल स्वरों की ध्वनि करनेवाले हरे-लाल रंग के उड़ते हुए पक्षियों के समूह से गुंजारित आकाश-मण्डल की छवि को तूलिका से चित्रित करने के लिये चित्रकार क्यों व्याकुल होता है? अथवा ऊँची अट्टालिका पर चढ़ झरोखे से झांकनेवाली शरदिन्दु-विनिन्दक आनन से अन्धकार का तिरस्कार करनेवाली सुन्दरी की भव्य कान्ति को कविता के द्वारा आलोकित करने के लिए कवि क्यों लालायित रहता है? कमनीय वीणा की तन्त्री को झंकारित कर कलावन्त स्वरमाधुरी से श्रोताओं को मुग्ध करने का अश्रान्त परिश्रम क्यों करता है? इसका एकमात्र उत्तर है—स्वान्तः सुखाय = अपने मन के सुख के लिये, अपने हृदय के आनन्द के निमित्त ही। आनन्द से मुग्ध कलाकार आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि ठहरा; वह अपनी कला के विविध माध्यमों के द्वारा उसका उन्मेष करता है। इस उत्तर की विस्तृत मीमांसा अपेक्षित है।

उपनिषद् बतलाता है कि आरम्भ में ब्रह्म अकेला था। एक होने से वह रमण नहीं करता था। रमण की इच्छा होते ही एक ने बहु के रूप में उत्पन्न होना चाहा। रमण की अभिलाषा ही एक को बहु बनने की प्रधान प्रेरिका हुई—'एकाकी नैव रमते'। सो अकामयत् 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस 'बहु स्याम्' के अभिलाष से ही सृष्टि का उद्गम हुआ। 'एषणा' की तृप्ति के लिये ही जगत् का समस्त प्रपञ्च जागरूक रहता है। एषणा है कामना या अभिलाषा। एषणा तीन प्रकार की मानी गई है—पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा, पुत्र-स्त्री की इच्छा, धन की इच्छा तथा यश की इच्छा। अथवा अन्य शब्दों में काम, अर्थ तथा धर्म ही इस संसार में सम प्रवृत्तियों के प्रधान निदान माने गये हैं। हमारे समस्त कार्य-व्यवहार इन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं। मानव जीवन की अशेष प्रवृत्ति का मूल यही है। परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अतिरिक्त 'मोक्ष' नामक चतुर्थ पुरुषार्थ भी है जो प्राणिमात्र के उद्बोधन तथा प्रवृत्ति का साधन है। दुःखत्रय की लहरिका से प्रताड़ित मानव सदा अपने दुःखमोचन के लिये प्रयत्नशील होता है। वह सर्वत्र अपने को बन्धन में पाता है, चारों ओर परतन्त्रता की जंजीर उसकी देह को जकड़े हुए खड़ी रहती है, वह स्वतन्त्र होना चाहता है। "सर्वं परवशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम्" की उक्ति सर्वथा सत्य है। परवश होना दुःख है। आत्मवश होना सुख है।

प्रकृति से अपने को विविक्त जानकर पुरुष ख्याति-लाभ करता है और मुक्त बनता है। यह मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और इसीकी सिद्धि के लिये यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य, सतत प्रवृत्त होते हैं।

हमने गोस्वामी तुलसीदास के ही प्रसिद्ध शब्द 'स्वान्तः-सुखाय' को समस्त कला का मूल प्रेरक शक्ति माना है। इसे कुछ विस्तार के साथ समझने की आवश्यकता है। इस विश्व में समस्त प्रेरणाओं तथा स्फुरणाओं का स्फीत भव्य आधार है यही आत्मा। आत्मा ही प्रेरक शक्ति का प्रतीक है। आत्मशक्ति ही सर्वत्र विकसित होकर नाना रूप-रूपान्तरों में हमारे सामने प्रकटित हो रही है। आत्मा ही विश्व की समग्र वस्तुओं में श्रेष्ठ है, प्रियतम है। कामनावेलि आत्मद्रुम का ही आश्रय लेकर अपनी भव्य महिमा सर्वत्र विस्तारित करती है। जीवन के अशेष कार्य-कलापों के बीच इसी की शक्ति काम करती दीख पड़ती है। विश्व का निरीक्षण किसी जगह से आरम्भ कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा के ऊपर ही पर्यवसान होगा। प्रिय वस्तुओं की गणना में आत्मा ही श्रेष्ठ ठहरता है। आत्मा विशाल विश्ववृत्त का केन्द्रस्थानीय बिन्दु है। विश्व की परिधि के किसी बिन्दु से गणना आरम्भ कीजिए, केन्द्र को स्पर्श करते ही जाना पड़ता है। प्रियतम होने के हेतु ही पुत्रवत्सला ममतामयी माता की भाँति श्रुति मानवों को उपदेश देती है—आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः—आत्मा का साक्षात्कार करो। अये दुःख पीड़ित प्राणी, यदि तुझे क्लेश की असहनीय वेदना से अपनी रक्षा करनी है, आवा-गमन के पचड़े से अपने को बचाना अभीष्ट है तो इस श्रेष्ठ आत्मा का दर्शन करो, मनन करो तथा निदिध्यासन करो। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तना का यही परिगलित फल है—आत्मानं विजानीहि और यूनान के मान्य महापुरुष का यही आदर्श-वाक्य है—Know thyself. आत्मा की यही साक्षादनु-भूति कलात्मक चिन्तना तथा रसात्मक रचना का मूल स्रोत है।

जीवन का पतन

महाकवि कालिदास के मेघदूत काव्य का आध्यात्मिक रहस्य इस विषय को कितनी मनोज्ञता से झलका रहा है। आनन्दमय लोक में यह जीव कितने सुख के साथ अपना जीवन बिताता है। नित्य वृंदावन में रसिक शिरोमणि भगवान् के साथ रास-लीला में लीन यह जीव तन्मयता का अनुभव करता हुआ आत्मविभोर रहता है। अनन्त रास के मधुर रस का आस्वादन कर वह अपने को कृतार्थ समझता है। परन्तु विषम-कर्म की विषमय परिणति ऐसी होती है कि वह उस आनन्दधाम से बहिष्कृत

किया जाता है, भगवान् विष्णु के तृतीय क्रम से वह च्युत हो जाता है, 'भूरिशृंगाः अयासः' गायें जिस लोक में विचरण करती हैं उस गोलोक से वह अपने को भूलोक में पाता है। स्वर्ग से यही च्युति है। क्या हम सब प्राणी उस अमरावती के शापग्रस्त यक्ष नहीं हैं जिसे स्वामी के अभिशाप के कारण ललित अलका का परित्याग करना पड़ा है। कालिदास का यक्ष स्वर्गधाम से च्युत मानवमात्र का प्रतीक है। वह कर्तव्य के साथ प्रेम का, विश्व मंगल के साथ आत्मकल्याण का, परोपकार के साथ स्वार्थ का सामञ्जस्य न रखने के कारण तो इतना आपद्ग्रस्त होकर जंगलों की धूलि छानता फिरता है। ईसाई मत के अनुसार ज्ञान के फल चखने के कारण स्वर्लोक से आदम अपनी प्रियतमा के साथ निष्कासित किए गए थे। इस निष्कासन का यही तो रहस्य है। यह तो हुआ मानवजीवन का पतनपक्ष।

जीवन का उत्थान

उत्थानपक्ष में ही मानवता की चरितार्थता है। यदि जीव शिव से वियुक्त होकर सन्तत वियोगाग्नि के भीषण दाह में दग्ध होता रहे, तो यह उसकी शक्तिशालिता के लिए नितान्त अनुचित है। वियोग की चरितार्थता संयोग की उपलब्धि में ही है। वियोग मानव के आध्यात्मिक विकास में, मानवता से ऊपर उठकर शिवत्व की उपलब्धि में एक सामान्य दशा है। इसी को चरम फल माननेवाला प्राणी कभी अपनी उन्नति का फल नहीं पा सकता और उच्चतम ध्येय तक पहुँच ही नहीं सकता। पतन और उत्थान, ह्रास और वृद्धि, वियोग तथा संयोग—दोनों ही आध्यात्मिक विकास के चरम उत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक हैं। वियोग की वेदना हमारे हृदय को आमूल दग्ध कर रही है, आनन्दधाम की स्मृति आज भी जीव को आनन्द की झलक दिखलाकर उसे संयोग के लिये उत्साह दे रही है। अमरत्व की प्राप्ति हमारा अन्तिम ध्येय है। मृत्यु से होकर हमें अमरत्व को पाना है। प्रपञ्च द्वारा निष्प्रपञ्च की प्राप्ति करनी है। यह तभी सम्भव है जब हम अपने आत्मा की अनुभूति कर अपने आपको जानें।

विश्व में जितने रचनात्मक तथा रसात्मक कार्यकलाप हैं वे इस आत्मशक्ति के ही विभिन्न तथा विचित्र स्फुरण हैं। आत्मा ही आनन्द की उपलब्धि के हेतु इन वस्तुओं का निर्माण करता है—आत्मा की ही आनन्दरूपता से विश्व में आनन्दरूपता है। क्या चित्रकारी, क्या स्थापत्यकला, क्या कविता, क्या संगीत, सभी इसी आनन्दमय रूप की अनुभूति के भिन्न-भिन्न साधन तथा उपाय हैं।

अतः भारतीय आलोचकों की दृष्टि में कला की रचना आत्मशक्ति का स्फुरण है। काव्य के निर्माण में भी यही प्रेरक शक्ति है। आत्मा का स्वरूपोन्मेष ही काव्य का प्राण है; आनन्द का उन्मीलन ही काव्य का उद्देश्य है; सुखपूर्वक चतुर्वर्ग की प्राप्ति ही काव्य का प्रोच्च प्रयोजन है।

(ख) काव्यप्रेरणा और नवीन मनोविज्ञान

उपरिनिर्दिष्ट भारतीय मत का औचित्य समझने के लिये पाश्चात्य मनोविज्ञान के द्वारा उद्भावित सिद्धान्तों के साथ उसकी तुलना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन मनोविज्ञान के अनुसार प्राणियों को भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रवृत्त करानेवाली तेरह प्रकार की मानसिक शक्तियाँ हैं जो सहजात होने के कारण 'मूल-प्रवृत्तियाँ' (instinct) कही जाती हैं। ये विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की उत्तेजना से उत्तेजित होती हैं और स्वयं विशेष क्रियाओं में प्रकाशित होती हैं[१]। नवीन मनोविज्ञान (साइको-एनेलूसिस) के जन्मदाता फ्रायड के अनुसार मनुष्य की समस्त अभिलाषाओं तथा चेष्टाओं का आधार एक ही शक्ति है जिसे वे 'लिबिडो'[२] या मूल शक्ति के नाम से पुकारते हैं। इस मूल शक्ति के रूप निर्देश करने में ही फ्रायड महाशय की मौलिकता है। उनके शिष्य एडलर तथा युंगने भी इस मूल शक्ति को अंगीकार किया है परन्तु उनकी इसकी रूपमीमांसा उनसे नितान्त पृथक् तथा विलक्षण है।

(१) फ्रायड-कामवासना

फ्रायड के अनुसार यह मूल शक्ति काममयी है। मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है, जो कुछ भी चेष्टा करता है उसकी प्रेरिका होती है। यह कामवासना जो अपनी तृप्ति के लिये अनेक मार्गों को खोज निकालती है। जब इसकी तृप्ति साधारण मार्ग से नहीं होती तब यह अपनी अभिव्यक्ति के लिये असाधारण मार्ग ढूँढ़ लेती है। इस असाधारण मार्ग के अन्तर्गत इस इच्छा के अवरोध[३]

१—मैकडूगल नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने 'आउट लाइन आफ साइकोलाजी' तथा 'इनरज़ीज आफ मैन' नामक ग्रन्थों में इसी मत की व्याख्या की है।

२—Libido.

३—Inhibition.

मार्गान्तरीकरण,[१] रूपान्तरकरण,[२] अथवा उन्नयन[३] की गणना की जाती है। इन्हीं के द्वारा समता का विकास होता है। फ्रायड के अनुसार जगत् की मौलिक प्रवृत्ति में यही कामवासना सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। इस कामेच्छा के तीन रूप विश्लेषण से सिद्ध होते हैं—(१) संभोगेच्छा जो विषम लिंगधारियों के दैहिक मिलन से सम्भव है तथा जिसका लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति है। (२) मानसिक संयोग जो एक-दूसरे के प्रति आकर्षण, प्रेमभाव तथा स्निग्ध बातचीत की इच्छा में अभिव्यक्त होता है; (३) बालबच्चों के प्रति प्रेम तथा रक्षा का भाव। सन्तानोत्पत्ति गार्हस्थ्य जीवन का पर्यवसान है। यह साधारण अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। कामवासना साधारणरीति से अभिव्यक्त होकर अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है। मनोविज्ञान के मर्मज्ञों का परीक्षित सत्य है कि जब कामवासना के प्रकाशन का दमन किया जाता है, तब मानव-जीवन की मार्मिक तथा प्रभावशाली घटनाओं की उत्पत्ति होती है। लोक-व्यवहार की घटनाओं में हम कामवासना की ही चरितार्थता का अनुभव करते हैं। कामवासना के निरोध में तथा उदात्तीकरण में ही कला की अभिव्यक्ति होती है। कामशक्ति के अधःप्रसरण से उत्पन्न होता है व्यावहारिक जीवन तथा कामशक्ति के ऊर्ध्व प्रसरण (परिशोधन या उदात्तीकरण, सब्लिमेशन) से उदय लेता है साहित्यिक जीवन !

अतः फ्रायड के अनुसार कला की प्रेरणात्मिका शक्ति काम-वासना ही है। उदात्त मार्ग में जब वह प्रवाहित होती है, भोगविलास में दैनन्दिन प्रवाह को रोककर जब उसका प्रवर्तन किसी उदात्त भावना की अभिव्यञ्जना के निमित्त किया जाता है, तब कला या काव्य का उद्गम होता है। फायड के अनुयायी आधुनिक आलोचकंमन्यों की यह धारणा कितनी भ्रान्त है कि कामवासना की अटूट तृप्ति ही काव्यकला की जननी है। यदि यही पक्ष मान्य होता, तो नैतिक जीवन से विरुद्ध आचरण करनेवाले व्यभिचार-परायण व्यक्ति ही सबसे श्रेष्ठ कवि होते। परन्तु उनके प्रमाणभूत फ्रायड की ही उनके विरोध में घोषणा है कि कामवासना के परिशोधन तथा उदात्तीकरण से ही काव्यकला का जन्म होता है। महाकवियों तथा महनीय कलाकारों के जीवन भी उसके उज्ज्वल प्रमाण हैं।

१—Redirection.
२—Transformation.
३—Sublimation.

कामेच्छा का प्राबल्य हमारे शास्त्रों में सर्वत्र स्वीकार किया गया है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि' (ऋ० १०।१२९।४) ऋग्वेद के विख्यात नासदीय सूक्त में सृष्टि के आरम्भ में काम के उदय की कथा मिलती है। वासनारूप काम सूक्ष्मरूप से सृष्टि के मूल में सर्वत्र व्यापक दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसी को एकमात्र मूलशक्ति मान लेना मानवजीवन के विकास की प्रेरिका अन्य शक्तियों की सत्ता का तिरस्कार करना होगा। अतः प्राबल्य मानकर भी मनोवैज्ञानिक उसका सर्वव्यापक रूप नहीं मानते। यह सिद्धान्त कला के आंशिक उदय की ही व्याख्या कर सकता है, समग्र रूप का नहीं। इसीलिए फ्रायड के ही प्रबल सहयोगी तथा अनन्य शिष्य एडलर कामकी इतनी व्यापकता मानने के लिए तैयार नहीं है।

फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्य को स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। काव्यलोक स्वप्नलोक की ही एक प्रतीकात्मक झाँकी है। उनकी मान्यता के अनुसार स्वप्न अन्तःसंज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अन्तर्व्यञ्जना है। काव्य की भी दशा ठीक ऐसी ही है। इस दैनंदिन जगत् में मनुष्यों की समग्र इच्छायें बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ करतीं। किन्हीं इच्छाओं के ऊपर सामाजिक नियमों का इतना कड़ा प्रतिबन्ध लगा रहता है कि वे बाह्य जगत् अभिव्यक्ति में आकर कभी कृतार्थ नहीं होतीं। निरुद्ध होकर वे केवल अन्तःसंज्ञा के भीतर दब जाती हैं और स्वप्न को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती हैं। काव्य के सम्बन्ध में भी स्वप्न की यह विशिष्टता सर्वथा जागरूक रहती है। विशालता, भव्यता, उदात्तता आदि की चढ़ी-बढ़ी भावनाएँ अतृप्त बनकर अन्तश्चेतना में अज्ञात रूप से दबी पड़ी रहती हैं। काव्य ऐसी अतृप्त इच्छाओं की बाह्याभिव्यक्ति का एक कलात्मक मार्ग है जो केवल कवि के ही हृदय को हलका नहीं बनाता, प्रत्युत श्रोताओं के चित्त को भी प्रफुल्लित तथा आह्लादित करता है।

काव्य के विषय में फ्रायड का यही मान्य सिद्धान्त है, परन्तु विचार करने पर इस सिद्धान्त में अनेक त्रुटियाँ लक्षित होती हैं। काव्य को स्वप्न का प्रतिनिधि मान बैठना सरासर अन्याय है। यदि दोनों में कोई समता है तो वह इतनी ही है कि जैसे स्वप्न हमारी बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहता, वैसे काव्य-वस्तु भी नहीं रहती। परन्तु दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। कल्पना के द्वारा जिन काव्य-वस्तुओं की प्रतीति होती है उनका रूप स्वप्न की वस्तुओं की प्रतीति के समान नहीं रहता। स्वप्न में अनुभूत वस्तुएँ प्रत्यक्ष के

समान स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक होती हैं, परन्तु कल्पनाप्रसूत वस्तु का यह विस्पष्ट रूप नहीं होता। एक और भी बड़ी त्रुटि इस मत में है करुणरस के प्रसंग में। काव्य में करुण रस के उत्पादक प्रसंगों की कमी नहीं रहती, परन्तु शोक की वासना की तृप्ति इस प्रकार कोई भी व्यक्ति नहीं चाहेगा। शोक की वासना दबाने की चीज होती है, अभिव्यक्ति की वस्तु नहीं होती, क्योंकि इससे किसी व्यक्ति को आनन्द पाना नितान्त दुर्लभ होगा। अतः इन मनोवैज्ञानिकों का काव्यविषयक मत कथमपि ग्राह्य तथा उपादेय नही हो सकता[1]।

(२) ऐडलर—प्रभुत्व शक्ति

ऐडलर की सम्मति में मूलशक्ति प्रभुत्व-शक्ति है—दूसरे के ऊपर हावी होना, प्रभुत्व दिखाना, दबाव डालना, अपने व्यक्तित्व के उत्कर्ष से दूसरों को तिरस्कृत कर स्वयं महत्वशाली बनना आदि इसी मौलिक शक्ति के नाना परिणाम हैं। प्रत्येक मनुष्य में कोई न कोई व्यापक दोष होता है जो उसके मूल्य तथा महत्त्व को समाज में हीन बनाए रहता है। इस हीनता की ग्रन्थि से उसका मन इतना उलझा रहता है कि वह सन्तत उसे दबाकर या उसके ऊपर आवरण डालकर उस दोष के ठीक विरुद्ध गुण के सम्पादन में व्यस्त हो जाता है। सांसारिक प्रवृत्तियों का यही मूल स्रोत है। इसका सबसे सुन्दर प्राचीन दृष्टान्त है यूनानी वक्ता डिमास्थीनीज का। वह एथेन्स के उत्कर्ष काल में पैदा हुआ था। बचपन में वह तुतलाकर बोलता था, परन्तु इस दोष के परिहारार्थ उसने इतना श्रम तथा उद्योग किया कि वह प्राचीनकाल में श्रेष्ठ व्याख्यानदाताओं में सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। ऐडलर प्रभुत्व शक्ति के सामने अन्य किसी भी वृत्ति को प्रभावशाली नहीं मानते। इसीलिए उनका मनोविज्ञान 'व्यक्तिगत मनोविज्ञान' (Individual Psychology) के नाम से प्रसिद्ध है।

कुछ अंश तक यह मीमांसा ठीक है। अपनी त्रुटि को दूर करने के अभिप्राय से अनेक व्यक्तियों ने अलौकिक कार्य करने में अपनी शक्ति तथा महिमा का परिचय दिया है। अपनी पत्नी के द्वारा तिरस्कृत तथा अनादृत होकर तुलसीदास ने अपने चरित्र की त्रुटि-मार्जना के निमित्त ही इतना अलौकिक कार्य कर दिखलाया है। वे इसी सिद्धान्त के दृष्टान्त रूप में

१—द्रष्टव्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—रसमीमांसा, पृ० २९३-२९४।

उल्लिखित किए जा सकते हैं। परन्तु इसकी एकांगिता ही इसका सर्वप्रधान दोष है। हीनता की ग्रन्थि[१] के निराकरण के लिए हमारी सारी प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं। संसार में ऐसे भी अनेक व्यक्ति होते हैं और आज वर्तमान हैं जिनमें हीनता की विरोधिनी उदात्तता की ग्रन्थि[२] विद्यमान है। ऐसे लोगों की प्रवृत्ति का मूल कहाँ खोजा जायगा?

(३) युंग—आत्म-साक्षात्कार की वृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं से सन्तोष न होने के कारण प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक युंग (Jung) ने अपने लिए एक नया ही मार्ग खोज निकाला है। उन्होंने मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों को दो भागों में विभक्त किया है—बहिर्मुख और अन्तर्मुख। बहिर्मुख (एक्स्ट्रावर्टेड)[३] वृत्तिवाले मानवों की दृष्टि सदैव संसार के भोगविलास की ओर लगी रहती है। जगत् में प्रतिष्ठा तथा यश पाना, अपने साथियों की दृष्टि में महत्त्वशाली बनना ऐसे प्राणियों का मुख्य उद्देश्य रहता है। अन्तर्मुख (इन्ट्रावर्टेड)[४] प्राणी सदैव अपनी दृष्टि बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाता है और अपनी मानसिक शान्ति की खोज में रहता है। युंग का कहना है कि इन व्यक्तियों के चेतन मन तथा अचेतन मन में वास्तव विरोध रहता है। इनका चेतन मन जैसा रहता है, अचेतन मन ठीक उससे विपरीत होता है। यदि बहिर्मुख व्यक्ति का चेतन मन नितान्त प्रसन्न तथा आह्लादित रहता है, तो उसका अचेतन मन उतना ही अप्रसन्न तथा दुःखी होता है। अन्तर्मुख व्यक्ति का चेतन मन तो उदास, अलस तथा दुःखी दीख पड़ता है, परन्तु उसका अचेतन मन एकान्त शान्त प्रसन्न तथा आनन्दित रहता है। इस तथ्य का युंग ने नाम दिया है—, Mental compensation मानसिक समीकरण। मानसिक क्रियाओं का, चाहे वे मनुष्य की प्रगति या प्रत्याचरण दिखलाती हों, अन्तिम लक्ष्य मानव जीवन को पूर्णता के लक्ष्य की ओर ले जाना है।

हेडफील्ड नामक मनोवैज्ञानिक के मन्तव्यानुसार मानसिक विकास का लक्ष्यपूर्ण आत्मसाक्षात्कार है। पूर्ण आत्मसाक्षात्कार की मनोवैज्ञानिक

१—Inferiority complex.
२—Superiority complex.
३—Extraverted.
४—Intraverted.

व्याख्या है[1]—प्रत्येक स्पृहा और अभिलाषा का पूर्ण तथा स्वतन्त्ररूपेण अभिव्यक्ति तथा विकास। जब तक हमारे मन के अन्तर्गत किसी कोने में किसी भी समय की, बालपन की या प्रौढ़काल की, इच्छा अविकसित रूप से रह जाती है और चेतन मन के ऊपर आकर अपनी समग्र अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर लेती, तब तक हमारा मानसिक विकास अधूरा ही रहता है—आत्मा के पूर्णसाक्षात्कार करने की बात कल्पनाजगत् की ही चीज होती है। आदर्शजीवन में वैयक्तिक सुख-सम्बन्धी इच्छाओं और परमार्थ भाव का पूरा सामञ्जस्य रहता है। वह केवल ज्ञान का ही उपासक बनकर अपनी भावशक्ति को सुखा नहीं डालता और न भाव की अत्यधिक सेवा से ज्ञान का पन्थ अवरुद्ध करता है, प्रत्युत ज्ञान तथा भाव, विचार तथा इच्छा, उभय शक्तियों का इस प्रकार पूर्ण विकास करता है जिससे वे समष्टि के विरोधी न बन जायँ। पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के अचेतन मन के भाव का ज्ञान तथा उनका प्रकाश करना ही आवश्यक नहीं होता, वरन् समष्टि के अचेतन मन को जानना और उसके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक होता है। आत्मसाक्षात्कार करने के लिए तथा अपने जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए हेडफील्ड ने उपदेश दिया है—(१) अपनी आत्मा को जानो; (२) अपनी आत्मा को स्वीकार करो; (३) अपनी आत्मा में रहो। अतः आत्मा का ज्ञान तथा उस आत्मज्ञान को अपने जीवन में तथा आचरण में लाना व्यक्ति के मानसविकास का लक्ष्य है।

युंग के सिद्धान्त के अनुसार आत्मसाक्षात्कार की वृत्ति ही कला तथा काव्य की प्रेरिका शक्ति है। कला व्यक्ति के मानसिक विकास का अन्यतम प्रकार है। अतः उसमें व्यक्ति के मानसविकास की पूर्णता तभी हो सकती है जब वह अपना साक्षात्कार सम्पन्न करता है। पूर्व प्रतिपादित भारतीय

१—Self realisation—that is to say, the complete and full expression of all the instincts and impulses within us—cannot be achieved so long as there are elements in our soul that are repressed and denied expression. In a full-realised self there is no conflict of purpose, no complexes, no repression, but the harmonious expression of all the vital forces towards a common purpose and end.

—Hadfield Psychology and Morals:

मत से यही मत मिलता है, परन्तु इस सिद्धान्त में भी अनेक बातें विचारणीय हैं। मेरी दृष्टि में आधुनिक मनोविज्ञान भी कला की प्रेरणा-शक्ति की खोज करता हुआ उसी सिद्धान्त तथा मत को मानने के लिए बाध्य हो रहा है जिसे हमारे आलोचकों ने बहुत पहिले ही से निर्णीत और निश्चित कर दिया है।

(ग) कला में व्यक्तित्व का स्थान

इस प्रसंग में यह विचारणीय प्रश्न है कि कला अथवा काव्य में कलाकार या कवि के व्यक्तित्व का कितना आभास तथा प्रभुत्व रहता है ? ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि से काव्य में कवि के व्यक्तित्व की मधुर झाँकी ही नहीं रहती, प्रत्युत उसकी आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है—बाह्य सामग्री का आश्रय और तज्जन्य बन्धन नहीं रहता। इस कथन की यहाँ कुछ व्याख्या अपेक्षित है।

काव्य में व्यक्तित्व के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी मत पाश्चात्य आलोचना जगत् में दीख पड़ते हैं। एक पक्ष कलाकृति में कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास मानता है, तो दूसरा पक्ष कलाकार के व्यक्तित्व का कला में सर्वथा तिरस्कार तथा परिहार मानता है। पाश्चात्य आलोचकों ने इस सम्बन्ध में कला और कलाकार के ही विषय में विशेष आलोचना की है। ब्रेडले का कथन है—"कला न तो वास्तविक जगत का अंश है, न अनुकरण। इसकी दुनिया ही निराली है जो स्वयं स्वतंत्र तथा स्वाधीन रहती है।" एक दूसरे आलोचक (क्लाइव बेल) भी इसी स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—"किसी कला की वस्तु का आनन्द उठाने के लिये हमें जीवन से सहायता लेने की कोई जरूरत नहीं पड़ती। जीवन के विचारों, घटनाओं, या भावनाओं से उसे परिचित होने की कोई आवश्यकता नहीं होती।" इस पक्ष के लेखक कलात्मक अनुभूति को एक विशेष प्रकार की अनुभूति मानते हैं जो संसार की अन्य अनुभूतियों से विलक्षण तथा विचित्र होती है।

यह एकपक्षीय मत ही माना जा सकता है। भारतीय आलोचनाशास्त्र में काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एकान्त रूप से नहीं मानी गई है। भारतीय रसशास्त्र का प्रधान उद्देश्य पाठकों या दर्शकों को रसबोध कराना ही है। पाठक तथा श्रोता के लिये हमारे शास्त्र का शब्द है 'सामाजिक'। श्रव्य काव्य का पाठक तथा दृश्य काव्य का दर्शक 'सामाजिक' शब्द से अभिहित

किया जाता है। 'सामाजिक' के हृदय में रसोन्मीलन करना कवि का प्रधान लक्ष्य होता है। सामाजिक पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करता है। समाज की मंगलकामना, समाज का हितचिन्तन, आनन्द के साथ समाज के कल्याण के लिए उपदेश—इन सब महनीय उपदेशों की पूर्ति के लिये कवि सतत प्रयत्नशील रहता है। काव्य में उसका 'स्व' अवश्यमेव परिस्फुरित होता है परन्तु यह 'स्व' संकीर्ण 'स्व' नहीं है जिससे 'सर्व' का विरोध उत्पन्न हो। काव्य में कवि के 'स्व' तथा 'सर्व' में कथमपि विरोध नहीं घटित होता।

भारतीय संस्कृति में समाज और व्यक्ति में भव्य सामञ्जस्य सदैव वर्तमान रहा है। भारतीय धर्म जिस प्रकार व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश देता हुआ समाज के हितचिन्तन के लिये भी जागरूक रहता है, उसी प्रकार **भारतीय साहित्य भी व्यक्ति तथा समाज, दोनों के हितचिन्तन तथा स्वार्थ के एकीकरण के लिये प्रवृत्त होता है**। इस प्रकार काव्य वह साधन है जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम द्वारा समाज अपना सुभग रूप सन्तत प्रस्तुत किया करता है। भारतीय कवि अपनी कृति में समाज की कभी भी उपेक्षा नहीं करता। लौकिक व्यक्तियों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व में एक विशेष अन्तर यह दीख पड़ता है कि लौकिक व्यक्ति विशिष्ट रूप से व्यावहारिक जगत् के सुख-दुःख का अनुभव स्वयं करता है। परन्तु कवि का व्यक्तित्व 'साधारणीकृत' होता है। कलाकार कभी अपने स्वार्थ का विचार न कर अपनी अनुभूति को साधारण रूप में ही ग्रहण करता है। उसे वह अपनी निजी अनुभूति न मानकर सरस तथा मंगल साधक कलाकार की अनुभूति मानता है। कलाकार के इस साधारणीकृत व्यक्तित्व के कारण काव्य में सर्वजनीनता तथा सार्ववर्णिकता सदैव प्रस्तुत रहती है।

पाश्चात्य आलोचकों का भी इसी सिद्धान्त की ओर झुकाव अधिक दीख पड़ता है। प्रसिद्ध आलोचक रीचर्ड्स कलात्मक अनुभूति को कोई विशिष्ट नये प्रकार की अनुभूति नहीं मानते, बल्कि साधारण अनुभूतियों का ही संगठन मानते हैं। तथ्य यह है कि कलाकार के व्यक्तित्व की दृष्टि से कलात्मक रचना की समीक्षा उतनी वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होती। व्यक्तित्व तो स्वयं एक माध्यम है जिसके द्वारा वह वस्तु व्यक्त होती है जिसे हम बाह्य जीवन कहते हैं। समाज का जैसा रूप-रंग होता है, जैसा उसका निर्माण होता है वैसा ही वह कलाकार के निर्माण का उपादान होता है। इसीलिये आजकल पश्चिमी जगत् में भी कला की समीक्षा में कलाकार के व्यक्तित्व को महत्त्व न देकर

इतिहास और समाज को ही विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। आजकल के सुविख्यात अंग्रेजी कवि इलीयट का तो यहाँ तक कहना है—**कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से पलायन है** (**Poetry is not the expression of personality but an escape from personality**).

तात्पर्य यह है कि सच्चा कलाकार जीवन की विशालता और विविधता की ओर ही दृष्टि डालता है। उसके सामने वह अपने व्यक्तित्व को भी सर्वथा तिरस्कृत कर देता है। यदि काव्य को 'स्व' के ऊपर 'सर्व' की–विजय–घोषणा कहें तो कोई अनुचित नहीं। अभिव्यंजन ही कला का उद्देश्य है और व्यक्तिगत उद्गारों के स्थान पर विश्वगत अनुभूतियों को आसीन किए बिना अभिव्यंजना पूर्ण तथा परिपक्व नहीं हो सकती।

सारांश यह है कि कला में हमारी ही जीवनधारा बहती है। समाज की प्राचीन और वर्तमान परम्परा से परे कला की कोई अलग दुनिया नहीं होती। कलाकार समाज में जनमता है। समाज से ही अपने विचारों के लिये पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है। अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्तित्व के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर वह विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में हमारे आलोचक कला को कलाकार के सीमित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं मानते, प्रत्युत उसके उस व्यक्तित्व की झलक मानते हैं जो विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर चुका है। ऐसे कलाकार की कृति 'सर्वजनसुखाय' तथा 'सर्वजनहिताय' अवश्यमेव होती है।

२—काव्य और प्रतिभा

वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम् ॥

वाग्देवी की अभिव्यक्ति के दो मार्ग हैं—शास्त्र तथा काव्य। इनमें से शास्त्र प्रज्ञा के ऊपर आश्रित रहता है और काव्य प्रतिभा की उपज होता है। समस्त वाङ्मय के दो ही प्रकार हैं—शास्त्र और काव्य, जिनमें शास्त्र प्रज्ञा का वैभव है तो काव्य प्रतिभा का विलास है।

कमनीय काव्य की प्रसूति प्रतिभा का परिणत फल मानी जाती है। प्रतिभा ही कवि की अलोकसामान्य अभिव्यक्ति का मुख्य हेतु है। प्रतिभा के

पंखपर आरूढ़ होकर कवि ऐसे लोकों की लम्बी उड़ान लेता है जहाँ साधारण जन की बुद्धि प्रवेश भी नहीं पाती। प्रतिभा आर्षचक्षु है। प्रतिभा के द्वारा आन्तर आर्षचक्षु का उन्मीलन होता है जिससे साधारणजन के लिये अगम्य स्थानों में कवि पहुँच जाता है और अदृश्य वस्तुओं का सद्यः साक्षात्कार करता है। कवि और आलोचक दोनों के नैसर्गिक विकास के निमित्त प्रतिभा जागरूक रहती है। कवि के लिये आवश्यक होती है कारयित्री प्रतिभा और काव्य के मर्मज्ञ के लिये उपयोगी होती है भावयित्री प्रतिभा। कविजनों ने एक स्वर से काव्यनिर्माण में प्रतिभा की उपयोगिता मानी है। भवभूति के कथनानुसार ब्रह्मा ने स्वयं उपस्थित होकर महर्षि वाल्मीकि की प्रशस्त श्लाघा की थी—अव्याहतं ते आर्षचक्षुः के द्वारा। आर्षचक्षु का उन्मेष प्रतिभा के विलास की ही सूचना है। कविवर शेली के कथनानुसार कवि प्रतिभा के कारण ही निरवच्छिन्न रूप से पद्य की धारा बहाने में समर्थ होता है—

Like a poet hidden
In the light of thought
Singing hymns unbidden
Till the world is wrought

To sympathy with hopes and fears it heeded not

'Singing hymns unbidden' बिना किसी आदेश के गीतिका के गाने से अभिप्राय प्रतिभा के स्रोत के उन्मीलन का है।

भारतीय दर्शन तथा साहित्यशास्त्र में प्रतिभा की बड़ी ही मार्मिक तथा आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। साधारण जन कहते हैं कि जगत् के पदार्थों का तात्त्विक निरूपण हमारी मानव-बुद्धि इन्द्रियों की सहायता से करती है परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि में वस्तुतत्त्व के अपरोक्ष ज्ञान का प्रबल साधन प्रतिभा ही है। प्रतिभा का शाब्दिक अर्थ है झलक, कारण-सामग्री के अभाव में भी भावों का मानस क्षितिज पर स्वतः प्रकाश या आविर्भाव। भारतीय दर्शन की नाना शाखाओं ने अपने दृष्टिकोण से प्रतिभातत्त्व की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की है और इसका प्रभाव अलंकारशास्त्रीय कल्पना पर भी विशेष रूप से पड़ा है।

त्रिकदर्शन में 'प्रतिभा'

शैवागम में प्रतिभा का स्थान बड़ा ही उदात्त तथा गम्भीर है। प्रतिभा का यह आगमिक स्वरूप तथा रहस्य हमारे साहित्य-शास्त्र को भी मान्य है।

आचार्य अभिनवगुप्त आगम तथा साहित्य दोनों के पारगामी मनीषी थे। लोचन में उनकी इस तत्त्व की व्याख्या बड़ी ही मार्मिक तथा तलस्पर्शी है। पाश्चात्य आलोचना का 'इमैजिनेशन' तथा 'इन्ट्यूशन' भारतीय साहित्य-शास्त्र की 'प्रतिभा' ही है।

त्रिकदर्शन के अनुसार ३६ तत्त्वों में मूर्धन्य तत्त्व है परमशिव तत्त्व। परमशिव के हृदय में विश्वसिसृक्षा के उदय होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप हैं तथा शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्श का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार रहती है, स्थितिकाल में विश्वप्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप में विद्यमान रहती है—

विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन
विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्

—परा प्रावेशिका पृ० २

इस शक्ति की अनेक संज्ञाएँ हैं यथा चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द तथा प्रतिभा। विमर्श के द्वारा ही प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति बिना विमर्श के सिद्ध हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार दर्पण के अभाव में मुख का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाश का रूप सम्पन्न नहीं हो सकता। शिव को चेतन बनाने की क्षमता विद्यमान रहती है इसी शक्ति में। शिव चिद्रूप हैं, परन्तु अचेतन हैं। उनमें चैतन्य के आविर्भाव का ज्ञान करती है यह शक्ति ही। जिस प्रकार माधुर्य का आवास होने पर भी मधु अपनी मिठास का स्वयं अनुभव नहीं कर सकता और शराब में मादकता होने पर भी वह उसका ज्ञान नहीं कर सकती, उसी प्रकार चैतन्य का निकेतन होने पर भी शिव अपने चैतन्य का अनुभव स्वतः नहीं कर सकता। शिव को अपने चैतन्यरूप तथा प्रकाशरूप का ज्ञान इसी शक्ति के द्वारा ही होता है।

'प्रतिभा' इसी शक्ति की अपर संज्ञा है। शिव की यह परा शक्ति शिव में ही सन्तत विश्राम करती है और अपनी उन्मीलन-क्रिया के द्वारा, अपने रूप को प्रकटित करने की क्रिया के द्वारा, विश्व का उन्मीलन करती है—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

(ध्वन्या० लोचन, पृ० ६०)

'परा प्रतिभा' का यह स्वरूप 'कविप्रतिभा' का भी स्वरूप है। प्रतिभा की उन्मीलन शक्ति के द्वारा ही कवि के सामने समग्र विश्व क्षणमात्र में उन्मीलित हो जाता है। जो संसार अब तक बन्द तथा परोक्ष था, वह क्षणभर में खुल जाता है और अपरोक्ष बन जाता है। यह प्रतिभा 'स्वात्मायतनविश्रान्ता' रहती है—कवि का हृदय ही प्रतिभा का आयतन रहता है जहाँ वह सन्तत विश्राम करती है। 'स्वात्मायतन' का अभिनवगुप्त के प्रामाण्य पर ही अर्थ है—'स्वहृदयायतन' (कवि का हृदयरूपी आयतन)[1]। यह विशेषण प्रतिभा को बुद्धि के व्यापार से पृथक् सिद्ध कर रहा है। प्रतिभा का आयतन हृदय है, बुद्धि नहीं। प्रजापति प्रतिभा शक्ति से ही जगत् के निर्माण में, विचित्र अपूर्व वस्तु की रचना में, समर्थ होते हैं। उसी प्रकार कवि भी प्रतिभा नामक वाग्देवी के अनुग्रह से विचित्र अपूर्व वस्तु के निर्माण में सर्वथा सक्षम होता है। इसी निर्माणकौशल के कारण कवि को 'प्रजापति' की महनीय पदवी प्रदान की जाती है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

जगत् प्रजापति की इच्छा का विलास है। काव्य भी कवि की प्रतिभा का विलास है।

प्रतिभा—पश्चिमी मत

कोलरिज

इस निर्माणकुशला प्रतिभा को अंग्रेजी साहित्य के मान्य कवि तथा आलोचक कोलरिज 'इसेम्प्लैस्टिक इमैजिनेशन' Esemplastic Imagination के नाम से पुकारते हैं। कोलरिज की विचारधारा के ऊपर नव्य प्लेटोवाद का विशेष प्रभाव पड़ा है। इस वाद का सिद्धान्त यह है कि अव्यक्त प्रकृति के ऊपर स्रष्टा के दैवी संकल्प के संस्कार (impress) पड़ने

---

१. कवेरपि स्वहृदयायतन—सततोदित—प्रतिभाभिधान—परवाग्देवतानुग्रहोत्थित—विचित्रापूर्वनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः।

—अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० ४

पर प्राकृतिक व्यवस्था का उदय होता है। प्राकृतिक प्रपञ्च इस परिवर्तनशील जगत् में अपरिवर्तनशील तथा नित्य आदर्श के प्रतीक हैं। दैवी प्रत्यय एक अपरिच्छेद्य आदर्श है जिसकी अनुकृति विश्व की घटनाओं तथा पदार्थों की रचना में उपलब्ध होती है। मोम के ऊपर जिस प्रकार किसी मुहर को दबाकर चिह्न बनाया जाता है उस प्रकार प्रकृति के ऊपर भगवान् के संकल्प का चिह्न नहीं पड़ता। प्रकृति स्वतः विकासशील है। भागवत संकल्प में एक विशिष्ट प्रकार की रचनात्मक शक्ति होती है जो प्रकृति में नित्य रूप की अभिव्यक्ति किया करती है—

The impress of the Divine mind upon matter is not like the impress of a seal or wax, for nature to him was something organic and enolving. The Divine mind does not stamp itself upon matter in one fixed and determinate act, but works through the agency of a plastic power which brings new forms into being by a process of growth.

—English Studies, 1949, P. 83.

प्लास्टिक पावर (plastic Power) का अर्थ है अनगढ़ वस्तुओं को सुगढ़ बनाने की कला अथवा अमूर्त पदार्थों को मूर्तिप्रदान करने की शक्ति। ईश्वर में इस विचित्र शक्ति की सत्ता कोलरिज स्वीकार करते हैं। कवि भी प्रजापति के समान स्रष्टा है। ईश्वरीय सृष्टि के अनुरूप ही कविसृष्टि अमूर्त पदार्थों को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसके लिये कवि के पास प्रधान साधन है प्रतिभा जो इस शक्ति के सम्पन्न होने के कारण 'इसेम्प्लास्टिक' esemplastic (या मूर्तविधायिनी शक्ति से युक्त) मानी गयी है। इसीलिए कोलरिज ने अनेक स्थलों पर कवि प्रतिभा की तुलना सृष्टि के ईश्वरीय कार्य से की है। उनकी यह विख्यात उक्ति है—A repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinits I Am" अर्थात् अपरिच्छिन्न चैतन्य के नित्य सृष्टिकार्य का परिच्छिन्न चैतन्य में पुनरावृत्ति। कवि उसी प्रकार काव्य स्रष्टा है जिस प्रकार ईश्वर जगत्स्रष्टा। इसी तुलना के आधार पर वह कहता है कि काव्यरचना विचार का प्रतीक है। जिस प्रकार प्राकृतिक पदार्थ ईश्वर के विचार के प्रतीक

होते हैं, उसी प्रकार काव्यसृष्टि कवि के विचार की प्रतिनिधि होती है। कोलरिज की यह विचारधारा पूर्वोक्त भारतीय सिद्धान्त के अनुरूप है।

शेली

कोलरिज के सिद्धान्तों के ऊपर नव्यप्लेटोवाद का विशेष प्रभाव पड़ा है। वे कतिपय अंशों में प्लेटो के भी ऋणी हैं। प्रतिभा-विषयक पाश्चात्य कल्पना का मूल स्रोत यूनानी आलोचकों के ग्रन्थों में अधिकतर उपलब्ध होता है। पाश्चात्य आलोचना काव्य को कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानता है। काव्य-व्यापार के कारण ही काव्य का उदय होता है और इस व्यापार को सफल तथा समर्थ बनाने में सबसे अधिक प्रभावशालिनी शक्ति है प्रतिभा (इमैजिनेशन Imagination)। पाश्चात्य आलोचक इस शब्द पर इतना आग्रह रखता है कि काव्य की विविध परिभाषाओं में यह शब्द सर्वदा वर्तमान रहता है। कविवर शेली काव्य की अपनी सुप्रसिद्ध परिभाषा में **काव्य को प्रतिभा की ही अभिव्यञ्जना** मानते हैं—

Poetry is the expression of imagination.

अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के युग में कवियों की यह विख्यात मान्यता रही है कि जड़ पदार्थ को अपनी इच्छा-नुसार नवीन रूप में ढालने की शक्ति परमात्मा में रहती है। जड़पदार्थ उस शक्ति के प्रभाव को यथाशक्ति निरोध करता रहता है, परन्तु वह विधायिका शक्ति (Plastic power) इतनी प्रबल तथा प्रभविष्णु होती है कि जड़प्रकृति के निरोध की परवाह न कर चूर्णविचूर्ण कर उसे अपनी इच्छा की वशवर्तिनी बनाती है—अपने ढाँचे में ढालकर उसे स्वाभिलषित रूप प्रदान करती है। यही विधायिका शक्ति कवि में प्रतिभा के नाम से पुकारी जाती है। काव्य कवि की प्रतिभा-शक्ति के कौशल का विलास है। कवि पदार्थों के ऊपर अपनी छाप लगाकर, अपने साँचे में ढालकर उन्हें नवीन रूप ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है। इसीलिए कवि की प्रतिभा विश्व-स्रष्टा भगवान् के सर्जन-शक्ति का प्रतीक है। शेली अपने दिवंगत सुहृद् कीट्स की स्मृति में इसी धारणा की कवित्वमयी अभिव्यक्ति कर रहे हैं—

He is a portion of the loveliness
Which once he made more lovely : he doth bear
His part, while the one spirit's plastic stress
Sweeps through the dull dense world,
compelling there
All new successions to the forms they wear;
Torturing th' unwilling dross that checks
its flight
To its own likeness, as each mass may bear;
And bursting in its beauty and its might
From trees and beasts and men its the
Heaven's light.
—Adonais

प्रतिभा के विषय में प्लेटो

प्रतिभा के रूप की पाश्चात्य जगत् में प्रथम अभिव्यक्ति हमें मिलती है प्लेटो के ग्रन्थों में। कविता के विषय में उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ का अभाव जरूर खटकता है, परन्तु इस विषय में उनके सिद्धान्त अन्य ग्रन्थों में बिखरे मिलते हैं। प्लेटो की दृष्टि में काव्यों की महनीयता तथा सुन्दरता का कारण बाह्य न होकर अन्तःस्फुरण ही मुख्य है।

प्लेटो का कथन है कि प्रशंसित काव्यों के लेखक कला के नियमों के अनुसार उत्कर्ष नहीं प्राप्त करते हैं, प्रत्युत वे स्फूर्ति की दशा में अपने सुन्दर गीत अलापते हैं, प्रतीत होता है कि उनके ऊपर एक नवीन व्यक्तित्व का आक्रमण हो जाता है तथा वे अपने से पृथक् किसी आत्मा से आक्रान्त होते हैं। गीतिकाव्य के रचयिता दैवी पागलपन (divine insanity) की दशा में अपने विख्यात गायनों का निर्माण करते हैं।[१] प्लेटो ने कवियों की तुलना भ्रमरों से की है। मधुव्रत एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता है।

---

१. The authors of these great poems which we admire do not attain to excellence through the rule of any art, but these

और नाना उपवनों में घूमकर मधु की राशि इकट्ठा कर लौटता है। कविजनों की भी दशा ठीक ऐसी ही है। वे भी शारदा के मधुमय उत्सवों के समीप जाकर राग की माधुरी ग्रहण कर लौटते हैं और कल्पना के पंखों से सुसज्जित होकर तथ्य की अभिव्यक्ति करते हैं[१]। प्लेटो की इस सम्मति में कवि के लिये स्फूर्ति, प्रेरणा या प्रतिभा की नितान्त आवश्यकता रहती है। कवि में जब तक प्रतिभा का आविर्भाव नहीं होता—कल्पना जागरूक नहीं होती, तब तक वह कविता की रचना कर ही नहीं सकता। प्लेटो उससे आगे बढ़ते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि बुद्धि-व्यापार का कोई भी अंश जब तक अवशिष्ट रहता है,[२] तब तक वह कविता की रचना में एकदम असफल रहता है। कविता बुद्धि व्यापार की उपज नहीं है, वह तो प्रतिभा की प्रसूति है। प्लेटो के अनुसार मन की दो वृत्तियाँ हैं-**बुद्धि-व्यापार** तथा **स्फूर्ति-व्यापार**। प्रथम में मन नितान्त सजग रहता है और दूसरे में वह सुप्त दशा का अनुभव करता है। बुद्धि व्यापार का चमत्कार है शास्त्र तथा स्फूर्ति व्यापार का विलास है काव्य। अतः शास्त्र की अपेक्षा काव्य की महत्ता तथा गरिमा सर्वथा मान्य है।

प्रतिभा के विषय में काण्ट

प्रतिभा के विषय में दार्शनिक-प्रवर काण्ट (Kant) तथा आलोचक-प्रवर कोलरिज (Coleridge) का मत विशेष सादृश्य रखता है। भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों से इसकी तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

---

utter their beautifull melodies of verse in a state of inspiration and, as it were, possessed by a spirit not their own. Plato : Ion.

१. For a poet is indeed a thing ethreally light, winged and sacred, nor can he compose anything worth calling poetry until he becomes inspired, and as it were, mad, or whilst any reason remains within him.

प्लेटो—वही

२. For whilst a man retains any portion of the thing called reason, he is utterly incompetent to produce poetry—वही

काण्ट	कोलरिज	भारतीय मत
१ Reproductive Imagination	Fancy	स्मृति
२ Productive Imagination	Primary Imagination	सविकल्पक प्रत्यक्ष
३ Aesthetic Imagination	Secondary Imagination	कविप्रतिभा

दार्शनिक शिरोमणि काण्ट की दृष्टि में कल्पना के तीन प्रकार होते हैं:—

(१) सम्मेलक प्रतिभा 'रिप्रोडक्टिव इमैजिनेशन' [Reproductive Imagination] इसके व्यापार स्वतन्त्र नहीं होते, क्योंकि वह मानवबुद्धि के सामने पूर्व से ही उपस्थित होने वाले पदार्थों का केवल मिश्रण प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि से यह कोलरिज के द्वारा व्याख्यात फैन्सी की समानता रखती है। यह मानवबुद्धि की आरम्भिक प्रवृत्ति है। जब मनुष्य आरम्भ में प्रकृति का निरीक्षण करता है, तब वह केवल नीरस अंगों पर ही दृष्टि डालता है। अवलोकित अंश इतस्ततः विकीर्ण ही रहते हैं। उन्हें एकरूप में अंकित करने की क्षमता नहीं होती। ये इतस्ततः संकलित विचार केवल स्मृतिरूप होते हैं। उनमें जीवन नहीं होता। ये चित्र स्वतः निर्जीव, निष्प्राण तथा निराधार होते हैं। यह कार्य प्रतिभा से भिन्न फैन्सी का होता है[1]। कोलरिज की दृष्टि में फैन्सी समय तथा स्थान के क्रम से उन्मुक्त स्मृति का एक प्रकारमात्र है। भारतीय दर्शन की दृष्टि में यह स्मृति का ही एकरूप है।

(२) उत्पादक कल्पना 'प्रोडक्टिव इमैजिनेशन' (Productive Imagination) काण्ट के अनुसार इसका रूप निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

1. Fancy, on the conrary, has no other counters to play with; but fixities and difinites. The Fancy is indeed no other than a mode of memory emancipated from the order of time and place.

—Coleridge.

It enables the mind to create perceptions from the raw material of sense data and by bringing sensation and understanding together enables the latter to carry on its work of discursive reasoning.

—English Studies 1949 P. 86.

कोलरिज का भी यही कथन है। उनसे पहिले अंग्रेज दार्शनिकों की यही मान्यता थी कि प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत रूप-रंग आदि का एक समुच्चयमात्र होता है, परन्तु कोलरिज की दृष्टि में मस्तिष्क स्वयं क्रियाशील होता है। यह केवल क्रियाहीन पदार्थ नहीं होता जिसमें रूप-रंग आदि इन्द्रियजन्य अनुभूति स्वयं प्रवेश कर निवास करती हैं। प्रत्यक्षानुभूति के समय मस्तिष्क स्वयं क्रियाशील होता है और इन्द्रियजन्यपदार्थों को एकता के सूत्र में शक्ति विशेष के सहारे बाँधता है जिसका अभिधान है Primary Imagination, आरम्भिक कल्पना। अनुभव के समय इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु गृहीत होती है वह इन्द्रियजन्य वस्तुओं की एक अव्यवस्थित राशि होती है जिसके ऊपर द्रष्टा का मन एक मूर्ति तथा व्यवस्था निर्धारित करता है[1]। इसीके कारण हम पदार्थों के यथार्थ रूप को देखने तथा जानने में समर्थ होते हैं। काण्ट 'उत्पादक कल्पना' शब्द के द्वारा यह दिखलाना चाहते हैं कि यह कल्पना इन्द्रियजन्य अनुभव का केवल संघात नहीं है, प्रत्युत उस अनुभव के द्वारा उत्पादित एक स्वतन्त्र अनुभूति है। इस दृष्टि में यह कल्पना नैयायिकों के 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' का प्रतिनिधि है जिसमें इन्द्रियजन्य अनुभव का परस्पर तारतम्य मिलाकर बुद्धि उस पदार्थ को एक नवीन नाम प्रदान करती है।

(३) सौन्दर्य-कल्पना—'एस्थेटिक इमैजिनेशन' Aesthetic Imagination काण्ट के अनुसार यह कल्पना सौन्दर्यानुभूति की जननी होती है। यह केवल विधायक ही नहीं होती, प्रत्युत स्वतन्त्र होती है। कवि इसी कल्पना के बल पर नवीन पदार्थों को, नूतन अनुभूतियों को, जन्म दिया

1. The mind is active in preception and brings together the sense-data by a power which he calls the 'primary imagination', so that they seem as an object and not merely the sum of the detached sensations.

करता है। कोलरिज के मतानुसार इसका अभिधान है अमुख्य प्रतिभा। यह प्रारम्भिक कल्पना के द्वारा उपस्थित अनुभूतियों का विश्लेषण तथा विभाजन करती है तथा उसका नवीन ढंग से निर्माण कर एक विचित्र सरस पदार्थ की रूपरेखा हमारे मानस पटल पर खींच देती है।

प्रतिभा का प्रधान कार्य है **पुनर्निर्माण**। प्रकृति के इन्द्रिय-साध्य अंशों को ग्रहण कर उन्हें अपनी अभिरुचि तथा भावना के अनुसार पुनः निर्माण करना कवि की प्रतिभा का महत्त्वशाली कार्य होता है। प्रकृति के पदार्थों का ज्ञान होता है हमें इन्द्रियों के द्वारा ही और यह ज्ञान होता है, स्वभावतः अपूर्ण। जगत् का आंशिक रूप ही हमें इन्द्रियों के साधनों के द्वारा प्राप्त होता है। इसी उपादान को ग्रहण कर प्रवृत्त होती है कवि की कल्पना-शक्ति। कवि की प्रतिभा इन्हीं बिखरे हुए अंशों को, अव्यवस्थित अवयवों को परस्पर मिलाकर एक पूर्ण तथा **परस्पर-सम्बन्ध** चित्र प्रस्तुत करती है। इसीलिये प्रतिभा जीवित तथा क्रियाशील होती है। कोलरिज की यह समीक्षा नितान्त प्रामाणिक है—

Imagination dissolves, diffuses, dissipates in order to recreate, or where the process is rendered imposible, yet still at all events it struggles to idealise and to unify. It is essentially vital, even as all objecs (as objects) are essentilly fixed and dead.

अर्थात् प्रतिभा पदार्थों को अवयवशः छिन्न-भिन्न करके देखती है। अभिप्राय होता है पुनर्निर्माण करना। परन्तु जहाँ यह प्रक्रिया एकान्त असम्भव होती है, वहाँ प्रत्येक दशा में यह वस्तु को आदर्श रूप में अंकित करने और एकता उत्पन्न करने में उद्यमशील रहती है। मुख्यतः प्रतिभा जीवित, प्राण-सम्पन्न होती है जिस प्रकार पदार्थत्वेन समग्र पदार्थ मुख्यतः निश्चित रहते हैं और प्राणहीन होते हैं। प्रतिभा की यह प्रक्रिया तथा रूपनिर्देश नितान्त सत्य है।

प्रतिभा—भारतीय दृष्टि

हमारे मान्य आलोचकों ने काव्य के इस प्रधान बीज की व्याख्या बड़ी सूक्ष्मता तथा जागरूकता के साथ की है—विशेषतः भट्टतोत, आनन्दवर्धन,

अभिनवगुप्त, राजशेखर, कुन्तक तथा महिमभट्ट ने 'प्रतिभा' की अन्तरंग परीक्षा बड़ी मार्मिकता के साथ की है।

प्रतिभा क्या है? प्रतिभा अपूर्व निर्माण की शक्ति है—सन्ततनवीन, चिरनूतन विचारों तथा मूर्तियों के गढ़ने की क्षमता है, उन्हें उज्ज्वल शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता है। अभिनवगुप्त के साहित्य-गुरु भट्टतौत का यह विश्रुत लक्षण[1] प्रतिभा के इस निर्माण-कौशल का परिचायक है—

> प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
> तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः।
> तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्.................॥

नये-नये अर्थ के उन्मीलन में समर्थ होनेवाली प्रज्ञा ही 'प्रतिभा' कही जाती है। अभिनवगुप्त का लक्षण इसी के अनुरूप[2] है—**प्रतिभा अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माण-क्षमत्वम्।'** इस लक्षण में ध्यान देने की बात यह है कि प्रतिभा वह स्रोत मानी गई है जहाँ प्रत्येक रचनात्मक वस्तु का उद्गम होता है। कवि-प्रतिभा उस सामान्य प्रतिभा का एक विशिष्ट प्रकार है जब कवि रसावेश की विशदता तथा सुन्दरता के कारण काव्य के निर्माण में समर्थ होता है।

प्रतिभा का ही दूसरा अभिधान है—शक्ति। इसकी रुद्रट कृत व्याख्या सहज तथा सुबोध है। चित्त के समाहित होनेपर अभिधेय अर्थ अनेक प्रकार से स्फुरित होता है तथा कमनीय पदों के द्वारा वह अभिव्यक्त होता है। जिसकी सत्ता होने पर यह दशा स्वतः उपस्थित होती है उसी का नाम है—शक्ति या प्रतिभाः—

> मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
> अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।
> (काव्यालंकार १।१५)

महाकवि राजशेखर मानो इसी की व्याख्या करते लिखते हैं—या शब्दग्रामम्, अर्थसार्थम्, अलंकारतन्त्रम्, उक्तिमार्गम् अन्यदपि तथाविधमधि-हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष एव।

---

१. हेमचन्द्र—काव्यानुशासन पृ० ३ पर उद्धृत लुप्तप्राय 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ में निर्दिष्ट लक्षण।

२. लोचन पृ० २९।

प्रतिभावतः पुनः अपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष एव (काव्यमीमांसा पृ० ११-१२) प्रतिभा वह वस्तु है जो काव्य के समग्र उपकरणों को—शब्दसमूह, अर्थपुञ्ज, अलंकार, उक्तिप्रकार आदि को—कवि के हृदय में प्रतिभासित करती है जिससे ये सब पदार्थ उसके मानसनेत्र के सामने झटिति अभिव्यक्त हो जाते हैं। प्रतिभा-दरिद्र व्यक्ति के सामने पदार्थपुञ्ज परोक्ष रहता है और प्रतिभासम्पन्न के सामने न देखने पर भी सब कुछ प्रत्यक्ष ही रहता है। इसी के सहारे ही कवि उस अदृश्य तथा परोक्ष जगत् के पदार्थों की व्याख्या में समर्थ होता है जिसे भगवान् सविता का प्रकाश भी अपनी अलौकिक शक्ति से आलोकित नहीं कर सकता। 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि' इस लोकोक्ति की गम्भीर सत्यता इसी गूढ़तम सिद्धान्त पर आश्रित रहती है।

प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं—(१) दृष्टिपक्ष तथा (२) सृष्टिपक्ष। प्रथम-पक्ष के अनुसार प्रतिभा विश्व के रूप-निरीक्षण का एक प्रकार है। सृष्टिपक्ष में प्रतिभा नवीन सृष्टि की साधिका शक्ति है।

(क) प्रतिभा—दृष्टिपक्ष

प्रतिक्षण नित्य नूतन रूप धारण करनेवाले नानावस्था-संवलित वैषम्यमण्डित पदार्थ-पुञ्ज का ही अभिधान जगत् है। इस जगत् के अन्तर्निहित तथ्य के निर्धारण करने में दोनों ही समर्थ होते हैं विद्वान् और कवि। प्रज्ञा और प्रतिभा—दोनों ही मानव के दो आध्यात्मिक लोचन हैं जिनके द्वारा वह जगत् को देखता है, समझता है और व्याख्या करता है, जिस प्रकार दार्शनिक विद्वान प्रज्ञा के बल पर जगत की बौद्धिक व्याख्या करने में कृतकार्य होता है, उसी प्रकार कवि प्रतिभा के आश्रय से जगत् की भावमयी व्याख्या करने में कृतार्थ होता है। सच तो यह है कि हमारे साहित्य में कवि शब्द का तात्पर्य विस्तृत, व्यापक तथा विशाल है। कवयः क्रान्तदर्शिनः—'कवि' का मूल अर्थ है द्रष्टा, इन्द्रियों से अगोचर तत्त्वों का साक्षात्कार करने-वाला व्यक्ति। 'कवि' 'ऋषि' का ही पर्यायवाची सूक्ष्म शब्द है। शब्दों के माध्यम के द्वारा जगत् के अन्तर्गत रहस्यों का व्याख्याता उसी प्रकार 'कवि' है, जिस प्रकार अध्यात्मशास्त्र के तत्त्व का वेत्ता विद्वान्। दोनों ही 'कवि' हैं। दोनों ही सृष्टितत्त्व के मार्मिक व्याख्याता हैं। अन्तर इतना ही है कि विद्वान् प्रज्ञा के सहारे जो गूढ़ कार्य सम्पन्न करता है वही कार्य कवि प्रतिभा के आधार पर करता है। मनुष्य को आवश्यकता है दोनों की–प्रज्ञा की तथा

प्रतिभा की। आनन्दवर्धन ने भगवान् की स्तुति के प्रसंग में इन दोनों के वैशिष्ट्य का सुन्दर उद्घाटन किया है—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे चाप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥

(ध्वन्या० पृ० २२७)

[इस कमनीय पद्य का भावार्थ है—कवियों की कोई नवीन दृष्टि रहती है जो रसों के आस्वादन में संलग्न रहती है। विपश्चितों की भी दृष्टि होती है जो परिनिष्ठित (व्यवस्थित) अर्थ के विषयों के उन्मीलन में लगी रहती है। इन दोनों दृष्टियों का अवलम्बन कर हम लोग विश्व का निरन्तर वर्णन करते हुए थक गए हैं। परन्तु हे समुद्रशायी नारायण! आपकी भक्ति के समान सुख हमने कहीं भी नहीं पाया।] यहाँ हमारे भक्त कवि के विचार से कवि-दृष्टि तथा विद्वद्दृष्टि से विचार्यमाण सुख भक्ति के सामने नितान्त निर्जीव, निर्वीर्य तथा नीरस बनकर पड़ा हुआ है।

ध्यान देने की बात है कि आनन्दवर्धन कविदृष्टि (प्रतिभा) को तथा वैपश्चिती दृष्टि (प्रज्ञा) को जीवन की व्याख्या करने में समान अधिकार प्रदान कर रहे हैं। प्रज्ञा का जितना अधिकार तथा सामर्थ्य जीवन के रहस्यों के उन्मीलन में है उतना ही अधिकार तथा सामर्थ्य प्रतिभा को भी है। उनका प्रतिभा के लिए 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग अपना गम्भीर महत्त्व रखता है। संसार के पदार्थों का सम्यक् निरूपण (निर्वर्णन) एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता, दोनों दृष्टियों के सम्मिलन से ही विश्व के तात्त्विक रूप का उन्मीलन होता है, एक ही दृष्टि से नहीं—नहि एकया दृष्ट्या सम्यङ् निर्वर्णनं निर्वहति (लोचन)।

हमारी दृष्टि में आलोचक-शिरोमणि आनन्दवर्धन का यह विवेचन बड़ा ही सारगर्भित तथा मर्मस्पर्शी है। कवि की दृष्टि तथा विपश्चित् की दृष्टि एक दूसरे की विरोधिका न होकर परस्पर सहायिका है। दोनों एक दूसरे की कमी को पूरा करती हैं। कवि-दृष्टि (प्रतिभा) विचित्र उपादानों से नवीन जगत् की सृष्टि करती है, तो विद्वद्दृष्टि (प्रज्ञा) परिनिष्पन्न रूपवाले पदार्थों का उन्मीलन करती है। प्रतिभा अपूर्व वस्तु को उन्मीलन करती है, तो प्रज्ञा लोकप्रसिद्ध

अर्थ का उन्मेष करती है। प्रज्ञा तथा प्रतिभा—दोनों आवश्यक हैं विश्व के रहस्यों के निर्धारण के लिये। भेद इतना ही प्रतीत होता है—

प्रज्ञा है स्थितिशील (Static) पदार्थों के निरूपण का साधन।
प्रतिभा है प्रगतिशील (dynamic) वस्तुओं के उन्मीलन का उपाय।

दृष्टिरूपा प्रतिभा की आनन्दवर्धनकृत यह व्याख्या पाश्चात्य आलोचकों द्वारा भी की गई है। क्रोचे[१] तथा हरफोर्ड[२] प्रातिभ ज्ञान की विशिष्टता के प्रबल समर्थकों में हैं।

महिमभट्ट

विचारणीय विषय है कि कवि की प्रतिभा वैयक्तिक रूप से जगत् के रहस्यों का दर्शन किस प्रकार करती है? इसका समुचित उत्तर दिया है महिमभट्ट ने। भट्टजी नैयायिक थे और ध्वनि का अनुमान के भीतर अन्तर्भाव सिद्ध कर उन्होंने आलोचना—जगत् में विपुल ख्याति अर्जन की है। अतः उन्होंने 'प्रतिभा' की मीमांसा के अवसरपर पदार्थ के सामान्य रूप तथा विशेष रूप के वर्णन में नैयायिक विलक्षणता का प्रतिपादन किया है—

विशिष्टमस्य यद् रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरम्।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥

---

१. Intuitive knowledge has no need of a master, not to lean upon any one, she does not need to borrow the eyes of others, for she has most excellent eyes of her own.

—Croce : Aesthetics pp. 2-3.

२. What distinguishes poetic from religious or philosophical apprehension is not that it turns away from reality, but that it lies open to and eager watch for reality at doors and windows which with them are barred and behind. The poet's soul resides, so to speak, in his senses, in his emotions, in his imagination, as well as in his conscious intelligence, and we may provisionally describe poetic apprehension as an intense state of consciousness in which all these are vitally concerned.

C. N. Hereford : Is there a Poetic view of the world.

अतः—

> रसानुगुणशब्दार्थ-चिन्तास्तिमितचेतसः ।
> क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
> सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
> येन साक्षात् करोत्येष भावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥

(व्यक्तिविवेक, पृ० १०६)

महिमभट्ट का तात्पर्य है कि पदार्थ का विशिष्ट रूप ही प्रत्यक्ष का गोचर होता है और वही सत्कवि की प्रतिभाजनित वाणी का भी गोचर होता है। पदार्थ के दो रूप होते हैं—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य रूप तज्जातीय समस्त पदार्थों में रहनेवाला रूप है। विशिष्टरूप उसी विशिष्ट पदार्थ में अन्तर्निविष्ट होनेवाला रूप है। साधारण जन पदार्थ के सामान्य रूप के ही ग्रहण करने में व्यस्त रहता है। उतने से ही उसके योग-क्षेम का निर्वाह होता है, उसका लोक-व्यवहार उतने से ही सुचारुरूप से चलता है। उससे अधिक जानने की न उसमें क्षमता होती है और न उसे अवसर ही मिलता है। पदार्थ के इस विशिष्ट रूप का अवगमन कवि करता है और वह भी प्रतिभा के सहारे ही। जब कवि सरस काव्य-चिन्तन में दत्तचित्त होकर समाहित होता है, रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता के हेतु उसका चित्त एकाग्र हो जाता है, तब उसकी प्रज्ञा क्षण भर के लिये पदार्थ के सच्चे स्वरूप को स्पर्श करती हुई जागरित होती है। इसी का नाम है 'प्रतिभा'। यही भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र है। इसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों को—तीनों लोकों में होनेवाली घटनाओं तथा वस्तुओं का—साक्षात्कार करता है। भगवान् त्रिलोचन के तृतीय लोचन (ज्ञाननेत्र) के उन्मीलन के समान कवि की उन्मिलित प्रतिभा—चक्षु के सामने जगत् का कोई भी पदार्थ अनालोकित तथा अनवज्ञात नहीं रह सकता। महिमभट्ट का गूढ़ तात्पर्य यही है कि प्रतिभा के दृष्टिपक्ष की सार्थकता इसी कारण है कि कवि प्रातिभचक्षु से पदार्थ के अन्तर्निविष्ट तथ्यरूप का निरीक्षण करने में समर्थ होता है।

'स्वभावोक्ति' अलंकार है या अलंकार्य ? इस विषय का भी चिन्तन प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखता है[1]। कवि को काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये

---

१. द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड पृ० ३५१–३५४

सामान्य जीवन से बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं होती। कवि के सामने सर्वत्र ही प्रत्येक वस्तु में—क्षुद्रतम पुष्प से लेकर उन्नततम आकाश तक—सौन्दर्य झलकता रहता है। कवि को यदि प्रतिभा-सम्पन्न नेत्र है तो वह उस सौन्दर्य की झलक देखता है, परखता है और अपने काव्य में निबद्ध करता है। अलंकार के चमत्कार से विहीन भी यह स्वाभाविक वर्णन नानाप्रकार के करामाती वर्णनों से कहीं अधिक चमत्कारजनक तथा हृदयावर्जक होता है। इसीलिये कुन्तक की मार्मिक उक्ति है—

भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।

—व० जी० १।२६

पदार्थ के स्वभाव की प्रधानता आहार्यकौशल को, अलंकार से सज्जित करने की कला को, दूर भगा देती है। इसीलिये अत्यन्त प्राचीन काल से हमारे आलोचकों ने 'स्वभावोक्ति' को काव्य के भूषण-रूप में अंगीकार किया है। स्वभावोक्ति में कवि अपनी ओर से कुछ भी जोड़ता-बटोरता नहीं, वह वस्तु को उसी रूप में अंकित करता है जिस रूप में वह होती है। अवश्य ही प्रतिभा के कारण ही उसे इस कार्य में अपूर्व सफलता मिलती है।

(ख) प्रतिभा—सृष्टिपक्ष

प्रतिभा के दो पक्ष होते हैं—(१) दृष्टिपक्ष; और (२) सृष्टिपक्ष। दृष्टिपक्ष में प्रतिभा जगत् के पदार्थों को अवलोकन का एक प्रकारमात्र है। सृष्टिपक्ष में प्रतिभा काव्यों के द्वारा नित्य नूतन पदार्थों के निर्माण का एक विशिष्ट साधन है। प्रथम पक्ष का वर्णन अब तक किया गया है। अब प्रतिभा के द्वितीय पक्ष की आवश्यक विवेचना प्रस्तुत की जाती है।

प्रतिभा सृष्टि का साधन है। इसी के कारण 'प्रजापति' के साथ कवि की तुलना की जाती है, यद्यपि यह तुलना प्रजापति के लिये नितान्त तिरस्कार-जनक है। प्रजापति उपादान कारणों की सहायता से ही सृष्टिकार्य में समर्थ होते हैं, परन्तु हमारा कवि बिना कारणकलाप के ही अपूर्व वस्तु का निर्माण करता है (अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्—लोचन का मंगल श्लोक)। कविनिर्मिति की विलक्षणता आचार्य मम्मट ने बड़े ही सुन्दर और विश्रुत् शब्दों में दिखलाई है—

नियतिकृतनियमरहिताम्

आह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती

कवेर्भारती जयति ॥

—काव्यप्रकाश १।१

प्रजापति की सृष्टि नियति के द्वारा उत्पादित नियमों का पालन करती है, कवि की सृष्टि ऐसे नियमों की संकीर्णता में कभी जकड़ी नहीं रहती, प्रत्युत वह बन्धनमुक्त की भाँति स्वतन्त्र होती है। प्रजापति की सृष्टि त्रिगुणमयी होने से सुखमयी, दुःखमयी तथा मोहमयी होती है; परमाणु आदि उपादान तथा अदृष्ट, ईश्वर आदि निमित्त कारणों के ऊपर आश्रित होने से परतन्त्र होती है; मधुर, अम्ल आदि छः रसों से ही युक्त रहती है तथा मनोज नहीं होती, कभी वह घृणा उत्पन्न करती है, कभी ग्लानि। हर्ष-विषाद, शोक-मोह, सुख-दुःख के नाना द्वन्द्वात्मक भावों की क्रीड़ा किया करती है वह प्रजापति-सृष्टि। परन्तु कवि-सृष्टि इससे नितान्त विलक्षण होती है। वह नियतिकृत नियमों से रहित होती है। केवल एकमात्र ह्लादमयी होती है; कवि को छोड़कर किसी कारण विशेष पर अवलम्बित नहीं होती; नव रसों से युक्त होती है और सर्वदा रुचिर, मनोज तथा हृदयानुरञ्जक होती है। अतः आलोचकों की दृष्टि में प्रतिभा विलक्षण सृष्टि की अवश्यमेव साधिका है।

समाधेय प्रश्न है कि प्रतिभा किन मौलिक उपादानों को ग्रहण कर नवीन रचना में प्रवृत्त होती है? असत् पदार्थ से अथवा सत् पदार्थ से वह सत् पदार्थ का सर्जन करती है? असत् से सत् की सृष्टि मानना कथमपि तर्कसंगत नहीं है। क्या आधुनिक मनोविज्ञान नहीं बतलाता कि प्रतिभा उन्हीं इन्द्रियजन्य अनुभूतियों के आधार पर नई सृष्टि करती है जिनका सम्बन्ध बाहरी जगत् से होता है और जिनका आनयन हमारी इन्द्रियाँ किया करती हैं[1]? हमारे शास्त्रकार भी इस तथ्य से अपरिचित न थे, जब आनन्दवर्धन कहते हैं—

---

1. Inspiration may produce new modes of combination but no new elements.

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
भावानचेतनानपि चेतनवत्, चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

—ध्वन्या० पृ० २२२

तब उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कवि शून्य से ही चित्रों का निर्माण करता है, प्रत्युत विद्यमान पदार्थों से ही अपनी सामग्री एकत्र कर वह नवीन वस्तुओं की रचना में समर्थ होता है।

कुन्तक का समग्र 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ प्रतिभा की अतिगूढ़ व्याख्या है। उनका स्पष्ट मत है कि काव्य में कवि-प्रतिभा का ही चरम उत्कर्ष रहता है ('कविप्रतिभाप्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते, पृ० १३); कविता में जो कुछ भी चमत्कार होता है वह सब प्रतिभा के द्वारा ही उत्पन्न होता है (यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत् सर्वं प्रतिभोद्भवमेव, पृ०, ४८) तथा काव्य के समग्र सौन्दर्यसाधनों का प्राण है यही प्रतिभा—विशेषतः अलंकारों का। कविता में रस, भाव तथा अलंकार—समस्त काव्यशोभाधायक अंगों का कविकौशल ही जीवित है, तथापि अलंकारों का तो प्रधान रूप से यह जीवित है, क्योंकि कविकौशल के अनुग्रह के बिना अलंकारगत अल्पमात्र भी वैचित्र्य की कल्पना हम काव्य में नहीं कर सकते—

यद्यपि रसभावालङ्काराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितं
तथापि अलङ्कारस्य विशेषतः तदनुग्रहं विना न मनागपि
वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे

—व० जी०, पृ० १४६

'कविकौशल' कविप्रतिभा व्यापार का ही दूसरा नाम है। उनकी दृष्टि में काव्य को 'अम्लान प्रतिभोद्भिन्न—नवशब्दार्थबन्धुर' होना चाहिए। अकुण्ठित प्रतिभा से उन्मीलित नूतन शब्द तथा नवीन अर्थ के साहचर्य से ही काव्य रमणीय होता है। कुन्तक की दृष्टि में प्राचीन तथा इस जन्म में उत्पन्न संस्कारों के परिपक्व होने पर उदय लेनेवाली प्रौढ़ प्रतिभा अनिर्वचनीय कविशक्ति है—प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः (व० जी० पृ० ४९)

प्रतिभा का कार्य

प्रतिभा किस आधार पर निर्माण करती है ? इसके उत्तर में कुन्तक का कथन मार्मिक तथा सूक्ष्म है—

यत्र वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामध्यारोप्यते (व० जी०, पृ० १४०)

काव्य में जिन पदार्थों के स्वरूप का वर्णन कवि करता है, वे असद् रूप नहीं होते। जगत् में वे केवल सत्तामात्र से परिस्फुरित होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के सहारे उनमें अनिर्वचनीय अतिशय उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण काव्य में सहृदयहृदयहारिणी रमणीयता का उदय हो जाता है। इस शक्ति से कवि पदार्थों के मूल रूप को ढक देने में समर्थ होता है और उनका इतना चमत्कारिक चित्र प्रस्तुत करता है कि वे सर्वथा नवीन कृति के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। यह बात केवल उत्पाद्य वस्तु के ऊपर ही चरितार्थ नहीं होती; प्रत्युत प्रसिद्ध वस्तु के विषय में भी। इस विवेचन का यही निष्कर्ष है—**कवि पदार्थ के स्वरूप का निर्माण नहीं करता, प्रत्युत प्रतिभाशक्ति के बल पर वह केवल अतिशय का निर्माण कर देता है।** अतिशय-विधान ही प्रतिभा का केवल कार्य है—**प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किञ्चिदपूर्वमत्रास्ति (व० जी०, पृ०, १४३)।**

> **त एव पदविन्यासास्त एवार्थविभूतयः।**
> **तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथन-कौशलात्॥**

पदों के विन्यास वे ही होते हैं। अर्थ की विभूतियाँ वे ही हैं। तथापि ग्रथन की कुशलता से ही काव्य नवीन होता है। समग्र कुशलता है कि कवि की प्रतिभा व्यापार की जिसके कारण परिचित तथा पूर्वज्ञात भी वस्तु नवीन तथा अपूर्व रूप में उद्भासित होती है। प्रतिभा का यह रहस्य आनन्दवर्धन ने अपनी प्राकृत-गाथा में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है—

> **ण अ ताण घडइ ओही न अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।**
> **जे बिब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीनं॥**
>
> **—ध्वन्या०, पृ० २४१**

> **[न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते पुनरुक्ताः।**
> **ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्॥]**

प्रियतमा के विलास तथा सुकवि-वाणी के अर्थ एक समान होते हैं, न तो उनकी अवधि ही मिलती है और न वे पुनरुक्त ही दिखलाई पड़ते हैं। वे सर्वदा नवीन प्रतीत होते हैं और उनका अन्त ही नहीं मिलता। यही है प्रतिभा का विलास !

काव्य और जीवन

भारतीय कवियों ने अपने काव्यों में 'जीवन की सत्यता' की कभी उपेक्षा नहीं की है। त्रिविध ध्वनि के भीतर 'वस्तुध्वनि' मानने का यही स्वारस्य है। 'वस्तु' का अर्थ है अनलंकृत कथन, संसार के पदार्थों का सज्जा-विहीन अलंकार-विरहित विन्यास। यह भी अवसरविशेष में चमत्कारजनक ही नहीं होता, प्रत्युत उत्तमकोटि की कविता मानी जाती है। वस्तु दो प्रकार की मानी गई है—'कविप्रौढोक्ति-निष्पन्न' (कवि की वक्रोक्ति से उत्पन्न) तथा 'स्वतःसम्भवी' (अपने आप संसार में होनेवाली)। इन दोनों में स्वतःसम्भवी वस्तु को ध्वनिकोटि में मानने का यही तात्पर्य है कि भारतीय आलोचक जीवन के तथ्य से पराङ्मुख नहीं है, वह जीवन की सत्यता का परम पक्षपाती है। वह उस विचित्र शुतुरमुर्ग के मानिन्द नहीं है जो अपना सिर बालू के भीतर गाड़ कर दुनिया के प्रपञ्चों से वास्ता ही नहीं रखता।

इसीलिये पाश्चात्य आलोचना के समान भारतीय आलोचना में कभी यह बखेड़ा ही नहीं खड़ा हुआ कि कविता अनुकृति (Imitation) है या कृति (Creation)? Memesis है या Poesis? इस प्रश्न का समाधान हमारे माननीय आलोचकों ने बहुत पहिले ही कर दिया है कि अनुकृति (=स्वभावोक्ति) या कृति (=वक्रोक्ति) दोनों का काव्य में तभी उपयोग होता है जब ये रस के उन्मीलन में समर्थ होती हैं। रसोन्मेष ही वस्तुतः कवि के काव्य का चरम उत्कर्ष ठहरा। अतः काव्य में हम दोनों का समान भावेन आदर करने को प्रस्तुत हैं यदि ये दोनों ही रस को प्रकाशित कर आनन्द-उन्मीलन में सहायता करती हों। भोजराज के शब्दों में 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' का पर्यवसान 'रसोक्ति' में ही होता है। रसोक्ति के अभाव में स्वभावोक्ति नीरस अनुकरणमात्र है और वक्रोक्ति निराधार हवाई महल है[1]। आचार्य अभिनवगुप्त का प्रसंगान्तर में कहा गया कथन इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है—

१. द्रष्टव्य, इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड पृ० ३६३–३६८

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीये स्वभावोक्ति-
वक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्वि-
शब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता ॥

—लोचन पृ० ६९

कवि—द्रष्टा और स्रष्टा

प्रतिभा का साम्राज्य बड़ा ही विस्तृत तथा विशाल होता है। अर्थ और शब्द, स्फुरणा तथा अभिव्यञ्जना, दर्शन तथा वर्णन, प्रख्या तथा उपाख्या—इस नित्यसम्बद्ध–युगल का उन्मीलन प्रातिभ ज्ञान से ही कवि करता है। जब तक इस युगल की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक कोई भी व्यक्ति 'कवि' की महनीय पदवी का भाजन नहीं बनता। कवि होने के लिये तत्त्वद्रष्टा होने के अतिरिक्त शब्दस्रष्टा होने की नितान्त आवश्यकता है। कतिपय तत्त्वज्ञों का तो यहाँ तक कहना है कि अभिव्यञ्जना ही स्फुरणा का चरम पर्यवसान है, वर्णन ही दर्शन की परिनिष्ठित कोटि है। पाश्चात्यतत्त्वज्ञ क्रोचे का तो स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रातिभ ज्ञान की यथार्थता का परिचय ही तब तक नहीं मिलता जब तक अभिव्यञ्जना expression (मानसिक ही सही) के रूप में परिणत नहीं होता—

Intuition is only intuition in so far as it is, in that very act, expression. An image that does not express, that is not speach, song, drawing, painting, sculpture or architecture—speech at least murmured to oneself, song at least echoing within one's own breast, line and colour seen in imagination and colouring with its own tint the whole soul and organism—is an image that does not exist[१].

---

१. Croce—Aesthetics (अंग्रेजी विश्वकोष १४ वाँ संस्करण) क्रोचे का कथन है कि द्रष्टा होते ही व्यक्ति शब्दस्रष्टा भी बन जाता है चाहे वह शब्द बाहर अभिव्यक्त न होकर हृदय-कुटी में ही रह जाता है। राजशेखर के शब्दों में ऐसा व्यक्ति 'हृदयकवि' कहलाता

शब्दों का प्रयोग। उपाख्या प्रख्या की अनुवर्तिनी दासी है। आचार्य कुन्तक की भी यही सम्मति है—

> कविचेतसि प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानम् अघटित-
> पाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकवि-
> विरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया
> तद्विदाह्लादकारि काव्यत्वमधिरोहति ॥

—व० जी०, पृ० ९

कवि के चित्त में प्रतिभा से प्रतिभासित वस्तु रुचिकर या मनोज्ञ नहीं होती। अधिक से अधिक वह मणि के सदृश होती है जिसके पत्थर के टुकड़े खान से तुरन्त निकलने के कारण अनगढ़ और बेडौल होते हैं। कवि के वक्रवाक्य के रूप में अभिव्यक्त होने पर वही वस्तु शानपर चढ़ाये गए मणि के समान चमत्कारी तथा समुज्ज्वल हो जाती है। कुन्तक का आशय है कि प्रतिभा वक्रोक्ति के रूप में परिणत होने पर भी यथार्थ सिद्ध होती है। वक्रोक्ति प्रतिभा की मंगलमयी पूर्ति है।

कभी-कभी वक्रोक्ति प्रतिभा के भीतर निहित चमत्कार में जीवन डाल देती है। उपाख्या प्रख्या को सजीव रूप से चमका देती है; मृतप्राय शब्दों में बिजुली दौड़ा देती है। कुन्तक ने अनंगहर्ष-मात्रराज के 'तापस-वत्सराज' नामक विख्यात नाटक से इस प्रसंग में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

> तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
> तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
> तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
> बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवः।

उदयन वासवदत्ता से मिलन के लिये जा रहा है। रास्ते में सोच रहा है कि हमारी इस विपुल उत्कण्ठा का कारण ही क्या हो सकता है? उस प्रियतमा के चन्द्रवदन के दर्शन से मैंने दिन बिता दिया है। उसकी सरस गोष्ठी के द्वारा प्रदोष को भी मैंने व्यतीत कर दिया है। रात भी सूखी या सूनी नहीं बीती। मन को मन्थन करने वाले कामदेव के द्वारा उत्साहित किये गये उसके अंगों के आलिंगनों से निशा को भी मैंने आनन्द से ही बिताया। रात-दिन उसी प्रियतमा की ही सरस चर्चा है। कभी चन्द्रमुख का दर्शन है, कभी सरस गोष्ठी का प्रसंग है, कभी आलिंगन की मधुरिमा है। एक क्षण भी उसके बिना मेरा नहीं बीतता। तब क्या कारण है कि हमारे राह की ओर टकटकी

बांधने वाली उसे देखने के लिये आज भी जब मैं आगे डग भर रहा हूँ, तब मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है ! कवि ही इस प्रश्न का मधुर समाधान दे रहा है —अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवः अथवा प्रेम का उत्सव कभी समाप्त नहीं होता; प्रेमी प्रेमिका का प्रेम आनन्द की एक दीर्घ परम्परा है जो उपभोग किए जानेपर भी कभी समाप्ति का नाम नहीं जानती। उदयन के चरित से परिचित पाठक कवि की इस सरस उक्ति का अभिनन्दन अक्षरशः करेंगे। इस वाक्य ने पूर्व वाक्यों में जान डाल दी है। मृतकल्प वाक्यों का इतना मधुर स्वारस्य जाग्रत हो उठा है कि यह पूरा पद्य ही वक्र अभिधान का एक नितान्त उत्कृष्ट उदाहरण हो गया है।

सचमुच वर्णन से दर्शन उज्ज्वल हो उठता है, उपाख्यासे प्रख्या चमक उठती है।

प्रतिभा का बीज

इतनी महत्त्वशालिनी प्रतिभा का बीज मानव-हृदय में किस प्रकार या किस कारण से उगता है ? इस प्रश्न का समाधान हमारे आलोचकों ने मनोवैज्ञानिक रीति से किया है। अधिकांश शास्त्रकार इसे प्राक्तन जन्म में उत्पन्न संस्कार-विशेष मानते हैं। दण्डी प्रतिभान (प्रतिभा) को पूर्ववासना के गुणों से सम्बद्ध बतलाते हैं (पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्— काव्यादर्श १।१०४), वामन भी जन्मान्तर संस्कार मानते हैं[1] जिसकी पुष्टि अभिनवगुप्त भी अभिनव-भारती में स्पष्टतः करते हैं[2]।

पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा के उदय के लिए दो अन्य कारण बतलाते हैं। प्रथम कारण है किसी देवता के प्रसाद या साधु के अनुग्रह से अदृष्ट का उदय। दूसरा कारण है व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का परिपाक, जिसके कारण अत्यधिक उम्र बीत जानेपर भी अनेक व्यक्तियों में अकस्मात् कवित्व का उदय हो जाता है[3] जिससे उनके मुख से कविता की धारा वर्षाकालीन नदी के

१. जन्मान्तरसंस्कारविशेषः कश्चित्—वामन

२. अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः—

अभिनवभारती (खण्ड १, पृ० ३४६)

३. तस्याश्च (प्रतिभायाः) हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यम् अदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति—काव्यकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव। नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वक्तुम्। कियन्तंचित् कालं

प्रवाह के समान अजस्र बहने लगती है[१]। हेमचन्द्र की व्याख्या बहुत कुछ इसी प्रकार की है। ये प्रतिभा के दो भेद मानते हैं—जन्मजात (सहजा) तथा कारणजन्य (औपाधिकी), जिनमें अन्तिम का उदय मन्त्र-तन्त्र तथा देवता के प्रसाद से होता है। आत्मा सूर्य के समान स्वयंप्रकाश है, परन्तु ज्ञानावरण कर्मों के सम्पादन के कारण मेघपटल के समान आत्मा के विशुद्ध रूपपर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। जब इन कर्मों का नाश हो जाता है (क्षय), अथवा इनका उपशम हो जाता है, तब यह प्रतिभा स्वतः अपनी पूर्ण विभूति के साथ प्रकट होती है। यदि यह कार्य स्वतः सम्पन्न होता है तो होती है, सहजा प्रतिभा। यदि बाह्य उपायों के द्वारा सिद्ध होता है, तो होती है—औपाधिकी प्रतिभा[१]। हेमचन्द्र का जैन मताभिमत यह सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान के साथ पूर्ण सामञ्जस्य रखता है।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतिभा का सम्बन्ध अचेतन मन से है। इन्द्रियजन्य ज्ञान की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति करता है। साधारण जन इन अनुभूतियों के विश्लेषण तथा संयोजन करने में सर्वथा अक्षम होते हैं। फलतः बाह्य जगत् का ज्ञान उनके हृदय में मूर्तरूप धारण नहीं करता। उनके हृदय में विपुल अनुभूतियाँ दबी रह जाती हैं और अचेतन मन में विलीनप्राय-सी बनी रहती हैं, परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के हृदय में ये दबी प्रवृत्तियाँ शनैः शनैः उन्मुक्तावस्था को प्राप्त करती हैं—वे चेतना के स्तरपर आकर अपने आपको स्वतः उद्बुद्ध करती हैं। यही कारण है कि कभी-कभी काव्यकला से पराङ्मुख व्यक्ति के हृदय में प्रतिभा जाग उठती है और वह कमनीय कविता से अपने श्रोताओं को आश्चर्यचकित कर देता है। इस प्रकार इन दोनों व्याख्याओं में गाढ़ साम्य है। अन्तर केवल शब्दों का है। मनोवैज्ञानिक जिसे 'अवरोध'[२] के नाम से पुकारते हैं उसे हेमचन्द्र 'आवरण' की संज्ञा देते हैं।

इस प्रकार कवि के लिये सर्वातिशायी महत्त्वपूर्ण साधन है—प्रतिभा (Imagination) कवि तथा आलोचक—उभय के दृष्टिकोण इस बातपर मिलते हैं कि प्रतिभा के द्वारा ही कवि काव्यस्रष्टा बनता है और प्रजापति

काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्।

—रसगंगाधर, पृ० ८

१. काव्यानुशासन पृ० ५–६।

2. (Inhibition)

की समता करता है। आनन्दवर्धन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, दोनों साधनों से बढ़कर प्रतिभा की उपयोगिता काव्य में स्वीकार करते हैं। इस विषय में उनकी विस्पष्ट उक्ति है कि महाकवियों की वाणी मधुर अर्थ का निस्यन्द करती हुई अलोक-सामान्य तथा परिस्फुरणशील प्रतिभाविशेष की अभिव्यक्ति करती है—

> सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु
> निस्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
> अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति
> परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥
>
> ध्वन्या० १।६

३—काव्य पर दोषारोपण

नैतिकता तथा धार्मिकता भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं। भारत की ही संस्कृति क्यों, किसी भी देश की संस्कृति नीति को तिलाञ्जलि देकर पनप नहीं सकती और धर्म के दृढ़ आश्रय का तिरस्कार कर वह समृद्ध नहीं बन सकती। सच्ची बात तो यह है कि नीति और धर्म संसार के परम मंगलसाधक प्रधान प्रसाधन हैं जिनका अवलम्बन प्रत्येक तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नितान्त श्रेयस्कर है। परन्तु काव्य में कभी-कभी इन तत्त्वों की विषम अवहेलना दीख पड़ती है—विषमय निराकरण दीख पड़ता है। ऐसी दशा में किसी भी देश का सच्चा मंगलसाधन करनेवाला तत्वज्ञानी विद्वान् कवियों की इस काली करतूत पर खीझ उठता है और कवियों को समाज से बहिष्कृत करने का प्रस्ताव उपस्थित करता है। वह कवियों को समाज का बड़ा भारी शत्रु समझता है। कवि समाज का महान् अनर्थ करता है। वह उसे सन्मार्ग से हटाकर उन्मार्ग की ओर ले जाता है। इसी कारण पश्चिमी देशों में तथा भारतवर्ष में काव्य के ऊपर उन्मार्गगामी होने के अनेक दोषारोपण किए गए हैं।

भारतवर्ष के प्राचीन वैदिकधर्मानुयायी कर्मकाण्ड के उपासकों ने काव्य के ऊपर यह दोषारोपण किया है और उपदेश दिया है—**काव्यालापांश्च वर्जयेत्**। काव्यालाप का सदा वर्जन करना चाहिए। इसके विपरीत काव्य के सच्चे रूप से परिचित आलोचकों ने डंके की चोट घोषित किया है—

शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ।

शब्द भगवान् की मूर्ति है। भगवान् का वर्णमय भी विग्रह होता है। अतः ये समस्त काव्य, शब्दमूर्ति धारण करने वाले भगवान् विष्णु के अंश हैं—अंश ही नहीं, प्रत्युत सरस अंश हैं। अतः काव्य गर्हणीय न होकर उपादेय होता है।

राजशेखर ने काव्य के इन दोषों का तथा उनके परिहार का निर्देश बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है।

(१) असत्यार्थाभिधायक काव्य

असत्यार्थाभिधायित्वात् नोपदेष्टव्यं काव्यम्

काव्य असत्य अर्थ का अभिधान करता है। वह उन अर्थों तथा वस्तुओं के वर्णन में संलग्न रहता है जिनका वास्तव जगत् में कथमपि सद्भाव नहीं होता। सत्य अर्थ का ही मंगलमय प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है। वास्तव वस्तु ही प्राणियों के कल्याण-साधन में समर्थ हो सकती है, परन्तु काव्य में यह वस्तु अधिकतर अविद्यमान रहती है। अतः काव्य का उपदेश मानव समाज के लिये नितान्त हानिकर है।

उदाहरण के लिए इस पद्य की परीक्षा कीजिए—

> कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य ।
> तस्यैव सन्ध्यारुधिराऽऽस्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥

श्रीहर्षकृत सन्ध्यावर्णन का यह अन्यतम पद्य है। कवि सन्ध्याकालीन रक्त आभा तथा तारापुञ्ज के उदय का रहस्य समझा रहा है। वह कह रहा है कि कालरूपी किरात ने विकसित कमल से मण्डित दिवसरूपी हाथी को, जिसके सूँढ़ पर लाल रंग के बिन्दु चमक रहे थे (स्फुटपद्मकस्य), मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या की-शोभा के रूप में रुधिर की धारा दीख पड़ती है तथा आकाश में उदय लेने वाले तारक हाथी के मस्तक से बिखरे हुए मोती हैं। इससे अधिक असत्य घटना हो ही क्या सकती है? सन्ध्या की स्वाभाविक लाल शोभा को खून के रूप में तथा टिमटिमाते तारा को मोती के रूप में जिनकी आँखें देख सकती हैं उन्हें, हम इतना ही कहेंगे, कि उन्हें देखना नहीं आता। असत्य की पराकाष्ठा ही हो गई है। इसी असत्यता के कारण ही सत्य के प्रेमी आलोचक काव्य की खिल्ली उड़ाते हैं।

काव्यतथ्य

इस आरोप के परिहार के अवसर पर हमारा निवेदन है कि असत्य नामक वस्तु काव्य में होती नहीं, काव्य में वर्णित वस्तुओं की अपनी एक विशिष्ट सत्ता है। काव्यतथ्य भी उसी प्रकार उपादेय तथा प्रामाणिक है जिस प्रकार बाह्यजगत् का वस्तुसत्य या वस्तु का यथार्थ रूप। विज्ञान में वस्तु का सच्चे रूप में हमें दर्शन मिलता है, परन्तु काव्य में वस्तु के एक दूसरे पहलू का हमें ज्ञान होता है। पहला रूप यदि समीक्षण तथा तत्त्वनिरूपण पर आश्रित रहता है, तो दूसरा रूप कवि की निजी अनुभूति के आधार पर प्रकटित वस्तु की रसात्मक प्रतीति पर अवलम्बित रहता है। दोनों रूप सत्य हैं। इसका विशेष विवरण अन्यत्र प्रस्तुत किया जायगा। राजशेखर इतनी दूर न जाकर इतना ही कहते हैं—

> नासत्यमस्ति किञ्चन काव्ये स्तुत्यर्थमर्थवादोऽयम्।
> स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥

अर्थात् काव्य में कोई भी वस्तु असत्य नहीं होती; जो सत्याभास के समान प्रतीत होता है वह वस्तुतः अर्थवाद होता है जो किसी विशिष्ट वस्तु की स्तुति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह केवल कविकर्म में ही विद्यमान नहीं रहता, प्रत्युत वेद में, शास्त्र में तथा लोक में भी दृष्टिगोचर होता है। अर्थवाद विधि की प्रशंसा के लिए ही प्रयुक्त होता है। वैदिक कर्मकाण्ड में विधि के साथ अर्थवाद का अखण्ड साम्राज्य विद्यमान रहता है। अर्थवाद कहाँ नहीं है! वैदिक अर्थवाद देखिए—

> पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
> शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।

—ऐतरेय ब्राह्मण ७

यह श्लोक ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः शेप आख्यान से सम्बन्ध रखता है। रोहित अपने पितृचरण राजा हरिश्चन्द्र की उदरव्याधि की बात सुनकर जंगल से घर लौट रहा है। रास्ते में इन्द्र उससे मिलते हैं और इस पद्य के द्वारा उसे लौटाकर संचरण करने का उपदेश देते हैं—संचरण करनेवाले व्यक्ति के दोनों जंघे पुष्प के समान खिल उठते हैं। उसकी आत्मा फल-ग्रहण करने में समर्थ बन जाती है। श्रम के द्वारा नष्ट किए जानेपर उसके सब पाप सो जाते हैं। अतः चरैवेति—अतः सदा संचरण करना ही श्रेयस्कर

होता है। इस मन्त्र में जंघों को पुष्पिणी (पुष्प के सम्पन्न) मानना क्या असत्यार्थ का अभिधान नहीं है? श्रम के द्वारा पापों को नष्ट होकर सो जाने की बात क्या सत्यार्थ का प्रतिपादन है? स्पष्टतः यहाँ भी वही 'असत्यार्थाभिधान' का दोष विद्यमान है। पर इस अभिधान का निजी स्वारस्य है। यह परिश्रमी अनलस उद्यमी संचरणशील व्यक्ति के स्वभाव की प्रशंसा कर रहा है और यही स्तुति ही इसका चरम तात्पर्य है।

शास्त्रीय अर्थवाद

आपः पवित्रं परमं पृथिव्याम् अपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥

व्याकरण की स्तुति में यह पद्य प्रयुक्त हुआ है। पृथिवी में सब से पवित्र वस्तु है जल और जलों में सबसे पवित्र पदार्थ है मन्त्र। इन त्रिविध मन्त्रों में— साम, ऋक्, यजुः में महर्षि लोग व्याकरण को परम पवित्र मानते हैं। मन्त्रों में व्याकरण को पवित्र बतलाने की बात क्या 'असत्यार्थाभिधान' नहीं है? परन्तु इस पद्य का तात्पर्य व्याकरणशास्त्र की प्रचुर प्रशंसा है। अतः यह शास्त्रीय अर्थवाद का जीता-जागता नमूना है। इसी प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि की यह उक्ति भी अर्थवादरूप है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।

—पस्पशाह्निक।

जो शब्द के प्रयोग का ज्ञाता व्यक्ति व्यवहार के समय शब्दों का यथावद् प्रयोग करता है वह दूसरे लोक में अनन्तकाल तक जय प्राप्त करता है परन्तु अपशब्द—अशुद्ध पदों के प्रयोग करने से वही दोष का भागी बनता है। स्पष्टतः इस पद्य का तात्पर्य व्याकरणशास्त्र की स्तुति ही है। इसी प्रकार लोक में भी किसी व्यक्ति को किसी कार्य-विशेष के लिये उद्यत तथा तत्पर बनाने के लिये अर्थवाद का प्रयोग बहुलता के साथ किया जाता है। जो वस्तु इतनी व्यापक है कि उसके प्रभाव से न तो लोक ही अछूता बचा है न शास्त्र और न श्रुति, उसी का कीर्तन करनेवाला काव्य 'अस्पृश्य' क्योंकर माना जा सकता है? अतः इस दोष का आरोप कविजनोंपर कथमपि नहीं किया जा सकता।

(२) असदुपदेशक काव्य

काव्य अशोभन, नीतिमत्ता से विरहित वस्तु का उपदेश दिया करता है। अतः काव्य का उपदेश नितान्त वर्जनीय है।

असदुपदेशकत्वात् तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्।

इस पक्ष के समर्थक आलोचक अपने मत की पुष्टि में काव्य के अनैतिक वर्णनों का संग्रह उपस्थित करते हैं। कवि सदा नैतिक बातों की ही चर्चा अपने काव्य में नहीं करता, वह सदा शोभन–शिवं–पदार्थ की ही व्याख्या में संलग्न नहीं रहता, वह अनेक अशोभन, सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय आदर्शों को अपने काव्यों में प्रस्तुत कर साधारण जनों का मनोरञ्जन किया करता है। क्या यह समाज के हितैषी का कार्य है? देखिए एक सुकवि की कविता, जिसमें एक वृद्धा कुलटा अपनी सती पुत्री के शोभन आचरण की समीक्षा कर अपना आदर्श प्रस्तुत कर रही है—

वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनः परिणता—
वपीच्छामो वृद्धान् परिणयविधेस्तु स्थितिरियम्।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुमनेनैकपतिना
न नो गोत्रे पुत्रि! क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत्॥

हे पुत्रि! तुम क्या कर रही हो? भला एक पति के साथ तुमने जीवन बिताने का यह संकल्प क्यों कर लिया है? क्या हमारा आदर्श नहीं जानती? हमारे विवाह की दशा तो देखो। बालकपन में हम बच्चों को चाहती हैं, युवावस्था में युवकों के साथ रमण करने की इच्छा रखती हैं और इस बुढ़ापे में भी वृद्धों को चाहती हैं। ऐसे आचरण के लिए विवाह बन्धन ही है—एक पति के साथ इस लम्बे जीवन को काटना नितान्त कष्टकर व्यापार है। हे पुत्रि! मैं अपने कुल की सच्ची बात तुम से कह रही हूँ। मेरे कुल में सती होने का कलंक कभी भी नहीं लगा है। यह पहला अवसर है कि तुम इस कुल-मर्यादा को तोड़कर सती बनने का कलंक हमारे पवित्र कुल में लगाने के लिए उद्यत हो!!! सुना आपने कुलटा का यह पवित्र चरित्र—यह अनुकरणीय आदर्श!! यदि हमारा ललनावर्ग इस ललित उपदेश को अपने जीवन का महामन्त्र बनाए, तो हमारे समाज की गति क्या होगी?

संस्कृत के कवियों के ऊपर यह दोषारोपण कुछ ही मात्रा में चरितार्थ हो सकता है, परन्तु हमारे मध्ययुगी हिन्दी-काव्यों के ऊपर तो यह आरोप विशेषमात्रा में सत्य सिद्ध होगा। जहाँ विलासी नरेशों की कामवासना का उत्तेजन ही कविता का मुख्य उद्देश्य माना जाता था वहाँ इस दोष का सद्भाव न होगा तो कहाँ होगा? मध्यकालीन हिन्दी-काव्यों में नायिका भेद का विशेष वर्णन भी इसीलिए निन्दा का भाजन माना जाता है। हमारे कविजन नायिकाओं के नानाप्रकार के विभेदों के वर्णन से न तो विरत होते थे और न नये-नये प्रकारों की उद्भावना में ही उनकी प्रतिभा ढीली पड़ती थी। फलतः हिन्दी में एक विशाल साहित्य उठ खड़ा हुआ है जिसपर नवीन आलोचक सदा अपनी उँगली उठाता है और उसे सभ्यसमाज के सामने सम्मान के स्थान से गिराने का उद्योग करता है।

समाधान

इस आरोप का सुन्दर उत्तर हमारे आलोचकों ने दिया है। राजशेखर का कहना बहुत ही उपादेय है कि लोकयात्रा—कविवचन का आश्रय लेकर स्थिर रही है 'कविवचनायत्ता लोकयात्रा'। काव्य पढ़कर हम अनेक अज्ञात पदार्थों तथा घटनाओं के स्वरूप को भलीभाँति समझ सकते हैं। यदि कवि चापलूस दरबारियों से चारों ओर घिरे हुए रंगीले राजा साहब का वर्णन हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करता, तो राजदरबार के पिछले जीवन का परिचय कहाँ से हमें मिलता? शोभन तथा अशोभन वस्तुओं की दीर्घ परम्परा की ही संज्ञा 'संसार' है। कवि शोभन वस्तुओं के ही चित्रण में व्यस्त हो, तो अशोभन का परिचय ही हमें कैसे मिलेगा? अतः काव्य में अशोभन की भी झाँकी रहती है अवश्य, परन्तु यह उपदेश है निषेध्य रूप से, विधेय रूप से नहीं—'अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन' इति यायावरीयः (राजशेखरः)।

राजशेखर से कई शताब्दी पूर्व ही रुद्रट ने भी इस आरोप का अपनयन बड़े ही मार्मिक रीति से किया था। वे कहते हैं कि कवि को अपने काव्य में न तो परदारा का उपदेश देना चाहिए और न स्वयं उनकी कामना करनी चाहिए। क्योंकि यह कर्तव्यकर्म नहीं है जिसका उपदेश कवि के विपुल कार्यक्षेत्र के भीतर आता है। परन्तु वह केवल काव्य के अंग होने के कारण उनका ही वर्णन करता है। काव्य जीवन के नाना पक्षों का स्पर्श करता है।

ऐसी दशा में जीवन के इस कामपक्ष के वर्णन का अभाव काव्य में महती त्रुटि होगी। अतः ऐसे वर्णनों के लिए कवि दोष का भाजन नहीं बनता—

> नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या।
> कर्तव्यतयाऽन्येषां न तदुपायो विधातव्यः॥
> किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
> आराधयितुं विदुषो न तेन दोषः कवेरत्र॥

(काव्यालंकार)

कवियों के ऊपर ही यह आरोप क्यों ? आरोप का प्रधान पात्र इस विषय में यदि कोई है तो वह हैं स्वयं महर्षि वात्स्यायन जिन्होंने कामसूत्र में 'पारदारिक' नामक एक स्वतन्त्र अधिकरण का ही निर्माण किया है। महर्षि की करुणा ही इस विषय में दोषी ठहर सकती है जिसने गृहस्थों की आत्मरक्षा तथा चरित्र-रक्षण के लिये इस अधिकरण-रचना की प्रेरणा दी।

वात्स्यायन का कथन बड़ा ही स्पष्ट है—

> संदृश्य शास्त्रतो योगान् पारदारिकलक्षितान्।
> न याति छलनां कश्चित् स्वदारान् प्रति शास्त्रवित्॥
> पाक्षिकत्वात् प्रयोगाणामपायानां च दर्शनात्।
> धर्मार्थयोश्च वैलोम्यान्नाचरेत् पारदारिकम्॥
> तदेतद् दारगुप्त्यर्थमारब्धं श्रेयसे नृणाम्।
> प्रजानां रक्षणायैव न विज्ञेयो ह्ययं विधिः॥

—कामसूत्र ५।६।२

(३) असभ्यार्थक काव्य

तीसरा आरोप है अशिष्ट अर्थ का प्रवचन।

> असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्।

असभ्य अर्थ का अभिधान काव्य में सैकड़ों स्थानोंपर उपलब्ध होता है, परन्तु क्या सभ्यता तथा शिष्टता के विरुद्ध अर्थों का वर्णन कभी क्षन्तव्य हो सकता है ? राजशेखर का उत्तर इस विषय में बड़ा ही सीधा-सादा है— प्रक्रममापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः। असभ्य भी अर्थ वर्णनक्रम में आनेपर उपेक्षणीय नहीं होता। ऐसे अर्थ से घबड़ाने की जरूरत ही क्या है ? क्या

वेद या शास्त्र में प्रसंगानुसार यह अर्थ नहीं आता ? आता है और यथायोग्य आता है। तब काव्य के ही ऊपर लगुड़प्रहार क्यों किया जाय ? नीतिमत्ता के उपदेश की दृष्टि से श्रुति तथा शास्त्र का महत्त्व तो काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐसी दशा में क्रम की रक्षा के हेतु कविपर यह दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति सुख से, अनायास ही, होती है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चारों ही पुरुषार्थ काव्य के उदात्त प्रयोजनों के अन्तर्गत होते हैं। अतः काव्य निन्दा का पात्र न होकर श्लाघा का भाजन होता है। महर्षि वाल्मीकि जिस काव्य का आश्रय लेकर लोक तथा परलोक में कीर्तिशाली बन गए, तथा महाभारत की रचना द्वारा सत्यवतीसूनु व्यास ने भी अक्षय कीर्ति अर्जित की, वह सारस्वतवर्त्म, शारदा-मार्ग, किसके लिए वन्दनीय नहीं है ?

> वाल्मीकजन्मा स कविः पुराणः
> कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च !
> यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं
> सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम् ॥

—का० मी०, पृ० २७

(४) काव्य का प्रयोजन

'कला कला के लिये'

काव्य के उद्देश्य की समीक्षा के प्रसंग में पाश्चात्य जगत् का एक मान्य सिद्धान्त है आर्ट फार आर्ट सेक Art for Art's sake 'कला कला के लिये'। इसका अनुमोदन पश्चिमी जगत् के आलोचक तथा भारतवर्ष के भी नवीन समीक्षक इधर करने लगे हैं। हम यदि कला के स्थानपर काव्य को रखें तथा प्राधान्य दृष्टि से काव्य का प्रयोजक रस मानें तो इस सूत्र का अर्थ होगा कि रस ही रस का लक्ष्य है। रसात्मक वाक्य का पर्यवसान रस में ही होता है, उससे किसी बाह्य उद्देश्य की सिद्धि कथमपि नहीं होती। यदि इस सूत्र का यही तात्पर्य माना जाय, तो कोई भी विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

रसोद्बोध के अवसरपर श्रोता तथा द्रष्टा के हृदय में राजस तथा तामस वृत्तियों का सर्वथा तिरस्कार कर सात्त्विक भाव का प्राबल्य सम्पन्न हो जाता

है। जब तक दुःखजनक रजोगुण तथा मोहजनक तमोगुण की प्रधानता बनी रहती है, आनन्दजनक सत्त्वगुण का उदय ही नहीं होता। रस की अनुभूति मुख्यतया आनन्द की ही अनुभूति है, इसका निर्देश हम अनेक स्थलोंपर करते आए हैं। रस का अनुभवकर्ता सामाजिक उस अवसरपर अपनी स्वार्थमूलक वृत्तियों की ही चरितार्थता नहीं मानता, प्रत्युत साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सामाजिक अपने वैयक्तिक सम्बन्ध का परिहार कर समाज के साधारण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने लगता है। फलतः वह द्वैत भावना से ऊपर उठकर अद्वैत भावना में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपनी वैयक्तिक आनन्दानुभूति को साधारण सामाजिक की आनन्दानुभूति में विसर्जित कर देता है। रस ही शिव है, सत्य है तथा सुन्दर है। रस-दशा सर्वदा आनन्दकारिणी, मंगलदायिनी तथा कल्याणजननी है। उस दशा की परिणति के उत्पादक समग्र रसोपकरण तथा रससामग्री सत्य, शिव तथा मंगल की अभिव्यक्ति के कारण नितान्त उपादेय तथा श्लाघनीय होती है। रसोद्बोधक कोई भी वस्तु अमंगलकारिणी नहीं हो सकती। रस के उन्मेष में कारणभूत काव्य के समग्र उपकरण इसी निमित्त से ग्राह्य तथा अनुग्राह्य होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सूत्र कथमपि आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होता। परन्तु इस सिद्धान्त के उदय का इतिहास बतलाता है कि इसके उद्भावकों की दृष्टि में इस सूत्र का आशय कुछ दूसरा ही था।

सिद्धान्त का उदय

गत शताब्दी के मध्यकाल में इस सिद्धान्त का उद्गम फ्रान्स के साहित्याकाश में हुआ। और यह उदय हुआ प्रतिक्रिया के रूप में। यूरोप में प्लेटो से आरम्भ कर ग्वेटे तथा मेथ्यू आर्नाल्ड तक कला तथा नैतिकता का अभेद्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इन मान्य प्राचीन आलोचकों की दृष्टि कला को नैतिकता के क्षेत्र से कभी बहिष्कृत नहीं देखना चाहती। नैतिकता की दृढ़ आधारशिला पर ही कला का विशाल किला खड़ा रहता है तथा नैतिकता के आधार के तिरस्कार के साथ ही यह किला ताश के किले के समान जमीन पर गिरकर टूक-टूक हो जाता है। प्राचीनों के इस पारस्परिक सम्बन्ध के दृढ़ आग्रह से ऊबकर उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय आलोचकों ने, विशेषतः फ्रान्स के नैसर्गिकवाद (Naturalism) तथा यथार्थवाद (Realism) के प्रचारक जोला, फ़्लाउवर आदि लेखकों ने इस सिद्धान्त को अग्रसर किया कि कला का उद्देश्य कला ही है।

कला का उद्देश्य

अभिव्यञ्जनावादी (Expressionist) आलोचकों का कथन है—अभिव्यञ्जना ही कला का विशुद्ध रूप है। कलाकार अपने विशिष्ट माध्यम के द्वारा अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति कर देता है। इतने में ही उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। उसके कार्य का पर्यवसान होता है अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना में। समाज तथा व्यक्ति के ऊपर इस अभिव्यञ्जना के प्रकट या गुप्त प्रभाव की मात्रा को न तो वह ढूँढ़ता है और न उसे ढूँढ़ निकालने की जरूरत होती है। कलाकार उस कोयल के समान है जो वसन्त की मस्ती में झूमती हुई डालियों पर बैठकर आनन्द से चहक उठती है। उसका चहकना किसके हृदय-भार को कम करने में समर्थ होगा अथवा किस विरही के चित्त में वियोग की आग भड़काने में चमक उठेगा? इसके विचार करने का न तो उसे समय है और न आवश्यकता। कलाकार का भी यही विशुद्ध स्वरूप है। वह बाह्य जगत् की स्वीय अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना करके ही अपना काम समाप्त कर देता है। कला का बस इतना ही कार्य है, इतना ही उद्देश्य है। अतः इन आलोचकों की दृष्टि में कला का उद्देश्य और कुछ न होकर स्वतः कला ही होती है। कला में सत्य की परिणति रहती है।

वाल्टर पेटर (इस मत के प्रधान अंग्रेजी आलोचक) की सम्मति में सत्य का निवास होता है अपनी अनुभूति की यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति में ही। कलाकार का यही कर्तव्य है और इतना ही कर्तव्य है—अभिव्यञ्जना की यथार्थता। अभिव्यञ्जय वस्तु के सत्यासत्य के विषय में विचार करना उसके क्षेत्र से बाहर की बात है।

All beauty is in the long run only fineness of truth, or what we call 'expression' the finer accomodation of speech to that vision within.

—Walter Pater

काव्य वस्तु का प्रभाव

इस विषय की विशद व्याख्या करना अपेक्षित है। एक मौलिक प्रश्न प्रथमतः विचारणीय है कि काव्य का उपादान या वस्तु कवि को तथा

पाठक को स्पर्श करती है या नहीं? यदि वर्ण्य वस्तु का लगाव न कवि से ही सिद्ध हो और न पाठक से ही, तो यह हठात् मानना ही पड़ेगा कि कविता का उद्देश्य स्वयं कविता ही है, परन्तु यदि इस सम्बन्ध का संकेत भी दूरतः उपलब्ध हो, तो काव्य के उद्देश्य पर हमें नवीन दृष्टि से विचार करना ही पड़ेगा। पूर्वोक्त प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि वस्तु कवि को भी स्पर्श करती है तथा पाठक को भी।

राजशेखर का स्पष्ट कथन है—**स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्।** कवि जिस स्वभाव का होता है *तन्निर्मित काव्य भी उसके ही अनुरूप होता* है। यदि काव्य की देहली पर कामवासना के कमनीय कुसुमों के द्वारा कन्दर्पदेव की ही अर्चना दीख पड़ती है अथवा पुरुषत्वनाशक जघन्य लोल वासना का ही नग्न नृत्य दृष्टिगोचर होता है तो मानना पड़ेगा कि कवि के चित्त में भी ये ही गर्हणीय वासनाएँ भरी पड़ी हैं। कोयले की खान से कोयला ही निकलता है, और सोने की खान से सोना।

काव्य के वस्तु का धर्म पाठक को समधिक भावेन स्पर्श करता है। पाठक के हृदय में रसोन्मेष ही भारतीय आलोचकों के द्वारा निर्धारित तथ्य है। भाव के ऊपर ही आश्रित होकर काव्य में रस उन्मीलित होता है। भरतमुनि का स्पष्ट आदेश है—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः

—नाट्यशास्त्र

कोई भी रस भाव से वर्जित नहीं हो सकता अथवा कोई भी भाव रसविहीन नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि कितना भी रसोन्मेष से विलसित काव्य हो उसमें भाव का स्पर्श होगा ही अथवा भाव-प्राधान्य काव्य में रस का सम्पर्क अत्यल्प-मात्रा में भी होता ही है। पण्डितराज जगन्नाथ के कथनानुसार—

'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः'

रतिप्रभृति भाव द्वारा अविच्छिन्न या विशिष्ट हुए बिना चित्-सत्ता कभी रसरूप में प्रकाशित नहीं होती। रस में भावावच्छिन्नता या भाव-वैशिष्ट्य की सत्ता का होना नितान्त आवश्यक होता ही है। रस का विशुद्ध रूप कितना भी अलौकिक, लोकातीत क्यों न हो, उसे भाव का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। और यह भाव आश्रित रहता है वस्तु पर। संसार

नाना पदार्थों की संघटना तथा परस्पर सम्पर्क से जायमान ललित लीलाओं का अथवा गर्हणीय क्रीडाओं का एक विलक्षण सामूहिक अभिधान है। इन्हीं वस्तुओं को अवलम्बित कर कवि भावों की सृष्टि करता है। ऐसी दशा में हम ज़ोर देकर कह सकते हैं कि काव्य-वस्तु पाठकों का केवल स्पर्श ही नहीं करती, प्रत्युत विलक्षण रूप से उनके मनस्तल को आलोडित करती है। काव्य में वर्णित वस्तु पाठक के हृदय को नैराश्य के प्रचंड झंझावात से कभी उद्विग्न कर देती है और कभी आशा की स्निग्ध चन्द्रिका के उदय से उसे शीतल तथा सजीव बना देती है। कभी उसका हृदय धनिकों तथा समर्थों के उत्पीड़न के शिकार बने निर्धन तथा आर्त पुरुषों के अश्रान्त करुण चीत्कार से उद्दीप्त हो उठता है, तो कभी ममतामयी माता के वात्सल्य गंगाजल से धुलकर उज्ज्वल तथा शान्त बन जाता है। काव्य की वस्तु पाठकों को बिना आलोडित या प्रभावित किए बिना क्षणभर भी स्थिति लाभ नहीं कर सकती। हम रस की गंभीर अनुभूति वाले मस्त मौला मर्मज्ञों की बात नहीं करते। उनकी रसदशा स्वतन्त्र होती है तथा चिरस्थायी होती है, परन्तु साधारण पाठकों की रसदशा क्षणिक होती है। रस के अनुभूतिकाल में सत्त्वगुण तम तथा रज को दबाकर अपना स्वातन्त्र्य बनाए रहता है तथा आनन्द की चरम अनुभूति होती है। रसदशा के पर्यवसान में केवल आनन्द की स्मृति शेष रह जाती है और बच जाती है केवल भावों की अनुभूति। इस भावानुभूति की तीव्रता तथा शोभनता के निमित्त वस्तु की शोभनता नितान्त आवश्यक होती है। सद्-वस्तु का इसीलिये उत्कृष्ट प्रभाव पाठकोंपर पड़ता है। काव्यवस्तु की अशोभनता कथमपि वाञ्छनीय नहीं होती। वस्तु की सद्रूपता, उपादेयता तथा ग्राह्यता के ऊपर इसीलिये कवि को सर्वदा ध्यान देना आवश्यक होता है।

कवि की सृष्टि

साहित्य समाज का दर्पण है और समाज साहित्य की कृति है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विश्वसाहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि शोभन-साहित्य सुन्दर समाज की रचना में कृतकार्य होता है तथा औदार्यपूर्ण समाज सत्साहित्य की प्रेरणा का विमल निदान होता है। कवि सामाजिक प्राणी है—वह अपनी सत्ता, स्थिति तथा समृद्धि समाज का श्लाघ्य अंग बनकर ही पा सकता है। कवि समाज की एक कमनीय कृति

है। कवि अपने समाज का प्रतिनिधि होता है। इसी प्रकार वह समाज का स्रष्टा भी होता है। कवि अपने हाथ में हिंसा तथा विद्रोह, विनाश तथा वैर को प्रेरित करनेवाले साहित्य को लेकर समाज को सभ्यता के अधःपतन की ओर ले जाने में समर्थ होता है। दूसरी ओर कवि त्याग तथा औदार्य, शौर्य तथा औदात्य के प्रेरक साहित्य के द्वारा समाज को अधिक त्यागशील तथा उदार बनाकर उसे उद्दीप्त तथा तेजस्वी बनाता है। आदर्श कवि कविता में ऐसे पदार्थ का निर्वाचन करता है, जो समाज में प्रेम तथा त्याग का महनीय आदर्श प्रस्तुत करता है, श्रेय तथा प्रेय का मञ्जुल सामरस्य प्रस्तुत करता है और आदर तथा श्रद्धा की समधिक वृद्धि करता है।

कवि का प्रधान कार्य है आत्मचैतन्य को प्रबुद्ध करना। सुप्त आत्मचैतन्य की भावना समाज को जड़, अलस तथा निरुद्यम बनाकर उसे अवनति के गर्त में ढकेल देती है। साहित्य आत्मचैतन्य को प्रबुद्ध कर उसे बलवान् बनाता है, ओजस्विता से मण्डित करता है तथा सामर्थ्य-शक्ति का उन्मीलन करता है। समाज को सुगठित करने में कवि की महत्वशालिनी लेखनी अपना जौहर दिखाने में कभी चूक नहीं करती। उसके अदम्य प्रभाव के प्रवाह को समाज रोक नहीं सकता। कवि अपने विचारालोक से आच्छन्न होकर स्वतः स्वच्छन्द वृत्ति से ऐसी गीतिका के गायन में प्रवृत्त होता है जिससे समस्त विश्व आशा तथा भय के द्वारा सहानुभूति की ओर अग्रसर हो जाता है जिसका अब तक उसे तनिक भी ध्यान नहीं था। इस दृष्टि से वह एकान्त में चहकने वाले तथा विश्व में शान्ति तथा प्रेम का सन्देश सुनाने वाले कोकिल के नितान्त सदृश है। महाकवि शेली ने इस प्रख्यात पद्य में बड़ी सुन्दरता से स्वानुभूति अभिव्यक्त की है—

Like a Poet hidden
In the light of thought,
Singing hymns unbidden
Till the world is wrought
To sympathy with hopes and fears
it heeded not,

जगती कविवाणी के प्रभाव के प्रसार की लीलाभूमि है। समाज कविवाणी के द्वारा उन्मीलित प्रेम तथा आशा, दया तथा औदार्य के प्ररोह का उर्वर

क्षेत्र है। ऐसी दशा में कवि को अपनी वस्तु के लिये सदा सतर्क रहना चाहिए। निकृष्ट उपादान से उत्कृष्ट भाव की सृष्टि एकदम असम्भव है। क्या समाज के लिए हेय तथा अग्राह्य उपकरण से उच्च काव्य की कथमपि सृष्टि हो सकता है? काव्य का लक्ष्य अध्यात्म के रहस्य ही श्रेयस्कर की सृष्टि है और यह तभी साध्य है जब समाज के शोभन उपकरणों का योग कवि अपने काव्य में करता है। ऐसी दृष्टि से काव्य का अन्तिम लक्ष्य काव्य नहीं हो सकता।

काव्य का द्विविध पक्ष

ध्यान देने की बात है कि काव्य के दो ही पक्ष होते हैं—सुन्दर तथा कुरूप। कवि की दृष्टि सदा सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तु के रूपरंगों में हो अथवा मनुष्य के मन, वाणी तथा कर्म में हो। कवि की अन्तर्दृष्टि सौन्दर्य को निरखती है और उसकी वाणी उसी की अभिव्यक्ति सुन्दर शब्दों के द्वारा करती है। भला-बुरा, मंगल-अमंगल, पाप-पुण्य—आदि शब्द नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से सम्बद्ध शब्द हैं। ये काव्यक्षेत्र से बाहर रहते हैं। विशुद्ध काव्य के क्षेत्र में न कोई वस्तु भली होती है न बुरी, न उपयोगी होती है, न अनुपयोगी। कवि केवल दो ही बातों पर ध्यान देता है कि वह सुन्दर है या कुरूप। मंगल वस्तु या सुन्दर वस्तु में कथमपि अन्तर नहीं होता। धार्मिक जिस वस्तु को अपनी दृष्टि से मंगलमय मानता है उसे ही कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर समझता है। दृष्टिभेद होनेपर भी वस्तु का रूपगत भेद नहीं होता। कवि के इस दृष्टि-विशेष पर ध्यान देने से अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाता है :—काव्य सत् होता है या असत्? कवि प्रचारक होता है या उपदेशक? काव्य का नीति से ऐकमत्य है या वैमत्य? जो सुन्दर है वही शिव है, वही सत्य है।

कवि के इस वैशिष्ट्य पर लक्ष्य रखने से काव्य सौन्दर्य से युक्त होने से ही मंगलमय होता है। सौन्दर्य मंगल का प्रतीक है। सौन्दर्य सत्य का प्रतिनिधि है। काव्य में जितने प्रकार के सौन्दर्य का एकत्र संविधानक प्रस्तुत किया जाता है वह उतना ही रमणीय तथा आवर्जनीय, प्रभावशाली तथा उत्कर्षाधायक बन जाता है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के चित्रण में अन्तःसौन्दर्य के साथ रूपमाधुरी का सन्निवेश वाल्मीकि की प्रतिभा का सुन्दर विलास है। उदात्त नायक का बाहरी सौन्दर्य उसके अन्तःकरण के सौन्दर्य

का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। प्राकृतिक सौन्दर्य का साहाय्य पानेपर यह सौन्दर्य-गरिमा और भी अधिक विमुग्धकारिणी बन जाती है। सौन्दर्य का चित्रण करनेवाले कवि का काव्य कथमपि अमंगल आदर्श प्रस्तुत नहीं करता। अतः मुख्यतया लक्ष्य न होनेपर भी सत्कवि की वाणी समाज का परममंगल—शाश्वत कल्याण—उत्पन्न किए बिना नहीं रहती।

काव्य को मूलतः जीवन की आलोचना माननेवाले आर्नोल्ड महोदय का भी यही तात्पर्य है। हमने ऊपर कहा है कि काव्य तथा जीवन में घनिष्ठ तथा श्लाघ्य सम्पर्क स्थापित रहता है। कवि अपने सामने प्रस्तुत जीवन के नाना अंशों पर अपनी पैनी दृष्टि डालकर उन्हें अपने काव्य में चित्रित करता है। कवि होता है आदर्शवाद का पक्षपाती। काव्य में यथार्थवाद की ओर इधर विशेष पक्षपात दृष्टिगोचर हो रहा है, परन्तु कवि वस्तु के हेयपक्ष का ग्रहण न कर उसके ग्राह्यपक्ष का ही अनुरागी होता है। पाठक काव्यनिबद्ध वस्तु के अनुशीलन से अपनी दशा का सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलना करता है तथा अपने जीवन को उदात्त एवं मंगलमय बनाने के लिये अभ्रान्त परिश्रम करता है। इस प्रकार काव्य जीवन का मूलतः आलोचन ही होता है—

Poetry is at bottom a criticism of life; the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question: How to live.

नैतिकता उदात्त कविता की जीवनी शक्ति है। नैतिक भावना से विद्रोह करनेवाली कविता वस्तुतः जीवन से विद्रोह करनेवाली कविता है। नैतिक भावना का अवहेलनामय काव्य जीवन के प्रति अवहेलनात्मक काव्य है—

A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt towards life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life. —M. Arnold.

काव्य और जीवन

कविता जीवन की मनोरञ्जिनी व्याख्या है। कवि पदार्थों के सौन्दर्यपक्ष तथा अध्यात्मपक्ष का ग्रहण कर अपने काव्य में निबद्ध करता है। पदार्थों का

हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा हम किस प्रकार उस प्रभाव को व्यक्त करते हैं—इसका स्पष्टीकरण काव्य के द्वारा होता है। काव्य के प्रभाव को व्यापक, दूरगामी तथा विशाल बनाने के आशय से कवि को वस्तु-निर्वाचन की ओर सावधानी रखनी चाहिए। तुच्छ तथा क्षुद्र विषय-पर प्रतिभा के सहारे कविता करनेवाले कवियों की रचनाएँ क्षणिक मनो-रञ्जन से अधिक मूल्य नहीं रखतीं। शाश्वत प्रभाव उसी काव्य का पड़ता है जिसका विषय अधिक से अधिक प्राणियों के अन्तस्तल को स्पर्श करता है तथा शाश्वत मानसवृत्ति का चित्रण करता है। इस प्रसंग में प्रगति-वादी आलोचकों का अपना एक पक्ष है। उनकी दृष्टि में काव्य या कला का मुख्य उद्देश्य यही है कि वह आढ्यों तथा सम्पन्न पुरुषों के द्वारा निर्धनों तथा निरीहों के ऊपर किए गए अत्याचारों का स्फूर्तिमय विवरण प्रस्तुत करती है। उनका तो यहाँ तक बढ़ कर कहना है कि जो काव्य इस प्रचारकार्य में योगदान नहीं देता वह काव्य ही नहीं है। इस सम्प्रदाय के एक आलोचक की तो यहाँ तक सम्मति है कि वर्तमानकाल में लिखित कोई भी ग्रन्थ शोभन नहीं हो सकता, यदि वह मार्क्सीय अथवा प्रायः मार्क्सीय दृष्टि से नहीं लिख गया हो[१]। दूसरे आलोचक का कहना है कि कला श्रेणी-संग्राम का एक विशिष्ट यन्त्र है जो दरिद्र श्रमिक-संघ के द्वारा उनके अन्यतम अस्त्र के हिसाब से अनुशीलित होना चाहिए।[२] इन युक्तियों को पढ़कर यही प्रतीत होता है कि कला या कला के उद्देश्य की हत्या और अधिक नहीं हो सकती। जो कला कुलांगना के समान उद्दीप्त भावभंगी से सम्पन्न होकर राजसिंहासन की शोभा को विकसित करती थी वही अब दरिद्रता के पंक से मलिन वे ललना के कार्य-सम्पादन के निमित्त उपयोग में लगाई जा रही है। 'कला कला के लिये' इस सिद्धान्त तक तो गनीमत थी, परन्तु अब 'कला प्रचार के लिये' यह सिद्धान्त तो कला के कोमल उद्देश्य पर भीषण तुषारपात है तथा उसके पवित्र लक्ष्य की निर्मम हत्या है !!!

---

१. No book written at the present time can be 'good', unless it is written from a Marxist or near-Marxist point of view.
—Upward : The Mind in Chains.

२ Art, an instrument in class struggle, murt be developed by the Proletariat as one of its weapons.
—Freaman : Proletarian Litrature in U. S. A.

भारतीय आलोचकों ने काव्य का उद्देश्य उभय प्रकार का बताया है। भरतमुनि का कथन है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

इस पद्य का गम्भीर अर्थ बतलाते हुए अभिनवगुप्त का मार्मिक विवरण है कि नाट्य स्वतः हितकारक नहीं होता, प्रत्युत वह हितकारक प्रतिभा का जनक होता है। क्या नाट्य गुरु के समान उपदेश देता है? क्या नाट्य नीतिशास्त्र के समान साक्षात् रूप से उपदेश प्रदान करता है? अभिनव का स्पष्ट उत्तर है—नहीं, किन्तु बुद्धि को बढ़ाता है; वैसी प्रतिभा का ही वितरण करता है[1]। इसका स्पष्ट आशय यही प्रतीत होता है कि नाट्य श्रोताओं की बुद्धि बढ़ाता है—उनकी प्रतिभा को ही उन्नत कर देता है जिससे वे अपना हितचिन्तन स्वयं करने लगते हैं।

भामह की दृष्टि में साधु-काव्य का निषेवण कीर्ति तथा प्रीति (आनन्द) उत्पन्न करता है। विश्वनाथ कविराज काव्य को चतुर्वर्ग की प्राप्ति का सुगम साधन स्वीकार करते हैं। काव्य के द्वारा मानव जीवन के चारों लक्ष्य, चतुर्विध पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की उपलब्धि अनायास होती है। मम्मट के द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्यों का विश्लेषण करने से काव्य के द्विविध प्रयोजन प्रतीत होते हैं—मुख्य तथा गौण। इनमें मुख्य प्रयोजन है—सद्यः परनिर्वृति; काव्यपाठ के समनन्तर सद्यः उत्पन्न होनेवाला सातिशय आनन्द। यही उद्देश्य 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' माना गया है। काव्य-पाठ से तुरन्त होनेवाला अलौकिक आह्लाद ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है। गौण प्रयोजन अनेक हैं जिनमें यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, विघ्ननाश तथा कान्तासम्मित उपदेशदान प्रधान हैं। काव्य नीतिशास्त्र के समान रूखा-सूखा उपदेश देने में ही अपनी कृतकार्यता नहीं मानता। सरसता के साथ उपदेश देना ही काव्य का प्रयोजन है, परन्तु यह भी अमुख्य प्रयोजन है। श्रोता तथा पाठक के हृदय में अलौकिक आनन्दमय रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। आरम्भ में कहा गया है कि इस रसोन्मेष के सिद्धान्त से काव्य की

---

१. ननु किं गुरुवद् उपदेशं करोति। नेत्याह। किन्तु बुद्धिं विवर्धयति स्वप्रतिभामेवं तादृशीं वितरतीत्यर्थः।

—अभिनवभारती, १ खण्ड, पृ० ४१

मांगलिकता तथा कल्याण-परायणता पर तनिक भी आँच नहीं आती। मम्मट का यह प्रतिपादन काव्य के द्वितीय प्रयोजन की ओर संकेत करता है:—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥

—काव्यप्रकाश १।२

काव्य की व्यवहारक्षमता

काव्य व्यवहार-ज्ञान का साधन ही नहीं है, प्रत्युत वह व्यवहार का सर्वश्रेष्ठ प्रेरक भी है। मानवमात्र को व्यवहार के क्षेत्र में प्रवृत्त करनेवाले साधनों में ज्ञान की ही प्रभुता अधिक मानी जाती है। जनसाधारण ज्ञान को ही व्यवहार का प्रेरक उपाय मानते हैं, परन्तु ज्ञान की अपेक्षा भाव या वासना की ही प्रभुता इस विषय में सर्वापेक्षा महत्त्वशालिनी होती है। कर्म की गतिविधि के समीक्षक नैयायिकों का यह मान्य सिद्धान्त है—जानाति, इच्छति, यतते अर्थात् ज्ञान, इच्छा तथा कृति—यही मनोविज्ञान की दृष्टि से उपादेय क्रम है। ज्ञान से कृति की साधना सद्यः नहीं होती, क्योंकि दोनों के अन्तराल में 'इच्छा' की विकट घाटी पड़ी हुई है। ज्ञान के कार्यों को भी यदि अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखा जाय तो उसके भी भीतर भाव या वासना का गुप्त संकेत क्रियाशील रूप से अवश्य उपलब्ध होगा। बड़े घुटे हुए राजनैतिक नेताओं के क्रियाकलाप को जनसाधारण अकसर ज्ञान की ही प्रेरणा का परिणाम मान लेता है, परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से उसके भीतर अपने देश या राष्ट्र की समुन्नति की भावना, अन्य राष्ट्र से किसी पुराने वैर-भाव के चुकाने की इच्छा, विश्व के कोने-कोने में अपनी चीजों के लिये बाजार ढूँढ़ निकालने की आशा, अपने देश के शिक्षित जवानों को अपने कलाकौशल के जौहर दिखलाने का अभिलाष, राष्ट्रों की दौड़ में पिछड़ जाने की आशंका आदि नाना भावों का विचित्र गंगाजमुनी मेल अवश्यमेव दिखाई पड़ेगा।

ज्ञान स्वभावतः होता है शान्त और वासना होती है मूलतः चञ्चल। ज्ञान पुण्यसलिला भागीरथी के मञ्जुल प्रवाह की समता रखता है और वासना होती है दुर्दान्त सोनभद्र की आकस्मिक भीषण बाढ़ के समान। ठण्डे दिमाग से कोई बात कितनी भी अच्छी तरह से क्यों न सोची जाय

उसके करने के लिये हम तबतक अग्रसर नहीं होते जबतक हमारे हृदय के भीतर वह बात नहीं घुसती। कार्य-सम्पादन के निमित्त मनुष्य अपने भावों में कुछ वेग चाहता है। मानव-हृदय के इस स्वभाव से हमारे राजनीतिक नेता भलीभाँति परिचित होते हैं। जनता को किसी कार्यविशेष के लिये तत्पर बनाने के समय वक्ता उसे तर्क के द्वारा बात समझाने का परिश्रम नहीं उठाता, प्रत्युत अपनी वाग्धारा के प्रभाव से उसके हृदय को उद्रिक्त करने की चेष्टा करता है, भावों को उद्दीप्त बनाने का परिश्रम करता है जिससे उनकी अभीष्ट सिद्धि में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। विदेशी शासन के द्वारा किये गये आर्थिक शोषण का विवरण प्रस्तुत करने के दो मार्ग हैं। एक मार्ग है पूरा लेखा-जोखा देकर अनेक आँकड़ों के सहारे देश की आर्थिक दरिद्रता का युक्तिपूर्वक विवरण। दूसरा मार्ग है उस दरिद्रता के कारण टूटी कुटिया में अपना दिन काटनेवाली किसी बुढ़िया की रोटी के लिये तरसने वाले तथा सड़कपर गिरे टुकड़ोंपर टूट पड़नेवाले छोटे-छोटे बच्चों के करुण रुदन का चित्रण प्रस्तुत करना। पहिला है बुद्धिमार्गी अर्थशास्त्रियों का पन्थ और दूसरा है भावमार्गी कविजनों का रास्ता। कहना न होगा कि दूसरा मार्ग पाठकों के ऊपर विशेष प्रभाव डालनेवाला है जिससे वे देश की दरिद्रता तथा आर्थिक शोषण के समाप्त करने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं अथवा दृढ़ संकल्प कर बैठते हैं।

मनुष्य के भावों को उद्बुद्ध करने के लिये सुप्तभावों को जाग्रत कर वेगवान् बनाने के लिये, सबसे महनीय साधन कविता है। काव्य वह प्रकाश-स्तम्भ है जहाँ से भावरश्मियाँ फूटकर मानव-हृदय को उद्दीप्त तथा जागरूक बनाती हैं तथा व्यवहार के लिये उसे उद्वेलित करती हैं। इसीलिये प्राचीन काल में रणक्षेत्र में विजिगीषु महीपतियों के साथ राजकवि अथवा चारणों के जाने की बात सुनी जाती है। यह राजकवि अवसरविशेषपर अपनी ओज-स्विनी कविता के द्वारा शत्रुओं के उग्र आक्रमण के कारण पैर उखड़ जानेपर भाग खड़े होनेवाले सैनिकों के हृदय में वीरता का भाव भर देता था, रण के प्रांगण में उनके पैर जमा देता था; पराजय को विजय के रूप में परिणत कर देता था। कविता की इस भावोद्रेक शक्ति से परिचित होकर ही महाराज पृथ्वीराज महाकवि चन्द्रवरदाई का घमासान युद्धक्षेत्र में भी कभी संग नहीं छोड़ते थे। अतः काव्य प्राणियों को व्यवहारक्षेत्र में अग्रसर करने की महती शक्ति से संवलित प्रशंसनीय पदार्थ है।

काव्य का उच्च आदर्श

कविता हृदय की विशुद्धि तथा मुक्ति का महनीय उपकरण है। वह हृदय की संकीर्ण दशा को हटाकर उसे मुक्तदशा में परिणत कर देती है। हमारा हृदय अविकसित अथवा अर्धविकसित नानाभावों की क्रीडा-केलि का कमनीय कानन है। सभ्यता की उन्नति केवल ज्ञान की उन्नति में सीमित नहीं रहती, प्रत्युत वह भाव की उन्नति की ओर सद्यः संकेत करती है। मनुष्य केवल ज्ञानक्षेत्र में ही पशुओं से बढ़कर नहीं है, प्रत्युत भावक्षेत्र में भी। सभ्यता का प्रसार ज्ञानप्रसार के साथ-साथ भावप्रसार की भी मनोहर गाथा है। सभ्य मानव पशुओं से इसीलिये बढ़कर नहीं है कि उसका मस्तिष्क उन्नत है; उसका ज्ञानक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, वरन् इसलिये भी कि उसका हृदय उदात्त है, उसका भावराज्य समधिक विशाल है। पशु केवल अपने बच्चों से ही प्रेम करता है, दूसरे पशु के बच्चों को देखकर वह गुर्राता है, मार भगाता है, परन्तु मनुष्य अपने ही बच्चों से प्रेम नहीं करता, प्रत्युत दूसरों के बच्चों को वह अपने प्रेम का भाजन बनाता है। वह मूर्त से बढ़कर अमूर्त से भी प्रेम करता है—स्वदेश की रक्षा के निमित्त शत्रुओं के बाणों का लक्ष्य बनकर अपने प्राण गँवानेवाले सैनिकों के देशप्रेम पर वह रीझता है; पतिपरायण नारी के मुग्धचरित्र पर वह मुग्ध होता है, जाति के उत्थान के लिये अपना सर्वस्व निछावर करनेवाले परोपकारी की उदात्त त्यागभावना पर वह आनन्द से खिल उठता है।

सभ्यता के अभ्युदय के साथ भावों का भी अभ्युदय सम्पन्न होता है, परन्तु परिस्थिति की विषमता के कारण उसके भावों में विषमता, जटिलता तथा संकीर्णता का प्रवेश हो जाता है। वह अपने को भावों की चहारदीवारी से घेरकर संकीर्ण 'स्व' को ही अपना वास्तव रूप समझने लगता है। हृदय की संकीर्णता ही बन्धन है। हृदय की उदारता ही मुक्ति है। जो मनुष्य अपना और पराया के विवेचन के पचड़े में दिन काटता है वह खुले स्थान में रहने पर भी हृदय के कारागृह में निवास करता है, परन्तु जिसका हृदय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मन्त्र की उपासना से शीतल तथा विशाल है, वह मनुष्य हृदय की मुक्ति का आनन्द उठाता है। जिस प्रकार ज्ञानयोग प्राणिमात्र में एक ही परमात्मा की झलक बतलाकर अद्वैत का उपदेश देता है, उसी प्रकार

प्राणिमात्र में रागात्मिका वृत्ति की एकता का प्रतिपादन भावयोग की चरम सीमा है। इस उदात्त भावयोग की सिद्धि काव्य के द्वारा ही होती है।

जिस प्राणी की हृत्तन्त्री दूसरे के आनन्द के अवलोकन से स्वतः बजने लगती है, जिसका हृदय दीन तथा आर्तजनों के करुण क्रन्दन से झटिति पिघल उठता है, जो जगत् के प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य का अनुभव कर उनके हर्ष में हृष्ट, विषाद में विषण्ण, हास्य में प्रसन्न, क्रोध में दीप्त, अनुराग में अनुरक्त होने की कला जानता है वह मानव नहीं, महामानव है। जिसके हृदय को क्षुद्र स्वार्थ की भावना प्रेरित नहीं करती, प्रत्युत परोपकार के नाम पर जिसका चित्त नाच उठता है, जिसके जीवन में का 'स्व' 'पर' के रूप में स्वतः परिणत होकर प्रबुद्ध हो गया है वह मानव के चरम विकास पर पहुँच चुका है।

मनुष्यों को मानवता के इस उच्च स्तर पर पहुँचाना सच्ची कविता का मान्य प्रयोजन है। "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च-भूमि पर ले जाती है। भावयोग की उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का, जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्वहृदय से एकाकार हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है[1]।" इस प्रसंग में प्राचीन पद्य में थोड़ा परिवर्तन कर हम भलीभाँति कह सकते हैं—

अयं निजः परो वेति गणना शुष्कचेतसाम्।
रसभावानुषक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्॥

१—आचार्य रामचन्द्रशुक्ल रसमीमांसा पृ० २५

५—काव्य की 'वस्तु'

काव्य तथा नाट्य में किस प्रकार की वस्तु आधारभूत मानी गई है, जिसके वर्णन या प्रदर्शन से कवि अपनी अभीष्ट सिद्धि में कृतकार्य होता है? इस प्रश्न की मीमांसा करने से हमारे आलोचकों की समधिक उदार तथा उदात्त दृष्टि का पूर्ण परिचय मिलता है।

हमारे आद्य आलोचक भरतमुनि ने नाट्य की उत्पत्ति के अवसरपर नाट्य के स्वरूप की समीक्षा करते हुए इस प्रश्न का विशद उत्तर प्रस्तुत किया है। नाट्य सार्ववर्णिक पञ्चम वेद है जिसके अंगों की रचना त्रैवर्णिक वेदों के विशिष्ट अंशों से ही की गई है। नाट्य का पाठ्य ऋग्वेद से संगृहीत किया गया है, गीति सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से तथा रस अथर्ववेद से। नाट्य को 'सार्ववर्णिक' कहने का यही तात्पर्य है कि इसका क्षेत्र नितान्त विस्तृत तथा व्यापक है, क्योंकि यह सब वर्णों के लिये उपयोगी और उपादेय है। वेदत्रयी के समान इसका श्रवण स्त्री तथा शूद्र जाति के लिये निषिद्ध नहीं है। इस व्यापक तथा विस्तृत क्षेत्र सम्पन्न होने के कारण ही, भरतमुनि ने नाट्य को 'सर्वशास्त्रार्थ[1] सम्पन्न', 'सर्वशिल्प प्रवर्तक',[2] 'नानाभावोपसम्पन्न'[3], 'नानावस्थान्तरात्मक',[4] 'लोकवृत्तानुकरण',[5] 'सप्तद्वीपानुकरण',[6] बतलाया है।

नाट्य की वस्तु के विषय में भरत का मान्य मत है—

> न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
> नासौ योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥
>
> (नाट्यशास्त्र १।११७)

ऐसा कोई ज्ञान—उपादेय आत्मज्ञान आदि—नहीं है, न कोई शिल्प (माला, चित्र, पुस्तक आदि की रचना) है, न ऐसी कोई विद्या (दण्ड-नीति आदि) ही है, न वह कला (गीत, वाद्य, नृत्य आदि) है, न ऐसा

१–२. नाट्यशास्त्र १।१५
३–४. ,, वही १।११२
५. ,, वही १।११३
६. ,, वही १।१२०

कोई योग (योजना) है, और न कोई व्यापार (युद्ध, नियुद्ध आदि) ही है जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता।

भामह का भी काव्य-वस्तु के विषय में इसी प्रकार का सिद्धान्त है—

> न स शब्दो न तद् वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
> जायते यन्न काव्याङ्गम् अहो भारो महान् कवेः।
> (काव्यालंकार ५।३)

विश्व में न कोई ऐसा शब्द है, न कोई अर्थ, न कोई शिल्प है, न कोई क्रिया जो काव्य का उपादेय अंग बनकर उसकी सहायता नहीं करता। कवि का उत्तरदायित्व सचमुच महान् है, विपुल है।

अग्निपुराण काव्यस्रष्टा को जगत्स्रष्टा प्रजापति से तुलनाकर उसके उदात्ततम स्थान तथा महनीय उत्तरदायित्व की ओर संकेत कर रहा है—

> अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।

अपार काव्य संसार के बीच में कवि ही एक प्रजापति है। उसे जैसा रुचता है वैसा ही वह इस विश्व की रचना करता है।

भारतीय आलोचकों की दृष्टि बड़ी उदार तथा प्रशस्त है। वे काव्य तथा नाट्य में किसी भी वस्तु या शिल्प का वर्जन करना नहीं चाहते। विश्व के प्रजापति के समान ही हमारे काव्य के स्रष्टा कवि का सम्माननीय पद है। नीलकण्ठ दीक्षित ने बड़े ही मार्के की बात कही है[1] कि श्रुति परब्रह्म की स्तुति के अवसरपर उन्हें न तो तार्किक बतलाती है और न दार्शनिक। वह 'कवि' शब्द का ही प्रयोग उस सर्वशक्तिमान् के लिये करती है। यह काव्य-कला का समस्त कलाओं तथा दर्शनों के ऊपर विजयघोष है। जगत् में कवि उस अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म का जीवित प्रतिनिधि है। नाट्य वेद के समान आदरणीय, श्रद्धास्पद तथा उपादेय है। ऐसी उदार दृष्टिवाले भारतीय आलोचकों के विचार संकीर्ण तथा अनुदार कथमपि नहीं हो सकते। वे काव्य में किसी भी वस्तु का वर्जन करना पसन्द नहीं करते।

---

१. स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं
काष्ठा परा सा कविता ततो नः॥

जिस आलोचक वर्ग की धारणा है कि भारतीय साहित्य में केवल शोभन, रोचक तथा मनोज्ञ पदार्थों की ही वर्णना है, वे नितान्त भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। भारतीय साहित्य सुखपक्ष तथा दुःखपक्ष दोनों को उचित रूप में अंकित करने में कृतसंकल्प है।

नाट्य और लोकवृत्ति

लोकचरित का अनुकरण ही नाट्य है। लोक के व्यक्तियों का चरित्र न तो एक समान होता है और न उनकी अवस्थाएँ ही एकाकार होती हैं। हम किसी व्यक्ति को सांसारिक सौख्य की चरम सीमापर विराजमान पाते हैं, तो किसी दूसरे को दुःख के तमोमय गर्त में अपना भाग्य कोसते हुए पाते हैं। सुख तथा दुःख, वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, प्रसाद तथा औदासीन्य—इन नाना प्रकार की मानसिक वृत्तियों की विशाल परम्परा की ही संज्ञा 'लोक' है। इन्हीं नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से युक्त, लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य है। तात्पर्य है कि हमारा साहित्यिक किसी विशिष्ट वस्तु को ही अपनी रचना का विषय नहीं बनाता, प्रत्युत वह मुक्तहस्त से प्रत्येक विषय का, चाहे वह क्षुद्र से भी क्षुद्रतम हो अथवा महान् से भी महत्तम हो, समान भाव से स्वागत करने के लिये सदा तैयार रहता है। उसकी दृष्टि में कोई भी वस्तु न तो गर्हणीय है और न हेय। समस्त वस्तु होती है उपादेय तथा उपयोगी। आलोचकों का शास्त्रीय विवेचन तथा कवियों का व्यावहारिक प्रदर्शन इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है।

आनन्दवर्धन का कथन बड़ा ही युक्तिपूर्ण है—

वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य चाङ्गत्वं प्रतिपद्यते। न तदस्ति वस्तु किञ्चित्, यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति। तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्।

जगत् की समस्त वस्तुएँ अवश्य ही किसी न किसी रस का अंग बनती हैं। जगत् में उस वस्तु का सर्वथा अभाव है जो कवि के चित्त में वृत्ति-विशेष को उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि यदि वह वृत्तिविशेष उत्पन्न नहीं करती तो वह कवि के लिये काव्य-विषय ही नहीं बन सकती। आशय है कि पदार्थ की पदार्थता यही है कि साक्षात्कार होनेपर वह कवि के हृदय में कोई विशिष्ट चित्तवृत्ति उत्पन्न करें। नहीं तो उसका होना और न होना एक समान ही है। इस युक्ति से देखनेपर संसार की प्रत्येक वस्तु कवि की वर्णना का विषय

बनती है और किसी न किसी रस का अंग बनती है। रसोपयोगी समग्र उपकरणों का संग्रह कवि के लिये आवश्यक होता है।

धनञ्जय की दृष्टि में काव्य-विषय की इयत्ता नहीं है। कवि की भावना से भावित होनेपर प्रत्येक वस्तु, चाहे वह क्षुद्र हो, रम्य हो, उदार हो, जुगुप्सित हो, रसत्व को प्राप्त कर लेती है। वस्तु के विषय में ही यह तथ्य जागरूक नहीं होता, प्रत्युत अवस्तु—काल्पनिक वस्तु—भी काव्य का विषय बनकर रमणीयता तथा मनोज्ञता प्राप्त कर लेती है—

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचम्
उग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाप्यवस्तु कविभावकभावनीयं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके।

(दशरूपक, ४।८५)

संसार की प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय है। प्रत्येक पदार्थ रस का अंग है। उसके स्वरूप पर बिना दृष्टिपात किए ही कवि अपनी भावना-शक्ति से उनमें ऐसी क्षमता उत्पन्न कर देता है कि वे विशुद्ध आनन्द प्रदान करने लगते हैं। वस्तु की बात तो पृथक् रहे, अवस्तु—कल्पना प्रसूत अप्रसिद्ध अज्ञात वस्तु—भी वही चमत्कार उत्पन्न करती है। चाहिए इसके लिए जादूगर की छड़ी। जादूगर जिस वस्तु के ऊपर अपनी मोहमयी छड़ी फेर देता है वही चीज उछलने-कूदने लगती है, चमत्कार पैदा कर देती है। कवि की भावना-शक्ति की भी यही अलोकसामान्य महिमा है। शक्ति के क्षेत्र के भीतर आते ही पदार्थ में जीवनी-शक्ति आ जाती है, आनन्द उत्पादन करने में विचित्र क्षमता उन्हें प्राप्त हो जाती है। कवि के लिये विषय की अवधि नहीं। इसीलिए भामह आश्चर्य भरे शब्दों में कविकर्म की महिमा उद्घोषित करते हैं—अहो भारो महान् कवेः।

धनञ्जय का यह कथन बड़ा ही सारगर्भित है। वस्तु की बात दूर रहे; जो अवस्तु भी है—कल्पनाजगत् में ही जिसका अस्तित्व विद्यमान रहता है—वह भी कवि की प्रतिभा के बल पर काव्य का विषय बन जाती है और आनन्द उत्पन्न करता है।

नैषधचरित में श्रीहर्ष की इस सुन्दर उक्ति की परीक्षा कीजिए—

अस्य क्षोणिपतेः परार्ध्यपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।

गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरान्—
मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ॥

(नैषधीय चरित १२।१०६)

इस राजा की अकीर्ति परार्ध्य से ऊपरवाली संख्या से गिनी गई है तथा प्रज्ञाचक्षु (अन्धों) के द्वारा दृश्यमान अन्धकार के समान श्यामवर्ण की है। कछुए की स्त्री के दूधवाले समुद्र के किनारे बैठकर बाँझ के पेट से पैदा होनेवाले गूँगों का समुदाय अष्टमस्वर में इन अकीर्तियों का गान करता है !!! इस पद्य में अवस्तु अर्थात् कल्पित वस्तुओं की दीर्घ परम्परा का परस्पर सम्बन्ध उत्पन्न कर कवि श्रोताओं के हृदय को आनन्दरस में लीन कर रहा है। परार्ध्य से ऊपर की संख्या, प्रज्ञाचक्षु के द्वारा दर्शन, अष्टम स्वर, वन्ध्या का पुत्र, मूक का गायन, कूर्मरमणी का दुग्ध—समस्त वस्तुएँ कवि की कमनीय कल्पना से प्रसूत हैं; वास्तवजगत् में इनकी सत्ता विद्यमान न होनेपर कवि की भावना से भावित होते ही उनमें अलौकिक आनन्द उत्पन्न करने की योग्यता उत्पन्न हो गई है। 'योग्यता' की कमी के कारण यह पद्य 'वाक्य' नहीं हो सकता, तथापि यह काव्य है और सुन्दर काव्य है। अतः विश्वनाथ कविराज का यह आग्रह कि रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है अनेक आलोचकों की दृष्टि में निराधार तथा प्रमाणविहीन लक्षण है, कोरी निःसार हठ-धर्मिता ही है[1]।

पश्चिमी मत

काव्यवस्तु के विषय में भारतीय आलोचकों की यह विचारधारा नहीं है, प्रत्युत पाश्चात्य कवि और आलोचक भी अपने अनुभव तथा तर्क से इसी मत का पोषण करते हैं। महाकवि शेक्सपिअर की प्रसिद्ध सूक्ति है—

The poet's eyes, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth,
from earth to heaven;
And as imagination bodies forth

---

१. कविकर्णपूर—अलंकार कौस्तुभ पृ० ८। 'कूर्मलोमपटच्छन्नः' इतिपद्ये वाक्यत्वाभावेऽपि काव्यत्वदर्शनात्।

The forms of things unknown, poet's pen
Turns them to shape,
and gives to airy nothing
A local habitation and a name.[1]

कवि की सुन्दर चक्षु उन्माद से बन, घूर्णित
कटाक्ष से देखती है स्वर्ग से भूतल,
और भूतल से स्वर्ग,
और जब कल्पना स्फुरित होती है,
तब अज्ञात वस्तुराशि के रूप को
कवि की लेखनी गढ़ती है उनकी मूर्ति,
शून्य तुच्छ वस्तु को देती है वासस्थान और नाम।

महाकवि शेली ने अपने काव्य-विषयक प्रबन्ध में स्पष्टतः लिखा है—

Poetry turns all things to loveliness, it exalts the beauty of that which is most beautiful, and it adds beauty to that which most deformed.
—A Defence of Poetry

आशय है कि कविता सब वस्तुओं को सौन्दर्य से मण्डित बना देती है। जो स्वयं सुन्दर होता है उसके सौन्दर्य को बढ़ा देती है और जो वस्तु अत्यन्त कुत्सित होती है, उसके साथ सौन्दर्य का योग कर देती है।

लेहण्ट ने कविताविषयक निबन्ध के आरम्भ में ही कहा है कि इस भुवन में जो कुछ भी है, वह सब काव्य का उपादान बनता है—

Its means are whatever the universe contains.
What is poetry.

तत्त्ववेत्ता शोपेन हावर की समीक्षा इसी सिद्धान्त को पुष्ट करती है। उनका कथन है कि इस संसार में ऐसे पदार्थों का अभाव है जो स्वयं विशिष्ट भाव से सुन्दर हों; परन्तु यदि हम लोग उपयुक्त प्रतिभा के अधिकारी हों तो प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य की उपलब्धि की योग्यता विद्यमान होती है—

There are not certain beautiful things, beautiful each in its own certain way, but that every

१. Mid-summer Night's Dream, Act V. sc, I, 12—17.

thing in the world is capable of being found beautiful, perhaps in many different ways, if only we have the necessary genius.[१]

काव्य वस्तु और रवीन्द्रनाथ

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने इस विषय का बड़ा ही मार्मिक विवेचन अपने एक पत्र में किया है। उनका कथन है कि साहित्य में हम समग्र मनुष्य को पाने की आशा रखते हैं, परन्तु सब समय समग्र को पाया नहीं जाता—उसका एक प्रतिनिधि ही पाया जा सकता है। परन्तु प्रतिनिधि किसे बनाया जा सकता है? जिसे समस्त मनुष्य के रूप में स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति न हो। प्रेम, स्नेह, दया, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या—ये सब हमारी मानसिक वृत्तियाँ हैं। ये यदि अवस्था के अनुसार मानव-प्रकृति के ऊपर एकच्छत्र आधिपत्य प्राप्त करें, तो इससे हमारी अवज्ञा या घृणा का उद्रेक नहीं होता। क्योंकि इन सबके ललाट पर राज्यचिन्ह हैं—इनके मुख पर एक प्रकार की दीप्ति प्रकट होती है।

काव्य में वही वस्तु उपादेय मानी जा सकती है जो मनुष्य की समग्र मानवता को प्रकट करने की क्षमता रखे। जो गुण केवल एकदेशीय होता है, जो मानवता की सच्ची अभिव्यक्ति करनेवाला नहीं होता, वह व्यापक होने पर भी काव्य में उपादेय नहीं माना जा सकता। 'औदरिकता' (पेटूपन) को ही लीजिए। यह व्यापक गुण है; कथमपि असत्य नहीं है, परन्तु फिर भी काव्य में इसे हम राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते। समग्र मनुष्य का प्रतिनिधि मानने में हमें अत्यन्त आपत्ति है। रवीन्द्रनाथ के स्मरणीय शब्दों[२] में कोई वास्तविकता का प्रेमी पेटूपन को ही अपने उपन्यास का विषय बना ले और कैफियत देते समय कहे कि पेटूपन पृथ्वी का एक चिरन्तन सत्य है। इसलिये साहित्य में वह क्यों नहीं स्थान पाएगा? तो इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि साहित्य में हम सत्य को नहीं चाहते, मनुष्य को चाहते हैं। ...चाहे अपने दुःख के द्वारा हो, चाहे दूसरों के; प्रकृति का वर्णन करके ही हो या मनुष्य के चरित्र का चित्रण करके, जैसे भी हो मनुष्य को प्रकाशित

---

१. Carrit : The Theory of Beauty P. 122 में उद्धृत

२. विश्वभारती पत्रिका, वर्ष ४ (सन् १९४५), पृ० २११-२१२।

करना ही होगा; बाकी सारी बातें उपलक्ष्य हैं।......केवल प्रकृति का सौन्दर्य ही कवि का वर्ण्य विषय नहीं है। प्रकृति की भीषणता और निष्ठुरता भी वर्णनीय है। किन्तु वह भी हमारे हृदय की वस्तु है, प्रकृति की वस्तु नहीं। **अतएव ऐसा कोई वर्णन साहित्य में स्थान नहीं पा सकता, जो सुन्दर न हो, शान्तिमय न हो, भीषण न हो, महत् न हो, जिसमें मानवधर्म न हो, अथवा जो अभ्यास या अन्य कारण से मनुष्य के साथ निकट सम्पर्क में बद्ध न हो।**

इस समीक्षा से स्पष्ट है कि कविता केवल कमनीय उद्यान के बीच तड़ाग में विकसित कमल की सुषमा के वर्णन में ही चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत उस श्यामरंग पंक को भी वह नहीं भूलती जिससे पंकज का जन्म होता है। वह समग्र मानव को अपनी कमनीय आभा से आलोकित कर प्रकट करने का उद्योग करती है। कवि जानता है कि मानवता देवत्व से भी बढ़कर अधिक स्पृहणीय गुण है। देवत्व में जीवन के केवल एक सुभग पक्ष—सौख्यपक्ष–की ही उपलब्धि होती है, परन्तु मानवता में सौख्यपक्ष तथा दुःखपक्ष उभय पक्षों का सुभग चित्रण किया जाता है।

मानवजीवन की सफलता का रहस्य है कर्मजीवन के बीच संघर्ष तथा तज्जन्य विजय। हमारे साहित्य में इसीलिए कवियों ने जीवन के उभयपक्षों की अभिव्यक्ति की है, उपभोगपक्ष की तथा प्रयत्नपक्ष की। जो कवि केवल प्रेम के माधुर्य की लीला गाने में ही व्यस्त रहता है वह होता है उपभोगपक्ष का कवि, परन्तु काव्य में इतना ही श्लाघनीय नहीं है। उसकी रचना में प्रयत्नपक्ष की लीला भी फूटनी चाहिये। तथा कवि वृद्धि तथा ह्रास, हर्ष तथा विषाद, उल्लास तथा अवसाद, उन्नति तथा अवनति—इन दोनों के बीच उत्पन्न संघर्ष के चित्रण में भी अपनी कला का विकास दिखलाता है। "लोक में फैली हुई दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामञ्जस्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है। भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामञ्जस्य ही लोकधर्म का सौन्दर्य है[१]।" और इसी लोकधर्म का उद्घाटन कवि अपनी कविता में शब्दों के माध्यम द्वारा

---

१. शुक्लजी—चिन्तामणि (प्रथम भाग) पृ० २९४–९५।

सम्पन्न करता है। इसीलिये कवि के लिये काव्य में सब पदार्थ उपादेय होते हैं। वह किसी भी पदार्थ का वर्जन नहीं कर सकता। कवि के लिये यह नियम जागरूक रहता है।

(ख) विभाव-निर्माण

काव्यगत वस्तु विभाव के रूप में परिणत होकर ही रस के उन्मीलन में कृतकार्य होती है। रसोन्मेष में सफल होना ही काव्यवस्तु का वस्तुत्व है। इसके निमित्त कतिपय नियमों का पालन कवि के लिये नितान्त आवश्यक होता है। इतिवृत्त दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार तो वह है जो उस देश के इतिहास या पुराण में प्रसिद्ध है और दूसरा प्रकार वह है जिसे कवि की उर्वर कल्पना-शक्ति स्वतः अपने बलपर उत्पन्न करती है। पहला प्रकार है ऐतिहासिक तथा पौराणिक वृत्त, ख्यात वृत्त; दूसरे प्रकार का नाम है काल्पनिक वृत्त या उत्पाद्य वृत्त। कवि अपने काव्य की वस्तुरचना के निमित्त उभय प्रकार के कथानकों से सामग्री एकत्र करता है तथा उन्हें संश्लिष्ट बनाकर कविता का निर्माण करता है।

कवि स्वतन्त्र होता है। अपनी प्रतिभा के बलपर निर्माण करने में स्वच्छन्द होता है, परन्तु इस विषय में उसकी स्वच्छन्दता के नियमन करने की भी जरूरत रहती है, नहीं तो वह इतना विकृत वस्तु प्रस्तुत कर सकता है जिसे पाठक पहचान नहीं सकते। कवि के स्वाच्छन्द्य के नियमन का प्रधान साधन है औचित्यबोध। उचित वस्तु ही काव्य में निबद्ध की जा सकती है, अनुचित नहीं, क्योंकि औचित्य का रसोन्मीलन के साथ बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है।

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" (क्षेमेन्द्र)

रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। बिना औचित्य के काव्य में रस का उत्स नहीं फूटता—रस का समुचित संचार नहीं होता।

औचित्य विधान

इसीलिये कथा में औचित्य के ऊपर भरत, लोल्लट, यशोवर्मा तथा आनन्दवर्धन का समभावेन आग्रह है। लोल्लट[1] का तो इस विषय में स्पष्ट

---

1. अस्तु नाम निःसीमा अर्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तः, न तु नीरसस्य इति आपराजितिः (भट्टलोल्लटः)।

काव्यमीमांसा पृ० ४५

कथन है कि रसवत् वस्तु का ही उपन्यास काव्य में उचित होता है, रस-हीन वस्तु का नहीं। काव्य में सरित्, समुद्र, प्रभात तथा चन्द्रोदय आदि वस्तुओं का वर्णन उसी सीमा तक उचित माना जाता है जहाँ तक वे रस के विकास में सहायक होते हैं, अन्यथा वे कवि की व्युत्पत्ति का ही सिक्का श्रोताओं के ऊपर जमाने में समर्थ होते हैं।

आनन्दवर्धन का विवेचन तो विशेष विस्तृत तथा हृदयग्राही है। इतिवृत्त में भावौचित्य की सत्ता विशेष आवश्यक होती है। भावौचित्य आश्रित रहता है प्रकृत्यौचित्यपर। साहित्य में प्रकृति मुख्यतया तीन प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम तथा अधम अथवा दिव्य, मानुष्य तथा दिव्यादिव्य। इन तीनों प्रकृतियों का कार्य, स्वभाव तथा प्रकर्ष भिन्न-भिन्न रहता है। औचित्यतत्त्व का आग्रह है कि कवि प्रत्येक प्रकृति का निरूपण ठीक उसके स्वभाव के अनुरूप करे। दिव्य प्रकृति के लिये जो वर्णन स्वाभाविक तथा अनुरूप हों उनका निर्देश मानुष प्रकृति के लिये कथमपि नहीं करना चाहिए। वह कवि अपनी कविमर्यादा का उल्लंघन करता है जो किसी भूपति के ऐश्वर्य का उत्कर्ष दिखलाते समय उसे सात समुद्रों के लाँघ जाने की घटना का निवेश करता है—

केवल मानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमाना सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति। तत्र अनौचित्यमेव हेतुः—ध्वन्यालोक ३।१० (वृत्ति), पृ० १४५

राजा कितना भी महिमाशाली क्यों न हो! कितना भी उत्कर्षसम्पन्न क्यों न हो, मनुष्य होने के नाते उसके बलवर्णन की एक निर्धारित सीमा है। उसके लिये सात समुद्रों के लाँघने का व्यापार सुन्दर होनेपर भी अनुचित होता है। ऐसा वर्णन करनेवाला कवि कविता के साथ मजाक करता है। अनुचित वृत्त का निवेश काव्यकला के महनीय आदर्श के साथ खेलवाड़ करना ही है।

अभिनवगुप्त ने इस स्थल की व्याख्या करते समय अपना सिद्धान्त बड़े संक्षेप में दिया है—

यत्र विनेयानां प्रतीतिखण्डना न जायते तादृग् वर्णनीयम्॥

वस्तु उसी रूप में वर्णन करनी चाहिए जिससे दर्शन तथा पाठकों के चित्त में प्रतीति खण्डित न हो। बाह्य वस्तु का काव्य में सत्यरूप से उपन्यास होनेपर ही सामाजिक को उससे साक्षात् रसबोध होता है। यदि असत्य रूप

से उसका विन्यास किया जाता है तो अभीष्ट फल का उदय कथमपि नहीं हो सकता। चतुर्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त काव्य जागरूक रहता है, परन्तु किसी मानव राजा के सप्तार्णव-लंघन की झूठी कथा सुनकर सामाजिक समग्र वर्णन से ही अपना विश्वास उठा लेता है[1]। इसीलिये आनन्दवर्धन ने औचित्य को काव्यशास्त्र का उपनिषत् बतलाया है—

> अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
> औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

—ध्वन्यालोक पृ० १४५

जिस प्रकार उपनिषत् विद्या के अनुशीलन से ब्रह्म की सद्यःस्फूर्ति होती है, उसी प्रकार औचित्य के अनुशीलन से ब्रह्मास्वाद सहोदर रस का साक्षात् उन्मीलन होता है। अन्त में आनन्दवर्धन ने जोर देकर कहा है कि कवि को विशेष रूप से विभावादिकों के अनौचित्य के परिहार करने में यत्नवान् होना चाहिए। बिना इस औचित्य की रक्षा के रसोन्मेष नितान्त दुःसाध्य व्यापार है। कवि इतिहास-सम्बन्धिनी कथाओं में, अत्यन्त रसवती होने पर भी उन्हीं का ग्रहण करे जो विभावादि औचित्य से मण्डित हों। वृत्तकथा की अपेक्षा उत्पाद्यकथा के विषय में उसे और भी अधिक सावधान होने की जरूरत होती है—

> कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं यथातथा।
> यथा रसमयं सर्वमेव तत् प्रतिभासते॥

—ध्वन्यालोक पृ० १४७

उत्पाद्यवस्तु वाली कथा का निवेश इस प्रकार से होना चाहिए कि समस्त वस्तु सामाजिक को रससम्पन्न प्रतिभासित होने लगे। और इसका प्रधान उपाय है विभावादि के औचित्य का सम्यक् अनुसरण।

पाश्चात्य आलोचकों का इस विषय में भिन्न मत नहीं है। भारतीय आलोचकों के समान औचित्य का सिद्धान्त पश्चिमी लेखकों के यहाँ भी माननीय काव्यतत्त्व है। औचित्य कला का नितान्त स्पृहणीय सिद्धान्त है।

---

१. तत्र केवलमानुषस्य एकपदे सप्तार्णवलङ्घनम् असम्भाव्यतयाऽनृतमिति हृदये स्फुरद् उपदेश्यस्य चतुर्वर्गोपायस्यापि अलीकतां बुद्धौ निवेशयति।
—लोचन पृ० १४५

अरस्तू के इस विषय में कथन इस मत के स्पष्ट पोषक हैं। उनकी उक्ति है—

The poet should prefer probable impossibilities to improbable possibilities[1].

काव्य में कवि के लिये उचित है कि वह असम्भव घटनीय वस्तु की अपेक्षा सुसम्भव अघटनीय वस्तु का निर्वाचन करे।

उनका अन्यत्र कथन है—

Within the action there must be nothing irrational[2].

अर्थात् घटना के भीतर ऐसी कोई वस्तु न होनी चाहिए जो युक्ति या प्रतीति के अगोचर हो। इससे स्पष्ट है कि उनका आग्रह औचित्य-सम्पन्न घटना के ऊपर ही है।

(ग) सिद्धरस-कथावस्तु

'सिद्धरस' कथावस्तु के विषय में कवि को विशेष रूप से सावधान होने की आवश्यकता रहती है। रामायण, महाभारत आदि से कथानक का ग्रहण कर हमारे कवियों ने महाकाव्यों और नाटकों का निर्माण किया है। इन कथानकों के प्रति कवि की दृष्टि कैसी होनी चाहिए? इसका सुन्दर विवेचन आनन्दवर्धन ने इस 'परिकर श्लोक' में किया है—

> सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
> कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छारसविरोधिनी॥

ध्वन्यालोक, पृ० १४८

तात्पर्य है कि रामायण आदि काव्यकथा के आश्रयभूत इतिहास 'सिद्धरस' के नाम से विख्यात हैं। कवि को उनके अर्थ के साथ रसविरोधी अपनी इच्छा या कल्पना का योग कभी नहीं करना चाहिए।

---

१. Aristotle Poetics, XXIV. 10.
२. Aristotle Poetics, XV. 7.

सिद्धरस

'सिद्धरस' का अर्थ अभिनवगुप्त की व्याख्या से स्पष्ट झलकता है—

सिद्ध आस्वादमात्रशेषः, न तु भावनीयो रसो येषु

—लोचन, पृ० १४८

जिनमें रस की भावना नहीं करनी पड़ती, बल्कि रस केवल आस्वाद के रूप में ही परिणत हो गया है वह काव्य 'सिद्धरस' कहलाता है। जैसे रामायण आदि।

रामायण हमारा जातीय काव्य है और रामचन्द्र हमारे मर्यादापुरुषोत्तम आदर्श पुरुष हैं। उनका कथानक भारतवर्ष की आबालवृद्ध जनता के गले का हार है। श्रीरामचन्द्र का नाम सुनते ही प्रजावत्सल नरपति, आज्ञापरायण पुत्र, स्नेही भ्राता, विपद्ग्रस्त मित्रों के सहायक बन्धु का कमनीय चित्र हमारे मानसपटल के ऊपर अंकित हो जाता है। जनकनन्दिनी जानकी का नाम ज्योंही हमारे श्रवणों को रससिक्त बनाता है, त्योंही हमारे लोचनों के सामने अलोकसामान्य पातिव्रत की मञ्जुल मूर्ति झूलने लगती है। उनके कथानकमात्र से ही हमारा हृदय आनन्दविभोर हो उठता है। उनसे आनन्द की स्फूर्ति होने के लिये क्या राम के आदर्श चरित्र के अनुशीलन की आवश्यकता होती है? हमारा हृदय रामकथा से इतना स्निग्ध, रससिक्त तथा घुल-मिल गया है कि हमारे लिये राम और जानकी किसी अतीतयुग की स्मृति न रहकर वर्तमान काल के जीवन्त प्राणी के रूप में परिणत हो गए हैं। इसीलिये रामायण को 'सिद्धरस' काव्य कहा गया है।

ऐसे काव्यों के आख्यानों के प्रति कवि को नितान्त जागरूक रहना चाहिए। उनकी अबाध कल्पना-शक्ति इन कथानकों के साथ स्वच्छन्दता का व्यवहार नहीं कर सकती—मनमानी छेड़खानी करने की यह जगह नहीं है। यह तो प्रतिष्ठित परम्परा के अनुशीलन का मार्मिक स्थान है। वे हमारे मनोमन्दिर में प्रतिष्ठित देवता हैं। उनका अंग-प्रत्यंग भारतीय संस्कृति का सन्देशवाहक है। कितना भी प्रतिभाशाली कवि क्यों न हो, उसका इस देवता के अंगभंग करने का अधिकार नहीं है। वह अपने काव्य-कुसुम से इस मूर्ति की अर्चना करने का ही अधिकारी है, अपनी कल्पना से छिन्न-भिन्न करने का दायी नहीं है। ऐसा विद्रूप करनेवाला कवि कथमपि महनीय नहीं माना जा सकता। रामायण-कथापर काव्य तथा नाटक लिखने वाले प्राचीन

appreciate his product, or because this product may be aesthetically inferior to the reality even as it exists in the general imagination.[१]

तात्पर्य यह है कि जो कवि किसी प्रसिद्ध दृश्य या ऐतिहासिक चरित का इतना परिवर्तन करता है कि वह हमारी परिचित भावना तथा विचार से संघर्ष उत्पन्न कर दे, तो वह बड़ी भूल कर रहा है। असत्य से मण्डित होना ही उसका विशेष दोष है। इसका कारण यही है कि वे उसकी कृति से रसास्वाद नहीं कर सकते। अथवा वह रचना कलात्मक रूप से भी उस सत्य से बहुत ही न्यून है जो जन साधारण की कल्पना में निवास करता है।

कहना न होगा कि यहाँ पाश्चात्य विचारक ब्रैडले आनन्दवर्धन के पूर्व निर्दिष्ट सिद्धान्त की कमनीय व्याख्या कर रहे हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार औचित्य की कसौटीपर कथावस्तु को कसना आलोचना की दृष्टि से एक बड़ा ही कमनीय सिद्धान्त है। काव्यनिर्माण की यथार्थता औचित्य-निर्वाह के ऊपर ही आश्रित रहती है। यह कवियों की प्रतिभाशक्ति का प्राण है, उसका अवरोधक तत्त्व नहीं है। यह सीमानिर्धारण अवश्य है, परन्तु यह सीमा ऐसी है जिसका उल्लंघन कविप्रतिभा की लघुता, हीनता तथा अचारुता का ही परिचायक है। रसवत्ता काव्य का सर्वस्व है और सामाजिक के हृदय में प्रतीति उत्पन्न कर ही यह स्थिर हो सकती है। इसीलिये कवि का धर्म है कि वह सामाजिक की रस-प्रतीति का खण्डन कथमपि न होने दे। प्रतीतिबोध ही यथार्थता की कसौटी है। वृत्त-वस्तु की अपेक्षा उत्पाद्य वस्तु के विषय में तो कवि को नितान्त जागरूक होने की आवश्यकता है।

सिद्धरस वस्तु के निर्माणकर्ता हमारे साहित्य में वाल्मीकि तथा व्यास हैं जिनका काव्य शताब्दियों से हमारे कवियों को नये निर्माण के लिए प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करता आया है। तथ्य तो यह है कि रामायण तथा महाभारत भारतीय संस्कृति के पीठ-ग्रन्थ हैं जिनके आधार पर हमारी संस्कृति का प्रासाद प्रतिष्ठित है।

---

१. Bradley : Oxford Lectures on Poetry, Note B. p. 29.

(घ) काव्य-सत्य

कवि की प्रतिभा-शक्ति के द्वारा निर्मित काव्य में कितना सत्य का निवास रहता है? कवि वर्णित घटनाओं में सत्य रहता है या पूरा अनृत का ही साम्राज्य विराजता है? इन प्रश्नों ने प्राचीनकाल से भारत तथा यूरोप में आलोचकों की दृष्टि आकृष्ट कर रखी है। प्लेटो स्वयं प्रतिभासम्पन्न लेखक तथा गूढ़ार्थदर्शी तत्त्वज्ञानी थे, परन्तु इसी सत्य के अभाव के कारण उन्होंने अपने आदर्शराज्य से कविजनों का पूर्ण बहिष्कार कर दिया था। उनकी दृष्टि में विश्व में यदि कोई शाश्वत सत्य वस्तु है, तो वह है Idea (प्रत्यय)। इसी प्रत्यय की प्रतिकृति है यह विश्व। संसार उसी नित्य अचिन्त्य प्रत्यय के आधार पर गढ़ा गया, उसी की प्रतिकृति है। परन्तु कविजनों का व्यवसाय क्या है? अपने काव्यों में इस विश्व की प्रतिकृति का निर्माण। अतः कविगण सत्यभूत मूल विचार से बहुत ही दूर हटकर रहते हैं। उनका वर्ण्य-विषय सत्य की प्रतिकृति की प्रतिकृति-मात्र होता है। सुतरां वह मूल सत्य से बहुत ही दूर है। इसीलिये तत्त्ववेत्ता प्लेटो की दृष्टि में अनृत के प्रचारक होने के कारण कवियों को किसी भी आदर्श रियासत में स्थान नहीं मिलना चाहिए।

भारतवर्ष में भी कभी ऐसा ही मत प्रचलित था जिसकी प्रतिध्वनि 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' आदि स्मृति-वाक्यों में आज भी उपलब्ध होती है। तो क्या सचमुच हमारे कविजन अपने काव्यों द्वारा लोगों के बीच धोखाधड़ी का प्रचार करते हैं? झूठ झूठ ही है चाहे वह कवियों के द्वारा प्रचारित हो अथवा सामान्यजन के द्वारा प्रसारित हो। ऐसी दशा में क्या काव्यकला हमारी उपेक्षा तथा अवहेलना का भाजन नहीं है? काव्यगत सत्य की तर्क-दृष्टि से गहरी छानबीन बड़ी जरूरी है।

इतिहास और काव्य

ऐतिहासिक वृत्त का आश्रय लेकर भी जो काव्य निर्मित होते हैं उनमें तथा विशुद्ध इतिहास में क्या अन्तर होता है? इतिहास में निबद्ध सत्य तथा काव्य में उपलब्ध सत्य—ये दोनों क्या एक ही प्रकार के होते हैं? इस प्रश्न की विशद मीमांसा आनन्दवर्धन ने बड़ी मार्मिकता के साथ ध्वन्यालोक में की है। उसका सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में यह है—

कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् ।
तत्र इतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्,
तां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरम् उत्पादयेत् ।
नहि कवेः इतिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित् प्रयोजनम् ।
इतिहासाद् एव तत् सिद्धेः ।

ध्वन्यालोक, ३।१४ वृत्ति, पृ० १४८

काव्यप्रबन्ध की रचना करते समय कवि को सब प्रकार से रसपरतन्त्र होना चाहिये। इस विषय में यदि इतिवृत्त में रस की अनुकूल स्थिति नहीं दीख पड़े, तो उसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की कल्पना करनी चाहिए। क्योंकि कवि को इतिवृत्त के सम्पादन से कुछ भी लाभ नहीं; उसकी सिद्धि तो इतिहास से ही हो जाती है।

तथ्य और रस

काव्य में असली बात है रस। काव्य की पूरी सामग्री इसी रस के उद्बोधन के लिये प्रयुक्त की जाती है। सामग्री की सार्थकता है रसोद्बोधन की क्षमता। यदि वह सिद्ध नहीं हो सका, तो काव्य की सामग्री, चाहे वह कितनी सुसज्जित तथा सम्पन्न क्यों न हो, किसी भी काम की नहीं हो सकती। यदि काव्य में रस का प्रकाश नहीं होता, तो वह कितना भी तथ्यपूर्ण क्यों न हो, वह इति-वृत्त-मात्र होगा, केवल इतिहास होगा। कवि को अधिकार है कि वह इति-वृत्त को तोड़ कर ऐसी कथाओं का संघटन करे जिसे रस-समुज्ज्वल होकर प्रकाशित हो। लोक में इतिहास की आराधना की जाती है तथ्य पाने के लिए और काव्य की उपासना की जाती है रस पाने के लिये। तथ्य और रस एक वस्तु नहीं है। तथ्य से रस उत्पन्न हो सकता है, परन्तु सब प्रकार के तथ्य से नहीं। जिन घटनाओं में सुसम्बद्धता तथा एकता नहीं है, रूप की अखण्डता तथा भाव की उपयोगिता जिनके बीच स्पष्टतः भासित नहीं होती, इन घटनाओं में 'तथ्य' हो सकता है, परन्तु वे काव्यवस्तु या विभाव नहीं बन सकती। विभाव में विद्यमान रहता है औचित्य, रसोत्पादन की क्षमता और इसके लिये उसमें कतिपय मनोज्ञ गुणों का रहना नियमतः आवश्यक होता है।

तथ्य और सत्य

इतिहास का लेखक घटनाचक्रों के वर्णन करने में ही अपनी शक्ति का परिचय देता है। किसी कालविशेष अथवा देशविशेष में होनेवाली घटनाओं

को यथार्थ रूप से अंकित कर देना ही उसका कार्य होता है। वह विशिष्ट आधार के ऊपर आश्रित होकर घटनाओं का विन्यास प्रस्तुत करता है। ऐसी दशा में बहुत सम्भव है कि इतिहास की घटनाओं को चुनकर क्रमबद्ध कर देने में काव्य की इतिकर्तव्यता की पूर्ति हो जाती है। ऐसी दशा में घटनाओं का रूप विकृत न होकर प्राचीन रूप में ही रहता है, परन्तु विशेषदशा में इतिहास की घटनाओं में एकता, शृङ्खला तथा कार्य-कारण का परस्पर सम्बन्ध खोजने पर भी नहीं मिलता। ऐसी दशा में कवि अपनी प्रतिभा के बल से ऐसे अंशों का परिवर्तन कर उसे सचमुच रसपेशल बनाने का अधिकार रखता है।

इतिहास तथा काव्य के इस पार्थक्य को समझने के लिये शकुन्तला नाटक की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। शकुन्तला का आख्यान महाभारत में उपलब्ध होता है। कालिदास ने इस कथानक को वहीं से ग्रहण कर इसे कितना रोचक, हृदयंगम तथा रसस्निग्ध बना दिया है यह बात काव्य-मर्मज्ञों के सामने विशेषतः प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। महाभारत का कथानक नितान्त अरोचक, अनौचित्यपूर्ण तथा अविशिष्ट है। कालिदास की अलोकसामान्य शक्ति के बलपर वह एकदम भावपूर्ण, औचित्यपूर्ण तथा दिव्य सन्देशसम्पन्न बन गया है। महाभारत की शकुन्तला एक प्रौढ़ा साधारण-गुणसम्पन्न, व्यक्तित्वविहीन सामान्य तापस कन्या है, परन्तु नाटक की शकुन्तला नितान्त आदर्शगुण-सम्पन्न, सौन्दर्यमण्डित, व्यक्तित्वसम्पन्न विशिष्ट बालिका है जो हमारी भारतलक्ष्मी की प्रतीक है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस प्रकार शिल्पकार मृत्तिका को गढ़कर कमनीय मूर्ति बनाकर मन्दिर में प्रतिष्ठित करता है उसी प्रकार कालिदास ने सामान्य आख्यान से अपनी शकुन्तला को गढ़कर अपने सारस्वत मन्दिर में उसे प्रतिष्ठित किया है। महाभारत के अतिस्थूल मृत्पिण्ड को ग्रहणकर कालिदास ने महाकाल के मन्दिर में एक शाश्वत सौन्दर्यप्रतिमा को प्रतिष्ठित किया है। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि विभाव अर्थात् भाव और रस वस्तुतः एक ही अभिन्न वस्तु है किन्तु वस्तु और विभाव एक नहीं है। मिट्टी और प्रतिमा के बीच में जो सम्बन्ध है उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है वस्तु तथा विभाव में, तथ्य तथा सत्य में। रस और सौन्दर्य मिट्टी में प्रत्यक्ष नहीं है, प्रतिमा में प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार रस और सौन्दर्य वस्तु में या तथ्य में प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु वह प्रत्यक्ष रूप से रहता है विभाव में तथा सत्य में।

अरस्तू का मत

काव्य तथा इतिहास के पार्थक्य का यह एक प्रकार है। अन्य भेद भी दिखाए जा सकते हैं। इसे अरस्तू ने लक्ष्यकर अपने आलोचना ग्रन्थ में उल्लेख किया है—

The poet and the historian differ not by writing in verse or in prose······the true difference is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry is therefore a more philosophical and a higher thing than history; for poetry tends to express the universal, history the particular.

—Poetics IX, 2.3.

अरस्तू के इस सुचिन्तित कथन का आशय है कि कवि तथा ऐतिहासिक का भेद केवल पद्य या गद्य में लिखने से नहीं है। मुख्य अन्तर यही है कि इतिहास कहता है कि क्या हुआ है। काव्य कहता है कि क्या हो सकता है। काव्य इस प्रकार इतिहास की अपेक्षा विशिष्ट विचारशील तथा उन्नततर वस्तु है क्योंकि काव्य प्रकाश करता है सार्वजनीन को, इतिहास प्रकाश करता है विशेष को।

अरस्तू तथा आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट पार्थक्य प्रायः एक समान ही है। दोनों की दृष्टियों में कतिपय प्रभेद दीख पड़ता है। अरस्तू ने सार्वजनीन तथा विशेष का निर्देश कर विभाव तथा वस्तु के पार्थक्य की ओर दृष्टिपात किया है, उधर आनन्दवर्धन ने रचना के औचित्य तथा रसानुकूलतापर दृष्टिपात कर विभाव की नियामक शक्ति को सुप्रतिष्ठित किया है। महाकवि शेली ने जो पार्थक्य दिखलाया है वह दोनों के गठन को लक्ष्य करता है—

There is a difference between a story and a poem, that a story is a catalogue of detached facts, which have no other connection than time, space, circumstances, cause and effect; the other is a creation of actions according to the unchangeable forms of human nature.

—A Defence of Poetry.

वस्तु होती है विच्छिन्न घटनाओं की सूचीमात्र, जिन में देश, काल, परिस्थिति, कार्य तथा कारण भाव को छोड़कर अन्य कोई सम्बन्ध नहीं रहता। काव्य होता है मानवीय प्रकृति के अपरिवर्तन रूप का अनुवर्तन करने वाली घटनाओं की सृष्टि। यह स्वभावगत पार्थक्य कवि के अनुभव का फल है।

साहित्य में विश्वजनीनता

वृत्त-घटना तथा सम्भावनीय घटना—इन दोनों में प्रथम प्रकार की घटना का अन्तर्भाव द्वितीय प्रकार की घटना के भीतर किया जा सकता है। प्रथम प्रकार की घटना विशेष के ऊपर आश्रित रहती है; किसी कालविशेष या देशविशेष में होने वाली घटना का निर्देश इतिहास का क्षेत्र है। **सम्भावनीय घटना** अर्थात् वह घटना जो सम्पन्न नहीं हुई है परन्तु स्थिति विशेष में उत्पन्न हो सकती है, काव्य का क्षेत्र है। इसमें घटना की सार्वजनीनता लक्षित होती है। ऐतिहासिक किसी विशिष्ट घटना के वर्णन करने में ही अपने कर्तव्य की समाप्ति समझता है, परन्तु कवि की दृष्टि उसके ऊपर दैशिक तथा कालिक आवरण को भंगकर उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाती है—व्यक्तिविशेष की घटना के भीतर जाति या समाज के रूप का साक्षात्कार करती है। उसकी प्रतिभा से घटना अपनी वैयक्तिकता से विरहित होकर सार्वजनीन रूप में झलक उठती है। यही है कवि का प्रधान लक्ष्य। कालिदास की शकुन्तला किसी देश-विशेष की विशिष्ट नायिका न होकर सब काल तथा सब देश के लिये सौन्दर्य की प्रतिमा है। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक प्रेम तथा धर्म के स्वार्थ तथा परमार्थ के विषम संघर्ष की मञ्जुल कहानी है। मनुष्य का स्वार्थ तब तक उपहास तथा तिरस्कार का पात्र बनता है जबतक वह तपस्या की अग्नि में सन्तप्त होकर खरे परमार्थ के रूप में नहीं चमक उठता। इसी स्वार्थ तथा परमार्थ, काम तथा प्रेम, नरक तथा स्वर्ग के मंगलमय समन्वय की कलात्मक अभिव्यक्ति है हमारे कविकुलगुरु की अनुपम कृति शकुन्तला। इसी विश्वजनीन सृष्टि के नाते कालिदासीय प्रतिभा की यह भव्य झाँकी विश्वसाहित्य में अपूर्व वस्तु है।

अनुकरण

कवि अपनी अनुभूति को जिस शाब्दिक माध्यम के द्वारा सामाजिक तक पहुँचाता है तथा उसमें भी वही अनुभूति उसी मात्रा में उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है वही कविता है। कवि वस्तु को अपने काव्य में विभाव के रूप में निबद्ध करता है। वस्तु का विभाव रूप में ग्रहण ही 'अनुकरण' है—इसे

ही अरस्तू अपने काव्यशास्त्र में Memesis (मिमेसिस) या Imitation (इमिटेशन) के नाम से पुकारते हैं। अनुकरण को वस्तु का यथावत् प्रतिबिम्ब मानना निर्मूल भ्रान्ति है। वस्तु प्रथमतः कवि-चित्त में प्रतिफलित होती है और कवि उस वस्तु के स्वानुभूत रूप को अपनी प्रतिभा के बलपर एक मनोहर आकृति प्रदान करता है। कवि का चित्त जड़ दर्पण नहीं है कि उसमें प्रतिफलित प्रतिबिम्ब बिम्ब का यथार्थ अनुकरण रहेगा। कवि एक चेतन अनुभवी जीव है जिसके चित्त में प्रतिफलित वस्तु पुनः प्रकट किए जाने पर एक नवीन आकृति धारण करती है। फलतः अनुकरण नवीकरण का भिन्न पर्याय है। कवि वस्तु के अनुकरण के साथ ही साथ अपनी प्रतिभा के सहारे उसकी एक सजीव तथा रोचक प्रतिकृति काव्य में प्रस्तुत कर देता है जिसमें नवीकरण की झलक रहती है। वस्तु की शब्द के द्वारा अभिव्यक्ति ही उसमें नवीनता का संचार कर देती है।

समग्र कला अनुकरणात्मक होती है परन्तु इस अनुकरण की प्रक्रिया में नवीनकरण की स्फूर्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

भरतमुनि ने नाट्य का वैशिष्ट्य बतलाते समय नाट्य को 'लोकवृत्तानुकरण'[1] तथा 'सप्तद्वीपानुकरण' कहा है। नाट्य में कवि लोकवृत्त का अनुकरण करता है। धनञ्जय के अनुसार नाट्य अवस्था का अनुकरण होता है (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—दशरूपक १।५)। अभिनवगुप्त ने यहाँ 'अनुकरण' शब्द की विशिष्ट व्याख्या की है। नाटक में नट राम आदि पात्रों की चेष्टाओं का अनुकरण करता है। भरत ने स्वयं बतलाया है कि जहाँ दूसरों की चेष्टाओं का अनुकरण किया जाता है वहाँ 'हास्य' उत्पन्न होता है[2]। अतः किसी पात्र के हूबहू अनुकरण करने से हास उत्पन्न होता है, नाट्य नहीं। नट राम के हृदयस्थ शोक-भाव का अनुकरण कर ही नहीं सकता। राम का शोक राम के हृदय की वस्तु है। वह दूसरे के हृदय में नहीं जा सकता। अतः नट राम के शोक का अनुकरण नहीं करता, प्रत्युत उसके अनुभावों को रंगमंच पर दिखलाता है। परन्तु नटप्रदर्शित अनुभाव सजातीय होते हैं, तत्सदृश नहीं होते। नट के द्वारा अभिनीत अनुभाव रामगत शोक के

---

१. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन् मया कृतम्॥

—नाट्यशास्त्र १।११२

२. परचेष्टानुकरणाद् हासः समुपजायते। —नाट्यशास्त्र ७।१६

वास्तव अनुभावों के समान नहीं होते, प्रत्युत उन अनुभावों के समानजातीय होते हैं:—

नहि नटो रामसादृश्यं स्वात्मनः शोकं करोति ।
सर्वथैव तस्य तत्राभावात् । भावे वाननुकारत्वात् ।
न चान्यद् वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात् ।
अनुभावांस्तु करोति, किन्तु सजातीयत्वेन न तु तत्सादृश्यात् ।

—अभिनवभारती पृ० ३७

इस कथन से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त की सम्मति में अनुकरण किसी पदार्थ का तात्त्विक सादृश्य-विधान नहीं होता, प्रत्युत उसमें नवीकरण की भी कल्पना स्वयं उदित होती है ।

भावमूर्ति का स्फुरण

अनुकरण के द्वारा वस्तु के बाह्य रूप का ही स्फुरण नहीं होता, बल्कि अन्तःस्थित भावमूर्ति का भी परिस्फुरण होता है । इसीलिये भरत नाट्य को लोकत्रय का 'भावानुकीर्तन' बतलाते हैं—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ॥

(ना० शा० १।१०७)

यह अनुकरण समस्त ललित कलाओं की मूल भित्ति है । नाट्य ही अनुकरण का विलास नहीं है, प्रत्युत चित्र तथा नृत्य आदि अन्य कलाओं का भी यही मौलिक उपकरण है । चित्रकला का रूपनिर्देश 'शिल्परत्न' में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—

जंगमा वा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत् तत् स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥

इस त्रिभुवन में जितने स्थावर अथवा जंगम पदार्थ हैं उनके स्वभाव का करण 'चित्र' कहलाता है । यहाँ 'करण' शब्द 'अनुकरण' का ही पर्यायवाची समझा जाना चाहिए । चित्रकार जब किसी पदार्थ का अपनी तूलिका के द्वारा रंगीन अंकन करता है तब वह उस पदार्थ के बाह्य रूप तक ही अपने को सीमित नहीं रखता, प्रत्युत उस पदार्थ के अन्तस्तल तक प्रवेश कर उसमें रूपातीत प्राणप्रद धर्म का आविष्कार करता है । चित्र में इन्हीं दोनों वस्तुओं का संमिश्रण अनुकरण के द्वारा व्यक्त किया जाता है । चित्रकार रंगों के मिश्रण से वस्तु के उस रूप को अंकित करता है जिसका साक्षात्कार वह अपने मानस नेत्रों से करता है । काव्य में ध्वनि वाच्य से भिन्न प्रतीय-

मान अर्थ की द्योतना कर चरितार्थ होती है। चित्र में भी ठीक यही कार्य सम्पन्न होता है। चित्रकार नाना रंगों के मिश्रण से चित्रित वस्तु के अन्तस्तल तथा भाव की अभिव्यक्ति करनेपर ही अपनी कला में सिद्धहस्त कृती माना जाता है। कवि शब्दों के योग से अभीष्ट अर्थ की अभिव्यंजना करता है। चित्रकार रंगों तथा रेखाओं के योग से अभिलषित भाव की अभिव्यंजना करता है। अतः चित्रकार अपने मानस पटलपर अंकित पदार्थ के हूबहू चित्रण में ही अपनी कला का गौरव नहीं मानता, प्रत्युत वह अपनी प्रतिभा के सहारे उसमें नवीन भावभंगी, मनोरम रूप तथा आकर्षक भाव की अभिव्यक्ति कर अपने कार्य में अलौकिक सिद्धि प्राप्त करता है। ऐसी दशा में चित्रकला में 'अनुकरण' क्या नवीकरण का प्रतिनिधि नहीं है!

अनुकरण—पश्चिमी मत

पाश्चात्य आलोचकों के आद्य गुरु अरस्तू के काव्यशास्त्र सम्बन्धी मान्य ग्रन्थ में भी 'अनुकरण' का प्रयोग इसी तात्पर्य से किया गया है। अरस्तू काव्य के समग्र भेद को modes of imitation अनुकरण-प्रकार मानते हैं। काव्यकला का बीज अनुकरणात्मक होता है—यह सिद्धान्त अरस्तू से भी पहिले ग्रीस देश में प्रचलित था। अरस्तू कवि और चित्रकार को सृष्टि कार्य के निमित्त एक श्रेणी में रखते हैं। चित्रकार के विषय में वे स्पष्ट कहते हैं—

They, while reproducing the distinctive form of the original, make a likeness which is true to life and yet more beautiful.

चित्रकार मूल का विशिष्ट रूप अंकित कर ऐसे सादृश्य की सृष्टि करते हैं जो जीवन के सम्बन्ध में सत्य होता है और पूर्वापेक्षा अधिक रमणीय होता है। कवि का भी कार्य इसी श्रेणी में आता है वह भी शब्द के माध्यम द्वारा पूर्वापेक्षया रमणीयतर पदार्थ की सृष्टि करता है।

अनुकरण का अर्थ अरस्तू के मत में स्पष्टतः 'आदर्श अंकन' या 'आदर्श चित्रण' ही प्रतीत होता है। उनका कथन है कि कवि अनुकरणकारी के रूप में विख्यात है। वह अनुकरण करता है तीन में से एक प्रकार का—(१) वस्तुसमूह जिस प्रकार से था या वर्तमान है, (२) 'वस्तुसमूह जिस भाव से है' ऐसा कहा जाता है। या सोचा जाता है, (३) अथवा वस्तुसमूह का जो रूप होना उचित है—

The poet being an imitator······must of necessity imitate one of the three objects—things as they were or are, things they are said or thought to be or things as they ought to be.

अरस्तू के टीकाकार डाक्टर बूचर (Dr. Butcher) ने अनुकरण का अर्थ निर्माण करना ही सिद्ध किया है अथवा किसी सच्चे भाव के अनुसार वस्तु की सृष्टि करना (creating according to a true idea) इससे स्पष्ट है कि भारतीय आलोचकों के द्वारा निर्दिष्ट अनुकरण का अर्थ अरस्तू को भी पूर्णतया मान्य है।

वाल्टर पेटर भी इस सिद्धान्त से सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं—

Literary are, that is, like all art which is in any way imitative or reproductive of fact, form or colour or incident is the representation of such fact as connected with soul of a specific personality, in its preferences, its volition and power.

आशय है कि जिस प्रकार अन्य शिल्प वस्तु, आकृति, रंग अथवा घटना का किसी न किसी ढंग से अनुकरण करते हैं या सृष्टि करते हैं, काव्य-कला भी वैसा ही करती है—वह ऐसी वस्तु का वर्णन करती है जो रुचि, इच्छा अथवा शक्ति के विषय में किसी विशिष्ट व्यक्ति की आत्मा से सम्बद्ध रहती है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वाल्टर पेटर अनुकरण को केवल यथार्थ सादृश्य नहीं मानते प्रत्युत उसमें स्रष्टा के व्यक्तित्व से सम्बद्ध रुचि अथवा शक्ति के द्वारा नवीन सृष्टि का प्रतिनिधि मानते हैं।

क्रोचे भी इसी मत की प्रकारान्तर से पुष्टि करते हैं। प्रकृति का आदर्श अंकन अथवा आदर्श भावाङ्गमय अनुकरण ही कला है—

Art is the idealisation or idealising imitation of Nature.

अतः भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचक इस विषय में एकमत हैं कि कला में अनुकरण केवल निर्जीव तथा निराधार वस्तु नहीं है, प्रत्युत वह सजीव तथा उदात्त नवीकरण एवं सृष्टि का प्रतीक है।

६—काव्यपाक

काव्य की रचना करना तो सामान्य परिश्रम से ही साध्य हो सकता है परन्तु उस रचना में सिद्धि प्राप्त करना अश्रान्त सन्तत अभ्यास का मंगलमय परिणाम होता है। काव्यनिर्माण में सतत अभ्यासशाली सुकवि के वाक्य परिपक्व हो जाते हैं—उनमें एक विशिष्ट प्रकार का सौष्ठव तथा सौन्दर्य उन्मीलित हो जाता है। संस्कृत आलोचकों की प्रवीण दृष्टि सुकवि के महनीय काव्य की समीक्षा कर एक असामान्य तत्त्व का उन्मेष करती है जिसका नाम है—काव्यपाक, काव्य की परिपक्व अवस्था या सिद्ध दशा।

भिन्न दृष्टियाँ

काव्य में यह 'पाक' तत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप से दिया है। काव्य के इस अन्तरंग तत्त्व की महनीयता तथा महार्थता समस्त आलोचक मानते हैं, परन्तु उनकी व्याख्या एकरूपात्मक न होकर भिन्नात्मक ही की गई है—

(१) मंगल—आचार्य मंगल आलोचनाशास्त्र के इतिहास में उतने प्रसिद्ध नहीं हैं, क्योंकि इनकी कोई भी रचना पूरी या अधूरी उपलब्ध नहीं हुई है। परन्तु अलंकार ग्रन्थों में निर्दिष्ट इनके मत से पता चलता है कि ये विशिष्ट सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रौढ़ आचार्य थे।

काव्यहेतुओं में ये 'व्युत्पत्ति' को विशेष महत्त्व देते थे। व्युत्पत्तिवादी मंगल की सम्मति में 'पाक' भी व्युत्पत्ति' का ही दूसरा अभिधान है। उनका कहना है कि 'पाक' सुबन्त तथा तिङन्त पदों के सन्तत श्रवण करने से उत्पन्न ज्ञान है और इसी की दूसरी संज्ञा व्युत्पत्ति है—

'कः पुनरयं पाक' इत्याचार्याः। परिणाम इति मङ्गलः। कः पुनरयं परिणामः इत्याचार्याः। सुपां तिङां च श्रवः सैषा व्युत्पत्तिः इति मङ्गलः।

—काव्यमीमांसा, पृ० २०

परन्तु प्राचीन आलंकारिकों को इस मत में अरुचि है। उनका कथन है कि यह तो 'सौशब्द्य'—सुन्दर शब्दों का विलास—कहलाता है, यह तो

'पाक' नहीं हुआ। आचार्य भामह तथा भोजराज ने स्पष्ट शब्दों में सुप् तथा तिङ्की व्युत्पत्ति को 'सौशब्द्य' तथा 'सुशब्दता' के नाम से अभिहित किया है। भामह की उक्ति है—

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्।
तदेतदाहुः सौशब्द्यम् —१।१४

भोजराज के शब्दों में यह 'सुशब्दता' है—

व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु
प्रोच्यते सा सुशब्दता।

—सर० कण्ठा०

(२) आचार्याः—अतः इन आचार्यों की सम्मति में पाक का लक्षण हुआ—'पदनिवेशनिष्कम्पता'—पदों को विशिष्ट रूप से चुनना तथा उनका उचित स्थानपर रखना जहाँ से वे हिल-डुल नहीं सकें। इस लक्षण की पुष्टि में वे किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति भी उद्धृत करते हैं—

आवापोद्धरणे तावद्, यावद् दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त ! सिद्धा सरस्वती॥

पद के रखने में जबतक चित्त दोलायमान रहता है, तबतक नये पदों का निवेश होता है और प्राचीन पदों को हटाया जा सकता है। परन्तु जब पदों की स्थिरता स्थापित हो जाती है, तब सरस्वती सिद्ध हो जाती है। कालिदास कामदेव की महत्त्वाकांक्षा के वर्णनावसरपर कह रहे हैं—

कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे-
र्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।

कामदेव की उक्ति है—मैं अपने हाथ में पिनाक धारण करनेवाले, संसार का प्रलय करनेवाले हर के धैर्य को भी च्युत कर सकता हूँ। मेरे सामने दूसरे धनुषधारियों की शक्ति क्या है ? यहाँ 'पिनाकपाणि' प्रलयकारी रुद्र के एक विशिष्ट रूप का द्योतक है। कवि ने इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये अनेक शब्दों को हटाकर सार्थक तथा भावाभिव्यञ्जक होने से इस शब्द को चुन रखा है। इन आचार्यों की सम्मति में काव्यपाक का यह उत्कृष्ट निदर्शन है।

(३) वामनीयाः—आचार्य वामन तथा उनके भक्तों को यह मत पसन्द नहीं है। उनकी युक्ति बड़ी सुन्दर है। पाक में पदस्थैर्य होता

है अवश्य, परन्तु पदस्थैर्य का नियामक क्या है? अनेक कवि लोग अपने आग्रहवश भी किसी पद को स्थानविशेषपर जमाने के पक्षपाती देखे गए हैं, अतः 'परिवृत्तिविमुखता'[1] ही 'स्थिरता' की प्रधान परिचायिका है। पदों को स्थिर तभी कह सकते हैं जब उनका परिवर्तन पर्याय-शब्दों के द्वारा कथमपि हो ही नहीं सकता। कविता में पद इतनी चारुता से चिपक गए होते हैं, कि उनका परिवर्तन कथमपि हो ही नहीं सकता। परिवर्तनपर आग्रह करने पर सारा चमत्कार नष्ट हो जाता है—काव्य का पूरा सौन्दर्य बिगड़ जाता है। इसीलिये वामनीयों, वामन के अनुयायियों की, मान्य सम्मति में शब्दपाक तभी सम्पन्न होता है जब पद परिवृत्तिसहिष्णुता का परित्याग कर अपने स्थान तथा अपने स्वरूप से कथमपि डिगने का नाम नहीं लेते। उनकी न स्थानच्युति हो सकती है और न रूपच्युति। स्थानतः और रूपतः—उभय प्रकार से वे अपरिवर्तनशील होते हैं—

> यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
> तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

—वामन १।३।१५

(४) अवन्तिसुन्दरी—आचार्य वामन के इस मान्य मत का खण्डन कविराज राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्ति सुन्दरी ने बड़े आग्रह के साथ किया है। वे कहती हैं—इसे 'पाक' नहीं कह सकते यह तो कवि की अशक्ति है कि वह एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये एक ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग कर सकता है। शक्तिशाली सुकवि तो एक ही अर्थ की द्योतना के निमित्त अनेक परिपाक सम्पन्न पदों का प्रयोग करता है—एक ही प्रकार के पदों का प्रयोग कवि की अशक्ति का द्योतक होता है। अतः वामन का मत मान्य नहीं हो सकता[2]।

---

१. 'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः, तस्मात् पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः।

—का० मी०, पृ० २०

२. 'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः' इत्यवन्ति सुन्दरी। यद् एकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति। तस्माद् रसोचितशब्दार्थ-सूक्तिनिबन्धनः पाकः।

—का० मी० पृ० २०

'पाक' का लक्षण

अतः 'पाक' का लक्षण होना चाहिए-रसोचित-शब्दार्थ सूक्ति-निबन्धनः पाकः अर्थात् रस के उन्मेष को प्रकट करने वाले उचित शब्द तथा अर्थ का सुन्दर निबन्धन पाक कहलाता है—

गुणालंकारीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः ।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥

विज्ञ सहृदयों को काव्य में गुण, अलंकार, रीति, उक्ति शब्द तथा अर्थ का समुचित गुम्फन ही आनन्द दायक होता है। इसी लिये मुझे तो यही वाक्यपाक का सुन्दर रूप प्रतीत होता है।

वक्ता के होने पर भी, अर्थ के होने पर भी, शब्द तथा रस के होने पर भी जिस वस्तु के अभाव में वाणी मधु नहीं चुलाती, कविवाक् आनन्द उत्पन्न नहीं करती, वही वस्तु है—काव्यपाक और यह तभी सम्भव है जब कविता में समग्र आवश्यक अंगों का, रस, रीति, गुण अलंकार आदि का समुचित सुन्दर निवेश होता है—

सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ् मधु[१] ॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अवन्तिसुन्दरी (राजशेखर भी इस मत के समर्थक हैं) की सम्मति में काव्यपाक पदमात्र तक सीमित होने वाला पदार्थ नहीं है। वह एक व्यापक तत्त्व है जिसकी सिद्धि काव्य के समग्र अंगों के जागरूक होने पर ही होती है। इसका पता वामन के ग्रन्थ से भी लगता है। काव्य में गुणवादी आलोचक वामन की दृष्टि में काव्यपाक तभी सम्पन्न होता है जब काव्यों में गुण की स्फुटता तथा समग्रता विद्यमान होती है। गुणों की असमग्रता तथा अस्फुटता के अवसर पर काव्यपाक उन्मीलित नहीं होता—

---

१. वामन ने प्राचीन अलंकारिकों के इस श्लोक को वैदर्भी रीति की स्तुति में उद्धृत किया है (काव्यालंकार सूत्र १।२।११), परन्तु राजशेखर ने इसे 'पाक' की प्रशंसा में निर्दिष्ट किया है।

—का० मी०, वही

गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते । —३।२।१५

वामन की सम्मति में वैदर्भी रीति में ही गुणों की समग्रता रहती है—समग्रगुणा वैदर्भी—अन्य रीतियों में कतिपय गुणों का ही अवस्थान रहता है। इसीलिये वैदर्भी रीति में ही पूर्ण पाक का उन्मेष होता है—

वचसि यमधिगम्य स्यन्दते वाचकश्री-
र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ।

—काव्या० १।२।२१

काव्य में जिसका आश्रय लेकर शब्द की सम्पत्ति प्रवाहित होती है, जहाँ वितथ—नीरस-वस्तु सरसता को प्राप्त करती है, सहृदयों के हृदय को रञ्जन करनेवाला ऐसा पाक कहीं वैदर्भी रीति में ही उदित हुआ करता है। इससे स्पष्ट है कि वामन की दृष्टि में 'पाक' का परिपाक वैदर्भी रीति में ही सम्पन्न होता है। अतः पाक की व्यापक कल्पना का परिचय हमें वामन के ग्रन्थ में स्फुट रूप से उपलब्ध होता है। पिछले आलंकारिकों ने भी 'पाक' की अपने ग्रन्थों में व्याख्या की है।

पाक-प्रकार

अलंकार ग्रन्थों में पाक के अनेक प्रभेद उपलब्ध होते हैं। भामह ने दो प्रकार का पाक माना है—एक तो अहृद्य, और दूसरा है हृद्य। अहृद्य पाक को वे कपित्थपाक के नाम से पुकारते हैं[1], परन्तु हृद्य पाक के लिये कोई विशिष्ट नामकरण उपलब्ध नहीं होता। कपित्थपाक का आश्रय वह काव्य होता है जो हृदय को रञ्जित नहीं करता, जिसका भेदन करना (व्याख्या करना) अत्यन्त कठिन होता है और जो रसयुक्त होने पर भी असुकुमार होता है। उदाहरण से इसका स्वरूप स्फुटतर हो जाता है—

---

१. अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम् ।
काव्यं कपित्थपाकं तत् केषांचित् सदृशं यथा ॥

—भामह ५।६२

प्रजाजन–श्रेष्ठ–वरिष्ठभूभृत्–
शिरोर्चिताङ्घ्रेः पृथुकीर्तिभिश्च।
अहिघ्नपद्मस्य जलारिधाम्नः
तवैव नान्यस्य सुतस्य वृत्तम् ॥

—भामह ५।६३

कवि किसी राजा से उसके प्रतापी पुत्र की कीर्ति का वर्णन कर रहा है—हे विपुल कीर्ति के भाजन राजन्! यह चरित तुम्हारे ही पुत्र का है—उस पुत्र का, जिसके चरण प्रजाजनों तथा श्रेष्ठ मान्य राजाओं के मस्तक से पूजित हो रहे हैं, वृत्रासुर (अहि) को मारनेवाले इन्द्र की श्री के समान जिसकी लक्ष्मी है और जिसका तेज जल के शत्रु (अग्नि) के समान है। कीर्ति के वर्णन होने पर भी इस पद्य में पेशलता का अभाव है—इसमें न तो शब्दों का प्रसाद है और न भावों की सरसता। इन्द्र के लिए 'अहिघ्न' तथा अग्नि के लिये 'जलारि' का प्रयोग अप्रसाद का स्पष्ट परिचायक है। भामह की दृष्टि में काव्य में यह कपित्थपाक नितान्त निन्दनीय होता है।

वामन ने पाक के दो प्रकार बतलाए हैं—(१) सहकारपाक और (२) वृन्ताकपाक। इनमें सहकारपाक गुणों की स्फुटता के अवसर पर होता है और काव्य में श्लाघनीय माना जाता है। वृन्ताकपाक में सुप् तिङ्, नाम तथा क्रियापदों का संस्कारमात्र रहता है, अर्थ का गुण नितान्त अस्फुट रहता है। इसी कारण यह पाक काव्य में गर्हणीय माना जाता है—

गुणस्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥
सुप्-तिङ्-संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥

—वामन ३।२।१५

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के पञ्चम अध्याय में 'पाक' के ९ भेद माने हैं तथा उनका परस्पर पार्थक्य भी दिखलाया है। इन नवभेदों को तीन प्रकारों में बाँट सकते हैं—

अधम	मध्यम	उत्तम
पिचुमन्दपक	बदरपाक	मृद्वीकापाक
वार्ताकपाक	तिन्तिडिकापाक	सहकारपाक
क्रमुकपाक	त्रपुसपाक	नारिकेलपाक

(१) आदि और अन्त में दोनों जगह जो काव्य अस्वादु होता है वह कहलाता है—पिचुमन्दपाक।

(२) आदि में अस्वादु हो, पर अन्त में, परिपाकदशा में मध्यम हो, वह होता है बदरपाक।

(३) आदि में अस्वादु, और अन्त में स्वादु होनेवाला काव्य मृद्वीकापाक कहलाता है।

(४) आदि में मध्यम और अन्त में अस्वादु काव्य 'वार्ताकपाक' माना जाता है।

(५) आरम्भ में भी मध्यम और परिणाम में भी मध्यम काव्य तिन्तिडीक पाक होता है।

(६) आरम्भ में मध्यम हो, पर अन्त में स्वादु हो, वह काव्य सहकारपाक कहलाता है।

(७) क्रमुक पाक आदि में उत्तम होता है और अन्त में अस्वादु होता है।

(८) त्रपुसपाक आदि में उत्तम होता है, पर अन्त में मध्यम होता है।

(९) नारिकेलपाक आदि और अन्त दोनों जगह स्वादु होता है।

इन पाकों में अधमपाक की सर्वत्र निन्दा की जाती है। अधमपाक का अभ्यासी कुकवि कहलाता है। मर जाना अच्छा है, परन्तु बुरी कविता लिखना अच्छा नहीं—अकविता से कुकविता गर्हणीय वस्तु होती है। मध्यमपाक वाले लेखकों का संस्कार हो सकता है। उत्तम पाकवाले कविजन आदर के पात्र होते हैं और इन पाकों में अन्तिम तीन पाक नितान्त श्लाघनीय होते हैं। पिछले आलंकारिकों ने केवल दो पाकों को स्वीकार किया है—मृद्वीकापाक (द्राक्षापाक) तथा नारिकेलपाक जिनमें द्राक्षापाक को शोभनतर माना है।

७—उक्ति

"उक्ति-विशेषः काव्यम्"

'उत्ति विसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ'

—कर्पूरमञ्जरी

(उक्ति विशेष ही काव्य होता है। भाषा जो हो सो हो।)

आलोचकमूर्धन्य राजशेखर ने इस सारगर्भित वाक्य में काव्य स्वरूप-विषयक महत्त्वशाली सिद्धान्त की अभिव्यञ्जना की है। विशिष्ट प्रकार की उक्ति ही काव्य है। 'उक्ति' का अर्थ है कहने का ढंग या प्रकार। 'उक्ति-विशेष' का अर्थ है सामान्य कथन-प्रकार से चढ़-बढ़कर कहने का ढंग। काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु होती है कथन का यही प्रकार, वर्ण्य वस्तु का वैशिष्ट्य नहीं। कवि अपने काव्य के माध्यम द्वारा सत्य घटना का वर्णन करता है या असत्य का? इस झमेले में आलोचक कभी नहीं उलझता। वह तो कथन के प्रकार की सच्ची परख करता है। जिस ढंग से कोई वस्तु काव्य में कही गई है वह ढंग है कैसा? पामर-जन-श्लाघनीय है या मर्मज्ञ-जन-स्पृहणीय? वह हृदय के ऊपर प्रभाव जमाता है या चिकने घड़े पर जलबूंद के समान पतन में ही अपने जीवन की समाप्ति करता है।

कवि के लिये अपने काव्य-रत्न को दो गर्त्तों में गिरने से बचाना पड़ता है—प्रथम है ग्राम्य-दोष और दूसरा है अप्रतीत दोष। केवल जनसाधारण के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण अनेक शब्दों तथा विन्यासों में अतिपरिचित होने से अवज्ञा का उदय होता है—यह है ग्राम्य-दोष। 'कटिस्ते हरते मनः' कहनेवाला व्यक्ति कवि नहीं है, भांड़ है। उधर शास्त्रमात्र में ही प्रयुक्त होनेवाले शब्दों से—वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों में प्रयुज्यमान पारिभाषिक शब्दों से—भी काव्य को बचाना पड़ता है। ऐसा न हो तो काव्य के रसास्वादन की तो कथा दूर रही, उसके अर्थ का समझना भी पाठकों के लिये टेढ़ी खीर बन जाता है। कवि दोनों प्रकार के—पामर-शब्द तथा पण्डित-शब्द—शब्दों को अपनी कविता में प्रयुक्त करता है, परन्तु उन्हें इस रूप में प्रयुक्त करता है, उनके कहने का ढंग इतना निराला रहता है कि वह वाक्य पाठकों या श्रोताओं के हृदयपर गहरी लकीर खींचे बिना नहीं रहता।

जवानी में पैर रखनेवाली किसी सुन्दरी की कमनीयता पर दृष्टिपात कीजिए—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः।

तरुणाई को छूनेवाली मृगनयनी की कौन-सी चीज सुन्दर नहीं होती? उसकी मुसकान किञ्चित् चिकनी होती है। दृष्टि का विभव तरल और मधुर होता है। वचन की भंगी अभिनव विलासोक्ति से रसमयी होती है। गमन का आरम्भ लीला की सुगन्ध से पल्लवित होता है। इस प्रकार उसकी कौन-सी वस्तु लावण्य का निकेतन नहीं होती? इस सरस पद्य में चारुता किंजन्य है? सुन्दरी के शरीर में इस प्रकार की विशिष्टता जनमती है या नहीं? इस प्रश्न की परीक्षा के पचड़े में आलोचक नहीं पड़ता। वह तो फड़क उठता है कवि के कथन-प्रकार को ही देखकर। 'काव्य में उक्ति का चमत्कार ही मुख्य होता है', यह भारतीय आलोचकों का सर्वमान्य सिद्धान्त है।

ऋजु-प्रेम के उपासक घनानन्द का यह सवैया पढ़िए। कितने अनूठे ढंग से बात कही गई है—

मग हेरत दीठी हेराय गई जब तें तुम आवनि-औधि बदी।
बरसौ कितहूँ घन आनँद प्यारे, पै बाढ़ति है इत सोच-नदी॥
हियरा अति औटि उदेग की आँचनि च्वावति आँसुन मैन मदी।
कब आइहौ औसर जानि सुजान बहीर लौं बैस तो जाति लदी॥

आशय है कि हे सुजान, जब से तुमने आने की अवधि बदी है तब से आपकी राह हेरते-हेरते मेरी दृष्टि खो गई है। हे आनन्ददायक घन! आप किधर भी क्यों न बरसें, पर इधर ही सोच की नदी बढ़ती है। चाहिए तो यह था कि मेघ जिधर बरसे उधर ही नदी उमड़े, परन्तु यहाँ की दशा विचित्र है। आपके लिये मेरे हृदय में सोच दिन-रात बढ़ता ही चला जा रहा है। हृदय को व्याकुलता की आँच में औटकर कामदेव आँसुओं के रूप में मदिरा टपका रहा है। हे सुजान, उचित अवसर जानकर आप कब पधारेंगे? यहाँ मेरी उम्र तो सेना के समान (बहीर लौं) ढलती जा रही है।

घनानन्दजी की भावाभिव्यक्ति का कथन-प्रकार कितना अनूठा तथा रोचक है। यह पद्य सचमुच हमारे कविवर की काव्य-कुशलता का पर्याप्त

द्योतक है। 'उक्तिविशेषः काव्यम्'—इस काव्य के सामान्य लक्षण का यह विशिष्ट दृष्टान्त है।

'उक्ति' सिद्धांत का विकास

इस विषय की समीक्षा से पता चलता है कि काव्य में कथन-प्रकार को ही सर्वस्व मानने वाले प्रथम आलोचक हैं भट्टनायक जिन्होंने अपने नितान्त विश्रुत, परन्तु अद्यावधि अनुपलब्ध साहित्य-ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में इस मत की स्पष्ट विवेचना की थी। उनका मत है कि शास्त्र शब्द की प्रधानता पर आश्रित होकर प्रवृत्त होता है, आख्यान (इतिहासादि कथा प्रपंच) में अर्थ ही प्रधान तत्त्व रहता है परन्तु इन दोनों—शब्द तथा अर्थ—की अप्रधानता परन्तु व्यापार के प्राधान्य होने पर 'काव्य' की संज्ञा प्राप्त होती है—

> शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
> अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
> द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्।

इस कारण भट्टनायक आलोचना-जगत् में 'व्यापारवादी' के नाम से उल्लिखित किए जाते हैं। लोक, शास्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र—सर्वत्र हमारी दृष्टि वर्ण्यवस्तु की ओर ही लगी रहती है कि जिसे हमें प्रकट करना है उसका प्रकाशन ठीक-ठीक शब्दों के द्वारा हुआ या नहीं? हमारे अभिप्राय को लोग ठीक समझ लेंगे अथवा समझने में गलती करेंगे? परन्तु, काव्य में इसका विचार हो जाता है अप्रधान, शब्द और अर्थ दोनों हो जाते हैं गौण, प्रधान लक्ष्य होता है वर्णन का प्रकार या कहने का ढंग। इसी को साहित्य जगत् में कहते हैं भट्टनायक का विशिष्ट अभिधाव्यापार।

हमारे साहित्य के एक भुक्तभोगी कवि पश्चात्ताप कर रहे हैं कि जिन शब्दों को हम लोग कहते हैं, जिन अर्थों का उल्लेख हम करते हैं, विन्यास की विशेषता से सुन्दर होनेवाले इन्हीं शब्दों तथा अर्थों से कवि लोग संसार को मोहित कर देते हैं—

> यानेव शब्दान् वयमालपामः
> यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
> तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
> संमोहयन्ते कवयो जगन्ति॥

महाकवि नीलकण्ठ दीक्षित ने इस पद्य में बड़े पते की बात कही है—विन्यासविशेषभव्यैः। वे ही शब्द होते हैं, वे ही अर्थ होते हैं, परन्तु केवल विशिष्ट विन्यास से—रखने की कलाबाजी से-कविता में आश्चर्यजनक मोहकता उत्पन्न हो जाती है।

राजशेखर

आलोचकप्रवर राजशेखर भी इस सिद्धान्त के विशिष्ट पक्षपाती हैं। 'उक्ति' अनेक अलंकारों में विद्यमान रहती है—सहोक्ति, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति आदि। इन अलंकारों के अनुशीलन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचना के प्रभात काल से ही 'उक्ति' का तथ्य आलोचकों को मान्य था। उक्ति स्वतः काव्य की प्राणशक्ति है, जिसमें आंशिक विलक्षणता के कारण पूर्वोक्त नाना अलंकारों का उदय होता है। उक्ति काव्य-सामान्य की प्रतिपादिका है तथा विशेषणविशिष्ट उक्ति काव्य के शोभाधायक भूषणों की जननी है। राजशेखर की काव्यमीमांसा में 'उक्ति' का यह मान्य तथ्य संगृहीत किया गया था। 'उक्तिगर्भ' नामक आचार्य ने काव्यमीमांसा में उक्तिविषयक खण्ड की रचना की थी (औक्तिकमुक्तिगर्भः—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १)। प्रतिभा के द्वारा कवि हृदय में प्रतिभासित होनेवाले काव्यतत्त्वों में 'उक्तिमार्ग' अन्यतम है (······उक्तिमार्गम् अधिहृदयं प्रतिभासयति या सा प्रतिभा, पृष्ठ ११)। 'उक्तिविशेषः काव्यम्'—कर्पूरमञ्जरी का यह वाक्य राजशेखर-रचित ही है।

इतना ही नहीं, उन्होंने कवियों में उक्तिकवि नामक भेद स्वीकार किया है जिनकी विशिष्टता काव्य के कथन-प्रकार की ही होती है। उक्तिकवि की यह सूक्ति बड़ी ही मनोज्ञ तथा हृदयावर्जक है—

> उदरमिदमनिन्द्यं माननीश्वासलाव्यं
> स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।
> स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय-
> स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य॥

—काव्यमीमांसा, पृ० १८।

किसी चारुवदनी मयंकमुखी के यौवनावतार की यह मधुर कहानी है। उसका अभिनन्दनीय उदर मानिनी के सांस लेने से ही छिन्न हो जाने योग्य है। उसके स्तनों के तट के परिमाण की सीमा बाहुलता के द्वारा लेह्य है—चाटने

लायक है। उसका चन्द्रमुख ऐसा झलकता है मानो नेत्र की प्रणाली से वह नितान्त पीने योग्य है। इस प्रकार उस हरिणनयना के शरीर में यौवन की क्रीड़ाएँ नित्य विकसित हो रही हैं। इस पद्य में उक्ति की रुचिरता सचमुच सहृदयरञ्जनी है!!! आलोचकों के अनुसार 'समाधि-गुण' के कारण ही उक्ति में मनोज्ञता का जन्म होता है। यह बात बहुत कुछ यथार्थ है। एक पदार्थ के धर्म का अन्य पदार्थ में अध्यारोप करने से समाधिगुण उत्पन्न होता है—एकधर्मस्यान्यत्रारोपः समाधिः। इस पद्य में भी लाव्य, लेह्य, निपेय आदि चेतन-पदार्थ के धर्मों का आरोप अचेतन पदार्थों में किया गया है। उक्ति की विचित्रता का यही साहित्यिक विश्लेषण है।

राजशेखर की विदुषी धर्मपत्नी **अवन्तिसुन्दरी** भी काव्य में उक्ति की प्रधानता मानती थी, इसका परिचय काव्यमीमांसा से ही चलता है (पृष्ठ ४६)। उनका कथन है कि वस्तु का स्वरूप स्वभावतः नियत नहीं रहता, प्रत्युत विदग्धजन की कमनीय भणिति की रचना से ही वह उसमें उत्पन्न किया जाता है। वस्तु में स्वतः न तो दोष होता है और न गुण, यह गुण-दोष की सारी करामात करती है कवि की उक्ति ही। **'गुणागुणौ उक्तिवशेन काव्ये'** यही मान्य सिद्धान्त है अवन्तिसुन्दरी का। स्तुति के अवसर पर कवि चन्द्रमा को 'अमृतांशु'—अमृत के समान शीतल किरण वाला—कहता है और निन्दा के समय 'दोषाकर' कहता है। चन्द्रमा स्वतः एकरूप रहता है। कवि की उक्ति ही का सब चमत्कार है। वस्तु स्वयं एकाकार अभिन्न रहती है।

भोजराज

भोजराज की सिद्धान्त प्रणाली में भी काव्य का ग्रहण उक्तिरूप से किया गया उपलब्ध होता है। प्राचीन आलंकारिकों में भोजराज की काव्य-दृष्टि समन्वयात्मक थी; उन्होंने अनेक आपाततः विरुद्ध सिद्धान्तों का भी अपने ढंग से सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया था। उन्होंने उक्ति का अन्तर्भाव गुण तथा अलंकार के भीतर माना है। उक्ति शब्द-गुण भी होती है और अर्थ-गुण भी।

उक्ति—शब्दगुण

शब्दगुणात्मिका उक्ति का लक्षण है—विशिष्टा भणिति—विशिष्ट प्रकार का कथन—

विशिष्टा भणितिर्या स्याद् उक्तिं तां कवयो विदुः ॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण—१-७६।

इस लक्षण में भणिति पद के साथ 'विशिष्टा' विशेषण देने का स्वारस्य भोज के टीकाकार रत्नेश्वर ने बड़ी मार्मिकता से समझाया है। लोकोत्तरा हि सन्ति भणितिप्रकाराः। लोकप्रसिद्धा यथा सुप्तोऽसीति प्रश्ने गृहे देवकुले वेति। एतत् प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या किंचित् कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा। यथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम् (सरस्वती० पृ० ७१ निर्णयसागर सं०)।

भणिति—कथन—के प्रकार लोकोत्तर होते हैं। लोकप्रसिद्ध कथन-प्रकार में कोई चमत्कार नहीं रहता। लोकप्रसिद्ध ढंग का सर्वथा अतिक्रमण कर कवि-प्रतिभा के द्वारा जो भणिति निर्दिष्ट की जाती है वह होती है लोकोत्तर, अलौकिक। प्रतिभा के द्वारा आकृष्ट होने के कारण चमत्कारी होने से 'उक्ति' गुण के अन्तर्गत मानी जाती है।

इस व्याख्या का सार यही है कि अलौकिक भणिति को उक्ति कहते हैं और वह काव्य का नितान्त सौन्दर्यसाधक उपाय है।

उदाहरण से इसकी चारुता का परिचय मिल जायगा—

कुशलं तस्या जीवति, कुशलं पृच्छामि जीवतीत्युक्तम्।
पुनरपि तदेव कथयसि मृतां नु कथयामि या श्वसिति।

वियोगविधुरा सुन्दरी के विषय में यह नितान्त रोचक कथनोपकथन है। प्रथम व्यक्ति ने पूछा—कहिए उसकी कुशल है न?

द्वितीय व्यक्ति—हाँ, जीती तो वह अवश्य है।

प्रथम—मैं तो आप से उसकी कुशल पूछ रहा हूँ।

द्वितीय—मैंने तो आप से कह ही दिया कि वह जीती है।

प्रथम—फिर भी आप वही कहते हैं!

द्वितीय—हां, जो साँस ले रही है उसे मैं क्या मृता कहूँ?

नायिका के प्राण विरह के कारण कण्ठगत हो रहे हैं; यह केवल साँसें भर रही है। इस दयनीय दशा का चित्रण 'जीवित' शब्द के द्वारा कवि कर रहा है। इस पद्य में कथन का ढंग नितान्त रोचक, मनोज्ञ और साहित्यिक है। साधारण कवि अनेक वाक्यों के द्वारा भी जिस चित्र को उन्मीलित नहीं कर सकता था, वही कार्य इस सुकवि ने 'जीवति' के द्वारा किया है।

उक्ति—शब्दालंकार

भोजराज ने 'उक्ति' को शब्दालंकार का एक विशिष्ट प्रकार माना है (कण्ठाभरण २-४२) तथा उसके छः भेदों का भी वर्णन किया है—
विध्युक्ति, निषेधोक्ति, अधिकारोक्ति, विकल्पोक्ति, नियमोक्ति तथा परिसंख्योक्ति। इतना ही नहीं, वे स्पष्ट कहते हैं—**'शब्दस्य प्राधान्यात् शास्त्रम्, अतीतार्थस्य प्राधान्यात् इतिहासः। उक्तिप्राधान्यात् काव्यम्।**

भोजन में 'उक्ति' बहुत व्यापक अर्थ में भी गृहीत की गई है। वे समस्त वाङ्मय को ही उक्ति की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त करते हैं—

(१) **स्वाभावोक्ति** जिसमें वस्तु के तथ्यरूप का प्रकाशन होता है,

(२) **वक्रोक्ति** जिसमें अलंकार की सज्जा से भूषित उक्तियों का प्रकाशन होता है,

(३) **रसोक्ति** जिसमें रस की प्रधानता रहती है—

> **वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्**
> **सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥**
>
> —सर० कण्ठा० ५-८।

भट्टनायक के मत का प्रभाव भोजराज पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। महिमभट्ट भी इस मत के पोषक हैं, परन्तु किञ्चित् पार्थक्य के साथ। वे भी शास्त्र को 'शब्दप्रधान' मानते हैं तथा इतिहास को 'अर्थप्रधान' परन्तु काव्य को 'व्यापार-प्रधान' न मानकर 'शब्दार्थ-युगल-प्रधान' मानते हैं। बहुरूप मिश्र भी भोजराज के ही अनुयायी हैं। अग्निपुराण में यही पार्थक्य प्रदर्शित किया गया है—

> **शास्त्रे शब्दप्रधानत्वम् इतिहासेऽर्थनिष्ठता।**
> **अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥**
>
> **—अग्निपुराण, ३३७-२-३**

यहाँ ध्यान देने योग्य एक विशिष्ट तथ्य है। कहा जा सकता है कि अभिधाव्यापारवादी होने के कारण ही भट्टनायक का काव्य में व्यापारवाद का सिद्धान्त औचित्यपूर्ण माना जा सकता है, अतः काव्य में व्यापारप्राधान्य का तथ्य अभिधावाद पर ही आश्रित रहता है। परन्तु यह कथन नितान्त भ्रान्तिपूर्ण तथा निराधार है। व्यञ्जनावादी आलोचकों को भी काव्य में व्यापार-प्राधान्य का मत सर्वथा माननीय है। लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य ने भी यह

कहकर भट्टनायक का उपहास किया है कि काव्य में व्यापार की प्रधानता मानकर आपने आलोचना के क्षेत्र में कोई नयी वस्तु उत्पन्न नहीं की, क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य भी आनन्दोत्पादक ध्वननव्यापार को काव्य में प्रधान सर्वथा मानता ही है—

व्यापारो हि ध्वनात्मा रसनास्वभावो यदि, तन्न अपूर्वमुक्तं किञ्चित् ।

—लोचन पृ० २७

विद्याधर ने भी अभिनवगुप्त के ही इस मत का स्पष्ट अनुवाद अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

ध्वनिप्रधानं काव्यं तु कान्तासम्मितमीरितम् ।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यञ्जनप्रवणं यतः ॥

—एकावली १।६ ।

आलोचकमूर्धन्य मम्मट ने भी अपने 'काव्य-प्रकाश' में इस तथ्य का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है । उन्हों ने साहित्य के शब्दों को तीन विभागों में बाँटा है—प्रभुशब्द, सुहृद्शब्द तथा कान्ताशब्द । प्रभु के समान वेदादि शब्द 'शब्दप्रधान' होता है । 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'—इस श्रुति वाक्य में शब्दों की प्रधानता है । प्रभु के सामने सेवक बिना कोई मीन-मेष किए ही उसकी आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार श्रुति के वाक्यों को हम बिना 'ननु' 'न च' किए ही स्वीकार करते हैं ।

सुहृद्शब्द के समान होते हैं इतिहास-पुराण जिनमें अर्थ की ही प्रधानता रहती है । इतिहास-पुराण हमारे सामने अपना भव्य उपदेश रख देते हैं—सन्मार्ग पर चलने का फल होता है कल्याण तथा कुमार्ग पर चलने का परिणाम होता है अमंगल । वह मित्र के समान उपदेश-मात्र का होता है—केवल उपदेशक होता है, आग्रही नहीं होता—'येनेष्टं अधिकारी तेन गम्यताम्' उसकी मान्य नीति होती है ।

परन्तु कान्ता की दशा इन दोनों से विलक्षण होती है । वह न आग्रह करती है, न उपदेश देती है, प्रत्युत रसमय वाक्यों के द्वारा अपने प्रियतम का हृदय अपनी ओर बरबस खींच लेती है जिससे वह उसकी इच्छा की पूर्ति अवश्यमेव कर देता है । यही अवस्था है काव्य की जिसमें शब्द और अर्थ दोनों गौण रूप से विराजते हैं और प्रधान होता है रसांगभूत व्यापार । इस व्यापार के कारण ही परम चमत्कारमय रस का काव्य में उदय होता है । यह व्यापार व्यञ्जन-व्यापार ही होता है । अतः भट्टनायक के समान काव्य में

ध्वनिवादियों को भी व्यापार-प्राधान्य अभीष्ट है। अन्तर है तो केवल उस व्यापार के रूप का। भुक्तिवादी भट्टनायक के लिए यह व्यापार है अभिधा या भोजकत्व; व्यञ्जनावादी आचार्यों की सम्मति में यह होता है व्यञ्जना। मम्मट के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

प्रभुसम्मित-शब्दप्रधान-वेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितमर्थतात्पर्यवत् पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसांगभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्।

—काव्यप्रकाश १—२ की वृत्ति

इस विषय में पाश्चात्य मत भी पूर्वोक्त मत के सर्वथा अनुकूल ही है। पाश्चात्य आलोचकों के अनुसार काव्य का मुख्य लक्ष्य है how to express, not what to express—वर्णन-प्रकार, वर्ण्य-वस्तु नहीं। वर्ण्य-वस्तु प्रधान लक्ष्य होता है इतिहास का, काव्य का नहीं।

८—काव्यलक्षण

(मम्मट)

भारतवर्ष का प्रत्येक मान्य आलोचक अपनी दृष्टि से काव्य स्वरूप का निर्णय करता है और दृष्टियों की भिन्नता के कारण इनके काव्यलक्षण में भी पर्याप्त भिन्नता है। इन काव्यलक्षणों का ऐतिहासिक रीति से अनुशीलन करने पर एक निश्चित विकास का परिचय आलोचक को होना स्वाभाविक है; उदाहरण के लिये हम आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण यहाँ प्रस्तुत करते हैं और उसका विशिष्ट अनुशीलन ऐतिहासिक रीति से भी उपस्थित करते हैं।

मम्मट का विख्यात काव्यलक्षण

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती: पुनः क्वापि॥

काव्य होता है शब्द और अर्थ—जो दोष से रहित हों, गुण से मण्डित हों तथा वे कहीं पर अलंकार से हीन भी हो सकते हैं।

मम्मट की दृष्टि में शब्द और अर्थ के जोड़े के लिये 'काव्य' का प्रयोग किया है, परन्तु शब्द तथा अर्थ साधारण न होकर विशिष्ट होने चाहिए। यह विशिष्टता किंरूप है? दोषहीनता, गुणसम्पन्नता तथा अलंकारयुक्तता ही काव्य बननेवाले शब्दार्थ की विशिष्टता है। दोषराहित्य पर उनका आग्रह है ही। गुण

तथा अलंकार—इन दोनों में मम्मट का आग्रह गुण पर ही अधिक है, अलंकार के ऊपर उनकी अपेक्षा कम। इसीलिये वे गुण के समान अलंकार को काव्य का आवश्यक अंग मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। ऐसे अनेक स्थल (विशेषतः रसप्रधान) विद्यमान हैं जहाँ अलंकार की सत्ता न रहने पर भी काव्यत्व में किसी प्रकार की क्षति नहीं आती। इस प्राचीन पद्य पर दृष्टिपात कीजिए जो अलंकारहीन होने पर भी उत्तम काव्य है—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेशभीरुणा।
इदानीमावयोर्मध्ये सरित्-सागर-भूधराः ॥

किसी सुन्दरी के विषमवियोग से सन्तप्त नायक अपनी पूर्वावस्था के साथ वर्तमान दीनदशा की तुलना कर कह रहा है—

मैंने विश्लेष-विच्छेद-के डर से सुन्दरी के कण्ठ में हार नहीं पहनाया। हम दोनों के बीच में हार के आने से आश्लेष-आलिंगन-ही ठीक ढंग से नहीं जमता। यह तो हुई संयोग की सुहावनी कल्पना। परन्तु आज? आज तो उसके और हमारे बीच में नदियाँ लहरा रही हैं, सागर कल्लोल कर रहा है तथा भूधर अगम्य रूप से रास्ता रोके खड़े हैं। महाकवि घनानन्द के स्मरणीय शब्दों में यह नायक कहना चाहता है—

तब हार पहार से लागत हे, अब बीच में आनि पहार अड़े।

इस पद्य में अलंकार का चमत्कार बिलकुल ही नहीं है। यदि कुछ है तो केवल 'हारो नारो' में एक फीकी झलक है, फिर भी विप्रलम्भ के पोषक होने के कारण इस पद्य में पर्याप्त भावमाधुरी भरी हुई है। अलंकार की सत्ता से हीन होनेपर भी यह केवल काव्य ही नहीं है, प्रत्युत उत्तम काव्य है। ऐसे ही स्थलों के समावेश के निमित्त आचार्य मम्मट शब्दार्थ को कभी-कभी 'अनलंकृति' मानने के लिये प्रस्तुत हैं।

ध्वनिमार्ग के उपासक मम्मट का दोषहान तथा गुणाधान के ऊपर आग्रह रखना उनके सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। काव्य में गुणों की सत्ता होने का अर्थ है रस की सम्पत्ति। अतः मम्मट का आग्रह है कि वही शब्दार्थयुगल काव्य की महनीय संज्ञा से मण्डित होने का अधिकारी है जिसमें दोषहीनता के साथ-साथ रस की सम्पत्ति पर्याप्त मात्रा में उपस्थित हो। इस रससम्पत्ति के अभाव में कभी-कभी अलंकार का चमत्कार शब्दार्थ को काव्य बनाने की क्षमता रखता है। गुणों की अपेक्षा अलंकारों में चमत्कार उत्पन्न करने की योग्यता न्यून ही होती है। गुण काव्य के अन्तरंग तथा नियत धर्म हैं।

अलंकार काव्य के बाह्य तथा अनियत धर्म हैं। अतः अलंकारों की अपेक्षा गुणों को काव्य में महत्त्व देना नितान्त समुचित है।

मम्मट के इस स्वारस्य को न समझकर अनेक अलंकारवादी आचार्य उनके 'अनलंकृती' वाले अंश से बेतरह चिढ़े हैं। भावावेश में आकर चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला है कि जो आचार्य अलंकार से रहित शब्दार्थ को काव्य बतलाने का साहस करता है वह आपको उष्णता से हीन मानने की हिमाकत करता है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८॥

जयदेव की दृष्टि में अलंकार अग्नि में उष्णता के समान काव्य का नैसर्गिक धर्म भले ही हो, परन्तु परिष्कृत बुद्धिवाला आलोचक अलंकार को काव्य में इतना महत्त्व देने की भूल कभी नहीं कर सकता।

अब मम्मट के काव्यलक्षण के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत की जाती है।

(क) अदोषौ शब्दार्थौ

इस काव्यलक्षण का प्रथम उपादेय अंश है—अदोषौ। भामह का काव्य का सामान्य लक्षण है—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, अर्थात् शब्द तथा अर्थ मिलकर काव्य बनते हैं, परन्तु उनके ग्रन्थ से पता नहीं चलता कि शब्द और अर्थ का यह साहित्य 'सहितभाव' किस आधारपर आश्रित रहता है। यह आधार केवल वैयाकरण योजना है अथवा साहित्यिक सामञ्जस्य! भामह ने काव्य में अनेक हेय दोषों का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है जिससे स्पष्ट है कि वे अस्पष्ट रूप से शब्दार्थ को दोषहीन मानने के पक्ष में हैं। वामन ही हमारे प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने काव्य के लक्षण में 'अदोष' को स्थान दिया है। उनकी दृष्टि में काव्य होता है—काव्य-शब्दो गुणालंकृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते अर्थात् गुण (रीति और रस) तथा अलंकार (उपमा रूपक आदि) से सुन्दर बनाए गए शब्द और अर्थ ही 'काव्य' कहे जाते हैं। वामन का पुनः कहना है कि गुणालंकार के आदान से तथा दोष के हान (तिरस्कार) से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है—

स दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम् (१।१।३)

भामह में जो बात अस्पष्ट रूप से विद्यमान थी वही वामन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। अलंकार—सौन्दर्य—की सत्ता काव्य में उपादेयता उत्पन्न करती है और इस उपादेयता के लिए सबसे पहिली वस्तु है दोष का हान अर्थात् निराकरण। 'अदोषौ शब्दार्थौ' का यही मूल स्थान है। मम्मट से कुछ पहिले भोजराज ने भी काव्यलक्षण में 'निर्दोषत्व' को आवश्यक अंग बतलाया है। उनका काव्य-लक्षण है—

निर्दोषं गुणवत् काव्यम् अलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण १।२

रत्नेश्वर की व्याख्या के अनुसार 'निर्दोष' शब्द का अर्थ है—दोष का नितान्त अभाव (अत्यन्ताभाव)। इस विशेषणपर आग्रह करने का कारण यही है कि जिस प्रकार कामिनी के किसी अंग में विद्यमान श्वित्र का छींटा उसके समग्र शरीर के सौन्दर्य को भ्रष्ट करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार काव्य के एकदेश में वर्तमान वर्णगत भी दोष काव्य की समग्र रमणीयता के तिरस्कार में कृतकार्य होता है।[1]

इन्हीं सूत्रों को ग्रहणकर मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में 'अदोषौ' पद का विन्यास किया है।

'अदोषौ' का खण्डन

इसका विस्तार से खण्डन किया है विश्वनाथ कविराज ने तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने। विश्वनाथ का तर्क है कि काव्य भी मनुष्य के इतर व्यापार तथा कृतियों के समान मानवसुलभ त्रुटियों का आगार है। दोष इतने सूक्ष्म तथा व्यापक होते हैं कि दोषहीन काव्य की कल्पना करना आकाशपुष्प की आशा के समान है। कितना भी कवि जागरूक रहे या तर्क से काम ले, उसकी रचनाओं में दोषों का आ जाना असम्भव नहीं होता।

---

१. निर्दोषं दोषात्यन्ताभाववत्। अवयवैकवर्तिना श्वित्रेणेव कामिनी शरीरस्य वर्णमात्रगतेनापि दोषेण काव्यवैरस्यनियमात्। अत एवामंगलप्रायाणामपि दोषाणां प्रथममुपादानम्। अयमेव हि प्राचः कवेर्व्यापारो यद् दोषहानं नाम।

—रत्नेश्वर

इसीलिए महामान्य कवियों की काव्यकृतियों में भी अनेक दोषों की सत्ता सर्वथा विद्यमान रहती है। ऐसी परिस्थिति में क्या 'निर्दोष' काव्य की सत्ता कथमपि मान्य हो सकती है! ध्वनि से समन्वित उत्तम काव्य में भी दोष कहीं न कहीं उसे कलुषित बनाने के लिये छिपकर बैठा रहता है। अतः निर्दोष के सर्वथा असम्भव होने के कारण काव्य ही प्रविरलविषय या निर्विषय हो जायगा।

दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि किसी भी पदार्थ के स्वरूप-निर्देश में दोषाभाव का उल्लेख नितान्त अनुचित है। दोष पदार्थ की हेयता का हेतु होता है, उसके स्वरूप का अपवर्जक नहीं होता। यदि रत्नों को कीड़ों ने छेदकर दूषित बना डाला हो, तो इससे रत्नों का रत्नत्व नष्ट नहीं हो जाता प्रत्युत उसकी उपादेयता में ही हानि हो सकती है। विशुद्ध रत्नों का मूल्य दूषित रत्नों की अपेक्षा कहीं अधिक सारवान् होता है। काव्य की भी दशा ठीक रत्न के ही सदृश होती है। श्रुतिदुष्ट आदि दोष काव्य के काव्यत्व को कथमपि दूर नहीं कर सकते, केवल उसकी रमणीयता-मात्रा में ही ह्रास उत्पन्न कर सकते हैं। अतः काव्य के लक्षण में 'अदोष' विशेषण की सार्थकता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती—

एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधपरिहारवत्। नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः, किन्तु उपादेयतारतम्यमेव कर्तुम्। तद्वत् अत्रापि श्रुतिदुष्टादयः काव्यस्य।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

पण्डितराज जगन्नाथ की भी समीक्षा इसी शैलीपर की गई है।

समाधान

इतनी विरुद्ध आलोचना होने पर भी मम्मट के काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' पद का समाधान भली भाँति किया जा सकता है। केवल दोष की सत्ता होने से ही काव्य त्याज्य नहीं हो सकता, क्योंकि सब दोष दोष नहीं होते। दोषों में भी परस्पर तारतम्य होता है। रस का अपकर्षकत्व ही दोष का मुख्य लक्षण है—रसाकर्षका दोषाः। अतः रसदोष काव्य के मौलिक चमत्कार का जितना विघातक होता है उतना पददोष नहीं। 'दोषहान' से अभिप्राय इन्हीं मुख्य रसदोष के परिहान से है, क्षुद्र दोषों की सत्ता रहने पर भी काव्य में किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इसीलिये नमि साधु ने

न्यूनाधिक दोष को 'नेत्रोत्पाटतुल्य' माना है और असमर्थ दोष को 'पटलनिभ' (नेत्ररोग-विशेष के समान) स्वीकार किया है (रुद्रट टीका ६।१)। आलोचक आदर्श को लक्ष्यकर लक्षण-निर्माण करता है, वस्तुस्थिति के विचार से नहीं। मम्मट ने इसीलिये स्थित काव्य का लक्षण न देकर आदर्श काव्य का (या नागेशभट्ट के शब्दों में 'अनुपहसनीय' काव्य का) लक्षण यहाँ प्रस्तुत किया है।

काव्य में अनेक उपायों के द्वारा सौन्दर्य का उन्मीलन किया जा सकता है। बिना सुन्दर हुए शब्दार्थ को हम काव्यपदवी से मण्डित नहीं कर सकते। इन सौन्दर्य साधनों में 'दोषहान'—दोषहीनता—भी एक महनीय साधन है। सत्तात्मक गुणों के अभाव में इस निषेधात्मक साधन की स्थिति भी सर्वथा श्लाघनीय होती है। कवि तथा भावक दोनों ही इस विषय में एकमत हैं कि दोषहीनता भी काव्य में उपादेय साधन है। माघ का मत है—अपदोषतैव विगुणस्य गुणः (माघ ९।१२)। गुणहीन व्यक्ति के लिये दोषहीनता ही स्वयं गुण होती है। उसमें सत्तात्मक गुणों के अभाव में दोष की हीनता भी महनीय गुण का काम करती है। केशव मिश्र ने किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति का उल्लेख इसी मत की पुष्टि के निमित्त किया है—

दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्यो गुणोऽस्तु मा वास्तु महान् निर्दोषता गुणः॥

काव्य में दोष रस की हानि करता है। अतः उसका परित्याग सब प्रकार से होना चाहिए। अन्य गुण हों या न हों; काव्य में निर्दोषता ही महान् गुण होता है। अतः प्रत्येक कवि का लक्ष्य दोषहीनता की ओर होना ही चाहिए।

महाकवि कालिदास भी इसी के समर्थक हैं। कवि का कर्तव्य है सब प्रकार से अपने काव्य को दोष से उन्मुक्त रखे। यदि सर्वथा प्रयत्न करनेपर भी वह मानव-सुलभ त्रुटियों का पात्र बनकर दोष कर ही बैठता है, तो भी कोई हानि नहीं होती। क्या सुधाकर के किरणों में उसका दोषरूप एक कलंक छिप नहीं जाता ! क्या गुणगरिमा से सम्पन्न काव्य में उसी प्रकार एक दोष छिप नहीं सकता !

एको हि दोषो गुणसन्निपाते।
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

(कुमारसम्भव १।३)

कभी कभी दोष की सत्ता से भी काव्य का गुण झलक उठता है। ऐसी दशा में वह दोष अपकर्षक न होकर रसावर्जक होने से नितान्त श्लाघनीय हो जाता है। क्या चन्द्रमा के काले धब्बे उसकी सुन्दरता बढ़ाने में सहायक नहीं होते ? 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'—कालिदास के अनुभूत सत्य की यह उक्ति काव्य-उपासकों के लिये क्या उपास्य नहीं है ?

तात्पर्य यह है कि विश्वनाथ तथा जगन्नाथ कितनी भी युक्तियों से काव्यलक्षण में निर्दिष्ट 'अदोष' विशेषण का खण्डन करें, परन्तु यह तो मानना ही पड़ता है कि कोई भी आलोचक काव्य में दोषों की सत्ता स्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ मम्मट ने लोक में विद्यमान काव्य की स्थितिपर विचार कर अपना लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। आलोचक का काम है—'काव्य जैसा है' वैसा ही वर्णन करना नहीं; वरन् 'काव्य जैसा होना चाहिए' वैसा वर्णन करना। जगत् में अधिकांश काव्य दोष-सम्पन्न ही उपलब्ध होते हैं। तो क्या आलोचक भी काव्य के लक्षण में दोष की सम्पत्ति को भी एक आवश्यक अंग मानें ? मम्मट का काव्यलक्षण आदर्श तथा अनुपहसनीय काव्य के स्वरूप का निर्देश करता है और इस दृष्टि से यह सर्वथा श्लाघनीय है।

(ख) सगुणौ सालङ्कारौ

अब काव्यलक्षण के द्वितीय अंशपर विचार कीजिए। शब्दार्थ का गुण तथा अलंकार से सम्पन्न होना नितान्त आवश्यक होता है। काव्य के उदय के साथ ही साथ यह विशिष्टता भी उसके साथ सर्वदा सम्बद्ध दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि आलोचनाजगत् में वामन ही प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने 'गुणालंकृतयोः शब्दार्थयोः काव्यशब्दो विद्यते' लिखकर गुणालंकार की सम्पत्ति को काव्य के लिये आवश्यक माना है, परन्तु काव्यजगत् में यह उनसे बहुत ही प्राचीन है। हमारे आदिकवि वाल्मीकि और भारतकार व्यास के काव्यों में गुण तथा अलंकार की सम्पत्ति, स्वरूप तथा वैशिष्ट्यपर आग्रह हम भलीभाँति पाते हैं।

लवकुश के द्वारा मधुर स्वरों में गाए गए रामायण के श्लोकों को सुनकर कवि वाल्मीकि कह रहे हैं—

> अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
> चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।

—रामायण १।४।१७

अहो, इस गायन में, विशेषकर श्लोकों में कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल में बहुत पहिले होनेवाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पड़ रही है। इस पद्य में माधुर्यगुण तथा भाविक अलंकार का नितान्त स्पष्ट उल्लेख है।

रघुवरचरित की विशिष्टता के प्रसंग में रामायण का कथन है—

> तदुपगतसमाससन्धियोगं सम-मधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
> रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम्॥

—रामायण १।२।४३

इस पद्य में काव्य के अनेक विशिष्ट गुणों का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध होता है—समास-योग, सन्धि-योग, समता तथा मधुरता (शब्द तथा अर्थ दोनों की)। इनमें प्रथम दोनों व्याकरण-सम्बन्धी गुण हैं तथा अन्तिम दोनों शब्द तथा अर्थ के सौन्दर्यबोधक साधन हैं।

किष्किन्धाकाण्ड में भगवान् रामचन्द्र तथा हनुमानजी के समागम का प्रथम अवतार होता है। हनुमान अपने प्रभुवर के प्रतापातिरेक से प्रभावित होकर उनका परिचय पूछते हैं। वह भाषण इतना सौन्दर्यपूर्ण, प्रभावशाली तथा विशुद्ध है कि रामचन्द्र को उसकी विपुल प्रशंसा करनी पड़ती है। इस प्रशंसा के अवसरपर वाल्मीकि ने काव्य में उपादेय अनेक गुणों का उल्लेख स्पष्टतः किया है—

> अविस्तरमसन्दिग्धम् अविलम्बितमद्रुतम्।
> संस्कारक्रमसम्पन्नामद्रुतामविलम्बिताम्।
> उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहारिणीम्॥
> अनया चित्रया वाचा················।
> कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥

—रामायण ४।३।३०–३२

हनुमान के वाक्य विस्तार से हीन तथा सन्देह से रहित थे। वे व्याकरण के संस्कार से सर्वथा सम्पन्न थे। उनकी कल्याणकारिणी तथा हृदयहारिणी तथा विचित्र वाणी के द्वारा हाथ में तलवार उठाये हुए शत्रु का भी चित्त पिघल जाता है, दूसरे की तो कथा ही न्यारी है।

यहाँ वाल्मीकि ने कतिपय दोषों तथा गुणों की एकत्र सूचना दी है। विस्तार तथा सन्देह अलंकार-ग्रन्थों के दोष प्रकरण में उपलब्ध तथा निर्दिष्ट

दोष हैं। 'संस्कार' वैयाकरण-विशुद्धि है जिसका अभाव शब्दहीनता का दोष माना गया है।

महाभारत में भी इसी प्रकार काव्य के आवश्यक गुणों की सूचना उपलब्ध होती है। महाभारत में श्रव्यत्व श्रुतिसुखत्व, समता तथा माधुर्य का स्पष्ट निर्देष काव्यरचना के विषय में हमें मिलता है। व्यासजी की उक्ति है (१) इस भारत आख्यान के सुनने के बाद दूसरी कोई श्राव्य-वस्तु रुचती ही नहीं। (२) भारत स्वयं श्रव्य तथा श्रुति-सुखद है। (३) भगवान् श्रीकृष्ण का वचन धर्म और अर्थ से युक्त था तथा मधुर और सम था—

(१) श्रुत्वात्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते। (आदि २।३८५)
(२) श्राव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम्। (आदि ६२।५२)
(३) निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य।
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ (उद्योग १।२५)

भारतीय कवियों के लिये वाल्मीकि और व्यास उपजीव्य हैं। आदि कवि वाल्मीकि के शोकसन्तप्त हृदय का उद्गार श्लोक रूप में परिणत होकर प्रथम कविता का अवतार हेतु जिस समय बना, उसी समय से भारतीय काव्य की दिशा निर्धारित हो गई। काव्यसरिता रसकूल को स्पर्शकर प्रवाहित होती है, अलंकारकूल को नहीं—इस तथ्य का अन्तःनिर्देश कविमानस पर सदा के लिये अंकित हो गया। काव्य में कलापक्ष की अपेक्षा हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है। रामायण ने ही हमें महा-काव्य की भव्य कल्पना दिखाई है तथा काव्य के सच्चे स्वरूप का प्रथम परिचय प्रदान किया। ऊपर उद्धृत वाक्यों को अपना आधार केन्द्र मानकर हमारे आलोचकों ने स्पष्ट मीमांसा की कि काव्य के लिये शब्द और अर्थ को गुण से मण्डित तथा अलंकार से सत्कृत होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये विज्ञ आलोचक मम्मट ने भी काव्यगत शब्दार्थ के लिये सगुणौ तथा सालंकारौ विशेषण दिया है।

समीक्षा

विश्वनाथ कविराज को काव्य लक्षण में इन पदों के निवेश से नितान्त अरुचि है। पहिले 'सगुणौ' की ही समीक्षा पर दृष्टिपात कीजिए। उनका कहना है—

(१) 'सगुणौ' शब्दार्थों का विशेषण कथमपि नहीं रखा जा सकता। जिस वस्तु का जिस पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध ही न घटे, उसे उसका विशेषण मान लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? मम्मट का भी निश्चित मत है कि गुण काव्य के अंगी प्रधानभूत रस के ही धर्म होते हैं न कि शब्द और अर्थ के। जैसे शौर्य तथा वीर्य आत्मा के धर्म होते हैं शरीर के नहीं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ॥

—काव्यप्रकाश ८।१

अतः गुण का शब्द और अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण शब्दार्थों को सगुणौ बतलाना कहाँ तक उचित है ?

(२) कहा जा सकता है कि शौर्य की अभिव्यञ्जना करनेवाले शरीर के लिये भी शूरत्व विशेषण लोकव्यवहार में व्यवहृत होता है। उसी प्रकार रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में भी 'सगुणौ' विशेषण का प्रयोग कथमपि अनुपपन्न नहीं है। इसके उत्तर में विश्वनाथ कहते हैं कि तब तो साक्षात् रूप से 'सरसौ' शब्दार्थों कहना चाहिए था, न कि 'सगुणौ'। इस द्रविड़-प्राणायाम से लाभ ही क्या ? शब्द और अर्थ का रसपेशल होना ही अभीष्ट है, तो सरसौ कह कर ही इसकी स्पष्ट सूचना काव्य लक्षण में देनी चाहिए थी। 'प्राणिमन्तो देशाः' (प्राणियों से युक्त देश) के स्थान पर 'शौर्यादिमन्तो देशाः' (शौर्य आदि से युक्त देश) कहना क्या अभीष्ट होता है ? शौर्य गुण है, प्राणी गुणी है। इसी प्रकार गुण धर्म है तथा रस धर्मी है। धर्मी की सूचना के प्रसंग में धर्म की सूचना देना कथमपि उचित नहीं है[1]। इस दृष्टि से भी 'सगुणौ' विशेषण अनुपपन्न है।

(३) तथ्य यह है कि गुण तथा अलंकार की सत्ता काव्य में उत्कर्षाधायक होती है, स्वरूपाधायक नहीं। स्वरूप के आधायक धर्म वे ही होते हैं जिनके अभाव में उस पदार्थ के स्वरूप की ही निष्पत्ति नहीं होती। गुण तथा अलंकार इस कोटि में कभी नहीं आ सकते। गुण काव्य का अन्तरंग धर्म है तथा अलंकार बहिरंग धर्म। ये काव्य की शोभा के आधायक होते हैं, रूप के आधायक नहीं होते। रूप की उपपत्ति होनेपर भी शोभा का आधान

---

१. गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्या एतत् लभ्यत इति चेत् ? तर्हि सरसावित्येव वक्तुमुचितं न तु सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद पृ० १९

युक्तियुक्त होता है। क्या शौर्यविहीन प्राणी मानवता से ही विरहित होता है? अथवा भूषणों से रहित सुन्दरी नारीत्व से ही विहीन हो जाती है? ऐसी दशा में काव्य के लक्षण में इन द्विविध विशेषणों का प्रयोग अनावश्यक ही नहीं, भ्रामक भी है। पण्डितराज जगन्नाथ की भी इस विषय में यही सम्मति है। वे स्पष्ट कहते हैं—शौर्यादिवद् आत्मधर्माणां गुणानां, हारादिवदुपस्कारकाणाम् अलङ्काराणाञ्च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च। विश्वनाथ के पूर्वोक्त लम्बे विवरण का यह सुन्दर सार संकलन है।

इन दोनों मान्य आलोचकों की समीक्षा के उत्तर में कहा जा सकता है कि मम्मट का यह लक्षण काव्य का वैज्ञानिक लक्षण नहीं है, प्रत्युत साधारण रीति से सामान्य विवरण है जिसे तर्क की कसौटीपर इतनी निर्ममता से नहीं कसा जा सकता। यह आदर्श-काव्य के स्वरूप का परिचायक लक्षण है। आदर्श-काव्य के निर्माण के लिये शब्द और अर्थ की इन विशिष्टताओं पर ध्यान देना रचयिता का प्रधान कर्तव्य होता है। रस को लक्ष्यकर प्रवृत्त होने वाला भी कवि गुण की ही ओर दृष्टिपात करता है। रस अलक्ष्य वस्तु ठहरी; गुण लक्ष्य पदार्थ है। अतः रस की अभिव्यक्ति के लिये कवि गुण की सत्तापर ही विशेष आग्रह दिखलाता है। श्रोता के हृदय में आनन्द के उद्गम का इच्छुक गायक अपने स्वर तथा लयको सुन्दर बनाने का ही सन्तत प्रयत्न करता है। अतः मम्मट का 'सरसौ' के स्थान पर 'सगुणौ' विशेषण का निवेश एकान्त अनुरूप है।

(ग) शब्दार्थौ काव्यम्

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने गये हैं, परन्तु इन दोनों में किस का प्राधान्य रहता है? इस प्रश्न की समीक्षा करने पर हमारे भारतीय आलोचकों में दो पक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं—शब्दार्थ पक्ष तथा केवल शब्द पक्ष। प्रथम पक्षवाले आचार्यों की सम्मति में काव्य न तो केवल शब्द के सौष्ठव का फल है और न केवल अर्थ के सौन्दर्य का विलास है, प्रत्युत शब्द और अर्थ का युगल समुच्चय काव्य-पद का भाजन होता है। इस पक्ष के अन्तर्गत हमारे आलंकारिकों की भूयसी संख्या है, यथा—भामह, रुद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र आदि। द्वितीय पक्ष के आलोचकों का आग्रह शब्द पक्ष के ऊपर है। उनकी सम्मति में काव्य में शब्द का ही

प्राधान्य रहता है; अर्थ तो गौणरूप से स्वतः उसका अनुयायी बनकर आ ही जाता है। इस पक्ष के प्रधान आलोचक हैं—दण्डी, अग्निपुराण के कर्ता, विश्वनाथ, जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ। इनके विशिष्ट लक्षणों पर दृष्टिपात करने से इनका वैशिष्ट्य स्वयं भासित होने लगता है—

दण्डी के अनुसार काव्य है इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदावली—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली

—काव्या० १।१०

विश्वनाथ कविराज रसात्मक **काव्य को** काव्य की संज्ञा देते हैं—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। जयदेव ने भी लक्षण, गुण, अलंकार आदि अंगों से लक्षित वाक् (वाणी-शब्द) को काव्य कहा है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकार रसानेक–वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥

—चन्द्रालोक १।७

पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यलक्षण तो नितान्त विश्रुत ही है—**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य होता है। स्पष्ट है कि अन्तिम आलोचकों की दृष्टि में काव्य में शब्द पक्ष ही समधिक पुष्ट तथा महत्त्वशाली है।

इसकी विस्तृत विवेचना जगन्नाथ ने अपने 'रसगंगाधर' में की है। वे प्रथमतः लोक-व्यवहार को ही अपने पक्ष का मुख्य समर्थक मानते हैं। लोक में यह व्यवहार सर्वदा होता है कि 'काव्य तो मैंने सुन लिया, परन्तु अर्थ नहीं समझा' या काव्य से अर्थ का ज्ञान होता है, 'काव्य ऊँचे स्वर में पढ़ा जा रहा है'। इन वाक्यों में काव्य का प्रयोग शब्द के ही निमित्त निश्चित रूप से हो रहा है। प्रथम वाक्य के अनुशीलन से तो यह बात नितान्त स्पष्ट है कि काव्य शब्दात्मक ही होता है, अर्थरूप नहीं। एक बात और भी मननीय है। पण्डितराज पूछते हैं[1] कि शब्दार्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं अथवा प्रत्येक पृथक् पृथक्? उभय पक्ष के मानने पर भी आपका

---

१. **'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तेः। न द्वितीयः एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद् वेदशास्त्र-पुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।**

—रसगंगाधर पृ० ६

तदधीते तद्वेद। किमर्थमुभावपि अर्थौ निर्दिश्येते। न योऽधीते वेत्त्यपि असौ। यस्तु वेत्ति अधीतेऽप्यसौ। नैतयोरावश्यकः समावेशः। भवति हि कश्चित् संपाठं पठति[1] न वेत्ति तथा, तथा कश्चिद् वेत्ति न च संपाठं पठति।

—४।२।५९ का भाष्य

रही उनकी "एको न द्वौ" वाली युक्ति। पण्डितराज का कहना है कि जिस तरह हम एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह यदि शब्द और अर्थ दोनों का सम्मिलित नाम काव्य हो, तो प्रत्येक के लिये काव्य शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता। यह युक्ति भी विशेष जोरदार नहीं है। ऐसे स्थल पर हम रूढ़ लक्षणा से काम चला सकते हैं जिसके द्वारा अवयव के लिये भी अवयवी का प्रयोग कथमपि अनौचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता।

तथ्य तो यह है कि काव्य की आस्वाद-व्यञ्जकता का आधार दोनों शब्द तथा अर्थ में समभावेन विद्यमान रहता है। जिस प्रकार शब्द रसोन्मेष में सहायता करता है, उसी भाँति अर्थ भी करता ही है। काव्य-गत अलौकिक चमत्कार के उत्पादन की क्षमता दोनों में वर्तमान रहती है। ऐसी दशा में शब्द में ही काव्य को सीमित रखना कहाँ का न्याय है! शक्ति और शक्तिमान् के मञ्जुल नित्य सामरस्य के समान ही वाग् और अर्थ का परस्पर नित्य सम्बन्ध है। ये परस्पर अविनाभूत सम्बन्ध से मानों इतनी सुसंबद्धता से जुड़े रहते हैं कि एक के बिना दूसरे की सत्ता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। प्राधान्य भी काव्य में दोनों का ही सम्मिलित रूप से मानना श्रेयस्कर मार्ग है। शब्द के द्वारा काव्य श्रोताओं का श्रुति-अनुरञ्जन कर अपनी ओर उन्हें आकृष्ट करने में प्रथमतः समर्थ होता है, परन्तु उनके हृदयानुरञ्जन के बिना काव्य अपने जीवन की पूर्ति कथमपि नहीं कर सकता और यह हृदयानुरञ्जन सिद्ध होता है अर्थ के ज्ञान होनेपर ही। अतः काव्य का शरीर शब्द तथा अर्थ दोनों के द्वारा समभावेन सिद्ध होता है और इसीलिये काव्य में दोनों का ही समभावेन प्राधान्य मानना ही उत्तम पक्ष है।

पाश्चात्य आलोचकों की सम्मति भी इसी पक्ष के समर्थन में है। गद्य तथा गान से कविता का वैशिष्ट्य तथा पार्थक्य प्रदर्शित करता हुआ एक पश्चिमी आलोचक-काव्य में शाब्दिक विन्यास तथा आर्थिक योजना दोनों का महत्त्व अंगीकार करता है—

---

१. संपाठं पठति अर्थनिरपेक्षं स्वाध्यायं पठतीत्यर्थः—कैयट।

Good poetry stands midway between prose and music. The moment it becomes possible to say, here the delight given is sensous and due to the form alone, or here the delight given is intellectual and due to the idea alone, at that moment the poetry ceases to be of the highest type.

आशय है कि सत् कविता गद्य तथा गायन की मध्यवर्तिनी होती है। जिस अवसर पर यह कथन सम्भव हो कि यहाँ आनन्द केवल इन्द्रियजन्य तथा केवल रूप के कारण ही उत्पन्न हो रहा है अथवा यहाँ उदीयमान आनन्द बौद्धिक है तथा केवल अर्थ के ही कारण उत्पन्न हो रहा है, उसी अवसर पर वह कविता उदात्त श्रेणी से नीचे गिर जाती है। कविता का आनन्द न तो केवल रूपजन्य होता है और न केवल अर्थजन्य, प्रत्युत वह उभयजन्य होता है। अतः काव्य में शब्द तथा अर्थ का समभावेन महत्त्व तथा प्राधान्य मानना श्रेयः पन्था है। आचार्य मम्मट के 'शब्दार्थौ काव्यम्' का यही रहस्य है।

१—साहित्य

(क) साहित्य—ऐतिहासिक-विकास

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"—भामह

'साहित्य' शब्द का प्रयोग आजकल दो प्रकार से किया है जिनमें एक अर्थ है व्यापक तथा दूसरा अर्थ है संकीर्ण। व्यापक अर्थ में साहित्य का प्रयोग उन समस्त रचनाओं के लिए किया जाता है जो किसी भाषाविशेष में निबद्ध हों। काव्य, नाटक, इतिहास, दर्शन, विज्ञान, आदि विषयक समग्र ग्रन्थों का सामूहिक नाम है 'साहित्य'। इस अर्थ में यह 'वाङ्मय' शब्द का प्रतिनिधि है और अंग्रेजी भाषा के 'लिटरेचर' शब्द का पर्यायवाची। आजकल हिन्दी में इस अर्थ में इस शब्द का प्रचुर प्रचार हम पाते हैं। संस्कृत में भी 'साहित्य' का इस व्यापक अर्थ में प्रयोग हम सर्वप्रथम भोजराज के अलंकार ग्रन्थों में पाते हैं। अतः इस अर्थ में यह शब्द लगभग एक सहस्र वर्ष पुराना है। संकीर्ण अर्थ में 'साहित्य' का प्रयोग कविनिर्मित कोमल कल्पनामय कृतियों के लिये किया जाता है। इस प्रकार यह 'काव्य' का पर्याय वाची है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'काव्य' शब्द प्राचीन है और 'साहित्य' शब्द मध्ययुगी। 'साहित्य' का यह संकीर्ण अर्थ व्यापक अर्थ की अपेक्षा प्राचीनतर है, क्योंकि भोजराज से एक शताब्दी पूर्व कविराज राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसका प्रयोग काव्य के निमित्त किया है। अलंकारशास्त्र के मध्य युग में 'कविवाङ्निर्मिति' के निमित्त दोनों शब्दों का प्रयोग समभावेन उपलब्ध होता है, परन्तु पिछले युग में इन शब्दों के अर्थ में विशेष परिवर्तन लक्षित होता है। दृश्य तथा श्रव्य रूप से द्विविध सत्ता रखने वाला 'काव्य' दृश्य के क्षेत्र से हटकर केवल श्रव्य कविता के रूप में ही संकुचित हो गया है तथा काव्य के पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द ने अपना क्षेत्र विस्तृत कर समस्त वाङ्मय को आत्मसात् कर लिया है। इस प्रकार 'काव्य' शब्द का तो हो गया है अर्थ-संकोच और 'साहित्य' शब्द का हो गया है अर्थविस्तार। इस परिच्छेद में हम 'साहित्य' की समीक्षा के लिये समुद्यत हैं।

अलंकारशास्त्र के आद्य आचार्य भामह के ग्रन्थ में 'साहित्य' शब्द विद्यमान तो नहीं है, परन्तु इसकी कल्पना अवश्यमेव वर्तमान है। भामह का काव्य-

लक्षण है—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (काव्यालंकार १ ।) शब्द तथा अर्थ मिलकर काव्य होते हैं। इस काव्यलक्षण में प्रथमतः प्रयुक्त विशेषण रूप 'सहित' शब्द से ही भाववाचक 'साहित्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'सहितयोः भावः साहित्यम्'। परन्तु आज हम नहीं जानते कि भामह को शब्द तथा अर्थ का 'सहितभाव' किस प्रकार से अभीष्ट था ? बहुत सम्भव है कि वह वाच्यवाचक रूप वैयाकरण सम्बन्ध ही हो।

भामह के अनन्तर अनेक मान्य आलोचकों ने काव्य को शब्द तथा अर्थ का सम्मिलित रूप माना है। वामन[1], रुद्रट[2], वाग्भट[3], मम्मट[4], हेमचन्द्र[5], विद्यानाथ[6] आदि हमारे आदरणीय आचार्य काव्य को शब्दार्थ-मय अंगीकार करते हैं। परन्तु इनके ग्रन्थों में 'साहित्य' शब्द की उपलब्धि नहीं होती। साहित्य का प्रथमावतार होता है। काव्यमीमांसा में। अलंकारशास्त्र के इतिहास में राजशेखर ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग पहिली बार 'काव्य' के अर्थ में किया है। इन्होंने 'काव्यपुरुष' की उत्पत्ति के विषय में एक रोचक आख्यान दिया है। सरस्वती के पुत्र काव्यपुरुष का विवाह 'साहित्य-विद्या-वधू' के साथ सम्पन्न होता है। प्राचीन आचार्यों— जैसे कौटिल्य आदि की दृष्टि में लोक के व्यवहार तथा प्रतिष्ठा के निमित्त चार विद्याएँ मुख्य हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति। राजशेखर की सम्मति में साहित्य-विद्या पञ्चमी विद्या है, क्योंकि वह पूर्वोक्त चारों विद्याओं का निष्यन्द–सार–है—

---

१. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।

—काव्यालंकारवृत्ति १।१।१

२. शब्दार्थौ काव्यम्—रुद्रटः काव्यालंकार २।१

३. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्। (पृ० १४)

४. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

—काव्यप्रकाश १।४

५. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

—काव्यानुशासन, पृ० १६

६. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥

—प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४२

पञ्चमी साहित्यविद्या। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः

—काव्यमीमांसा, पृ० ४

साहित्यविद्या का अर्थ उन्होंने स्वयं दिया है—

शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या

—(पृ० ५)

साहित्यविद्या वह विद्या है जिसमें शब्द और अर्थ का यथार्थ रूप से सहभाव, एकत्र स्थिति हो। परन्तु यहाँ 'यथावत् सहभाव' के विशिष्ट अर्थ का परिचय नहीं मिलता। राजशेखर 'यथार्थ सहभाव' से किन सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं ? इसका पर्याप्त पता नहीं चलता।

इसका विशेष परिचय मिलता है भोजराज के आलोचना ग्रन्थों में, अलंकारशास्त्र के इतिहास में भोजराज का स्थान कुछ विचित्र-सा है। वे किसी मौलिक विचारों के लिये उतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने वे प्राचीन सिद्धान्तों के समन्वय करने में दक्ष हैं। प्राचीन आलंकारिकों के द्वारा उद्भावित अनेक सिद्धान्तों का, जो आपाततः विरोधी प्रतीत होते हैं, उन्होंने समन्वय तथा अविरोध दिखलाने में विशेष ख्याति प्राप्त की है। 'साहित्य' का सिद्धान्त भी उनके विचार से साहित्य शास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त है।

भोज-साहित्य

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' की आधारशिला के ऊपर उनका विशालकाय 'शृंगारप्रकाश' का प्रासाद प्रतिष्ठित किया गया है। साहित्य की व्याख्या भोज के शब्दों में ही देखिए—

किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा, (१) अभिधा, (२) विवक्षा, (३) तात्पर्यम्, (४) प्रविभागः, (५) व्यपेक्षा, (६) सामर्थ्यम्, (७) अन्वयः, (८) एकार्थीभावः, (९) दोषहानम्, (१०) गुणोपादान, (११) अलंकारयोगः, (१२) रसावियोगः॥

भोज की दृष्टि में साहित्य शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का अपर नाम है। वह सम्बन्ध १२ प्रकार का होता है जिनमें प्रथम आठ प्रकार के सम्बन्ध शब्द तथा वाक्य की शक्ति से सम्बन्ध होने से वैयाकरण सम्बन्ध हैं और अन्तिम चार सम्बन्ध काव्यगत सम्बद्ध हैं जिनके द्वारा काव्य में सौन्दर्य का सन्निवेश तथा शोभा का संविधान किया जाता है। प्रथम आठ बाह्य सम्बन्ध हैं तथा वाच्यवाचक भाव से सम्बद्ध हैं। इन प्रसिद्ध सम्बन्धों के अनुशीलन की

आवश्यकता साहित्य ग्रन्थ में नहीं है। अन्तिम चार सम्बन्ध वास्तव में काव्य के स्वरूपोपपादक तथा अन्तरंग हैं और इन्हीं का वर्णन आलोचनाशास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। भोज ने व्यापक दृष्टि रखकर ही दोनों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया है। रत्नेश्वर ने भी अन्तिम चार सम्बन्धों को काव्य के लिये 'सर्वस्वायमानः सम्बन्धः' (सर्वस्वभूत सम्बन्ध) अंगीकार किया है। काव्य के निमित्त इन्हीं चारों सम्बन्धों का अस्तित्व एकान्त आवश्यक होता है। ये सम्बन्ध हैं—

(१) दोषहान—दोषों का परिहार,
(२) गुणोपादान—गुण का ग्रहण,
(३) अलंकार योग—काव्य के शोभाधायक भूषणों का योग,
(४) रसावियोग—रस के साथ अभेद सम्बन्ध।

आदिम तीनों सम्बन्धों की सत्ता रहने पर भी यदि काव्य रस के उन्मीलन में समर्थ नहीं होता, तो भोज की दृष्टि में भी वह नितान्त हेय तथा निन्दनीय पदार्थ ही होगा। इसीलिये उसके मत में 'रसोक्ति' की ही श्रेष्ठता सर्वत्र रहती है। इसी सिद्धान्त पर उनका काव्यलक्षण प्रतिष्ठित है—

निर्दोषं गुणवत् काव्यम् अलंकारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

—(सरस्वती कण्ठा० १।२)

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' (अध्याय ६, पृ० १४५) में भोजराजकृत साहित्य-कल्पना को अंगीकृत किया है। उन्होंने इस द्वादश सम्बन्धों का बड़ा ही प्रामाणिक तथा सुबोध वर्णन अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है[1]। इस प्रकार भोज की दृष्टि में शब्द तथा अर्थ का वैशिष्ट्य, जिसके कारण साधारण शब्दार्थ काव्य रूप में परिणत हो जाते हैं, 'साहित्य' ही है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों की दृष्टि से यह वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न ही होता है—अलंकार, गुण, रस तथा ध्वनि, परन्तु भोजराज ने इनमें किसी का भी खण्डन न कर सब मतवालों के मतों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। वे स्वतः काव्याधायक वैशिष्ट्य को 'साहित्य' ही मानते हैं।)

१. भावप्रकाश—गायकवाड सीरीज नं० ४५, १९३०, बड़ोदा (पृष्ठ १४५-१५२)

कुन्तक—साहित्य

कुन्तक अपनी जिन मौलिक कल्पनाओं के लिये साहित्य-जगत् में प्रख्यात हैं उनमें से एक अत्यन्त कमनीय कल्पना है—साहित्य। 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त के मौलिक व्याख्याता तथा उद्भावक के रूप में आलोचक वर्ग उनसे सर्वथा परिचित है। 'साहित्य' की उदात्त कल्पना भी उसी वक्रोक्ति सिद्धान्त की परिपूरिका मानी जानी चाहिए। भोजराज और कुन्तक समकालीन आचार्य हैं—एक ने मालवा में अलंकार के तथ्यों का निरूपण किया, तो दूसरे ने काश्मीर में उसी के सिद्धान्तों का निर्धारण किया। 'साहित्य' की आलोचना में दोनों में विपुल पार्थक्य है। भोजराज ने दोषहान आदि चार प्रकार के साहित्य का निर्देश कर अपनी संग्राहिका बुद्धि का ही विशेष परिचय दिया है, कुन्तक ने जो मौलिक भावना, सूक्ष्म विचार, गूढ़ार्थ विवेचन 'साहित्य' के प्रसंग में किया है उसके लिये उनकी जितनी श्लाघा तथा प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। भोजराज के निरूपण में उतनी सूक्ष्मता तथा उतनी विवेक बुद्धि का सर्वथा अभाव है।

'साहित्य' के प्रकृत अर्थ के प्रथम व्याख्याता कुन्तक ही प्रतीत होते हैं। इसकी सूचना उनके शब्दों से भलीभाँति मिलती है। कुन्तक ने 'साहित्य' पद का जैसा संज्ञानिर्देश तथा व्याख्यान किया है वह आजतक अतुलनीय है। इस पद के व्याख्या प्रसंग में उन्होंने जिस आत्मप्रसाद तथा प्रच्छन्न गौरव की सूचना दी है उससे यही ज्ञात होता है कि व्याख्या में अभिनव दृष्टिभंगी अलंकारशास्त्र के इतिहास में लाई है उन्होंने ही सबसे पहिले। उनके शब्द कितने सुन्दर हैं—

यदिदं साहित्यं नाम तद् एतावति निस्सीमनि समयाध्वनि साहित्यशब्द-मात्रेण प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्म-कौशलकाष्ठाधिरूढिरमणीयस्य अद्यापि कश्चिदपि विपश्चित् 'अयमस्य परमार्थः' इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदमवतीर्णः। तदद्य सरस्वती हृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसाम् अन्तरामोदमनोहरत्वेन परिस्फुरद् एतद् सहृदयषट्पद-चरणगोचरतां नीयते।

—वक्रोक्तिजीवित

इस कोमल कमनीय गद्य का यही तात्पर्य है कि अबतक किसी विपश्चित् ने 'साहित्य' के परमार्थ की व्याख्या करने का विचार नहीं किया था। यह

केवल सरस्वती के हृदयकमल के मकरन्दबिन्दु-पुञ्ज से सुन्दर सत्कवि वचनों के भीतर ही आमोद से मनोहर होकर स्फुरित हो रहा था। वही आज सहृदय मधुव्रतों के आस्वादन के लिये बाहर प्रकट किया जा रहा है।

इससे यही ध्वनि निकलती है कि इस विषय का सांगोपांग सूक्ष्म विचार कुन्तक ने ही किया है। आत्मगौरव की महिमा दिखलाता हुआ यह वाक्य तथ्य का ही कथन है, क्यों कि पूर्ववर्ती आलंकारिकों की व्याख्या तथा कल्पना से तुलना करने पर कुन्तक का 'साहित्य' विवेचन निःसन्देह समधिक प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्राञ्जल प्रतीत होता है।

(ख) साहित्य का अर्थ

कुन्तक ने 'साहित्य' की परिभाषा इस प्रकार की है—

> साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
> अन्यूनानतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यवस्थितिः॥
>
> —व० जी० १।१७, पृ० २७

साहित्य क्या है? साहित्य शब्दार्थ-युगल की एक अलौकिक विन्यास-भंगी है जो न्यूनता तथा अतिरिक्तता से वर्जित होकर मनोहर तथा शोभा-शालिता से सम्पन्न होती है। आशय है कि शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास 'साहित्य' है जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने तुले हुए हों कि न तो किसी में न्यूनता हो और न अधिकता हो।

कुन्तक ने काव्य का जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह इसी 'साहित्य' की ही व्याख्या करता है। उनकी दृष्टि में काव्य है—

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥
>
> —व० जी०

मिलित शब्द-अर्थ-युगल कवि के वक्रव्यापार से शोभित तथा सहृदयों को आनन्ददायी रचनाबन्ध में विन्यस्त होनेपर 'काव्य' पदवी प्राप्त करता है। इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में काव्य और साहित्य समानार्थक पद हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में की गई प्रतिज्ञा भी इसी बात को पुष्ट कर रही है। आचार्य का कहना है—

साहित्यार्थं सुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यम् ।

व० जी० पृ० १

यहाँ काव्य के लिये ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग स्पष्टतः किया गया है।

काव्य और साहित्य में भेद

काव्य और साहित्य इस प्रकार समानार्थक शब्द हैं, परन्तु इन दोनों पदों में दो विभिन्न अभिप्रायों का प्रकाशन किया गया है। 'काव्य' का अर्थ है—कवेः कर्म काव्यम्—कवि का कर्म अर्थात् कवि के द्वारा निर्मित वस्तु। 'कवि' की व्युत्पत्ति भी देखते चलिए। इसकी व्युत्पत्ति वैयाकरण दृष्ट्या कुङ् शब्दे कुधातु से 'अच इः' (उणादि सूत्र ४।१३८) सूत्र से 'इ' प्रत्यय से निष्पन्न मानी जाती है। राजशेखर कवि शब्द की व्युत्पत्ति कबृ वर्णे धातु से मानते हैं। कबृ धातु का अर्थ है वर्ण अर्थात् रँगना और इसी धातु से कर्बुर तथा कबरी शब्दों की निष्पत्ति वैयाकरण लोग मानते हैं। परन्तु राजशेखर के विचारों से 'वर्ण का अर्थ वर्णन करना है। पाणिनि में आपस में मिलते-जुलते दो धातु हैं—कु वर्णे तथा कुङ् शब्दे, जिनका अर्थ समान ही है। इन्हीं दोनों से निकला है औणादिक इ प्रत्यय के योग से हमारा परिचित 'कवि' शब्द। इसी कवि का कर्म है 'काव्य'—

'कवयतीति कविः', तस्य कर्म काव्यम्—इति विद्याधरः।

'कौति शब्दायते विमृशति रसभावान्' इति कविः—इति भट्टगोपालः

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता
तदनुप्राणनाज्-जीवद् वर्णनानिपुणः कविः
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्। —भट्टतौत

इन विभिन्न व्युत्पत्तियों का एक ही लक्ष्य है—कवि वही होता है जो किसी वस्तु के वर्णन में निपुण होता है। कवि की अपनी विशिष्ट शक्ति है प्रतिभा और इसी प्रतिभा के बल पर कवि लोकोत्तर अलौकिक वर्णन में निपुण होता है। ऐसे प्रतिभा सम्पन्न वर्णनानिपुण कवि का कर्म होता है काव्य।

उधर 'साहित्य' की व्युत्पत्ति है सहित शब्द से भाववाचक ष्यञ् प्रत्यय से—सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्—एक साथ सम्मिलित शब्द तथा अर्थ का भाव है साहित्य। इस व्युत्पत्ति के अनुसार दोनों में कविनिर्मिति के द्विविध पक्ष का प्राधान्य लक्षित होता है। 'काव्य' शब्द कवि के अर्थात्

वैयक्तिक उपादान की प्रधानता की ओर संकेत करता है—काव्य रचयिता के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, रचयिता अपने व्यक्तिगत गुण, दोष तथा साधन को लेकर ही अपने भावों का प्रकाशन काव्य में करता है। 'साहित्य' शब्द कवि रचना के कथाशरीर की ओर संकेत करता है। 'साहित्य' पद शब्द तथा अर्थ के निर्वैयक्तिक उपादान की अभिव्यञ्जना करता है। 'साहित्य' पद, द्योतित करता है कि कवि की रचना शब्द तथा अर्थ के परस्पर समन्वय तथा सामञ्जस्य का परिणत फल होती है। 'काव्य' शब्द कर्तृ पक्ष का प्राधान्य उद्घोषित करता है, तो 'साहित्य' पद कृतिपक्ष के सामरस्य का उन्मीलन करता है। हैं दोनों ही समानार्थक कवि के द्वारा निर्मित कमनीय कृति के अर्थ में, परन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों में यह सूक्ष्म विभेद निर्दिष्ट किया जा सकता है।

साहित्य का रूप

कुन्तक के काव्यलक्षण की समीक्षा से हम उनकी साहित्य-विषयक विचार-धारा से पूर्णतः अवगत हो जाते हैं। शब्द तथा अर्थ को काव्य के रूप में परिणत होने के लिये दो पदार्थों की विशेष आवश्यकता रहती है जिनमें एक है गुणरूप 'साहित्य' और दूसरा है अलंकाररूपा 'वक्रोक्ति'। 'साहित्य' शब्द तथा अर्थ के सहभाव—सम्यक् योग का ही अपर नाम है। प्रश्न यह है कि शब्द तथा अर्थ के परस्पर नैसर्गिक नित्य सम्बन्ध के विद्यमान रहने पर इस 'साहित्य' की आवश्यकता कौन-सी है? गो शब्द के उच्चारण मात्र से श्रोता के नेत्रों के सामने सास्नादिमान् पदार्थ की उपस्थिति सद्यः हो जाती है। 'घट' शब्द के श्रवणमात्र से सुननेवाला जल के आनयन में उपादेय पदार्थ विशेष का बोध कर लेता है। ऐसी दशा में साहित्य तो सर्वत्र विद्यमान रहता है। भाषा के माध्यम द्वारा जो कोई भी वस्तु प्रकटित होती है, वह साहित्य से विरहित हो ही नहीं सकती। यह दशा समस्त वाङ्मय की है। ऐसी अवस्था में काव्य में 'साहित्य' की सत्तापर आग्रह दिखलाने का स्वारस्य क्या हो सकता है? किसी भी वाक्य से अर्थावगति होनेपर उसमें पद की सत्ता रहती है, वाक्यगत नाना पदों की स्थिति रहती है तथा उनमें परस्पर युक्तियुक्तता अथवा परस्पर सामर्थ्य का भी अवस्थान रहता है। अतः 'साहित्य' पदवाक्यप्रमाण के अन्तर्गत ही समग्र वाङ्निर्मिति में स्वतः सिद्ध होता है, फिर काव्य में उनकी

सत्ता करो इतना महत्त्व देने से तात्पर्य क्या है ? इसके उत्तर में कुन्तक का उत्तर है—पूर्वोक्त कथन बिल्कुल ठीक है, परन्तु यह तो है सामान्य साहित्य। काव्य में विशिष्ट साहित्य की आवश्यकता होती है—

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥

—व० जी०, पृ० १।११६

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोर्न कथंचिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम् ? वक्रताविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः॥

—व० जी०, पृ० १०

प्रश्न—वाच्यवाचकसम्बन्ध के विद्यमान रहने के कारण शब्द और अर्थ में साहित्य का विरह किसी प्रकार से हो ही नहीं सकता ? उत्तर—ठीक है, परन्तु काव्य में विशिष्ट साहित्य अभीष्ट होता है। वक्रता से विचित्र गुण तथा अलंकार की सम्पत्ति का परस्पर स्पर्धा अधिरूढ़ होना।

साहित्य शब्द तथा अर्थ का परस्पर मिलन है, परन्तु यह मिलन किस प्रकार का होता है ? न्यूनता तथा अतिरिक्तता से शून्य मनोहर मिलन अर्थात् शब्द और अर्थ किसी की अपेक्षा कम नहीं होते और न बड़ा या उत्कृष्ट ही होते हैं। दोनों संतुलित रहते हैं। वे होते हैं 'परस्पर स्पर्धित्व रमणीय' अर्थात् एक दूसरे की स्पर्धा कर के परस्पर समानभाव से बड़े होते हैं और अनन्तर परस्पर संयोग से रमणीय होते हैं। अतः कुन्तक की सम्मति में केवल कविकौशल कल्पित कमनीयता पूर्ण शब्द न तो काव्य होता है और न केवल 'रचना वैचित्र्य चमत्कारकारी' अर्थ ही काव्य होता है। काव्य तो परस्पर स्पर्धा से उत्पन्न रमणीयता-सम्पन्न शब्दार्थ युगल का ही प्रख्यात अभिधान है—

वाचको वाच्यं चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।

—व० जी०, पृ० ७

शब्द तथा अर्थ, दोनों के बीच आनन्द का बीज निहित रहता है। उस आनन्द को एक ही अधिकरण में सीमाबद्ध कर देना आलोचना की हत्या

है। तेल की सत्ता प्रतितिल में होती है। उसी प्रकार सहृदयों के आह्लाद तथा आनन्द का कारण शब्द तथा अर्थ दोनों में विद्यमान रहता है—

द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्।

—व० जी० पृ० ७

इस प्रकार कुन्तक की समीक्षा से काव्य में रहने वाला 'साहित्य' सामान्य न होकर विशिष्ट रूप रहता है। इस वैशिष्ट्य का रूप है—परस्परस्पर्धाधिरोहः या परस्परस्पर्धित्वम्। यह स्पर्धिता प्रतियोगितामूलक होने पर शत्रुभावापन्न नहीं है, प्रत्युत मित्रभावापन्न है। जिस प्रकार दो मित्र आपस में स्पर्धा कर उन्नति के शिखर पर पहुँच जाते हैं और आपस में सहयोग से एक आदर्श व्यक्तित्व की रचना करते हैं, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ भी आपस में सौन्दर्यप्राप्ति के निमित्त स्पर्धा करते हुए अपने सहयोग से नितान्त ललित वस्तु की उत्पत्ति करते हैं जो 'काव्य' नाम से अभिहित किया जाता है। कुन्तक की दृष्टि में शब्द तथा अर्थ दो मित्रों के समान संयुक्त रहते हैं—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदावेव संगतौ
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥

—व० जी०, १।१८

सौभ्रात्र

वैष्णव कवि पराशरभट्ट (११२३–११५१ ई०) की सम्मति में शब्दार्थ का सम्बन्ध 'सौभ्रात्र' सम्बन्ध होता है—शब्द तथा अर्थ भाई भाई के समान परस्पर मिले रहते हैं—

अनाघ्रातावद्यं बहुगुणपरीणाहि मनसो
दुहानं सौहार्दं परिचितमिवाथापि गहनम्।
पदानां सौभ्रात्राद् अनिमिषनिसेव्यं श्रवणयोः
त्वमेव श्रीमैद्यं बहुमुखर वाणीविलसितम् ॥

—श्रीगुणरत्नकोश, श्लो० ८

सौहार्द तथा सौभ्रात्र सम्बन्ध एक ही पदार्थ है। इस सम्बन्ध में दोनों व्यक्तियों की समकक्षता या तुल्ययोगिता सम्पन्न रहती है। यदि शब्द तथा अर्थ में से कोई भी किसी से अपकृष्ट या उत्कृष्ट हो, हीन या अधिक हो, तो वह सामञ्जस्य नहीं बनता जो काव्य के लिये नितान्त उपादेय तथा आवश्यक

साधन होता है। इस दृष्टि से कुन्तक का 'साहित्य' औचित्य के समान ही आवश्यक काव्य-तथ्य प्रतीत होता है। अपने ग्रन्थ के द्वितीय उन्मेष में अलंकार-योजना के अवसर पर कुन्तक ने इस तथ्य को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है—अलंकारों की योजना के लिये कवि को निर्बन्ध, हठ या आग्रह करने की आवश्यकता न होनी चाहिए (नातिनिर्बन्धविहिता, व० जी० २।४)। बिना प्रयत्न से ही जो अलंकार स्वतः उद्भूत हो जायँ, उनकी योजना श्लाघनीय तथा आदरणीय होती है। अत्यन्त हठ करने पर प्रयत्न से अलंकार योग करने पर प्रस्तुत औचित्य की हानि होने से वाच्य तथा वाचक में 'साहित्य' का अभाव हो जाता है। अतः शब्द तथा अर्थ के संतुलन का काव्य में एकान्त महत्त्व है—

व्यसनितया प्रयत्नविरचिते हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेर्वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।

—व० जी० पृ० ८४

शब्द तथा अर्थ का साहित्य

कुन्तक ने काव्य में त्रिविध साहित्य का सम्यक् निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है। प्रथम साहित्य का आधार होता है शब्द तथा अर्थ। कवि के शब्द तथा तद्गम्य अर्थ साधारण जन के शब्दार्थ के समान निःस्फीत तथा निर्जीव न होकर एक अद्भुत चमत्कृति से स्फुरित होते हैं। इन दोनों की विशिष्टता कुन्तक के शब्दों में ही देखिए—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

—व० जी० १।९

अन्य वाचक पदों के विद्यमान रहने पर भी कवि के द्वारा अभीष्ट अर्थ का जो एकमात्र वाचक होता है वही तो होता है शब्द। सहृदय को आनन्द देनेवाले अपने स्पन्द (स्वभाव) से रमणीय होता है अर्थ। इन्हीं शब्द तथा अर्थ का पूर्ण साहित्य काव्य में सर्वत्र अभिलषित होता है।

(ग) काव्य में शब्द-वैशिष्ट्य

काव्यगत शब्द की विशिष्टता होती है कि वह कवि के द्वारा विवक्षित अर्थ का एक मात्र बोधक होता है। कवि किसी विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन के लिये शब्दों का प्रयोग करता है, परन्तु उस पदार्थ के पर्यायवाची समस्त शब्दों में उस अर्थ के प्रकाशन की योग्यता नहीं रहती। भाषा के शब्दभण्डार में कोई एक ही शब्द ऐसा होता है जो कवि के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति यथार्थता के साथ कर सकता है।

-कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् (व० जी० १७)

बादल के अर्थ के पर्यायवाची अनेक शब्द हैं—जलद, पयोधर, जलमुच्, बलाहक, मेघ, पयोद, आदि; परन्तु सामान्यतः अभिधेय अर्थ की एकता होने पर भी प्रसंग विशेष में ही इनका प्रयोग औचित्यपूर्ण हो सकता है। सन्तप्त जगत् को जलधारा से आप्यायित करने की क्षमता की जो द्योतना 'जलद' शब्द में है वह जलधारण करने से हृष्टपुष्ट श्यामरंग 'पयोधर' शब्द में नहीं है। कवि के हृदय में जिस मनोरम अर्थ की स्फूर्ति होती है उसका बाहर प्रकाशन एक ही शब्द कर सकता है और वही शब्द वस्तुतः काव्य में प्रयोजनीय होता है। काशी के प्रौढ़ संस्कृत कवि तथा काव्य मर्मज्ञ महामहोपाध्याय पण्डित गंगाधर शास्त्रीजी कहा करते थे कि कविता की रचना के अवसर पर अर्थ विशेष के प्रकाशन के लिये हमारे सामने शब्दों का एक महान् यूथ आकर खड़ा हो जाता है और कविता में प्रयोग करने के लिये गिड़गिड़ाने लगता है। परन्तु हम लोग सन्दर्भ तथा भाव के अनुसार एक ही उपयुक्त शब्द चुनकर रख लेते हैं तथा अन्य शब्दों का तिरस्कार कर देते हैं। शास्त्रीजी के इन शब्दों में काव्यगत शब्दों का वैशिष्ट्य भलीभाँति प्रदर्शित किया गया है।

वाल्टर पेटर

अंग्रेजी के मान्य आलोचक वाल्टर पेटर की सम्मति इस कथन से पूर्णतः मिलती है। कुन्तक के अनुसार 'विशिष्ट शब्द' पेटर के अनुसार The unique word' ही है जो विशिष्ट भाव के प्रकाशन में एकमात्र सक्षम होता है। उनके कथन पर ध्यान देना आवश्यक है—

The one word for the one thing, the one thought, amid the multitude of words, terms that might

just do ;.........the unique word, clause, sentence, paragraph, essay or song, absolutely proper to the single presentation or vision within.

—Appreciations, Style P. 29.

आशय है काम चलानेवाली अनेक शब्द राशि तथा पदों के मध्य में एक ही वस्तु तथा एक ही चिन्ता के लिये एक ही उपयुक्त शब्द होता है—अद्वितीय शब्द, जो वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, प्रबन्ध अथवा गान सकल मानसिक व्यापार अथवा आन्तरिक प्रतिभान के लिये सर्वथा उपयुक्त होता है।

इस शब्द में संगीत की माधुरी भी विद्यमान रहती है, क्योंकि कुन्तक की उक्ति के अनुसार—

गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्

—(व० जी० पृ० २९)

यह शब्द काव्य के मर्मज्ञों के हृदय में गीत के समान आनन्द उत्पन्न करता है। काव्य शब्द की गीतधर्मिता के पक्षपाती आलोचकों ने ही काव्य में शब्दपक्ष की प्रधानता पर इतना आग्रह दिखलाया है। काव्य के शब्द में संगीत के समान मनोज्ञता का निवास रहता है और चित्र के समान नेत्ररञ्जक चाकचिक्यका। इसीलिये बालक से वृद्ध तक समानभावेन काव्य शब्द से हृदयानुरञ्जन करते हैं।

लैमबार्न की यह उक्ति इस तथ्य को पुष्ट करती है:—

Poetry is formal beauty. So far as words will take us we may call it an atmosphere, a glamour investing the verse a kind of dream-light not created but proceeding; it stills in us a sense of some mysterious meaning not expressed by the words themselves, not even consciously intended by the poet.

Lamborn:The Rudiments of criticism P. 117.

शब्द की गीतधर्मिता के विषय में कार्लाइल तथा लेहण्ड की यह उक्ति बड़ी ही अनुरूप है। कार्लाइल का कथन है—

"All speech, even the commonest speech, has something of song in it...Poetry. therefore, we will call, musical thought."

—The Hero : A Poet.

अर्थात् सब काव्य, और क्या साधारणतम वाक्य में भी संगीत का कुछ अंश रहता ही है। इसीलिये कविता को हम लोग संगीतमय चिन्ता कहते हैं। कार्लाइल का 'संगीतमय-चिन्ता' पद काव्य में मधुरिमा सम्पन्न 'साहित्य' का ही बोधक है। इसमें संगीत द्योतक है काव्यगत शब्द का और चिन्ता बोधक है तद्गत अर्थ का।

लेहण्ट भी काव्य में शब्द माधुरी के प्रबल समर्थक हैं—

Poetry includes whatsever of painting can made visible to mind's eye, and whatso ever of music can be conveyed by sound and proportion without singing and instrumentation.

—What is Poetry ?

कविता के मध्य में निबद्ध होता है चित्र का जो कुछ भी अंश मानस चक्षु का गोचर हो सकता है वह और गीत तथा वाद्य के बिना गीत का जो कुछ भी अंश ध्वनि तथा सौषम्य के द्वारा संचारित किया जा सकता है वह पदार्थ।

लेहण्ट के इस कथन में काव्य में चित्र होता है शब्दार्थ युगल का अर्थगत धर्म और संगीत होता है ध्वनिगत धर्म। उभय धर्म का सम्मेलन काव्य का निजी सर्वस्व है।

काव्य-शब्द के चमत्कार के निमित्त कालिदास की इस कमनीय कविता को हम प्रस्तुत कर सकते हैं—

> द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
> समागमप्रार्थनया कपालिनः।
> कला च सा कान्तिमती कलावतः
> त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

कुमारसम्भव (५।७१)

कपाल धारण करनेवाले व्यक्ति के साथ समागम की प्रार्थना के कारण इस समय दो व्यक्तियों की दशा अत्यन्त शोचनीय बन गई है। एक तो है कलाधारी चन्द्रमा की कान्तिमती कला और दूसरी है इस संसार के नेत्रों के लिए कौमुदीरूपा पार्वती स्वयम्। इस पद्य के शब्दों का परस्पर साहित्य नितान्त मञ्जुल तथा रमणीय है। नरमुण्डों की माला से सज्जित व्यक्ति घृणा का पात्र होता है। उससे यदि अगत्या अनिच्छया समागम हो भी जाय, तो समागमकारी व्यक्ति हमारी क्षमा का पात्र होता है, परन्तु यहाँ तो टूट पड़ी है उससे समागम की प्रार्थना, आग्रह तथा हठ। कपाली की संगति वर्जनीय होती है, स्पृहणीय नहीं, परन्तु जो सुन्दरी उससे समागम के निमित्त प्रार्थना करती है वह सचमुच शोचनीयता की पराकाष्ठापर पहुँच चुकी है!!!

(घ) अर्थ का वैशिष्ट्य

कुन्तक के अनुसार अर्थ की विशेषता है—सहृदयाह्लाद स्वस्पन्द सुन्दरता। अर्थात् सहृदयों के चित्त को आनन्दित करनेवाले अपने स्वरूप (स्पन्द) से सौन्दर्य की सम्पत्ति। आचार्यकृत व्याख्या इस शब्द को स्पष्ट कर रही है—किसी भी पदार्थ को नाना धर्मों से चित्रित होने की सम्भावना होती है, परन्तु उसी धर्म से उसका सम्बन्ध ख्यापित किया जाता है जो रसिकों को आनन्दित करने में समर्थ होता है। रस का उन्मीलन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन ठहरा, अतः जो अर्थ इस रसपोष का अंग बनकर आनन्दोदय में क्षमता रखता है, वही अर्थ वस्तुतः काव्य में आदरणीय होता है—

यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्वं सम्भवति, तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यायते यः सहृदय-हृदयाह्लादमाधातुं क्षमते। तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं सम्भाव्यते येन कदाचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषांगत्वं वा व्यक्तिमासादयति।

—व॰ जी॰ पृ॰ १९

अर्थ की इसी विलक्षणता की व्याख्या कुन्तक ने अन्यत्र भी की है—

प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित् परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिद् उत्कर्षेण समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षा-

विधेयत्वेन अभिधेयतापदवीमवतरन्तः तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेन अभि-धानेन अभिधीयमानाश्च तेन चमत्कारितामापद्यन्ते ।

—व० जी० पृ० १७–१८

पद का अर्थ प्रतिभा में तत्काल उल्लिखित होने वाले किसी स्वभाव से स्फुरित होता है । तदनन्तर प्रकृत सन्दर्भ के अनुकूल किसी उत्कर्ष के द्वारा उसका स्वरूप हो जाता है और तब वह कवि की अभिलाषा के वश में आकर अभिधेय की योग्यता प्राप्त करता है । उस विशेष अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्दों के द्वारा प्रकट किये जाने पर ही वह चेतन सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करता है ।

वाच्य का विभावरूप

कुन्तक का यह वाक्य मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़े ही महत्त्व तथा सम्मान का पात्र है । बाह्य अर्थ किस प्रकार विभाव के रूप में परिणत होकर चमत्कारी बनता है, इसकी क्रमबद्ध व्याख्या इस महनीय वाक्य में विद्यमान है । पदार्थ की विभावरूप में परिणति क्रमिक तथा व्यवस्थित रूप से होती है । प्रथमतः पदार्थ कवि की प्रतिभा में प्रतिभासित होता है । अर्थ के साक्षात्कार के समय उसका जो मनोहर रूप प्रतिभासित होता है उसी रूप में वह कवि की प्रतिभा का विषय बनता है । प्रतिभा उसके ऊपर अपना व्यापार करती है । वक्र व्यापार के प्रभाव से उस पदार्थ में प्रकृत सन्दर्भ तथा प्रस्ताव के अनुरूप एक नवीन उत्कर्ष उत्पन्न हो जाता है जिससे उसका निजी रूप आवृत हो जाता है । पदार्थ के रूप में एक मञ्जुल परिवर्तन संघटित होता है । कवि के द्वारा प्रत्यक्षीकृत पदार्थ और कवि के द्वारा निर्मित पदार्थ परस्पर नितान्त भिन्न होते हैं । उसका प्रथम रूप आच्छादित हो जाता है तथा अब वस्तु एक नवीन उत्कृष्ट रूप से भूषित बन जाती है—यही है अर्थ का **विभाव रूप में आविर्भाव** । उस विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्तिकी योग्यता भी विशिष्ट शब्द के द्वारा होती है । शब्दों के द्वारा प्रकटित किये जानेपर भी वह पदार्थ अब सहृदयों के चित्त में आह्लाद उत्पन्न करता है । प्रत्येक कविता में अर्थ के चमत्कारी होने का यही क्रम है ।

कुन्तक को ऐसे ही शब्द तथा अर्थ का परस्पर साहित्य अभीष्ट है । स्वस्पन्द सुन्दर अर्थ ही प्रथमतः कवि के अन्तर्लोक में और अनन्तर बहिर्लोक में अनुरूप प्रतिस्पर्धा शब्द का संचार करता है । अर्थ जिस प्रकार भावमय होता है शब्द भी उसी प्रकार भावमय होता है । रसमय शब्द तथा रसमय

अर्थ का सामरस्य समान हृदय वाले मित्रों के मिलन के समान आदरणीय और चमत्कारी होता है। इसी संयोग का परिणतफल होता है—'अद्भुतामोद-चमत्कार'।

मन्त्रशक्ति

पाश्चात्य आलोचकों को भी कुन्तक का यह 'साहित्य' सर्वथा अभीष्ट है। एबरक्राम्बी जिसे काव्य का प्राणभूत मुख्य प्रयोजन मानकर Incantation (मन्त्रशक्ति) के नाम से पुकारते हैं, वह यही कुन्तक निर्दिष्ट 'शब्दार्थ-साहित्य' ही है। एबरक्राम्बी के शब्दों में 'मन्त्रशक्ति' का यह रूप है—

I will call it, compending, 'incantation': the power of using words so as to produce in us a sort of enchantment; and by that I mean a power not only to charm and delight, but to kindle our minds into unusual vitality, exquisitively aware both of things and of the connexion of things-

The Idea of Great Poetry P. 18.

अर्थात् काव्य का यह प्रभाव 'मन्त्रशक्ति' कहा जा सकता है। हमारे भीतर एक प्रकार के संमोहन उत्पन्न करने के निमित्त शब्दों की यह विशिष्ट शक्ति है। इस शक्ति का अभिप्राय यही नहीं है कि वह केवल चमत्कार तथा आह्लाद उत्पन्न करती है, प्रत्युत वह हमारे चित्त को असाधारण प्राणप्राचुर्य से उद्दीप्त करने की शक्ति है। यह विशेषरूप से वस्तुओं तथा वस्तुओं के सम्बन्ध के विषय में अवगतिसम्पन्न रहती है।

काव्य में सिद्ध मन्त्रशक्ति हमारे हृदय को मुग्ध भी करती है तथा उद्दीप्त भी करती है—वस्तुतः सौम्यभाव तथा उग्रभाव द्विविध भावों से सम्पन्न होती है।

डिक्शन

एबरक्राम्बी को यह साहित्य सर्वतोभावेन काव्य में स्पृहणीय तथा श्लाघनीय है। शब्द-सौष्ठव के साथ अर्थ-सौन्दर्य के साहचर्य विधान को वे

डिक्शन Diction के नाम से पुकारते हैं और काव्य में इस विधान के सर्वथा आग्रही हैं। इस 'डिक्शन' शब्द की व्याख्या कुन्तक के 'साहित्य' के साथ सर्वथा मेल खाती है। वे कहते हैं—

The poets elaborate use of diction—his cunning manipulation of the suggestions and implications and niceties in the sense of his words is only the counterpart of the meaning side of language to his equally elaborate use of the sound of language.

Abercrombie—Poetry: Its
Music and Meaning P. 49.

आशय यह है कि शब्द का अर्थ विधान ही कवि के लिए अपेक्षणीय वस्तु नहीं है, प्रत्युत अर्थ की व्यञ्जना, गूढ़ता तथा सुषमा भी उसका अत्यावश्यक अवयव है। इसके साथ भाषा के सौष्ठव-भामह के शब्दों में सौशब्द्य विधान की ओर भी उसका लक्ष्य होता है। इन दोनों का एकत्र प्रयोग कहलाता है—डिक्शन।

इस साहित्य के अभाव में शब्द तथा अर्थ की बड़ी दुरवस्था होती है। शक्तिशाली शब्द के अभाव में अर्थ स्वतः अपने में परिस्फुरित होनेपर भी बाह्य प्रकाशन के बिना 'मृतकल्प' बना रहता है। और शब्द वाक्योपयोगी अर्थ को न बतलाकर जब अन्य वाच्य या अर्थ को प्रकट करता है तब वह वाक्य के लिए 'व्याधिभूत' (रोग के समान) होता है—

अर्थः समर्थवाचकासद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते। शब्दोऽपि वाक्योपयोगि-वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यस्य व्याधिभूतः प्रतिभाति॥

—व० जी० पृ० १४

अर्थ के मृतकल्प रूप को दूर करने की क्षमता रखता है शक्तिशाली विशिष्ट शब्द तथा वाक्य की व्याधि को दूर करने की योग्यता रखता है वाक्योपयोगी अर्थ। उचित शब्द तथा उचित अर्थ का श्लाघनीय संयोग ही अलंकार शास्त्रानुकूल 'साहित्य' है।

साहित्य का द्वितीय प्रकार होता है वाक्यगत साहित्य जहाँ शब्द तथा

अर्थ एक साथ मिलकर आनन्द उत्पन्न करते हैं। कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण में 'सहितौ' पद की विशिष्टता दर्शाते लिखा है—

'सहितौ' इत्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाचस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेवविवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः स्यात्।

—व० जी० पृ० १२ (वृत्ति)

अर्थात् 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' में 'सहितौ' का निजी स्वारस्य है। युक्ति के अनुरूप जहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ तथा एक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ इस प्रकार सम्मिलित रहता है कि आपस में एक दूसरे से स्पर्धा किया करे—अपने सौन्दर्य की सत्ता के लिए शब्द अन्य शब्द के साथ तथा अर्थ अन्य अर्थ से परस्पर स्पर्धा करते हैं वही साहित्य है। यहाँ कुन्तक साहित्य को वाक्यगत भी मानने के पक्षपाती हैं।

साहित्य का एक तृतीय प्रकार भी निर्दिष्ट है जो प्रबंधगत साहित्य का द्योतक है। कुन्तक का कहना है—

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादि-गुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥

जहाँ रीति के औचित्य से सुन्दर माधुर्य आदि गुणों का उदय हो, वक्रता के अतिशय से सम्पन्न अलंकारों का विन्यास हो, वृत्ति के अनुरूप ही रसों का परिपोषण हो—तथा ये जहाँ परस्पर स्पर्धा के साथ विद्यमान हों, वह साहित्य कहलाता है। रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, वृत्ति तथा रस—इन काव्य-तत्त्वों का परस्पर स्पर्धा रूप से एकत्र निवास साहित्य का सब से श्रेष्ठ प्रकार है। काव्य के ये समग्र तत्त्व जहाँ आपस में मिल-जुलकर काव्य की सुषमा उत्पन्न करते हों वहाँ साहित्य का चरम निवास रहता है।

'साहित्य' के इन प्रकारों के दृष्टान्त महाकवियों के काव्यों में हमें उपलब्ध होते हैं। कालिदास का 'अनाघ्रातं पुष्पं' श्लोक वाक्यगत साहित्य का निदर्शन है, तो समग्र 'अभिज्ञान शाकुन्तल' प्रबन्धगत साहित्य का दृष्टान्त है क्योंकि इस में काव्य के समस्त तत्त्वों का मञ्जुल सामञ्जस्य उपस्थित है।

एक उदाहरण

हिन्दी का यह प्राचीन पद्य 'साहित्य' का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त है—

छहरि छहरि झिनी बूँदनि परति मानो,
घहरि घहरि घटा छाई है गगन मैं।
मोंसो कही श्याम चलो आज झूलिं वे को
फूली न समाईं ऐसी भई है मगन मैं।
चाहती उठोई उठि गइ निगोड़ी नींद,
सोइ गए भाग मेरो जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखो न घन है न घनश्याम
वेई छाई बूँदनि मेरे आँसू है दृगन मैं॥

वियोगविधुरा नायिका का कितना सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। नायिका नायक के वियोग में रोती रोती सो गई थी। वह सपना देखती है कि आकाश में घहरानेवाले बादलों की घटा छाई हुई है। जल के झीने बूँद छहर छहर आसमान से गिर रहे हैं। ऐसे समय श्याम ने आकर कहा कि प्यारी झूला झूलने के लिए चलो। मैं इस बात को सुनकर फूली न समाई। मैं उठना ही चाहती थी कि निगोड़ी नींद उठ गई और जागकर भी मेरे भाग्य सो गए। आँख खोलकर देखती हूँ तो न तो घन है और न घनश्याम हैं। मेरे नेत्रों में कुछ आँसुओं के ही बूँद छाये हुए हैं। इस कमनीय पद्य में शब्द की सुषमा तथा अर्थ की सुन्दरता बड़े ही अच्छे ढंग से एकत्र सिद्ध हो सकती है।

इस कवित्त के प्रथम चरण में शब्दों का इतना सुन्दर विन्यास है कि प्रतीत होता है कि आकाश में घन घहरा रहे हों तथा पानी के बूँद छहर छहर कर भूतल पर पड़ रहे हों। शब्द तथा अर्थगत ध्वनिसाम्य का पूर्ण विलास है। नायिका अपने प्रियतम के प्रस्ताव पर स्वयं उठना ही चाहती थी कि उसकी निगोड़ी नींद उठ गई। इस चरण का विरोधाभास देखने ही योग्य है। नींद तो है स्वयं 'निगोड़ी'—गोड़ से हीन, पैर से रहित, परन्तु आश्चर्य है वह उठ खड़ी होती है। निगोड़ी का उठना विस्मयकारक अवश्य होता है। नींद टूट जाने से स्वप्न में झूला झूलने का आनन्द ही नहीं आया, अतः नींद सचमुच निगोड़ी—दुश्चरित्रा थी इसमें क्या कोई सन्देह है? नायिका के भाग्य जागकर के भी सोय गये। प्रियतम का स्वयं झूलने का

प्रस्ताव भाग्योदय की चरम निशानी है, परन्तु हरामी नींद ने सारा मजा किरकिरा कर दिया—सारा गुड़ गोबर हो गया। अतः उसका 'निगोड़ीपना' सब तरह से सिद्ध हो रहा है। सुन्दरी उठकर देखती है तो क्या देखती है ? न तो घन कहीं है और न घनश्याम। नेत्रों में केवल आँसू के बूँद छाये हुए हैं। यह सब करामात है इन कतिपय आँसुओं के ही। इस अन्तिम चरण में स्वप्न के रहस्य की ओर संकेत है कि किस प्रकार स्वप्न में वर्तमान तथा भविष्य का एकत्र मिलन सिद्ध होता है—आँसुओं की, बूँदों से रिमझिम पानी की बूँदों की स्मृति, उससे झूले का प्रस्ताव, तथा नींद खुल जाने पर प्रस्ताव का अन्त—आदि समग्र बातें परस्पर अनुस्यूत शृंखला की भाँति मनोवैज्ञानिक हृदय को खींच रही हैं। कवित्व में इस प्रकार शब्द तथा अर्थ का पूर्ण साहित्य है।

साहित्य की समीक्षा का अवसान कुन्तक ने इन पद्यों से किया है जिसमें 'साहित्य' के मूल्य तथा महत्त्व का अभिराम अंकन है। वे कहते हैं कि अर्थ की पर्यालोचना करने के बिना भी जो काव्य अपने शब्द-सौन्दर्य की सम्पत्ति से काव्यमर्मज्ञों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करता है वही सच्चा काव्य है और इस विषय में उसकी गीत के साथ तुलना की जा सकती है। गीत का शब्द माधुर्य अर्थबोध के बिना ही हमारे हृदय में आनन्द का उत्स उत्पन्न कर देता है। काव्य की भी यही गति है। अर्थ के ज्ञान हो जाने पर काव्य पद पदार्थ तथा वाक्य से ऊपर उठकर पानक के स्वाद के समान सज्जनों के हृदय में अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न करता है। जीवन के बिना शरीर तथा स्फुरण या संचलन के बिना जीवन निःसार होता है। उसी प्रकार साहित्य के बिना काव्य भी निर्जीव तथा निष्प्राण होता है। अतः 'साहित्य' ही काव्य का प्राण है—जीवनाधायक तत्त्व है—

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधातियत् ॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्
यत् किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम् ॥
शरीरं जीवितेनैव स्फुरितेनेव जीवितम्
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥

—व० जी० पृ० २९, श्लोक २७–२९

(ङ) 'साहित्य'—पाश्चात्य मत

कुन्तक की इस सुन्दर कल्पना की तुलना पाश्चात्य आलोचकों के साथ भलीभाँति की जा सकती है। कुन्तक जिस काव्यतत्त्व को 'साहित्य' कहते हैं उसे वाल्टर पेटर स्टाइल (Style) तथा एबरक्राम्बी डिक्शन (Diction) के नाम से पुकारते हैं। फ्रान्स के विख्यात लेखक फ्लाउबर (Flaubert) की सम्मति में शब्द तथा अर्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य काव्य का प्राण है। जिस प्रकार भौतिक शरीर से रंग, विस्तार आदि गुणों के हटा देने से वह एक निर्जीव पिण्ड बन जाता है, उसी प्रकार काव्य की आकृति (शब्द) उसके विचार (अर्थ) से वञ्चित कभी नहीं की जा सकतीः—

There are no beautiful thoughts, without beautiful forms, and conversely. As it is impossible to extract from a physical body the qualities that really constitute it—colour, extension and the like-without reducing it to a hollow abstraction, in a word, without destroying it; just so it is impossible to detach the form from the idea; for the idea exists by virtue of the form.

—Walter Pater : Appreciations में उद्धृत, पृ० ३०

पेटर की सम्मति में ललित कला का भी यही वैलक्षण्य होता है कि उसमें उसकी आकृति का उसकी आत्मा से पृथक्करण नहीं हो सकता। संगीत की महिमा का यही रहस्य है कि उसमें उसके विषय तथा अभिव्यक्ति में पार्थक्य नहीं किया जा सकता। भाव तथा अभिव्यक्ति का परस्पर संवलित रूप होकर संगीत हमारे हृदय में आनन्द के अतिशय का कारण बनता है; उसी प्रकार साहित्य की भी दशा है। कुन्तक ने भी 'गीतवद् काव्यम्' कह कर इसी साम्य की ओर संकेत किया है। पेटर के शब्द ये हैं—

If music be the ideal of all art whatever, precisely because in music it is impossible to distinguish the form from the substance or matter, the subject from tho expression; then litrature, by finding its specific excellence in the absolute correspondence

of the term to its import, will be but fulfilling the condition of all artistic quality in things everywhere of all good art.

—Parte. : Appreciations pp. 37-38

पेटर के मत में 'स्टाइल' ही काव्य में मुख्य वस्तु होती है। इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि शब्द तथा अर्थ के साथ युक्त होने की समस्त प्रक्रिया के द्वारा शोभन लिखने की नियमावली मन में ऐक्य अथवा ताद्रूप्य उत्पन्न करने की ओर लक्षित करती है। शब्दपुंज, वाक्य, वाक्यावयव, समग्ररचना, गीत, लेख, आदि में विषय के साथ अपने को एकता के सूत्र में बाँधने की यदि गति विद्यमान है—ऐक्य सिद्धि की ओर यदि गति अभिमुखी होती है, तो यही होता है स्टाइल का प्रकृत पन्था।

All the laws of good writing aim at a similar unity or identity of the mind in all the processes by which the word is associated with its import... To give the phrase, the sentance, the structural member, the entire composition, song or essay, a similar unity with its subject and itself—style is in the right way when it tends towards that. All depends upon the original unity, the vital wholeness and identity, of the initiary apprehension of view.

—Appreciations : Style P. 22

इस उद्धरण में unity से तात्पर्य है ऐक्य और Style से तात्पर्य है साहित्य। कवि की आत्मा के साथ शब्दार्थ युगल का सामञ्जस्य उत्पन्न होने पर भी एक प्रकार का साहित्य उत्पन्न होता है। इसीलिये पाश्चात्य आलोचक स्टाइल या साहित्य को ही वस्तुतः मनुष्य मानते हैं—Style is the man जिस अर्थ में बीज ही वृक्ष होता है उसी अर्थ में साहित्य में ही लेखक की वास्तव सत्ता रहती है। लेखक की जितनी विशिष्टता होती है वह इसी साहित्य में निवास करती है। अतः स्टाइल सचमुच लेखक का प्रतीक है। ब्रेडले ने पेटर की इस मीमांसा को स्वीकृत कर इसे उपयुक्त माना है[1]।

1. Poetry for Poetry's sake, पृ० १६

(च) साहित्य—त्रिकमत

शब्दार्थ-युगल के साहित्य की तुलना कुन्तक ने समान हृदयवाले मित्रों के सम्मिलन के साथ की है—सुहृदाविव संगतौ (व० जी०)। यह उपमा किसी ही अवधि तक सार्थक कही जा सकती है, सर्वांश में नहीं। शब्द का शब्द के साथ साहित्य, अर्थ का अर्थ के साथ तथा वाक्य का वाक्य के साथ साहित्य समान स्थितिवाले मित्रों के सदृश स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु साहित्य के मुख्य प्रतिनिधि शब्द तथा अर्थ के परस्पर संयोग के निमित्त यह उपमा कथमपि चरितार्थ तथा अन्वर्थ नहीं हो सकती। 'सुहृदाविव संगतौ' में संगति या संयोग की भावना अवश्य है, परन्तु परस्पर परिपूरक होने की भावना का सर्वथा अभाव है। इससे कहीं सयुक्तिक तथा अनुरूप है कविसार्व-भौम कालिदास की उपमा—

> वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
> जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
>
> —रघुवंश १।१

वाग् और अर्थ का परस्पर साहित्य है अर्धनारीश्वर के समान। समान मूर्ति में एक ओर विराजती हैं भगवती पार्वती और दूसरी ओर शोभते हैं भगवान् शंकर। एक ही मूर्ति में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से विराजमान गौरीशंकर की यह मूर्ति शब्दार्थ युगल के सामञ्जस्य का प्रतिनिधित्व करती है। इस उपमा के भीतर हमारे साहित्य का मञ्जुल रहस्य छिपा हुआ है। इस तुलना की अनुरूपता अनेक दृष्टियों से आलोचकों का हृदयावर्जन करती है।

अर्धनारीश्वर की मूर्ति में शिव तथा पार्वती परस्पर परिपूरक हैं—कोई किसी से घटकर नहीं है तथा एक दूसरे के आधार पर अपनी सत्ता प्रतिष्ठित किए हुए हैं। साहित्य क्षेत्र में शब्द तथा अर्थ इसी प्रकार परस्पर परिपूरक होते हैं—शब्द के बिना न अर्थ का स्वारस्य रहता है और न अर्थ के बिना शब्द की प्रतिष्ठा। कोई किसी से घटकर नहीं होता—शब्द का सौष्ठव उतना ही चमत्कार जनक होता है, जितना आनन्ददायक होता है अर्थ का विलास। इस मिलन में शब्द तथा अर्थ आपस में एकाकार होकर विकसित होते हैं—न शब्द अर्थ से घट कर होता और अर्थ शब्द से शब्द तथा अर्थ परस्पर एक दूसरे पर अविच्छिन्न रूप से आश्रित रहते हैं। शब्दसत्ता अर्थसत्ता को छोड़ कर एक क्षण के लिये भी टिक नहीं सकती। कवि के हृदय में अर्थ

की स्फूर्ति जाग्रत होते ही वह शब्दमय आधार खोज निकालती है तथा ललित पदों का विन्यास अर्थ की द्योतना किए बिना रह नहीं सकता। इस प्रकार शब्द के लिये होता है अर्थमय आलम्बन और अर्थ के लिये होता है शब्दमय आश्रयण। अर्थ की स्फूर्ति शब्दमय आलम्बन के अभाव में असिद्ध है और अर्थमयी अभिव्यक्ति के बिना शब्द की योजना निरर्थक है।

सामरस्य

कालिदास तन्त्रशास्त्र के प्रख्यात पण्डित थे। 'चिद्गगनचन्द्रिका' के रचयिता तान्त्रिक कालिदास हमारे परिचित कवि कालिदास से कथमपि भिन्न नहीं प्रतीत होते। वागर्थ की 'जगतः पितरौ पार्वती परमेश्वरौ' से उपमा देकर वे एक गम्भीरतम तान्त्रिक रहस्य की ओर संकेत कर रहे हैं। 'वाग्' है शक्तिरूपा पार्वती और 'अर्थ' है शक्तिमान् शिव। सृष्टि के आदि काल में शिव और शक्ति दोनों परमशिव के रूप में विलास करते हैं। तान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर के हृदय में विश्वसृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाश रूप हैं और शक्ति विमर्शरूपिणी हैं। विमर्श का अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यही शक्ति चैतन्य, स्वातन्त्र्य, स्फुरत्ता, स्पन्द आदि शब्दों से त्रिकशास्त्र में अभिहित की जाती है।

प्रकाश का अनुभव विमर्श के द्वारा होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना चरितार्थ होती है। जिस प्रकार बिना दर्पण के मुख को अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी प्रकार बिना विमर्श के प्रकाश का स्वरूप सम्पन्न नहीं होता। चिद्रूप होकर भी शिव अचेतन है। आद्याशक्ति 'शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः' है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है उसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता स्वात्मशक्ति को देखकर अपने परिपूर्ण अहन्ता तथा प्रकाशमय रूप को जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक है अथ च विमर्श प्रकाशात्मक है। एक की सत्ता दूसरे पर आश्रित रहती है और दोनों मिलकर ही जगत् की सृष्टि करते हैं।

वाग् और अर्थ के परस्पर साहित्य का ज्ञान पूर्वोक्त तन्त्र सिद्धान्त पर ही आश्रित है। वाग् है शक्ति, पार्वती, विमर्शरूपिणी और अर्थ है शंकर, शक्तिमान्, प्रकाशरूप। विमर्श के बिना प्रकाश अपना परिचय नहीं पा सकता। इसी प्रकार वाग् के बिना अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वाग् अर्थमयी

है और अर्थ वाङ्मय है। दोनों का सम्बन्ध अनुस्यूत अविच्छिन्न तथा नित्य है। दोनों साथ मिलकर काव्यजगत् की सृष्टि करते हैं। वागर्थ की कृपा काव्य का विलास है—काव्य की सृष्टि का मूल कारण है। जैसे शिव के बिना न शक्ति की कल्पना है और न शक्ति के बिना शिव की, वैसे ही अर्थ के बिना वाग् की कल्पना निराधार है और वाग् के बिना अर्थ की। इस गम्भीरतम रहस्य का उद्घाटन कालिदास की यह दार्शनिक उपमा बड़ी ही सुन्दरता से कर रही है।

इस उपमा की भव्य कल्पना में कविगुरु प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण कर रहे हैं। लिंगपुराण का वचन है—अर्थः शम्भुः शिवा वाणी तथा रुद्र हृदय। उपनिषत् का कथन है—

रुद्रोऽर्थोऽक्षरः सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः॥

अर्थमय शम्भु तथा वाङ्मयी उमा का सिद्धान्त इस प्रकार उपनिषद् के ऋषियों की अनुभूति का विलास है। कालिदास को यह उपमा बड़ी ही प्रिय थी। कुमारसम्भव (६।७९) में यही उपमा उपलब्ध होती है—तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हति। कालिदास कुमारसम्भव में शिव-पार्वती के परिणय के साथ ही अपने काव्य को समाप्त करते हैं। इसका साहित्यिक रहस्य यह है कि शब्द पार्वती तथा अर्थ-शंकर से 'रस-स्कन्द' या 'रस-कुमार' का उदय होता है, परन्तु काव्य में रस होता है 'अवाच्य', इसीलिये कालिदास शिव-पार्वती के परिणय तक ही वर्णन करते हैं। वे जानते हैं कि साहित्यमर्मज्ञ 'रसस्कन्द' के उदय की बात ध्वनि से समझ ही लेंगे। अभिधा के द्वारा प्रकट कर वे 'अवाच्यवचन' दोष का भाजन बनना नहीं चाहते।

नीलकण्ठ दीक्षित कालिदास की ही कल्पना से प्रभावित होकर कह रहे हैं—

सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारे—
र्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति।
अङ्कं जगन्मङ्गलमैश्वरं तद्
अर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः।

—शिवलीलार्णव १।१५

(छ) आलोचक

संस्कृत के आलोचना-ग्रन्थों में कवि के समान आलोचक का भी पद बड़ा महनीय तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आलोचक कवि के काव्य सौन्दर्य को

स्वयं समझ कर उसका चारों ओर प्रचार करता है। कवि के काव्य को लोक-प्रिय बनाने में सबसे बड़ा हाथ इस आलोचक का ही है। कवि के उस काव्य से कौन प्रयोजन सिद्ध होगा जो उसके मन में ही निवास करता है और जो भावकों द्वारा व्याख्यात होकर चारों ओर समादृत नहीं होता[1]। पोथियों में लिखे गए काव्य तो घर-घर में पड़े रहते हैं, परन्तु सच्चा काव्य तो वही है जो भावक के हृदय पर उट्टंकित रहता है[2]। इसीलिये भावक कवि के लिये क्या नहीं है? भावक कवि का स्वामी है, मित्र है, मन्त्री है, शिष्य है तथा आचार्य भी है। जो भाव किसी कवि को अपनी कविता में स्वयं स्फुरित नहीं होते, उन भावों की स्फूर्ति तथा व्याख्या करने-वाले आलोचक को यदि आचार्य की पदवी से मण्डित किया जाय, तो क्या यह अनुचित है? काव्य में यदि दोषों का निरूपण करनेवाला व्यक्ति कविको दोष-गर्त में गिरने से बचा कर सन्मार्ग में ले जाता है, तो क्या वह उसका मन्त्री नहीं है? इसीलिये काव्य के प्रचुर प्रचार तथा गुण-दोष विवेचन के लिये आलोचकों की महत्ता संस्कृत साहित्य में सर्वत्र स्वीकृत की गई है। राजशेखर का यह कथन बिल्कुल सत्य है—

> स्वामी मित्रं च मन्त्री च, शिष्यश्चाचार्य एव च।
> कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद् यन्न भावकः[3] ॥

कुछ लेखकों का तो यहाँ तक कहना है कि अभिनय के प्रसंग में जिन दोषों तथा विकृतियों का दर्शन नाट्यवेद के स्रष्टा स्वयं ब्रह्मा को भी नहीं हुआ वे विकृतियाँ आलोचक के हृदय में स्वतः आविर्भूत हुआ करती हैं:—

> सत्काव्ये विक्रियाः काश्चित् भावकस्योल्लसन्ति ताः।
> सर्वाभिनयनिर्णीतौ दृष्टा नाट्यसृजा न याः[4] ॥

संस्कृत में आलोचक के लिए अधिकतर प्रयुक्त शब्द है 'भावक'। भावक

---

१. काव्येन किं कवेस्तस्य, तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश ॥

का० मी० अ० ४ पृ० १५

२. सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धाः गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्ट-निकुट्टिताः ॥ —वही

३. का० मी०, अध्याय ४, पृ० १५।

४. वही " " "

का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है **भावयतीति भावकः** अर्थात् जो कवि के श्रम तथा अभिप्राय की भावना करता है, समझता बूझता है, ठीक-ठीक निरूपण करता है वही भावक है। भावक के लिए सब से आवश्यक गुण है प्रतिभा। इस दृष्टि से वह काव्यस्रष्टा कवि का समकक्ष है परन्तु एक अन्तर के साथ। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—**कारयित्री** तथा **भावयित्री**।

कारयित्री प्रतिभा वह है जो काव्य-निर्माण में कवि का उपकार करती है, उसे अप्रतिभात वस्तुओं को भी प्रतिभासित कराती है, अज्ञात वस्तुओं को भी ज्ञात करा देती है तथा अदृष्ट वस्तुओं को भी हस्तामलक के समान दर्शन करा देती है।

भावयित्री प्रतिभा वह है जो भावक का उपकार करती है, गुणदोष के विवेचन में भावक की सहायता करती है, कवि के द्वारा अज्ञात दोष तथा गुणों की कल्पना कर उसके सुधार तथा संशोधन में विशेष सहायता देती है। कवि का व्यापार-तरु इसी प्रतिभा के बलपर फलित होता है। इस प्रतिभा के अभाव में काव्य-वृक्ष निष्फल तथा फलहीन ही बना रहता है।

कवि और भावक

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उभय प्रकार—कारयित्री और भावयित्री—की प्रतिभा का निवास ही व्यक्ति-विशेष में हो सकता है या नहीं। अर्थात् एक ही व्यक्ति कारयित्री प्रतिभा के बलपर नवीन काव्य की सृष्टि कर सकता है तथा भावयित्री के द्वारा वह अपने ही रचित काव्यों में गुण और दोष की विवेचना सम्यक् रीति से कर सकता है? इस विषय में संस्कृत के विद्वानों में दो विशिष्ट मत दीख पड़ते हैं। साहित्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यों की सम्मति कवि तथा भावक को एक ही मानती थी। आचार्यों का कथन है—**कविर्भावयति भावकश्च कविः**—कवि ही भावना करता है और भावक ही काव्य-सृष्टि करता है। भावक कवि कभी अधम दशा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी प्रतिष्ठा सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक है:—

> **प्रतिभातारतम्येन, प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।**
> **भावकस्तु कविः प्रायो, न भजत्यधमां दशाम्॥**
>
> —**काव्यमीमांसा, अ० ४ पृ० १३**

अंग्रेजी साहित्य के मान्य आलोचक हैजलिट भी आलोचक के लिये काव्य की उपासना आवश्यक मानते हैं—We do not say that a

man to be critic must necessarily be a poet, but to be good critic he ought not to be a bad poet. Such poetry as a man deliberately writes and such only, will he like.

अच्छे काव्य की समीक्षा के लिये अच्छे काव्य की रचना-चातुरी अपेक्षित होती है। कुकवि कभी सत्काव्य का समीक्षक नहीं बन सकता।

यह तो हुआ सिद्धान्तवादी कोरे आलंकारिकों का मत। परन्तु कवि-कर्म में निष्णात कविजनों की अनुभूति इसके ठीक विपरीत है। वे कविता और भावुकता को एक व्यक्ति में सीमित करने के पक्षपाती नहीं हैं। इस विषय में संस्कृत कवियों के मूर्धन्य महाकवि कालिदास की सम्मति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा माननीय है। कालिदास सत् और असत् काव्य की अभिव्यक्ति का कारण सन्त जन (भावक) को मानते हैं। आग में डालनेपर ही सोने के खरा या खोटा होने की परीक्षा होती है। इस शोभनता या अशोभनता की अभिव्यक्ति का उत्तरदायी भावक ही होता है—

> तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति, सदसद्व्यक्तिहेतवः।
> हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥
>
> —रघुवंश १।१२

इसी भाव को कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में भी पुष्ट किया है—

> आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
> बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥
>
> शाकुन्तला १।२

विद्वज्जन के हृदय में परितोष उत्पन्न करना ही कविकला की चूड़ान्त सफलता है। अपनी कला के विलास में सुशिक्षित भी कवि आलोचक की शोभन सम्मति के अभाव में अपने ऊपर विश्वास नहीं करता। कविजन के हृदय में काव्यकला के प्रति विश्वासोत्पादन का गुरुतर भार निहित रहता है भावक के ऊपर। भावक कवि से नितान्त भिन्न रहता है। अतः कालिदास की इन युक्तियों से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि कवित्व से भावकत्व भिन्न ही होता है। यदि कवि में ही आलोचना की शक्ति निहित रहती तो वह काव्य-परीक्षा के लिये आलोचकों के पास भटकता ही क्यों? कालिदास के इस अनुभव का अनुमोदन महाकवि राजशेखर

भी कर रहे हैं—स्वरूप-भेद तथा विषय भेद होने से भावकत्व भिन्न है तथा कवित्व से पृथक् है। प्राचीन आचार्यों का मर्मकथन है कि कोई व्यक्ति वचन की रचना में समर्थ होता है और दूसरा व्यक्ति उसके सुनने तथा विवेचन में दक्ष होता है। एक पत्थर सोना पैदा करता है और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है। कसौटी सोने के खरेपन या खोटेपन को ढूँढ़ निकालती है, सोने को पैदा थोड़े ही करती है। इसी प्रकार भावक कविता के गुणदोषों की विवेचना कर सकता है, वह कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। कवित्व और भावकत्व का एकत्र संयोग होता है अवश्य, परन्तु बहुत ही कम। इसे नियम नहीं, प्रत्युत अपवाद ही मानना चाहिए।

> कश्चिद् वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
> कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
> नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानां
> एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥

का० मी० अ० ४ पृष्ठ १४

कवि और भावक में कौन बड़ा है? यह बड़ा ही विवादास्पद विषय है। सुनते हैं कि इसी विषय को लेकर एक बार एक कवि और एक भावक में झगड़ा शुरू हो गया। कवि का आग्रह था कि स्रष्टा होने के नाते कवि ही काव्य के रहस्य का ज्ञाता होता है। उधर भावक का हठ था कि आलोचना शास्त्र का मर्मज्ञ होने से भावक ही काव्य के गुण-दोषों का सम्यक् विवेचना कर सकता है। विवाद बढ़ता ही गया। झुंझला कर भावक जी बोल उठे—अच्छी बात है कविजी, कोई कविता तो सुनाइए। कवि झट अपनी नयी सूक्ति सुनाने लगे—

> इयं सन्ध्या दूरादहमुपगतो हन्त! मलयात्,
> तवैकान्ते गेहे तरुणि वत नेष्यामि रजनीम्।
> समीरेणैवोक्ता नवकुसुमिता चूतलतिका,
> धुनाना मूर्धानं नहि, नहि, नहीत्येव कुरुते॥

इस रमणीय पद्य में मलयानिल तथा चूतलतिका का परस्पर कथनोपकथन है। मलय पर्वत से बहनेवाला दक्षिण वायु लता को थपकी देकर धीरे-धीरे कह रहा है कि देखो, मैं कितनी दूर से चलकर तुम्हारे दरवाजे आया हूँ। मैं तुम्हारे एकान्त घर में यह रात बिताना चाहता हूँ। क्या तुम मुझे रहने के

लिये स्थान न दोगी ? वायुकी यह बात सुनकर नयी खिली हुई बाललतिका अपना सिर हिला-हिला कर कहने लगी—नहीं, नहीं, नहीं।

यह रमणीय पद्य सुनकर भावक झट कवि से पूछ बैठा कि इस पद्य में 'नवकुसुमिता' का क्या तात्पर्य है तथा तीन बार निषेध करने का क्या अभिप्राय है ? कवि ने कहा—इसका कारण सीधा-साफ है। वसन्त के आगमन पर लता में नये फूल आये थे। इसीलिये 'नवकुसुमिता' विशेषण दिया गया है तथा अस्वीकृति को दृढ़ करने के लिए 'नहीं' शब्द का तीन बार प्रयोग है। भावक ने कहा—बस, इन गूढ़ शब्दों का यही तात्पर्य है ? तब कवि ने कहा कि इससे भिन्न यदि कोई दूसरा गूढ़ार्थ हो तो आप ही बताइये। भावक ने कहा—सुनिए। 'नवकुसुमिता' में यह व्यंग्य है कि लता पुष्पवती (रजस्वला) है। पुष्पवती-नायिका और नायक का संगम शास्त्रनिषिद्ध है। तीन बार निषेध करके लता यह दिखलाना चाहती है कि वह तीन दिनों तक अस्पृश्य होने के कारण संगम के अयोग्य है। चौथे दिन शुद्ध होने पर वायु उसके घर में मौज से निवास कर सकता है। इस सुन्दर तथा गूढ़ तात्पर्य की अभिव्यक्ति सुनकर कविजी गद्‌गद् हो उठे और उन्होंने भावक की श्रेष्ठता सहर्ष स्वीकार कर ली।

गोस्वामी तुलसीदासजी का इस विषय में अपना अनुभव कालिदास के अनुभव के अनुकूल ही है। स्वयं एक सिद्ध कवि थे, परन्तु अपनी कविता के गुणदोष के निर्णय का भार सन्तों के ऊपर ही छोड़ रखा है। नीरक्षीर विवेकी हंस तथा दोष-गुण विवेचक सन्त की तुलना सचमुच मर्मस्पर्शी है—

जड़ चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि बारि विकार॥

ध्यान देने की बात है कि तुलसीदासजी ने कालिदास की भाँति सन्त (आलोचक) को ही काव्य-परीक्षा का सच्चा अधिकारी माना है। यदि वे कवि और भावक के कर्म को पृथक् न मानते तो संभवतः ऐसी बात नहीं लिखते। दूसरी विशिष्ट बात यह है कि तुलसीदासजी के मतानुसार आदर्श सन्त या आलोचक हंस के समान होता है। जिस प्रकार हंस बिना किसी पक्षपात के दूध और पानी को ठीक-ठीक अलग कर देता है, उसी प्रकार आदर्श भावक या आलोचक किसी कवि-विशेष की कविता के साथ पक्षपात नहीं करता प्रत्युत काव्य के गुण-दोषों का उचित रीति से विवेचन कर देता है। कालिदास और गोस्वामीजी दोनों ने ही आलोचक के लिए 'सन्तः' शब्द का प्रयोग किया है।

भावक-कोटियाँ

आलोचना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी आलोचकों के अनेक प्रकार हैं:—

(१) **हृदय-भावक**—जो व्यक्ति किसी कविता का आस्वादन करके, उसके गुणदोषों का विवेचन बाहर प्रकट नहीं करता, प्रत्युत अपने 'हृदय में ही रखता है उसे 'हृदयभावक' कहते हैं।

(२) **वाक्-भावक**—जो गुण-दोषों को शब्दों के द्वारा प्रकट करता है वह वाक्-भावक कहलाता है।

किन्हीं लोगों के मत में हृदयभावक कविता के हृदयपक्ष (रसवत्ता) का समीक्षक होता है और वाक्-भावक उसके कलापक्ष का (बाह्य चाकचिक्य का, अलंकार-जन्य चमत्कार का)।

(३) **गूढ़-भावक**—तीसरे प्रकार का आलोचक वह है जो काव्य की गुणग्राहकता आंगिक तथा सात्विक अनुभावों के द्वारा प्रकट करता है। वह आलोचक रमणीय काव्य को सुनकर तथा उससे प्रभावित होकर नेत्र के स्फुरण से, हाथ के चलन से तथा मुख की मुद्रा से अपने हृदय के भाव को प्रकट करता है। काव्यानन्द से उसके नेत्र विकसित हो जाते हैं, मुख प्रसन्न दीखने लगता है, होठों के ऊपर मन्द मुसकराहट झलकने लगती है, शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ऐसे ही आलोचक की श्लाघ्य स्तुति विज्जका ने भले शब्दों में की है:—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरंगैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ॥

सच्चे कवि का अभिप्राय शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, प्रत्युत कुछ रसभरे मनोहर पदों में वह भाव झलकता रहता है। ऐसे कवि का सच्चा मर्मज्ञ किसे कह सकते हैं? उर्दू कविता के भावुकों की भाँति केवल भावावेश में 'वाह' 'वाह' कह कर अपनी सहृदयता का परिचय देना संस्कृत कविता के सच्चे रसिक का काम नहीं है। कवि के गूढ़ व्यञ्जना द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा अपने आनन्द का पता नहीं देता, वरन् चुप रहने पर भी जिसके रोमाञ्चित अंग ही हृदय की आनन्दलहरी का पता साफ शब्दों में बता देते हैं, वह होता है सच्चा रसिक, पक्का

सहृदय। गूढ़ तात्पर्य की अभिव्यक्ति भी गूढ़ रूप से ही उचित है, वाचालता के द्वारा नहीं।

गोसाईंजी का भी यही अनुभव है—

जे परभणिति सुनत हरखाहीं,
ते नरवर थोरे जग माहीं।

तुलसीदास की दृष्टि में आदर्श आलोचक, उदारहृदय, पक्षपातरहित तथा मत्सरहीन होता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि संसार में तालाब और नदी के समान बहुत से मनुष्य हैं जो जल पाकर अपनी ही बाढ़ से बढ़ते हैं अर्थात् अपनी काव्य-रचना से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। पर आदर्श सज्जन अथवा आलोचक उस समुद्र के समान है जो चन्द्रमा को बढ़ता देखकर स्वयं बढ़ने लगता है। भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्र पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा को परिपूर्ण देख कर वृद्धि को प्राप्त करता है उसी प्रकार आदर्श सज्जन पुरुष अथवा आलोचक दूसरे कवियों की कविता को सुनकर प्रसन्न होता है, उसके हृदय में आनन्द की बाढ़ आ जाती है :—

जग बहु नर सरसरि सम भाई,
जे निज बाढ़ बढ़हि जल पाई।
सज्जन सुकृत सिन्धुसम कोई,
देखि पूर बिधु बाढ़हि जोई॥

(४) **तत्त्वाभिनिवेशी**—जो व्यक्ति काव्य के तत्त्व को ठीक-ठीक समझ कर उसे निर्भय और निःपक्षपात रूप से प्रकट करता है वही इस महनीय नाम को धारण करता है। चारों आलोचकों में यही आलोचक सर्वश्रेष्ठ होता है। यह इतना विरल होता है कि कहीं हजारों आलोचकों में एक होता है। इसके स्वरूप का विवेचन करते हुए एक प्राचीन ग्रन्थकार का कहना है कि वह शब्दों की रचना-विधि को भली-भाँति जानता है, सुन्दर उक्ति से आह्लादित होता है, काव्य के तात्पर्य को भलीभाँति समझता है और विवेकी आलोचक के न होने से चित्त में दुःखित होनेवाले सुधीजनों के काव्य-रचना के परिश्रम को जानता है। ऐसा व्यक्ति या आलोचक बड़े पुण्यों से ही प्राप्त होता है। सचमुच संस्कृत आलोचना-शास्त्र के अनुसार यही व्यक्ति आदर्श आलोचक के सिंहासन पर आरूढ़ होने का अधिकारी है :—

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः ।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः ॥

का० मी० अ ४, पृ० १४-१५

मंगल नामक आचार्य के अनुसार आलोचक दो प्रकार के होते हैं—(१) **अरोचकी** और (२) **सतृणाभ्यवहारी**। अरोचकी का अर्थ है विवेकी और सतृणाभ्यवहारी का तात्पर्य है अविवेकी। इन प्राचीन दो भेदों में राजशेखर ने दो भेद और जोड़ दिये हैं (३) **मत्सरी** तथा (४) **तत्त्वाभिनिवेशी**। राजशेखर का कहना है कि आरम्भ में साधारण भावक सतृणाभ्यवहारी ही हुआ करता है। यह अवस्था तो सर्वसाधारण है। उस समय प्रतिभा तथा विवेक से रहित होने के कारण विवेचक गुण और दोष का विभाजन कर ही नहीं सकता। वह भी बहुत सी अनुपादेय वस्तुओं का ग्रहण कर लेता है तथा उपादेय होने पर भी वह बहुत से पदार्थों को छोड़ देता है। विवेक के उत्पन्न होते ही भावक की बुद्धि परिष्कृत होती है और वह काव्य के मूल्य का अंकन भलीभाँति कर सकता है। आलोचक में विवेक का होना परमावश्यक है। परन्तु इसके अतिरिक्त उसका आवश्यक गुण है—**पक्षपातहीनता** तथा **मत्सरराहित्य**।

मत्सरी—पक्षपात आलोचक को अन्धा बना देता है जिससे वह न तो गुणों को गुण समझता है और न दोषों को दोष। जिधर उसका पक्षपात हुआ उसी काव्य को वह आसमान पर चढ़ा देता है और जिधर उसकी रुचि नहीं हुई उस काव्य को निन्दा के गड्ढे में ढकेल देता है। मत्सरी आलोचक की भी यही दशा है। उसे काव्य का तत्त्व अवश्य सूझता है परन्तु द्वेष के कारण वह दूसरों की महनीय कृति में छिद्रान्वेषण कर वह उसे क्षुद्र तथा हीन बनाना चाहता है। फलतः उसके लिये काव्य की स्फूर्ति न होने के बराबर है।

कोई कवि आप बीती सुनाते हुए कह रहा है कि जो कविता के मर्म को समझनेवाले हैं वे तो मत्सर से ग्रस्त हैं; जिन धनी लोगों के गुणग्राही होने की आशा की जा सकती है वे तो धन तथा ऐश्वर्य के अभिमान में चूर हैं; विचारे सामान्य जन अज्ञान में पड़े हैं, कविता के मर्म समझ नहीं सकते। तब भला समीक्षक के अभाव में कविता का बहिःस्फुरण कैसे हो; कवि के अंग में ही न पच जाय तो और कहाँ जाय ? :—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥

हिन्दी का एक कवि भी मत्सरी आलोचक की निन्दा करता हुआ कह रहा है कि सरस कवियों के चित्त को दो ही बातें वेधती हैं । एक तो है कविता को न समझनेवाली जनता के द्वारा उसकी प्रशंसा और दूसरी है काव्य को समझनेवाले आलोचक का द्वेष के कारण मौनावलम्बन ।

सरस कविन के चित्त को, बेधत वै द्वै कौन ।
असमुझवार सराहिबौ, समझवार को मौन ॥

इस प्रसंग में किसी कवि और काव्य-श्रोता की बातचीत बड़ी रमणीय तथा सजीव है ।

श्रोता—आप कौन हैं ?

कवि—मैं कवि हूँ ।

श्रोता—तो कोई अपनी अभिनव कविता सुनाइए ।

कवि—आजकल तो मैंने कविता करना ही छोड़ दिया है, अतः मेरे पास कोई नयी सूक्ति नहीं है जो सुनाऊँ ।

श्रोता—आपने ऐसा क्यों किया ? कवि होकर कविता का परित्याग !

कवि—हाँ, भाई ठीक है । परन्तु इसका कारण तो सुनिए । इस संसार में ऐसा कोई भावक (आलोचक) ही नहीं है जो स्वयं सत्कवि होकर दोष, गुण के तत्त्वों की विवेचना कर सके । यदि भाग्य से ऐसा कोई भावक मिल भी जाता है तो वह द्वेषरहित कदापि नहीं मिलता । ऐसी दशा में द्वेषहीन समीक्षक के अभाव में मेरी बेचारी कविता मौन है:—

कस्त्वं भो कविरस्मि, काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां,
त्यक्त्वा काव्यकथैव सम्प्रति मया, कस्मादिदं श्रूयताम् ।
यः सम्यग् विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः" ॥

(काव्यमीमांसा, अ० ४, पृ० १४)

कवि का कहना बिलकुल सच्चा है । काव्य का मत्सरहीन ज्ञाता होना सचमुच दुर्लभ है । वह कोई विरला ही आलोचक होगा जो दूसरों के काव्य को पढ़ प्रसन्नता प्राप्त करे । अपनी कविता पढ़कर आनन्द में कौन विभोर नहीं हो जाता ?

साथ सम्पादन किया जाता है[१]"। आर्नोल्ड का यह कथन यथार्थ है। आलोचक अयथार्थ तथा अनृत भावनाओं से यथार्थ तथा सच्ची भावनाओं को अलग कर कवियों की दृष्टि को उदात्त बना देता है। जिस महनीय तत्त्व की ओर उनकी दृष्टि साधारणतया आकृष्ट नहीं होती, उधर उसे आकृष्ट कर वह कवि-हृदय को ऊँचे स्तर पर पहुँचा देता है और इस प्रकार साहित्य की अभिवृद्धि में वह पूर्ण सहयोग देता है। भारतीय ध्वनिवादी आचार्यों की काव्य समीक्षा ने कितने नवीन कवियों और लेखकों को ध्वनि मार्ग का पथिक बनाया है। इसका यथार्थ लेखा-जोखा क्या कथमपि किया जा सकता है?

आलोचकों के अनेक महनीय गुणों में दो विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं—तत्त्वाभिनिवेश तथा मात्सर्यहीनता। आलोच्य विषय की यथार्थ जानकारी होने पर ही कोई आलोचक उसके गुण-दोष का विवेचन कर सकता है। आलोचक के कर्तव्य की तीन[२] अवस्थाएँ होती हैं—कवि या चित्रकार के सद्गुण की स्वतः अनुभूति, उस गुण का विवेचन तथा उसका उचित भाषा में प्रकटीकरण। कवि के भावों की बिना यथार्थ अनुभूति हुए उनकी व्याख्या करना उपहास का विषय है। काव्य के सतह के ऊपर ही तैरने वाला व्यक्ति न तो काव्य के हृदय को परख सकता है, न उसे साधु भाषा में अभिव्यक्त ही कर सकता है। परन्तु इस सहानुभूति को आलोचक की मत्सरता एकदम नष्ट कर देती है। राग की भावना से काव्य का अन्तस्तत्त्व स्फुरित होता है; द्वेष की भावना आलोचक को अन्धा बना डालती है; वह काव्य के गुणों का दर्शन ही नहीं कर सकता। विद्वान् 'दोषज्ञ' कहलाता है—वह दोषों को जाननेवाला होता है, परन्तु इसका अर्थ नहीं है कि वह गुणों का मर्म न समझे। विवेकी आलोचक हंस के समान दोषों से गुणों के पृथक् करने में सर्वथा समर्थ होता है।

---

१. The business of Criticism is simply to know the best that is known and thought in the world, and by in its turn making this known, to create a current of true and fresh ideas, Its business is to do this with inflexible honesty, with due·ability.

—Arnold.

२. To feel the virtue of the poet or the painter to disengage it, to set it forth—these are the three stages of the critic' sduty.

—Walter Pater.

आलोचक को अपने वैयक्तिक रुचि से ऊपर उठने की आवश्यकता होती है। बहुत से आलोचक अपने व्यक्तिगत पक्षपात के कारण किसी लेखक को सुन्दर तथा शोभन मानते हैं परन्तु सच्चे आलोचक का यह कर्तव्य नहीं है। आलोचना-शास्त्र के अपने मान्य सिद्धान्त होते हैं। इन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण, न कि वैयक्तिक रुचि का व्यामोह, आलोचक का मान्य धर्म होना चाहिए। रचना के उद्देश्य पर उसे दृष्टि रखनी पड़ती है। मानव समाज के समुत्थान तथा उदात्तीकरण में काव्य की चरितार्थता है। आलोचक इसी कसौटी पर काव्य को कसता है और खरे-खोटेपन की परख करता है। अतः कवि की अपेक्षा भावक का कार्य किसी प्रकार भी न्यून मानना उचित नहीं है। प्रतिभा दोनों को अपने-अपने विशिष्ट कार्य की सिद्धि में समर्थ सहायिका होती है।

१०—रूपक की रम्यता

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः।[1]

—वामन

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव।[2]

—अभिनवगुप्त

हमारे भारतीय आलोचकों ने काव्य के नाना प्रभेदों में सौन्दर्य तथा चारुता की दृष्टि से उत्कर्षापकर्ष का विवेचन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। इस विषय में एक विख्यात लौकिक आभाणक है—काव्येषु नाटकं रम्यम्—काव्यों में नाटक रमणीय होता है—सामाजिक के हृदय को रमाने वाला होता है। इसकी पर्याप्त समीक्षा करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह लोकोक्ति कोई सामान्य निराधार उक्ति नहीं है, प्रत्युत यह साहित्य-शास्त्र के एक प्रौढ़ सिद्धांत की परिचायिका है।

विवेचन भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों ने समय-समय पर किया है। बहुमत इसी पक्ष में है कि श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य समधिक रुचिर तथा मनोज्ञ होता है। भारतवर्ष में भरतमुनि ने नाट्य की सर्वप्रथम समीक्षा की। श्रव्य काव्य तो वाचिक अभिनय का प्रकारमात्र होने के कारण गौण माना गया है और श्रव्य काव्य की समीक्षा भी नाट्य-समीक्षा के बाद ही आरम्भ हुई है। नाटक सरस साहित्यिक रचना का प्रतीक ठहरा। अतः वही समीक्षा का सर्वमान्य विषय निर्धारित किया गया था।

काव्य के दो मुख्य भेद हैं—श्रव्य तथा दृश्य। श्रव्य काव्य श्रवण के माध्यम द्वारा सामाजिक के हृदय को स्पर्श करता है और दृश्य काव्य नेत्र के माध्यम द्वारा दर्शक के हृदय को आकृष्ट करता है। लक्ष्य है एक ही सामाजिक का हृदयावर्जन, परन्तु माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। श्रव्य काव्य में माध्यम है श्रवण तथा दृश्य काव्य में वह माध्यम है नेत्र। यह निर्विवाद सत्य है कि कानों से सुनी गई वस्तु की अपेक्षा नेत्रों के द्वारा दृष्ट वस्तु विशेष रोचक तथा सद्यः हृदया-वर्जक होती है। अतः लौकिक दृष्टि को आधार मानकर हमारा यह कथन

१. वामन—काव्यालंकार सूत्र, १।३।३०

२. अभिनवभारती, पृ० २९२

कथमपि अयुक्तिक नहीं कहा जायगा कि श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य अधिक रोचक, अधिक रम्य तथा अधिक मनोज्ञ होता है।

नाट्य और चित्रपट

अब शास्त्र-दृष्टि से विचार कीजिए। आचार्य वामन हमारे प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने इस विषय की विवेचना की ओर ध्यान दिया है। वे अनिबद्ध काव्य—मुक्तक—की अपेक्षा निबद्ध को श्रेयान् मानते हैं और निबद्ध काव्यों या सन्दर्भकाव्यों में दशरूपक को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। इस श्रेष्ठता की व्याख्या के समय वे नाटक की तुलना चित्रपट के साथ करते हैं। समग्र सामग्री के अस्तित्व के कारण चित्रपट दर्शकों के नेत्रों का कितना आवर्जन करता है? चित्रकार की तूलिका रेखात्मक आकारों में नाना प्रकार के रंगों को भरकर उनमें जीवन का इतना संचरण कर देती है कि वे एकान्त जीवित पदार्थ प्रतीत होते हैं तथा रंग के रुचिर मिश्रण के कारण चित्रपट एकदम सजीव तथा रोचक हो उठता है।

चित्रपट की विचित्रता का क्या कारण है? 'विशेष-साकल्य' अर्थात् चित्रोपयोगी समस्त विशिष्ट वस्तुओं की पूर्णता। रूपक की भी यही दशा है। रंगमंच के ऊपर शिक्षित नटों के द्वारा उचित भावभंगी के साथ जब रूप का अभिनय होता है, तब दर्शकों के लोचनों के सामने जीवित पदार्थ अपने पूर्ण वेष में अपनी पूर्ण गरिमा के साथ प्रस्तुत होते हैं। दर्शक जीवन के साथ इतना तादात्म्य तथा एकात्म्य देखता है, आत्मविभोर हो उठता है और वह भूल जाता है कि वह किसी बाह्य अभिनेय पदार्थ का ही साक्षात्कार कर रहा है।

रूपक हमारे जीवन का औचित्यपूर्ण यथार्थ अनुकरण है। अभिनीयमान राम, सीता आदि व्यक्तियों का नटों के ऊपर आरोपण होने के हेतु ही रूपक की 'रूपक' संज्ञा सार्थक मानी जाती है। धनञ्जय का कहना है—रूपकं तु समारोपात्। श्रव्य काव्य—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि—को पाठक पढ़ता है तथा सुनता है। जिस कथानक का साहित्यिक वर्णन उसमें प्रस्तुत किया जाता है उसका मानस प्रत्यक्ष करके ही वह आनन्दबोध कर सकता है। इस प्रकार श्रव्य काव्य से जीवन के साथ सम्पर्क परोक्ष ही होता है, परन्तु दृश्य काव्य में वास्तव जीवित व्यक्तियों का अनुकरण हम शिक्षित नटों

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्।

—वामन, काव्यालंकारसूत्र १।३।३०–३१

के द्वारा अनुकूल वेशभूषा के साथ इतनी सुन्दरता से पाते हैं कि वर्ण्य विषय एकदम जीवित-सम्पन्न बन हमारे इन विलोचनों के सामने झूलने लगता है। अतः नाटक में जीवन के साथ सम्पर्क अपरोक्ष होता है; जीवन की यथार्थता का केवल आभास ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत यथार्थता की पूर्ण अभिव्यक्ति यहाँ सम्पन्न होती है। प्रत्यक्ष दृश्यता तथा यथार्थता के कारण रूपक चित्र के सदृश मनोज्ञ है और समस्त काव्य-प्रकारों में मनोज्ञतम है।

रूपक—साहित्यिक कृति की 'प्रकृति'

वामन ने रूपक की श्रेष्ठता का जो द्वितीय कारण बतलाया है उसका भी समर्थन किया जा सकता है[1]। उनका कहना है—दशरूपक से ही काव्य के अन्य प्रभेदों की कल्पना की जाती है। कथा, आख्यायिका तथा महाकाव्य—आदि दशरूपक के ही विलास हैं। इस मत का समर्थन किया जा सकता है। नाटक में केवल कथनोपकथन के ही द्वारा कथानक की मुख्य घटनाएँ दर्शकों के सामने रखी जाती हैं। अनेक वस्तुओं की तो केवल सूचना ही दी जाती है। इन्हीं सूच्य अंशों को पूर्ण कर यदि छन्दोमयी वाणी में कवि कथानक का वर्णन करता है तो वही बन जाता है महाकाव्य और यदि गद्य के माध्यम द्वारा कथानक का चित्रण करता है तो यह हो जाता है कथा या आख्यायिका। अतः इस ढंग से हम सिद्ध कर सकते हैं कि नाटक ही साहित्यिक रचना का मूल अवसान है, रसस्निग्ध रचना का अन्तिम रसपेशल विकास है।

'काव्यं तु दशरूपात्मकमेव'

काव्य प्रधानतः दशरूपात्मक ही होता है। अभिनवगुप्त का यह कथन केवल वैयक्तिक रुचि पर अवलम्बित न होकर एक सार्वभौम आध्यात्मिक तथ्य पर आश्रित है। भारतीय तत्त्वज्ञान इस विराट् संसार की सृष्टि की मीमांसा कर बतलाता है कि यह स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न भगवान् परमशिव की लीला का विलास के। त्रिक दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि वह चिदानन्द परमशिव पूर्ण आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए ही इस विश्व का उन्मेष अपनी ही भित्ति के

---

१. ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्यैव सर्वं हीदं विलसितं यत् कथाख्यायिके महाकाव्यमिति।

—वामन काव्यालङ्कारसूत्र, १।३।१३

ऊपर स्वयं ही—स्वातन्त्र्य शक्ति के बल पर-सम्पन्न करता है। लीला कला की ही अन्यतम संज्ञा है स्वातन्त्र्य शक्ति। शिव स्वतन्त्र है। वह अनाश्रित तत्त्व है। जगत् के समग्र पदार्थ आश्रित तत्त्व के अन्तर्गत होने से परतन्त्र हैं। वह स्वयं अपना नियामक है। आचार्य वसुगुप्त के 'शिवसूत्र' में इसलिए परमात्मा की उपमा नर्तक से दी गई है—

नर्तक आत्मा (३।९)
रंगोऽन्तरात्मा (३।१०)
प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि (३।११)

शंकर की 'नटराज' मूर्ति तथा कृष्णचन्द्र का 'नटवर' वेश इस प्रसंग में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। नटराज के ताण्डव नृत्य की प्रक्रिया से ही विश्व का उदय होता है। नाट्य सृष्टितत्त्व का मनोरम प्रतीक है।

कवि वल्लभदेव ने लीलानिकेतन भगवान् की तुलना धूलि के स्तूप पर बैठकर नाना प्रकार की मूर्तियों को गढ़नेवाले और बिगाड़नेवाले बालक के साथ बड़े सुन्दर शब्दों में की है—

इह सरजसि मार्गे चञ्चलो यद् विधाता
अगणितगुणदोषो हेतुशून्यस्वसुरवः।
सरभस इव बालः क्रीडितैः पांशुपूरै—
र्लिखति किमपि किञ्चित् तच्च भूयः प्रमार्ष्टि॥

चञ्चल बालक धूलि के ढेर से खेल करता है; वह स्वतः अपनी ही मनमानी उसी धूलि से कुछ लिख देता है—कुछ बना देता है। और उसे ही बिना किसी कारण के स्वतः पोंछ डालता है। उस चञ्चल विधाता की भी कुछ ऐसी ही करामात होती है। वह गुण-दोष का कुछ भी विचार नहीं करता, न उस रचना के हेतु का ही कभी ख्याल करता है। वह तो स्वतः अपनी लीला के लिए नाना प्रकार के पदार्थों की सृष्टि करता है और स्वयं उन्हें पोंछ डालता है इतनी सफाई के साथ कि न तो उनका कहीं नाम बाकी रहता है और न निशान। पानी पर बबूले के समान वस्तुएँ अपनी क्षण भर स्थिति रखती हैं और अनन्तर फिर उसी महासमुद्र में लीन हो जाती हैं।

यह सब है भगवान् की लीला। और इस लीला का सुन्दरतम वर्णमय प्रतीक है—नाट्य। नाटक दर्शकों के हृदय में आनन्द उद्बुद्ध करनेवाला एक रमणीय खेल है—कमनीय क्रीड़ा है। इसी लिए नाटक को साहित्यिक कृति की 'प्रकृति' मानना सर्वथा सयुक्तिक है।

काव्य-कला के द्विविध पक्ष

हमारे आलोचक-शिरोमणि परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव-भारती' में विषय की मीमांसा अधिक प्रौढ़ तथा अधिक सयुक्तिक रूप से की है। उनकी आलोचना समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि काव्यचिन्तन के विषय में भारतीय आलोचनाशास्त्र का दृष्टिकोण क्या है। काव्यसमीक्षण के दो पक्ष होते हैं—कविपक्ष तथा सामाजिक पक्ष अथवा कारक-पक्ष और भावकपक्ष। सारस्वत तत्त्व के ये ही दोनों कवि और सहृदय ही, दो उपादेय उपकरण हैं। कवि अपने प्रतिभा चक्षु के द्वारा अदृष्टपूर्व तत्त्वों का साक्षात्कार कर अपनी शब्दतूलिका से उनका उन्मीलन करता है। सहृदय अपनी भावयित्री प्रतिभा के आधारपर इन शब्दार्थमय चित्रण के अन्तर्निहित आनन्द का अपनी वासना के द्वारा अनुभव करता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने कवि तथा सहृदय को 'सारस्वत तत्त्व' के उन्मीलन का आश्रय माना है—

सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्यं विजयतात्[1]।

इन उभय पक्षों से रूपक अन्य काव्यभेदों से श्रेयस्कर है। कारयित्री प्रतिभा का जितना चमत्कार रूपक में दृष्टिगोचर होता है, भावयित्री प्रतिभा का उतना ही प्रभाव उसमें स्पष्टतर होता है। रसवत्ता की दृष्टि से और रसास्वाद के उत्कर्ष की दृष्टि से, दोनों भाँति रूपक श्रव्य काव्य की अपेक्षा निःसन्देह मनोज्ञ सिद्ध होता है।

रसवत्ता की पूर्णता

रूपक रसवत्ता की पूर्ति का चरम दृष्टान्त है। रसवत्ता का आश्रय है औचित्य। जिस रचना में औचित्य का जितना ही अधिक सहयोग होता है, वह रचना उतनी ही अधिक रसपेशल होती है। नाट्य औचित्य का समधिक अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है। भरतमुनि का एतद्विषयक महत्त्व-सम्पन्न सिद्धान्त है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः[2]॥

---

१. लोचन का मङ्गलश्लोक।

२. भरत नाट्यशास्त्र (काशी संस्करण) १४।६८

नाट्य में औचित्य की प्रसशंनीय परम्परा विद्यमान रहती है। वय के अनुरूप रहता है, वेष, वेष के अनुसार होता है गति-प्रचार, तदनुगत होता है पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप ही रहता है अभिनय। इस औचित्य की परम्परा के विद्यमान रहने के कारण नाट्य में रसवत्ता पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है। इसी विशिष्टता को लक्ष्य में रखकर अभिनवगुप्त का कहना है[1] कि नाट्य में भाषा, वृत्ति, काकु नेपथ्य आदि के औचित्यपूर्ण संवलन द्वारा रसवत्ता की पूर्ति होती है, परन्तु काव्य में इतना औचित्य दृष्टिगत नहीं होता। महाकाव्य की नायिका अपनी स्वाभाविक प्राकृत भाषा को छोड़कर संस्कृत में बोलती है। क्या यह सर्वथा अनुचित नहीं है! सन्दर्भरस के अनुकूल न होने पर भी महाकाव्य का रचयिता नदियों तथा पर्वतों के लम्बायमान बीहड़ वर्णनों में अपनी व्युत्पत्ति क्या प्रदर्शित नहीं करता! ऐसी दशा में नाटक की स्वाभाविकता, औचित्य तथा रसवत्ता की पूर्णता से बाध्य होकर आलोचकप्रवर अभिनवगुप्त को कहना पड़ रहा है कि काव्य तो मुख्यतः दशरूपात्मक ही होता है—

रसास्वाद का उत्कर्ष

काव्य का प्रधान लक्ष्य है सामाजिक के हृदय में रसोन्मेष। पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र काव्य में कविपक्ष की बलवत्ता मानता है, भारतीय रसशास्त्र काव्य में सहृदय पक्ष की प्रधानता अंगीकार करता है। पश्चिम में काव्य 'कविप्रतिभाव्यापारगोचर' होता है, तो भारत में वह 'सहृदय-चर्वणा-व्यापार-गोचर' माना जाता है। रस की प्रतीति के लिये सामाजिक का 'सहृदय' होना नितान्त आवश्यक है। सहृदय का वृत्तिलभ्य अर्थ है कवि के हृदय के साथ संवाद—साम्य, एकरूपता—धारण करनेवाला व्यक्ति। अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार सहृदय वही व्यक्ति होता है जिसका मनोमुकुर काव्य के अनुशीलन के अभ्यास से—काव्य के निरन्तर अध्ययन तथा चिन्तन से—नितान्त विशद हो जाता है, जिससे वह वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता रखता है—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवन-योग्यता ते हृदय संवादभाजः सहृदयाः।[2]

---

१. तत्र नाट्ये ह्युचितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः—पूर्यते च रसवत्ता। सर्गबन्धादौ तु नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरिति बहुतरमनुचितम्। अभिनवभारती, पृ० २९२।

२. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११

अतः सहृदय का हृदय कवि के हृदय के साथ इतना साम्य रखता है कि स्फुट तथा प्रकीर्ण पद्यों के श्रवण-मात्र से ही उसे रस-प्रतीति हो जाती है, क्योंकि वह अनभिव्यक्त अंशों की पूर्ति स्वतः अपनी भावयित्री प्रतिभा के बलपर कर लेता है। नाटक के श्रवण मात्र से वह आनन्द की अनुभूति कर लेता है। साधारण जन की यह दशा नहीं होती। उसे मुक्तक काव्य से रसास्वाद लेने के अवसर पर अनेक पदार्थों तथा घटनाओं की व्याख्या करनी पड़ती है। इस आवश्यक भूमिका के बिना वह इन प्रकीर्णक पद्यों से रस का आस्वादन नहीं कर सकता। यही कारण है कि अव्युत्पन्न व्यक्ति को बिहारी के दोहे समझाने के अवसर पर उनके समुचित प्रसङ्गों की मीमांसा आवश्यक होती है। रूपक भी आस्वाद्य होने के निमित्त व्याख्या की अपेक्षा रखता है। निर्मल चित्तवाले सहृदय को इस व्याख्या तथा प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो नाट्य की अपेक्षा के बिना ही काव्यमात्र से प्रतीति ग्रहण कर लेता है[1]। परन्तु ऐसे प्रसङ्गों की कमी नहीं, जब सहृदय का भी हृदय चिन्ता तथा उद्वेग से कलुषित तथा विक्षिप्त होता है। हृदय का उद्वेग चित्त को इतना विक्षिप्त कर देता है कि रूपक के पढ़ने तथा सुनने पर भी, पठन तथा आकर्षणमात्र से उसे रस का आस्वाद नहीं होता। ऐसी दशा में उसके लिये भी अभीनय की विपुल मनोरञ्जन सामग्री की अपेक्षा रहती है।

जब सहृदयों की ऐसी दशा है, तब 'अहृदयों की तो कथा ही निराली है। उनके रसबोध के लिये नाट्य की भूयसी आवश्यकता है। नाट्य उनको दो प्रकार से सहायता पहुँचाता है। प्रथम तो नटों के द्वारा रूपक के अभिनय से वह वर्णनीय वस्तुओं को प्रत्यक्ष तथा जीवित रूप में चित्रित करता है। उचित वेश-भूषा, जवनिका की सज्जा, रङ्गमञ्च की सजावट, नेत्ररंजक चित्रकारी तथा विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी के अभिनय आदि द्वारा दर्शकों को वर्ण्य वस्तु में जीवन की सत्यता प्रतीत होने लगती है। उनके लिये शकुन्तला किसी अतीत काल की कोई विस्मृत नायिका नहीं रहती, मालिनी के तटपर हिमालय की तलेटी में रचा गया महर्षि कण्व का आश्रम किसी अज्ञात अतीत युग की स्मृति उद्बुद्ध नहीं करता, प्रत्युत रंगमञ्च के चारु चित्र तथा नट के

---

१. ये तु काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयाः तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेन परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अतएव तेषां काव्यमेव प्रतीत्युत्पत्तिकृत् अनपेक्षितनाट्यमपि।

—अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८८

कौशल पूर्वक अभिनय से वस्तुएँ जीवित वर्तमान की सजीव मूर्तियाँ ही प्रतीत होती हैं।

इतना ही नहीं, रसिक नटों के द्वारा प्रस्तुत संगीत की माधुरी श्रोताओं के ऊपर अपना विचित्र प्रभाव जमाती है। उनका हृदय अपने स्वगत दुःखों से कितना भी दबा क्यों न हो, शोक तथा क्रोध आदि रसप्रतीति से प्रतिकूल वृत्तियों के उदय के कारण कितना भी संकट-संकीर्ण तथा ग्रन्थिल क्यों न हो गया हो, उदात्त संगीत की स्निग्ध माधुरी उनके श्रवणों को सिक्त कर हृदय के ग्रन्थिभञ्जन करने में सर्वथा कृतकार्य होती ही है[1]। तथ्य यह है कि रस-चवर्ण के निमित्त तदनुकूल चित्तवृत्ति की एकान्त सत्ता आवश्यक होती है। रसास्वाद के लिये अनुकूल वातावरण तथा अनुरूप चित्तप्रसाद उत्पन्न करने के लिये नाट्य सर्वथा समर्थ होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। श्रव्य काव्य में रसानुकूल सामग्री का उदय रसिक श्रोता की चित्त-वृत्ति पर ही आश्रित रहता है। यदि वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की क्षमता उसमें वर्तमान रहती है, तो रस के आस्वादन में विलम्ब नहीं लगता, अन्यथा काव्य अपने जीवन की समाप्ति अरण्यरोदन में ही करता है। अहृदय की सहृदय रूप में परिणति का सर्वप्रधान साधन है नाट्य। 'निजसुखादिविवशी भाव'—अपने सुख-दुःख आदि भावों के वश में होना—रसास्वादन के लिये महनीय प्रत्यूह है जिसका निराकरण अभिनय, अंगहार, संगीत तथा सजावट आदि नाटकीय उपकरणों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अभिनवगुप्त का स्पष्ट कथन है—

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूपप्रत्यूह-व्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादि-विषयमयैः आतोद्य-गान-विचित्रमण्डप-विदग्धगणिकादिभिः उपरञ्जनं समाश्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते।[2]

इसी कारण साहित्यिक कलात्मक अनुभूति तथा रसास्वाद की पूर्ति के लिये काव्य के समस्त प्रभेदों में रूपक सबसे श्रेष्ठ है। उसका प्रभाव केवल सहृदयों के ही ऊपर नहीं पड़ता, प्रस्तुत समस्त व्यक्तियों पर, चाहे वे सहृदय हों या अहृदय, समभावेन पड़ता है।

जीवन की सत्यता की अनुभूति की दृष्टि से, रसवत्ता से स्निग्ध होने की दृष्टि से और रसास्वादन के उत्कर्ष से पेशल होने की

---

१. अभिनवभारती, पृ० २९२

२. अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २८२-२८३।

दृष्टि से रूपक काव्य-प्रभेदों में सर्वथा अभिराम, हृदयङ्गम तथा रमणीय है।

नाट्य–रस

नाट्यरस के उन्मेष का सर्वाधिक रम्य प्रतीक है। इसीलिये भारतनाट्य-शास्त्र में उसे नाट्यरस की संज्ञा प्राप्त है। 'नाट्यरस' का अभिनवी व्याख्यान है[1]—

(१) नाट्य के समुदायरूप से उत्पन्न रस (नाट्यात् समुदायरूपाद् रसः)

(२) नाट्य ही रस है। रस-समुदाय ही नाट्य है (नाट्यमेव रसः। रससमुदायो हि नाट्यम्)।

इसका तात्पर्य है कि नाट्य रस के उन्मीलन का प्रधान साधन है। यह व्याख्यान काव्य में रस की सत्ता का निराकरण नहीं करता। नाट्यरस के उपकरणभूत विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव करता है। यही योग्यता जब श्रव्य काव्य को भी प्राप्त होती है तभी काव्य में रस का आस्वादन उत्पन्न होता है। काव्य में भी यह 'प्रत्यक्षसाक्षात्कार' कवि की अलौकिक वर्णन-शक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हो सकता है। कवि पदार्थों का इतना उज्ज्वल तथा प्रभावशाली वर्णन करता है कि वे पदार्थ अभिनेय पदार्थों के समान पाठक लोचनों के सामने सजीव रूप से स्फुरित हो उठते हैं। इसीलिये अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्टतौत का सम्माननीय सिद्धान्त है—

रस नाट्यायमान ही होता है। काव्यार्थविषय में भी प्रत्यक्षकल्प साक्षात्कार के उदय पर ही रस का उदय सम्पन्न होता है।

काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदयः इत्युपाध्यायाः।[2]

प्रयोगत्व की स्थिति पर पहुँचे बिना काव्य में रस के आस्वाद की सम्भावना ही नहीं रहती, परन्तु क्या श्रव्य-काव्य इस विषय में दृश्य काव्य के प्रयोगत्व की योग्यता कभी प्राप्त करता है? भट्टतौतका कहना है कि तब प्राप्त कर सकता है जब कवि प्रौढ़-उक्ति के द्वारा उद्यान, नदी आदि विषयों का

---

१. अभिनव भारती, पृष्ठ २९२

२. अभिनव भारती, पृ०, २९१

इतना सजीव वर्णन करता है कि वे प्रत्यक्ष-दृश्य पदार्थों के समान स्फुटतर प्रतीत होने लगते हैं। कवि की प्रौढोक्ति में ही रहती है श्रव्य काव्य को दृश्य काव्य के समान प्रयोग-सम्पन्न करने की क्षमता। तभी काव्य में रस का आस्वाद हो सकता है, अन्यथा इस विषय में स्पष्ट कथन है—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः।[1]

काव्य और नाट्य

अब विचारणीय प्रश्न है कि रूपक की पूर्वोक्त रमणीयता कविजन्य है अथवा नटजन्य है? रूपक कवि की प्रतिभा का एकमात्र विलास है अथवा नट की अभिनयकला का संवलित चमत्कार है? इस विषय में आलोचकों द्वारा उद्भावित सिद्धान्त में विशेष अन्तर नहीं है। साधारणतया समझा जाता है नाटक 'प्रयोग-प्रधान' होता है तथा श्रव्य काव्य 'वर्णनाप्रधान' होता है। यह समझ ठीक है परन्तु पाश्चात्यों का तथा कुछ तदनुसारी भारतीय आलोचकों का यह मत सर्वथा अभ्रान्त नहीं है कि नाट्य में नटकी कला कवि की कला की अपेक्षा समधिक मनोज्ञ होती है। आलोचकम्मन्यों की कमी नहीं है जो नट को कवि के द्वारा अनुद्भावित अर्थ का व्याख्याकार मानकर उन्हें कवि से बढ़ कर स्थान देने के पक्षपाती ही भारतीय आलोचकों की स्पष्ट सम्मति है कि नाटक की रोचकता में नट की अपेक्षा कवि का अधिकतर चमत्कार प्रस्तुत करता है। इसलिए भोजराज अभिनेता की अपेक्षा कवियों को तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य (रूपक) को समधिक सम्मान तथा आदर प्रदान करने के पक्षपाती हैं—

अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे। अभिनेयेभ्यश्च काव्यमिति[2]।

दृश्य तथा श्रव्य काव्यों की मौलिक एकता

भारतीय आलोचना शास्त्र में रूपक का रचयिता तथा श्रव्य काव्य का निर्माता दोनों ही अभिन्नरूपेण 'कवि' शब्द के द्वारा वाच्य होते हैं। पाश्चात्य

१. वही, पृ० २९२
२. डाक्टर राघवन्—शृङ्गार प्रकाश (प्रथम खण्ड), पृ० ८० में उद्धृत वाक्य।

जगत् में ड्रामाटिस्ट तथा पोयट में शब्दतः तथा अर्थतः पार्थक्य किया जाता है, परन्तु हमारे साहित्य में दोनों ही 'कवि' हैं। समग्र रुचिर साहित्यिक रचना 'काव्य' के नाम से अभिहित की जाती है और यही काव्य रूपक, श्रव्यकाव्य, गीतकाव्य आदि नाना विभेदों में विभक्त किया जाता है। रसात्मक काव्य के द्वारा सामाजिक के हृदय में रागात्मिका वृत्ति का उदय करने वाली वस्तु ही तो 'काव्य' नाम से अभिहित की जाती है। श्रव्य काव्य में कवि स्वयं वर्णन, कथन तथा चित्रण के द्वारा वह अलौकिक स्थिति उत्पन्न कर देता है जो श्रोता के हृदय में अविलम्ब रस का उन्मीलन होता है। रूपक में भी यही कार्य है, यही ध्येय है, परन्तु यह सम्पन्न किया जाता है नटों के द्वारा। अतः आनन्द के उदय की दृष्टि से दोनों में यही तारतम्य है। महिमभट्टने इस विषय का एक प्राचीन पद्य अपने व्यक्तिविवेक में उद्धृत किया है[1]—

अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥

प्रयोग की भी आवश्यकता प्रत्येक दर्शक के लिये नहीं होती। सहृदय पाठक अनभिनीत नाटक से उसी प्रकार आनन्द उठा सकता है जितना उसके पठन मात्र से। साधारण दर्शक के ही हृदय में रसोद्बोध के निमित्त प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती है। इसलिये भारतीय आलोचकों तथा कवियों ने नाटक में प्रयोग—अभिनेयता—को विशेष महत्त्व नहीं दिया। यदि दर्शक में रागात्मिका वासना विद्यमान है, तो वह अभिनय की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रखता। महाकवि भवभूति के नाटकों में अनेक अंश अभिनय के द्वारा प्रदर्शन की क्षमता नहीं रखते, तो क्या यह दूषण है? बिलकुल नहीं। नाटक की महनीयता कवि की प्रतिभा का विलास है, नट के अभिनय-कौशल का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। साधारण नाटक ही रसाभिव्यक्ति के निमित्त अभिनय की सहायता रखता है; महान् नाटक न नट की अपेक्षा रखता है और न अभिनय की। वह स्वतः महनीय तथा महान् होता है। उसके चमत्कार को हृदयंगम करने के लिये रङ्गमञ्च पर अभिनय की तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती। उसका आनन्द तो घर के किसी कोने में बैठकर पढ़ने से भी उठाया जा सकता है। अभिनय तो अन्धे की लकड़ी के समान है जो सामान्य लोक के ही रसास्वाद के निमित्त जागरूक रहता है।

---

१. व्यक्तिविवेक (काशी संस्करण), पृ० ९६।

पाश्चात्य मत से साम्य

भारतीय आलोचकों की यह मीमांसा—नाट्य तथा काव्य का वैशिष्ट्य—पश्चिमी आलोचकों को भी मान्य है। पश्चिमी आलोचना रूपक के लिए अभिनय की एकान्त आवश्यकता मानती है, यह अर्थवादमात्र है। अरस्तू का ही कहना है कि महाकाव्य के समान ही विषादान्त रूपक अभिनय के बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करता है—केवल पठनमात्र से यह अपनी शक्ति का उन्मीलन करता है[1]। अँग्रेज, फ्रेंच तथा जर्मन अनेक यूरोपीय कलामर्मज्ञ इस विषय में एक मत रखते हैं कि नाटक के लिये अभिनेयता एकान्त आवश्यक गुण नहीं है। लैम्ब का तो यहाँ तक कहना है कि नाटक की मूर्धन्य तथा श्रेष्ठ रचना जितनी सुन्दरता से लिखी जाती है उतनी कठिनता से अभिनीत की जा सकती है। साधारण कोटि के नाटक ही नटों के हाथ में पड़कर विशेष चमत्कार उत्पन्न करते हैं[2]।

कवियों का भी यही अनुभव है। अंगरेजी साहित्य के विश्रुत कवि टामस हार्डीने 'डाईनास्ट' नामक विपुलकाय नाटक की रचना की है जो परिमाण में, बिना सन्देह, 'उत्तररामचरित' या 'बालरामायण' से चौगुना है। उसकी भूमिका में उन्होंने यह दिखलाया है कि नाटक तो कमरे के भीतर बैठकर शान्त मन से पढ़ने की वस्तु है, रंगमञ्च के ऊपर अभिनीत होना नाटक के लिये आवश्यक गुण नहीं है। अभिनेय रूपकों का प्रभाव क्षणिक तथा अस्थायी होता है, परन्तु पाठ्य नाटकों का प्रभाव स्थायी तथा चिरकालीन होता है। दोनों की इस विशिष्टता की अभिव्यक्ति के हेतु वे प्रथम प्रकार के नाटक के लिये सामान्यतः 'नाटक' शब्द का प्रयोग करते हैं और दूसरे प्रकार के महनीय नाटक को वे एपिक ड्रामा के अभिधान से पुकारते हैं। हार्डी की यह विवेचना भोजराज के सिद्धान्त की ही व्याख्या है कि नट की अपेक्षा कवि का विशेष आदर होता है तथा नाट्य की अपेक्षा काव्य का समधिक सत्कार किया जाता है। इस प्रकार भारतीय आलोचनाशास्त्र के रूपक-विषयक तथ्य का

---

१. Tragedy like Epic poetry produces its true effect even without action, it reveals its power by mere reading—Poetics.

२. A masterpiece is really as well represented as it is written; mediocrity always fares better with the actors.—Charleo Lamb.

पाश्चात्य विवेचकों द्वारा उद्भावित सिद्धान्त के साथ आश्चर्य जनक साम्य उपलब्ध होता है।

इस विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि नाटक में कवित्व भी होना चाहिये। नाटक तो प्रधानतया अभिनेय होता ही है और नाटक की रम्यता अभिनयकला की मनोज्ञता के ऊपर अवलम्बित रहती ही है।

रुपक की कथावस्तु

(१)

संस्कृत नाट्यशास्त्र में कथावस्तु के स्वरूप तथा महत्व का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। नाटक की रचना केवल किसी क्षणिक भावना की तृप्ति के उद्देश्य से नहीं की जाती, प्रत्युत उसका प्रयोजन नितान्त गम्भीर, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। नाट्य का स्वरूप ही है लोक-वृत्तानुकरण अर्थात् संसार में विद्यमान चरित्र तथा वृत्तान्त का अनुकरण। फलतः उसका नाना भावों से सम्पन्न तथा नाना अवस्थान्तरात्मक होना स्वाभाविक है। भारतीय आचार्य नाटक के इतिवृत्त को किसी सीमित चहारदीवारी के भीतर बन्द करने के पक्षपाती नहीं हैं। नाटक का दरवाजा प्रत्येक कथावस्तु के प्रवेश करने के लिये सदा खुला रहता है। आधुनिक पाश्चात्य नाटकों की कथावस्तु से इसकी तुलना करने पर इस विषय का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। प्रगतिशील नाटकों की कथावस्तु एकाकार होती है। वह किसी धनी-मानी अधिकारी के द्वारा पदाक्रान्त तथा उत्पीड़ित मानव की कहानी होती है। यही स्वर प्रत्यक्षतः या अनुमानतः प्रत्येक पाश्चात्य नाटक के कथानक में गूंजता हुआ सुनाई पड़ता है। परन्तु भारत में नाटक का आदर्श महान् तथा महनीय है। वह किसी वर्ग की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों को अग्रसर करने का साधन नहीं है। प्रत्युत उसका प्रभाव भारतीय समाज के प्रत्येक स्तर पर समान भावेन पड़ता है। वह मानव जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियों को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम साधन है। भरत के नाट्यशास्त्र का गम्भीर अनुशीलन हमें इसी तथ्यपर हठात् पहुँचाता है।

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ नाट्यशास्त्र १।११०

नाटक लोक-स्वभाव का अनुकरण है और लोक का स्वभाव एक रस नहीं होता। वह सुख तथा दुःख का अनमिल घोल है, जिसमें कभी सुख अपनी नितान्त आह्लादकता के कारण चित्त को आकृष्ट करता है, तो कभी दुःख अपने विषादमय बाणों के द्वारा मानव-हृदय को वेधता है। संस्कृत-नाटक की कथावस्तु दोनों को अपना आधारपीठ बनाती है। इसलिये संस्कृत नाटककारों पर दोषारोपण करना कि वे केवल मानव जीवन के सुखमय चित्रों के ही आलेख्यकर्ता थे और इसीलिये वे जीवन के सच्चे व्याख्याता न थे एकदम अज्ञानमूलक है, इस भ्रान्त धारणा का निराकरण नितान्त श्रेयस्कर है।

सुखान्त होना संस्कृत नाटक की अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय नाटक नाट्यशास्त्रीय विधि-विधानों का पालन करता हुआ जीवन का एकाङ्गी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता; वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। संस्कृत के नाटकों में दुःख का, मानवीय क्लेश तथा कमजोरियों का चित्रण होता है, परन्तु कहाँ! नाटक के आदि में अथवा मध्य में, पर्यवसान में नहीं। भवभूति के उत्तररामचरित से बढ़कर मानव क्लेश, वेदना तथा परिताप और पश्चात्ताप का चित्रण करने वाला दूसरा नाटक नहीं हो सकता। अन्त में सुखपर्यवसायी होने पर भी वह राम और सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के दुःखद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। संस्कृत नाटककार भरत के आदेशों का अक्षरशः पालन करता है और भरत का आदेश है कि सुख-दुःखात्मक लोक-दशा का चित्रण नाटक में नितान्त आवश्यक होता है।

> अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
> नानापुरुषसंचारा नाटके सम्भवेदिह ॥ भरतनाट्यशास्त्र २१।१२१।

इसीलिये कथावस्तु में सार्वभौम, सर्वरस, सर्वकर्मों की प्रवृत्तियों तथा नाना अवस्थाओं का संविधान आवश्यक माना गया है—

> सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः।
> नानावस्थानन्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥—तत्रैव २१।१२६

दर्शकों के हृदय में रसोन्मेष, रस का उन्मीलन सिद्ध करना भारतीय नाटककार का चरम लक्ष्य होता है और इसीलिये वह पश्चिमी नाटककारों की भाँति 'व्यापार' को नाटक का सर्वस्व नहीं मानता। इस तथ्य को हृदयंगम करना संस्कृत-नाटकों की कथावस्तु के विवेचन के लिये नितान्त आवश्यक

है। भारतीय ललितकला का उद्देश्य यह नहीं रहता कि वह अपनी चिन्तित वस्तुओं के रूप तथा आकृति को यथार्थरूपेण अङ्कित करे प्रत्युत दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना, सौन्दर्य की कमनीय छाया में डालने में ही अपने को कृतार्थ समझती है। नाटक की कथावस्तु चुनने तथा सजाने का यही उद्देश्य कवि के सामने रहता है। इसीलिये कथावस्तु को उदात्तता के ऊपर प्रतिष्ठित होना चाहिये, क्षुद्रता के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं। रामायण तथा महाभारत को कथावस्तु के लिये उपजीव्य होने का रहस्य इसी तथ्य में अन्तर्निहित है। ये दोनों काव्य भारतीय दृष्टि से ही उदात्त, उन्नत तथा औदार्यपूर्ण नहीं हैं, परन्तु मानवता की दृष्टि से भी इनके कथानकों का महत्त्व नितान्त उच्च है। रामायणीय नाटकों की कथावस्तु की एकरूपता के विषय में 'प्रसन्न राघव' के कर्ता जयदेव का यह प्रतिनिधि उत्तर सचमुच मार्मिक तथा सत्य है। रामकथा का आश्रयण कवियों के प्रतिभा-दारिद्र्य का सूचक नहीं है, प्रत्युत मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के महनीय गुणों का यह अवगुण है—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां।
कवीनां कोऽदोषः स तु गुणगणानामवगुणः॥

(प्रसन्नराघव की प्रस्तावना)

औदार्य की कसौटी

उदात्तता की यह कसौटी नाटकों के ही लिये नहीं होती प्रत्युत उन प्रकरणों के लिये भी जहाँ नाटककार कथावस्तु के चुनाव में अपनी कमनीय कल्पना का पूर्ण साम्राज्य पाता है। इस प्रकार कथावस्तु को रस-निर्भर बनाने में कवि के लिये दो आवश्यक साधन होते हैं: औदार्य और औचित्य।

नाटकीय कथा-वस्तु के विवेचन के अवसर पर उसका 'औदार्य' कभी नहीं भुलाया जा सकता। नाटक में शृंगार अथवा वीररस का प्राधान्य रहता है और इसीलिये प्रेम अथवा युद्ध का वर्णन कथानकों में होता है। प्रेम की उदात्तता पर आग्रह होना स्वाभाविक है। संस्कृत का नाटककर्ता केवल मनोरंजन के लिये अपने रूपकों का प्रणयन नहीं करता, प्रत्युत समाज से स्पर्श करनेवाली घटनाओं का चित्रण कर उसके स्तर को उदात्त बनाने की भावना से भी प्रेरित होता है और यही औदार्य का महत्त्व आता है। 'प्रहसन' तथा 'भाषण' में हास्यरस का पुट रहता है। परन्तु यहाँ क्षुद्रता, हीनता या छिछोरेपन के लिये महनीय प्रहसनों में स्थान नहीं होता। वस्तु की

रचना में प्राचीनता की दुहाई नहीं दी जाती, बल्कि कवि की प्रौढ़ प्रतिभा के लिये पूरा मैदान खाली रहता है परन्तु उसमें एक ही अंकुश होता है और वह है औदात्य तथा औचित्य का। 'धर्माविरुद्ध काम' भगवान की एक भव्य विभूति है और इसीलिये संस्कृत की कथावस्तु काम के पल्लवन में धर्म के संघर्ष को सहन नहीं कर सकती।

'पुरुषार्थत्रयी' में धर्म का स्थान सबसे ऊँचा माना गया है और इसीलिये अर्थ और काम दोनों के धर्म के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर चलने की व्यवस्था हमारे आचार्यों को अभीष्ट है। अर्थकामी चित्रण कथावस्तु में मिलता है, परन्तु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके नहीं, प्रत्युत धर्म के नियंत्रण में रहकर ही। इसीलिये संस्कृत में आधुनिक प्रकार के समस्या-नाटकों का अभाव है, परन्तु उसमें शाश्वत समस्याओं को सुलझाने का खुलकर प्रयास है।

(३)

कथावस्तु में औचित्य

औदात्य के अनन्तर औचित्य का महत्त्व समझना बड़ा जरूरी होता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की युक्तिमत्ता के लिये भरत ने औचित्य को प्रधान सहायक माना है। नाटक तो कवि के हाथों औचित्य-निर्वाह का एक महनीय अस्त्र है जो अपनी उचितरूपता के कारण ही-कथावस्तु के साथ पात्र, भाव तथा भाषा के औचित्य के हेतु-दर्शकों के हृदय पर गहरी छाप डालता है। भरतमुनि का आदेश है—

> वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेशः
>
> वेशानुरूपश्च गतिप्रचारः।
>
> गतिप्रचारानुगतं हि पाठ्यं
>
> पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥ नाट्यशास्त्र १४।६८

कथावस्तु के लिये औचित्य का मण्डन प्रधान प्रसाधक होता है। ऐसी कोई कथा या उसका अंश जो नायक के चरित्र को गर्हणीय या निन्दनीय बनाने में हेतु बनाता है कथमपि ग्राह्य नहीं होता। धनञ्जय का आदेश है—

> यत् तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
>
> विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥ दशरूपक ३।२२

कथावस्तु-मात्र में नायक का रस का विरोधी अंश या तो सर्वथा त्याज्य होता है अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना होती है। ध्यान देने की बात है कि नाटककार 'इतिवृत्त', प्राचीन ऐतिहासिक कथानक, को पूर्णतया चित्रित कर (जैसा वह इतिहास में प्रसिद्ध होता है) अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता, प्रत्युत वह उसके अनुचित अंशों को काट-छाँट कर उसे रसपेशल बना डालता है। इसीलिये तो आनन्दवर्धन की यह गम्भीर उक्ति है।

"काव्य-प्रबन्ध" की रचना करते समय कवि को सब प्रकार से रस-परतन्त्र होना चाहिये। इस विषय में यदि इतिवृत्त में रस की अनुकूल स्थिति न दीख पड़े तो उसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की रचना करनी चाहिये। कवि के इतिवृत्त-मात्र के निर्वाह से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसकी सिद्धि तो इतिहास से ही हो जाती है।[1]

न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित्प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत् सिद्धेः।

(जैसे, मायुराजकृत—उदात्तराघव)

इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर अनेक राम-नाटकों में, कपट के द्वारा बालि-वध का राम के चरित्र पर लांछन-रूप होने से एकदम परिहार ही कर दिया गया है। भवभूति के 'महावीरचरित' में रावण के सहायक होने के कारण बालि मारा गया, इस प्रकार कथा में उचित परिवर्तन कर दिया गया है। निष्कर्ष यह है कि कथावस्तु की रसपेशलता तथा रसनिर्भरता के निमित्त उसे उदात्त तथा उचित बनाने का नाट्यशास्त्रीय उपदेश गम्भीर तथा मौलिक है।

कथावस्तु की रसात्मिकता पर नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष जोर दिया गया है अवश्य पर उसमें भी औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कथमपि न्याय्य नहीं होता। वस्तु तथा रस इन दोनों में मंजुल सामञ्जस्य होना ही नाट्यकला का उच्च आदर्श है। न तो रस का अतिरेक होना चाहिये जिससे वस्तु का दूर विच्छेद न हो जाय। रसातिरेक का फल वस्तु के एकान्त विच्छेद के ऊपर पड़ता है। यह एक छोर है जिससे बचकर रहना नाटककार का मुख्य कर्त्तव्य होता है। और दूसरा छोर होता है वस्तु, अलङ्कार तथा नाट्यलक्षणों के द्वारा रस का तिरोधान और इस छोर को भी छूना नाटक में अभीष्ट नहीं होता। कवि के लिये नाटक में मध्यममार्ग ही प्रशस्त होता है।

१. ध्वन्यालोक पर ३।१४ वृत्ति, पृ० १४८ (निर्णयसागर)

उसे अपनी कथावस्तु को रस, अलङ्कार तथा नाट्यलक्षणों से सजाकर स्निग्ध तथा सुन्दर बनाना पड़ता है। परन्तु, कथावस्तु की ही मुख्यता होती है। वह तो काव्य का शरीर ही ठहरा। दीवाल के रहते चित्रकारी की साधना होती है। शरीर रहते ही अलङ्कारों का प्रसाधन हृदयङ्गम तथा साध्य होता है। उसी प्रकार कथावस्तु की सार्वभौम सत्ता का तिरस्कार या तिरोधान रस, अलङ्कार आदि के द्वारा कथमपि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने कथावस्तु के सजाने तथा प्रसाधन के निमित्त मध्यमार्ग को ही प्रशस्य माना है। धनञ्जय के इस मौलिक निरूपण का यही रहस्य है—

> न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
> रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलङ्कारलक्षणैः॥ दशरूपक

कथावस्तु के प्रकार

कथावस्तु के दो प्रकार होते हैं—(१) आधिकारिक (मुख्य), तथा (२) प्रासङ्गिक (गौण)। अधिकार का अर्थ है फल की स्वामिता (अधिकारः फल स्वाम्यम्) और अधिकारी से तात्पर्य उस पात्र से है जो फल पाता है और उसके द्वारा सम्पन्न कथावस्तु 'आधिकारिक' नाम से अभिहित होती है (नाट्यशास्त्र अध्याय २१, श्लोक ३)। मुख्य कथा में योग देने वाली, सहायता करने वाली कथा प्रासङ्गिक कहलाती है।

> कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादधिकारिकम्।
> परोपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषङ्गिकम्॥ ना० शा० २१।५

प्रासङ्गिक भी विचारदृष्टया दो प्रकार की होती है (१) पताका, जो कुछ विस्तृत हो तथा (२) 'प्रकरी' जो बहुत ही छोटी हो। रामायणीय नाटक में सुग्रीव का वृत्तान्त मुख्य कथा का बहुत दूर तक अनुगमन करता है तथा सिद्धि में सहायता देता है और इसलिये वह पताका का उदाहरण माना जाता है। श्रमणा का लघु वृत्तान्त प्रकरी का दृष्टान्त है। कथावस्तु के विस्तार तथा निर्वाह के ऊपर ही नाट्यकर्ता की कला-सिद्धि मानी जाती है। एक अङ्क के भीतर कितने काल की घटनाओं का प्रदर्शन अभीष्ट होता है? भरत का मत है कि पूरे दिन की कथा एक अङ्क में सम्पन्न न हो सके तो अङ्क का छेद करके प्रवेशकों के द्वारा उसका विधान करना चाहिये। अङ्क

१. दिनसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।

छेद करके एक महीने में होने वाली या एक साल में होने वाली घटनाओं का प्रदर्शन करना चाहिये प्रवेशक आदि के द्वारा, परन्तु वर्ष के ऊपर की घटनाओं का निदर्शन कभी अभीष्ट नहीं माना जा सकता।

जिस प्रकार बीज नाना उपकरणों से समृद्ध होकर फल के रूप में परिणत होता है उसी प्रकार कथावस्तु भी नाना उपकरणों तथा घटनाओं से समृद्ध होकर फलोत्पादन में समर्थ होती है। इसीलिये वृत्त की पाँच अवस्थायें मानी गई हैं (१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्ति-संभव, (४) नियताप्ति, तथा (५) फलयोग। और बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ स्वीकृत की गई हैं। इन दोनों के क्रमिक समन्वय से उत्पन्न नाटकीय कथा-भाग से पाँच संधिया तथा उनके अवान्तर ६४ अंग माने जाते हैं। संधियों के नाम तो प्रसिद्ध ही हैं (१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) सावमर्श, (५) निर्वहण। नाटक तथा प्रकरण में इन समग्र संधियों की सत्ता विद्यमान रहती है, अन्य रूपकों में यथासंभव कम संधिया भी हो सकती हैं।

संस्कृत के नाट्यशास्त्र में वर्णित कथावस्तु की रूपरेखा का यह सामान्य परिचय है।

अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद् विधातव्यम्॥ २८॥
अङ्कच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्षसंचितं वापि।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥

भरतनाट्यशास्त्र, अध्याय २१

११—रस-प्रसङ्ग

(क) रस सुखमय या दुःखमय ?

काव्य तथा नाट्य का सर्वस्व रसोन्मेष ही है। वर्णन तथा अभिनय के द्वारा सामाजिक के हृदय में रस का उन्मीलन करना, सहृदय के चित्त में रागात्मिका वृत्ति का उदय करना, कवि का प्रधान कर्त्तव्य होता है। परन्तु रस के स्वरूप के विषय में अर्वाचीन आलोचकों तथा प्राचीन आलंकारिकों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। रस का आस्वाद किं-रूप है ? इस प्रश्न के उत्तर में सभी आलोचकों का उत्तर एकरूप नहीं है। रस आनन्दरूप है, सुखात्मक है, आलोचकों का बहुमत इसी के पक्ष में है, परन्तु कतिपय आलोचकों की दृष्टि में रसों की सुखानुभूति में तारतम्य है। एक ही प्रकार की सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रस के आस्वाद में उत्पन्न नहीं होती। किसी में इस अनुभूति की मात्रा तीव्र होती है और किसी में नितान्त सौम्य। अनेक आलोचक सब रसों में इस अनुभूति को सुखात्मक भी नहीं अंगीकार करते। उनकी दृष्टि में रस की अनुभूति निश्चित रूप से सुखात्मक है, परन्तु करुण, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसों की अनुभूति दुःखात्मक है।

सुखदुःखात्मको रसः

हमारे प्राचीन कश्मीरी आलंकारिकों की सम्मति में तथा तदनुयायी अन्य मान्य आलोचकों की दृष्टि में रस आनन्दात्मक ही होता है, परन्तु मध्ययुगी कतिपय आलोचक रस को दुःखात्मक मानने के पक्षपाती हैं:—

(क) 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र और गुणचंद्र ने (बारहवीं शती) विस्तार से इस मत का प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धान्त है सुखदुःखात्म को रसः (कारिका १०९)। भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा करुण रस के वर्णनों के श्रवण से अथवा दर्शन से श्राता तथा दर्शक के चित्त में एक विचित्र प्रकार की क्लेशदशा उत्पन्न होती है। इन रसों के अभिनय से इसीलिए समाज उद्विग्न होता है। सुखास्वाद से कथमपि उद्वेग उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उद्वेग का उदय स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसों की अनुभूति

सुखात्मिका नहीं है। दुःखात्मक अनुभूति होने पर भी सामाजिक की प्रवृत्ति इसीलिये होती है कि कवि की शक्ति और नट के कौशल से वस्तु के प्रदर्शन में विचित्र चमत्कार का उदय होता है[1]। इसी चमत्कार से विप्रलब्ध दर्शक दुःखात्मक दृश्यों को देखने के लिये व्याकुल रहता है। दर्शक की प्रवृत्ति का यही कारण है। कवि की प्रवृत्ति का भी रहस्य है। लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य ठहरा। जगत् की घटनाओं में ही सुख तथा दुःख का संमिश्रण इतनी विचित्रता से उपलब्ध होता है कि यथार्थता का पक्षपाती कवि अपने काव्य में दुःख के चित्रण की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि अनुकरण के समय दुःखात्मक दृश्य सुखात्मक रूप से प्रतीयमान किए जाते हैं, तो ऐसी दशा में क्या वह अनुकरण सम्यक् तथा शोभन माना जायगा? लोकवृत्त के सम्यक् अनुकरण के ऊपर ही तो कवि की कला आश्रित रहती है। जिस प्रकार शरबत में तीखे स्वादवाले पदार्थों की सत्ता होने पर भी विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार काव्य में दुःखास्वाद की सत्ता होने पर भी उससे विरति नहीं होती, प्रत्युत विचित्र आस्वाद के कारण प्रवृत्ति ही होती है[2]।

(ख) 'रसकलिका' के लेखक रुद्रभट्ट इसी मत से सहमत हैं। वे भी करुण रस की अनुभूति को दुःखात्मक मानने तथा रस को सुखदुःख उभयरूपात्मक स्वीकार करने के पक्षपाती हैं।[3]

---

१. भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते। यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते।

नाट्यदर्पण पृ० १५९,

२. कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूपेण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन सुखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते।

नाट्यदर्पण, वही।

३. करुणाभयानामपि उपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्।

रसकलिका

(ग) प्रसिद्ध अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती को इस मत का आंशिक समर्थन करते हुए देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने सांख्य तथा वेदान्त पक्ष का अवलम्बन कर रस निष्पत्ति की द्विविध प्रक्रिया प्रदर्शित की है। सांख्य मतानुयायी व्याख्या में रस की अनुभूति के अवसर पर आनंद में तारतम्य दिखलाया है। मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार सत्व में उद्रेक कहाँ। क्रोध में रजोगुण का प्राबल्य रहता है और शोक में तमोगुण का। परन्तु सत्व की इतनी मात्रा उनमें अवश्य विद्यमान रहती है जिससे वे स्थायी भाव की कोटि पर पहुँच जाते हैं। स्वभावतः रज तथा तम के द्वारा मिश्रित होने के कारण तद्गत सत्व विशुद्ध तथा प्रबल नहीं माना जा सकता। अतः क्रोधमूलक रौद्र रस में तथा शोकमूलक करुणरस में विशुद्ध आनन्द की सत्ता नहीं होती, प्रत्युत रज तथा तम के मिश्रण के अनुसार उनके आनन्द में तारतम्य बना रहता है। इसी से सब रसों में एक ही प्रकार के समान सुख का अनुभव नहीं होता।

> द्रवीभावस्य च सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंश-मिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः।
>
> भक्तिरसायन, पृ० २२.

रसानुभूति का यह एक पक्ष है जो युक्तिहीन होने से न तो माननीय है और न आदरणीय। लोक की वस्तुओं में नाना प्रकार की विषमता दृष्टिगोचर होती है। यह स्वरूपगत वैषम्य ही पूर्वोक्त आपत्ति का निदान है। लोक में सिंह के जिस गर्जन को सुनकर वीरपुरुषों के भी हृदय में प्रबल भय का संचार होता है उसीका काव्यगत चित्रण आनन्द के उदय का कारण कैसे बन सकता है? लोक तथा काव्य में साम्य दीखता है। लोक में भयजनक वस्तु काव्य में विन्यस्त होने पर भयजनक ही होनी चाहिए। भय तथा सुख में भूयसी विषमता है। भयोत्पादक पदार्थ कथमपि सुखात्मक नहीं हो सकता। इस मत का यही युक्तिवाद है। यह कथमपि आश्रयणीय तथा आदरणीय नहीं है।

मत की समीक्षा

अखिल विश्व में व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य कर तैत्तिरीय श्रुति कहती है—

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति[1] । वह रसरूप है । रस को ही पाकर संसार का प्राणी आनन्दी होता है। यह रसात्मक ब्रह्म जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जब रम रहा है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थों में रस के उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है; सुख उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है । तथ्य है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है, काव्य में गृहीत होने पर आनन्ददायक है। इसीलिए भामह कवि की गरिमा तथा उत्तरदायिता का उद्घोष कर रहे हैं[2] :—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छिल्पं न सा क्रिया।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ।

ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है । ब्रह्मानन्द संसार में समस्त आनन्दों का चरम अवसान है। आनन्दमय ब्रह्म से व्याप्त वस्तुओं में आनन्ददायिनी शक्ति विद्यमान रहती है। अतः स्वभावतः नानाप्रकृति वाले पदार्थों में आनन्द के उन्मीलन की क्षमता मानना नितान्त युक्तियुक्त है ।

भाव दो प्रकार के होते हैं—बोध्यनिष्ठ तथा बोद्धृनिष्ठ। वर्णनीय विषय में रहनेवाला तथा बोद्धा सामाजिक के हृदय में रहनेवाला । इन दोनों में बोध्यनिष्ठ स्थायिभाव अपने स्वभावानुसार सुख, दुःख तथा मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है, परन्तु बोद्धा सामाजिक के चित्त में रहने वाले समस्त भाव केवल सुख के ही कारण होते हैं ।

बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतवः ।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः ॥

—भक्तिरसायन २।५

इस पार्थक्य के मूल में कारण है भावों की लौकिकता तथा अलौकिकता। **लौकिक भाव** अर्थात् संसारगत भाव नाना प्रकार के परिणाम उत्पन्न करते हैं, परन्तु **अलौकिक भाव** अर्थात् काव्यगत भाव केवल आनन्द की ही अनुभूति कराते हैं । संसार के भाव वैयक्तिक होते हैं, काव्य के भाव साधारणीकृत होते हैं। वैयक्तिक सम्बन्ध के कारण ही अपनी वस्तु से प्रेम उत्पन्न होता है ; शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थ की वस्तु से उदासीनता उपजती है। काव्य की दशा इससे सर्वथा भिन्न है।

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २।८।

२. काव्यालंकार (५।३)

शब्द के द्वारा निबद्ध होते ही भावों से वैयक्तिकताव्यापार का उच्छेद हो जाता है। श्रोता भावों से वैयक्तिकता का अपसरण कर देता है और उन्हें साधारण प्राणिमात्र के भाव के रूप में ग्रहण करता है। उपवन के बीच मलयानिल के झोंके से झूमनेवाला गुलाब का फूल कलाकार के लिये कोई विशिष्ट पुष्प नहीं होता, प्रत्युत वह आनन्द का एक सामान्य प्रतीक होता है। रंगमंच के ऊपर अभिनीत शकुन्तला किसी अतीत युग की विस्मृतप्राय सुन्दरी नहीं होती, प्रत्युत एक हृदयावर्जक कमनीय नायिका की प्रतिनिधि बनकर ही प्रस्तुत होती है। इसी साधारणीकरण व्यापार के द्वारा काव्य में निबद्ध प्रत्येक पदार्थ तथा भाव में रस के उन्मीलन की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

भावों को आनन्ददायक बनाने के लिये आवश्यकता है शोधन की। शोधन के द्वारा क्षुद्र लोहा, ताँबा आदि धातुओं से बहुमूल्य सोना बनाया जा सकता है। उसी प्रकार शोधन के द्वारा भावों की भी परिणति आनन्दरूप में सम्पन्न की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी प्रक्रिया को भावों का शोधन या उदात्तीकरण (सब्लीमेशन आफ इमोशन्स) के नाम से पुकारता है। भावों की परिणति यदि भोग में ही होती है, तो इस अधोगामी मार्ग से नाना प्रकार के सुखदुःखादि परिणाम उपजते हैं, परन्तु उनका निरोध कर ऊर्ध्वगामी पन्थ का आश्रय लेने पर वे ही भाव उदात्त बन जाते हैं तथा आनन्द की ही सृष्टि करते हैं। इसीलिये रस की अनुभूति सुखात्मिका ही मानी गई है, दुःखात्मिका नहीं।

अग्निपुराण की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। वेदान्त में जिस परब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज, विभु, चैतन्य तथा ज्योति आदि अभिधानों से पुकारते हैं उसका सहज स्वभाव है आनन्द। उसी आनन्द की प्रभा, अभिव्यक्ति काव्य-नाटक में 'चैतन्य', 'चमत्कार' या 'रस' के द्वारा निर्दिष्ट की जाती है। अतः परब्रह्म के आनन्द की अभिव्यक्ति होने के कारण रस सदा आनन्ददायक होती है, इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है।

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य–चमत्काररसाह्वया॥

अग्निपुराण, अ० ३३९, श्लोक १–२

तथ्य बात यह है कि जगत् में कोई भी वस्तु कुरूप नहीं है, रसहीन नहीं है। 'रसो वै सः' यदि सच्चा है, तो प्रत्येक पदार्थ में रस है, सौन्दर्य है तथा आनन्द देने की शक्ति है। कुरूप कोई है तो हमारी ही दृष्टि है, जगत् की वस्तु नहीं। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौन्दर्य-बोध' नामक सुन्दर लेख में दिखलाया है कि वस्तुतः सौन्दर्य जगत् के पदार्थों से ऊपर उठकर किसी आदर्श संसार की वस्तु नहीं है, वरन् प्रत्येक पदार्थ में पूर्ण सौन्दर्य स्वतः विद्यमान है। इसके ग्रहण के लिये हमारी दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिए। अतः संसार का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह कितना भी अशोभन या बीभत्स क्यों न हो, सुखात्मक अनुभूति का उपकरण अवश्य बन सकता है।

(ख) रसपर दार्शनिक दृष्टि

द्रष्टा होनेपर ही रस का अनुभव होता है। प्रकृति में लीन हो जानेपर रस का अनुभव नहीं होता। 'द्रष्टा' का अर्थ है तटस्थ रूप से दर्शन करनेवाला व्यक्ति। प्रकृति के पदार्थों में लीन न होकर पृथक् रूप से वस्तु के रूप का द्रष्टा ही प्रकृत पक्ष में रस की अनुभूति कर सकता है। जो व्यक्ति प्रकृति की वस्तुओं में आसक्त भाव से लीन हो जाता है वह केवल-रागद्वेष का ही अनुभव करता है; रस का नहीं। रसानुभूति के निमित्त ताटस्थ्य, तटस्थता, अनासक्ति भाव की नितान्त आवश्यकता होती है। यह केवल काव्य-जगत का ही मौलिक सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक कला के विषय में एकान्त तथ्य है। सौन्दर्य की अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्य पर आश्रित रहती है। बगीचे में खिले हुए गुलाब के फूल से उत्पन्न सौन्दर्य-भावना पर दृष्टिपात कीजिए। सौन्दर्य की अनुभूति के अवसर पर द्रष्टा को स्वत्व या अधिकार की भावना कभी उदित नहीं होती। उस बगीचे का स्वामी भी यदि स्वत्व की भावना से प्रेरित होता है, तो उसके हृदय में आनन्द का उदय नहीं हो सकता। 'यह मेरा है' यह समझ कर न तो कोई उसे तोड़कर अपने कानों के ऊपर रखता है और न उसे अपने नाक के पास सूँघने के लिये ले जाता है। प्रत्युत वह उसे यथास्थान रहने देता है और द्रष्टारूप से उससे आनन्द ही लेता है।

भगवान् की लीला के अवसर पर भी यही बात होती है। प्रकृति के समग्र पदार्थों में आसक्त रहकर भी भगवान् अपने को पृथक् रहकर उन्हें देखता है, तभी उसे आनन्द आता है। इस प्रकार भगवती लीला आसक्तरूप से नहीं होती, ताटस्थ्यरूप से ही होती है। इससे रस की दार्शनिक दृष्टि न तो

एकान्त भेदवाद की है और न नितान्त अभेदवाद की, प्रत्युत, 'अभेदेऽपि भेदः' अथवा 'भेदेऽप्यभेदः' ही रसोन्मीलन का दार्शनिक दृष्टि बिन्दु है। यदि रसावस्था में नितान्त अभेद मान लिया जाय, तो इस ऐक्यभाव में आनन्द का उदय नहीं हो सकता। यदि भेद स्वीकार किया जाय, तो इस भिन्नता में भी आनन्द का उद्गम सम्भव नहीं। सहृदय के हृदय में सहानुभूति होने पर ही भाव का उदय हो सकता है। सहानुभूति तभी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपने को पृथक् रखते हुए भी वस्तु के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। यह अवस्था न पूर्ण अभेद की, प्रत्युत 'अभेदेपि भेदः' की है। रसानुभूति का यही वैशिष्ट्य है जो विख्यात दार्शनिक सम्प्रदायों से उसका पार्थक्य स्पष्ट ही उद्घोषित कर रहा है।

रस और न्यायदर्शन

न्यायदर्शन द्वैतवादी तत्त्वज्ञान है। उसका अन्तिम लक्ष्य है दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति। इसके अनुसार मुक्तावस्था में जीव अपने विशिष्ट गुणों से रहित हो जाता है। इन गुणों में दुःख के साथ सुख की भी गणना है। नैयायिकों का आग्रहपूर्वक कथन है कि मुक्त आत्मा में आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। सुख के साथ राग का सम्बन्ध लगा हुआ है। और यह राग बन्धन का कारण है। अतः मोक्ष को सुखात्मक मानने में राग की सत्ता सिद्ध होने से बन्धन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। 'आनन्दं ब्रह्म' आदि ब्रह्म को आनन्दमय बतलानेवाली श्रुतियों का तात्पर्य सत्तात्मक न होकर निषेधात्मक है। उसका अभिप्राय दुःखापाय-बोधन में है। लोकव्यवहार में भी तो यही बात दीख पड़ती है। सिर की पीड़ा से कराहते हुए, ज्वर के दुःखद सन्ताप से व्याकुल पुरुष का अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। शिर पीड़ा की अथवा ज्वर की निवृत्ति होने पर रोगी अपने को सुखी मानने लगता है। यहाँ होता है केवल दुःख का अपनयन, निषेधात्मक व्यापार; परन्तु माना जाता है सुख का उदयरूप सत्तात्मक व्यापार। मोक्ष की भी यही अवस्था है।

न्याय की इस प्रक्रिया में आनन्दमय रस के लिये स्थान कहाँ है? दुःख-बहुल संसारदशा में न उसका स्थान है और न दुःखसुखविहीन मोक्षदशा में उसका आश्रय है। इसीलिये नैयायिकों का वेदान्तियों तथा वैष्णवों ने बड़ा ही उपहास किया है। नैयायिक मुक्ति की पूर्वोक्त कल्पना

अन्य दार्शनिकों के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है। मुक्तावस्था में समग्र अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में आनन्द अंगीकार करनेवाले वेदान्ती श्रीहर्ष का यह उपहास जितना साहित्य की दृष्टि से रोचक है उतना ही दार्शनिक दृष्टि से युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के लिये ज्ञान-सुखादि-विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतला कर उपदेश दिया है[1]। उनका 'गोतम' यह अभिधान शब्दतः ही यथार्थ नहीं है, अपितु अर्थतः भी समुचित है। वह केवल 'गो' बैल न होकर 'गोतम' पक्का बैल, 'अतिशयेन गौः गोतमः' है। मुक्तावस्था में आनन्दधाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावन में सरस विहार की व्यवस्था मानने वाले वैष्णवजन इस निरानन्द मुक्ति की नीरस कल्पना से घबरा उठते हैं और भावुक हृदय से पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुंजों में शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें स्वीकार है, पर नैयायिकों की मुक्ति पाना हमें कथमपि पसन्द नहीं है:—

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जिताद्[2]॥

ऐसे नैयायिकों के तर्कों से आनन्दरूप रस की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। न्यायपक्ष के रसिक श्री शंकुक का यह निराधार कथन है कि अभिनय के कौशल से नट में, तदुपरान्त सामाजिक में रस की निष्पत्ति अनुमान से होती है। उनका अनुकरणात्मको रसः सिद्धांत केवल खंडन-रस की चरितार्थता के लिये हमारे आलोचनाग्रन्थों में निर्दिष्ट किया गया है[3], कोई भी आलोचक उसका मंडन तथा पोषण करने आगे नहीं आता।

रस और सांख्य

रस की व्याख्या के अवसर पर आलोचकों ने सांख्य दर्शन के तत्वों का बहुशः उपयोग किया है। भुक्तिवादी भट्ट नायक सांख्यमता-

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः

—नैषधचरित १७।७५

२. सर्वसिद्धान्त संग्रह पृ० २८

३. श्री शंकुक के मत का दारुण खंडन अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्टतौत ने विस्तार से किया है। द्रष्टव्य अभिनव-भारती, खंड १ पृष्ठ २७५-७८

नुयायी रस व्याख्यान के पक्षपाती बतलाए जाते हैं। आदिरस को अभिमान रूप मानने वाले भोजराज भी निश्चय ही सांख्य के ऋणी हैं, परन्तु सांख्य के मौलिक मत से रस की अभिव्यक्ति का कथमपि सामञ्जस्य नहीं बटता। भट्टनायक ने अपने भोगव्यापार को सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्ति रूप स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यही है कि रस की भुक्ति में जिस आनन्दमयी संवित् का उदय होता है वह सत्त्व के उद्रेक से ही होता है। तीनों गुणों में सत्व ही सुखात्मक होता है। अतः उसके आधिक्य के अवसर पर आनन्द का उद्गम मानना नितान्त सयुक्तिक है। और इस सिद्धान्त को अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादी आचार्यों ने भी अंगीकार किया है। इतना मानने के लिए हम भी तैयार हैं, परन्तु इसके आगे बढ़कर दोनों की समता दिखलाने में अनेक विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत हो जाती हैं।

रस की अनुभूति के लिए दो वस्तुओं की विशेष आवश्यकता होती है। पहिली है पार्थक्य और दूसरी है संयोग। प्रथमतः वियोग, तदनन्तर संयोग। प्रथमतः विरह, अनंतर मिलन। विरहावस्था रसानुभूति की प्रक्रिया में एक अत्यन्त आवश्यक शृंखला है। विरह मिलन की माधुरी का जनक है। बिना विरह हुए क्या मिलन कभी आनन्ददायक हो सकता है? विप्रलम्भ के ऊपर कविजनों के आग्रह का यही रहस्य है। अलकापुरी से यक्ष को बिना निर्वासित किए उसका अपनी प्रेयसी से मिलन क्या आनन्दमय माना जा सकता है? इसीलिये कालिदास ने विरह में आनन्दानुभूति की महिमा गाते हुए कहा है:—

> स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
>
> दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥
>
> —उत्तरमेघ, ५१ श्लोक.

विरह की दशा में स्नेह अन्तर्हित हो जाता है, सचमुच रसानभिज्ञ मूर्खों की ही यह कल्पना है। वे सीधे निरे कवि यह भी नहीं जानते कि विरह में भोग न होने के कारण इष्ट वस्तु के विषय में स्नेह कम नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द बुद्धिगत होकर वह प्रेम का महनीय भंडार बन जाता है। अतः विरह के अनंतर संयोग की पुष्टता तथा प्रौढ़ता कविजनमान्य है। कालिदास का यह स्नेहविषयक कथन रस के मौलिक तथ्य का परिचायक है।

रस का यह वैशिष्ट्य सांख्यमत में कथमपि सिद्ध नहीं होता। सांख्य-मत में आरम्भ से ही पुरुष प्रकृति के साथ संयुक्तावस्था में वर्तमान रहता है। परन्तु इस दशा में रस का उदय नहीं हो सकता, क्योंकि यह है अज्ञान-दशा। पुरुष अपने शुद्ध रूप को कथमपि जानता ही नहीं। पुरुष स्वभावतः असंग तथा मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग आरम्भ से ही निष्पन्न हो गया है। तत्त्वज्ञान से विवेक-ख्याति उत्पन्न होती है। तब पुरुष प्रकृति से अपने को पृथक् कर लेता है। अतः रस का प्रथम पक्ष पार्थक्य तो सम्पन्न हो गया, परन्तु संयोगरूप द्वितीय पक्ष अभी तक उदित नहीं हुआ। ज्ञानी पुरुष के सामने प्रकृति की समस्त लीलायें स्वतः बन्द हो जाती हैं। इस विषय में सांख्याचार्य प्रकृति की तुलना उस अभिनयशीला नटी के साथ करते हैं[1] जो रंगस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी-कलाबाजी दिखलाकर कृतकार्य होकर नर्तन व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति से बढ़कर सुकुमारतर व्यक्ति दूसरा है ही नहीं। वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित ही नहीं होती[2]।

विवेकी व्यक्ति के सामने प्रकृति का कोई व्यापार ही नहीं होता। उस प्रयोजन की सिद्धि होनेपर प्रकृति का व्यापार स्वयं विराम को प्राप्त कर लेता है। यही है सांख्यानुसार मोक्ष की कल्पना सांख्यसूत्र (३।६५) के अनुसार अपवर्ग है दोनों प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष का प्रकृति से पृथक् स्थित केवल स्वरूप में रहना। मुक्ता-वस्था में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है[1] कि 'नास्मि'

---

१. रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥

—सांख्यकारिका, ५९.

२. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥

—सांख्यकारिका, ६१ का०

३. एवं तत्त्वाभ्यासान् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

—सांख्यकारिका, ६४ का०

मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ, क्योंकि मुझमें किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं है। 'नाहम्' क्रिया के निषेध होने से मुझ में किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है। 'न मे' असंग होने के कारण किसी के साथ मेरा स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता का उदय मुक्त पुरुष में प्रकृति के व्यापार विरत होते ही होने लगता है।

यही है सांख्यानुयायी अपवर्ग की कल्पना। इस प्रक्रिया में रस के लिये कहीं स्थान नहीं है। रस के लिये पार्थक्य तो यहाँ विद्यमान है, परन्तु तदनंतर संयोग की सत्ता कैवल्य—सम्पन्न पुरुष में कहाँ? प्रकृति की लीला का ही जब अवसान हो गया है, तब पुरुष आनन्द का अनुभव ही किस प्रकार कर सकता है? रस के लिये उपयोगी विरहानन्तर मिलन की कल्पना यहाँ नितान्त असम्भव है। रस के लिये चाहिये प्रकृतिपुरुष का ज्ञानपूर्वक ६३ का सम्बन्ध, परन्तु सांख्य मुक्ति में विद्यमान रहता है पुरुष-प्रकृति का ज्ञानपूर्वक ३६ का संबंध। अतः सांख्यसिद्धान्त के अनुसार रस की यथार्थ निष्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

वेदान्त और रस

जगत् में आनन्द तीन प्रकार का होता है—१. विषयानन्द, २. ब्रह्मानंद तथा ३. रसानंद। ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है। वह स्वयं आनंदरूप है। उसी आनंदमय ब्रह्म से प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और अंत में उसी में लीन हो जाते हैं:—

आनन्दाद्देव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्॥

—तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।६।१

आनंद की उच्चतम कोटि ब्रह्मानंद है जिसके अंतर्गत जगत् के समस्त आनंद सिमिट कर एकत्र हो जाते हैं। इस आनंदमय ब्रह्म से ही आनंद की मात्रा ग्रहण कर जगत् की वस्तुओं में आनंद-उपलब्धि होती है। एतस्यैव आनंदस्य अन्य आनन्दा मात्रामुपजीवन्ति। इन तीनों में विषयानंद हेय है तथा अन्य दोनों आनंद उपादेय हैं। इन तीनों की स्थिति वासना या काम के ऊपर निर्भर है। विषयानंद की अपेक्षा रसानंद नितान्त विलक्षण तथा उदात्त

है। विषयानंद लौकिक है, रसानंद अलौकिक। अशुद्ध वासना तथा सम भाव की सत्ता रहने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु रस-उपलब्धि नहीं हो सकती।

ब्रह्मानन्द और रस

अब ब्रह्मानंद तथा रसानंद के परस्पर वैलक्षण्य की मीमांसा आवश्यक है। भट्टनायक ने रस को 'ब्रह्मानंदसचिवः' तथा विश्वनाथ कविराज ने 'ब्रह्मानन्दसहोदरः' कहा है, 'ब्रह्मानन्दरूपः' नहीं कहा। तथ्य बात यह है कि ब्रह्मानन्द तथा रसानन्द में आकाश-पाताल का अन्तर विद्यमान है। ब्रह्मानन्द वासना या कामना के उच्छेद से उत्पन्न होता है। परन्तु रसानंद वासना के विशोधन से साध्य होता है। सकाम भाव में वासना अवश्यमेव रहती है, परन्तु यह वासना होती है अशुद्ध जो विषय की ओर ही प्राणियों को ले जाती है। ब्रह्म-प्राप्ति के अवसर पर इस वासना का सर्वथा उन्मूलन आवश्यक होता है, क्योंकि वासना की कणिका के शेष रहते आत्मा कभी बन्धन से उन्मुक्त नहीं हो सकती, अतः वासनाक्षय वेदान्त में मुक्ति के लिये नितान्त आवश्यक उपकरण होता है। साहित्यशास्त्र के अनुसार स्थायिभाव की ही तो रस रूप में परिणति होती है, परंतु वेदान्तमत में वासनारूपी स्थायिभाव ही विद्यमान नहीं रहता है तब रस का उन्मीलन किस प्रकार हो सकता है? वह भित्ति ही नहीं है जिस पर प्रासाद खड़ा किया जाय। वह बीज ही नहीं है जो वृक्ष के रूप में परिणत होकर आनन्द और छाया प्रदान करे।

वेदान्त मत में मुक्ति का प्रबल साधन काम का सर्वथा उन्मूलन रसोन्मेष का नितान्त विरोधी है। रस की निष्पत्ति के लिये काम का उन्मूलन अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत विशोधन आवश्यक है। वासना का विषम विषदन्त है सकाम भावना। इस विषदन्त को बिना उखाड़े वासना का शोधन नहीं होता। रस की उपलब्धि के हेतु सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत होना ही होगा। इसी भावशुद्धि को बौद्ध लोग 'परावृत्ति' के नाम से तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब्लीमेशन आव इंस्टिंक्टस् के अभिधान से पुकारते हैं। आलोचनाशास्त्र साधारणीकरण व्यापार को भावविशोधन का एकमात्र साधन अंगीकार करता है। वैयक्तिक सम्बन्ध की कल्पना ही भावों की अशुद्धि का कारण होती है। 'ममेयं रतिः' यह मेरा प्रेम है कहनेवाला व्यक्ति व्यक्तिगत सम्बन्ध की स्थापना कर अपने भाव को कलुषित तथा मलिन बना देता है। विभावादि

व्यापार के द्वारा वैयक्तिक सम्बन्ध के अपसारण से ही मलापनयन होता है और भाव अपने विशुद्ध रूप में चमक उठते हैं।

वासनाक्षय के ऊपर आश्रित ब्रह्मानन्द से वासना-शुद्धि पर आधारित रसानन्द की तुलना कथमपि नहीं की जा सकती।

वेदांत के अनुसार लोक-दशा में त्रिपुटी विद्यमान रहती है; पर ब्रह्मानंद की दशा में त्रिपुटी का सर्वथा भंग हो जाता है। यह त्रिपुटी है, ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान। आत्मा विषय को जानता है, यहाँ व्यवहार दशा में इन तीनों की सत्ता विद्यमान रहती है। तीनों वस्तुओं की सत्ता सांसार दशा में पृथक् रूप से रहती है, परन्तु मोक्षदशा में यह त्रिपुटी सिमिट कर ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। एक सच्चिदानंद, अखंड को छोड़कर न ज्ञेय की और न ज्ञान की ही सत्ता पार्थक्येन सिद्ध होती है।

रसोन्मेष की दशा में त्रिपुटी का भंग नहीं होता, त्रिपुटी की सत्ता सिद्ध ही रहती है। इस प्रसंग में मम्मट तथा विश्वनाथ के शब्द ध्यान से अवधारणीय हैं। उनका कथन तत्काल-विगलित-परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तरसम्पर्क-शून्यापरिमितभावेन प्रमाण-वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः' अर्थात् रसदशा में अन्य वेद्य पदार्थ का स्पर्श तक नहीं रहता। 'वेद्यान्तर' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दूसरी वेद्य वस्तु रसदशा में नहीं होती, वेद्यरूप रस ही विद्यमान रहता है। 'अपरप्रमाता' 'परप्रमाता' के रूप में केवल बदल जाता है, परन्तु उसके प्रमातृत्व का उपशम नहीं होता। तात्पर्य यह है कि रस की उन्मीलन अवस्था में प्रमाता सामाजिक विद्यमान रहता है, प्रमेय रस विद्यमान रहता है तथा तत्सम्बन्ध में प्रमा भी विद्यमान रहती है। अतः त्रिपुटी के अभाव केकारण ब्रह्मानन्द, प्रपंचातीत आनन्द होता है जिसे मुक्त पुरुष ही अपनी अनुभूति में लाते हैं, परन्तु रसानंद प्रपंचगत आनन्द है जिसके आस्वाद का अधिकार मुक्त पुरुष के समान बद्ध पुरुष को भी सर्वप्रकारेण सिद्ध है।

'रसानन्द' और श्री हर्ष

इसी वैषम्य को लक्ष्य कर वेदान्त के परम मर्मज्ञ महाकवि श्री हर्ष ने दमयन्ती की रूपमाधुरी के वर्णनप्रसंग में बड़ी ही सुन्दर उक्ति कही है—

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत् प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैत मुदं तथासौ॥

—नैषध, ७।३

राजा नल ने दमयन्ती के रोम के अग्रभाग को ही प्रथमतः देखकर ब्रह्माद्वैत के आनन्द का अनुभव किया। अतः उचित ही था कि दमयन्ती के समग्र शरीर के अवलोकन से वह कामाद्वैत के आनन्द का अनुभव करता। श्री हर्ष की दृष्टि में रसानन्द, ब्रह्मानन्द की अपेक्षा बड़ी ही उत्कट कोटि की वस्तु ठहरता है। दमयन्ती के विशेष अंग का नहीं बल्कि अंग के बिल्कुल ही छोटे अंश के स्वल्प भाग का अवलोकन नल के हृदय में ब्रह्मानन्द का उद्गम करता है, तो सम्पूर्ण शरीर का साक्षात्कार उससे कितनी अधिक मात्रा में आनन्द उत्पन्न करेगा! वह अद्वैत वेदान्ती जो केवल ब्रह्माद्वैत से ही परिचित है, बिल्कुल ही नहीं जानता कि साहित्य जगत् का सर्वस्वभूत रसाद्वैत कितना सरस, आनन्दमय तथा रुचिरतम पदार्थ है। ब्रह्मानन्द रसानन्द की तुलना में एक नगण्य वस्तु है जिसका अभिलाष जगत् के कोमल-कलित भावों से परांङ्मुख विरक्त जनों के ही हृदय को उद्वेलित किया करता है। भावशोधन के ऊपर आश्रित रसानन्द संसार के कमनीय पदार्थों में अनुरक्त अथच अनासक्त व्यक्तियों के चित्त को आकृष्ट करनेवाला अलौकिक पदार्थ है।

रागात्मिका अनुभूति का स्थान शुष्क ज्ञानात्मिका अनुभूति की अपेक्षा कहीं उच्चतर होता है। इसीलिये रस 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' माना जाता है, ब्रह्मानन्दरूप नहीं।

(ग) आनन्दः परमो रसः

विषय की सूक्ष्म समीक्षा करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। पंडितराज जगन्नाथ का कथन है कि जिस प्रकार सविकल्पक समाधि में, ज्ञाता-ज्ञेय के पृथक् अनुसंधानवाली समाधि में, योगी की चित्तवृत्ति आनन्दमयी हो जाती है, उसी प्रकार रसास्वादन के अवसर पर सहृदय की चित्तवृत्ति स्थायिभाव से संवलित स्वस्वरूपा आनन्दात्मिका हो जाती है अर्थात् उसकी चित्तवृत्ति को उस समय स्थायिभाव से युक्त आत्मानन्द के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं होता[1]। यहाँ समाधि-स्थित योगी की उपमा सहृदय के अनुभव

---

१. विभावादिचर्वणमहिम्ना सहृदयस्य निज-सहृदयतावशोन्मिषितेन तत् स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्। रसगंगाधर, पृ० २२

को निर्विकल्पक समाधि में रमनेवाले योगी की अनुभूति से पृथक् सिद्ध करने के लिये दी गई है। निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अनुसंधान नहीं रहता, वहाँ किसी प्रकार का विकल्प रहता ही नहीं। योगी ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। यह रसानन्द की अवस्था नहीं है। अतः सहृदय की तुलना 'सविकल्पक योगी' के साथ निष्पन्न कर पंडितराज पूर्वोक्त विवेचन की पुष्टि कर रहे हैं।[1]

यह रसानन्द अन्य लौकिक सुखों के समान नहीं है, क्योंकि वे सब सुख अन्तःकरण से युक्त चैतन्यरूप होते हैं, अर्थात् इनकी अनुभूति के समय चैतन्य का और अंतःकरण की वृत्तियों का योग रहता है, परन्तु रस का आनंद शुद्ध चैतन्यरूप, अंतःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य नहीं होता। इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनंदमयी हो जाती है और यह आनन्द अनवच्छिन्न रहता है। अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा इसका अवच्छेद नहीं होता। अतः लौकिक आनन्द से रसानन्द की विशिष्टता दार्शनिक दृष्टि से स्फुटतर है[2]। पंडितराज जगन्नाथ के शब्दों में रस का रूप है। 'भग्नावरणा-चिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रसः'। चैतन्य के ऊपर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है जिसका अपनयन विभावादि व्यापार के द्वारा सिद्ध होता है। उस दशा में अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त स्थायिभाव को 'रस' कहते हैं। अथवा 'रसो वै सः' आदि ब्रह्म को रसरूप बतलानेवाली श्रुतियों के स्वारस्य से स्थायिभाव से युक्त तथा अज्ञान आवरण से विरहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है, 'रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिद् एव रसः'। रस कोई इतर पदार्थ नहीं है, प्रत्युत वह चैतन्यरूप ही है जिसके ऊपर से

समाधौ सविकल्पकसमाधौ, निर्विकल्पके तदनंगीकारादिति बोध्यम्
नागेशकृत व्याख्या।

1. इयं च परमब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा। विभावादिविषयसंवलित-चिदानंदालम्बनत्वात्

वही, पृ० २३

२. आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः। अनन्तःकरणवृत्ति-रूपत्वात्।

—रसगंगाधर, पृ० २२,

अज्ञान का आवरण हट गया है तथा जिसमें रति आदि स्थायिभाव विशेषणतया भासित होते हैं।

पंडितराज ने अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादियों की ही रस व्याख्या का दर्शन दृष्टि से परिष्कार किया है। अभिनवगुप्त की स्पष्ट उक्ति है 'रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधन्ताभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्, (अभिनवभारती पृ० २८६)। रसना, स्वाद ज्ञानरूप ही होता है, परन्तु अन्य लौकिक ज्ञानों से यह विलक्षण होता है, क्योंकि इसके उत्पादक साधन विभाव आदि स्वतः लौकिक साधनों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं। अभिनवगुप्त के इसी वाक्य की व्याख्या पंडितराज ने दार्शनिक पद्धति से की है।

वस्तुतः आनन्द ही रस है। रस एक है, अनेक नहीं। रस रस ही है। उसके लिये किसी पर्यायशब्द की आवश्यकता नहीं होती। रस ब्रह्म के समान है। रस स्फोट के सदृश है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं। उसी प्रकार, शृंगार हास्य आदि रस की अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुतः असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अंशी है। शृंगारादि रस उसके अंशमात्र हैं। अभिनवगुप्त के प्रमाण्य तथा भाष्य के अनुसार भरतमुनि का यही मत है। उन्होंने मूलस्थानीय रस के लिये 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अंशभूत रसों को केवल 'रस' शब्द से अभिहित किया है। रस की एकरूपता की सिद्धि के हेतु भरत ने इस विख्यात वाक्य में एक वचन का ही प्रयोग किया है।

न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

—नाट्यशास्त्र पृ० २७३–७४

अभिनव की व्याख्या

एक एव तावत् परमार्थतो रसः सूत्रस्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भोगदशाविभागः।

—अभिनवभारती पृ० २७३

तथा च 'रसादृते' (६।३२) इत्यत एकवचनोपपत्तिः। ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उभयात्मकानि

अतः आनन्दमय रस ही 'महारस' है। अन्य रस उस मूल महारस के केवल विकारमात्र हैं। इसलिये रस वस्तुतः एकरूप ही है। भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धांत है...एको रसः ॥

(घ) काव्य में रसवत्ता

विचारणीय विषय है-काव्य में रसवत्ता कहाँ रहती है? कवि, विषय तथा सामाजिक—रसशास्त्र की यही त्रिपुटी है। आन्तर अथवा बाह्य विषय की स्वयं अनुभूति कर कवि अपनी रसमयी कविता के द्वारा सामाजिकों के हृदय में उसे उतारता है। विषय को सामाजिक तक पहुँचाने के कार्य में कवि रुचिर माध्यम होता है। कवि की अन्तर्मुखी दृष्टि यदि विषय के ऊपर न पड़े, तो विषय स्वयं निराकार रूप में पड़ा ही पड़ा अपना दिन गिनता रहेगा। कवि की प्रतिभा के आलोक से ही विषय आलोकित हो जाता है। उसके अभाव में वह स्वयं गाढ़ अन्धकार के पटल को भेदकर बाहर अनुभूति में आने की क्षमता नहीं रखता। अतः काव्य के उपादान की सामग्री प्रस्तुत करने पर भी विषय की काव्य में एकान्त महत्ता नहीं है। तबतक उसका उपभोग सहृदय की क्षमता के भी बाहर है, जबतक कवि प्रातिभ लोचन से वर्ण्यवस्तु का अवलोकन कर पाठकों के सामने उसके स्वरूप का उन्मीलन स्वयं नहीं कर देता। अतः काव्य के जनक होने के कारण स्रष्टा कवि का विपुल महत्त्व है। हमारे भारतीय आलोचनाशास्त्र में कला का सहृदयपक्ष विशेषतः पुष्ट है तथा गौरव की दृष्टि से देखा जाता है। सहृदय की दृष्टि से काव्य की परीक्षा की जाती ही है, उसके गुण-दोषों का विवेचन होता है, हैयोपदायेता की कसौटी तैयार की जाती है। अतः हमारा आलोचनाशास्त्र काव्य को 'सामाजिक—चर्वणा—व्यापार' के रूप में ही अंकित करता है। पूर्वनिर्दिष्ट त्रिकोण का केन्द्र बिन्दु है—रस। रस की छटा से ही यह समस्त काव्य त्रिकोण सरसता तथा मनोज्ञता से छलकता रहता है। विषय सुगमता के लिये इस रेखाचित्र से भी दिखलाया जाता है:—

तरणिबिम्बप्रतिबिम्ब एक एव। तथा उपाधिगत एव भेदो नानन्दकृतो रसस्य। आनंदधर्मत्वात् परमानन्दरूपत्वात् एकत्वं एकविधत्वं रसस्य।

—भूमि पृ० १२०

काव्य-त्रिकोण
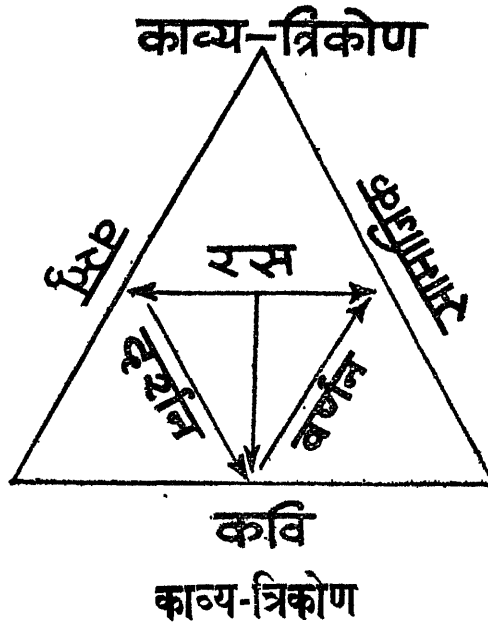
इस त्रिकोण की समीक्षा करने पर काव्य के तीनों तत्त्व—वस्तु, कवि तथा सामाजिक—के परस्पर सन्तुलन की समस्या समझ में आ जाती है। सामाजिक ही काव्य का पर्यवसान है। समाज का प्रतिनिधित्व करनेवाला सहृदय ही काव्यरचना का अन्तिम उपास्य है। कवि उसका माध्यम है। वस्तु की अनुभूति सामाजिक को कराना कवि का लक्ष्य है। दर्शन और वर्णन से ही कवि कविपदवी का भाजन बनता है। वस्तु को वह आत्मसात् करता है दर्शन के द्वारा और स्वतः अनुभूत सत्य की वह सामाजिक को अनुभव कराता है वर्णन के द्वारा। इसीलिये जैसा पहिले कहा गया है भट्टतौत ने काव्यकला के विकास में दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था—

दर्शनाद् वर्णनाच्चापि लोके जाता कविश्रुतिः।

'दर्शन' के बिना कवि का 'वर्णन' ही निराधार तथा निःसत्त्व होता है तथा 'वर्णन' के अभाव में 'दर्शन' भी केवलः अन्तःसंम्भूतिमात्र रहता है। कवित्वप्रासाद के दर्शन तथा वर्णन दो सुचारु स्तम्भ हैं। इसी प्रकार वस्तु तथा सहृदय— विषय तथा सामाजिक—दोनों ही कवि के लिये उपादेय तथा

स्पृहणीय तत्त्व होते हैं। कवि को दर्शन के द्वारा वस्तु की जो अन्तः अनुभूति उदित होती है उसी को सामाजिक के मन में उसी रूप से वह वर्णन के द्वारा जागरित कर देता है। इसके केन्द्र में विराजता है—रस। रसजन्य आनन्द काव्यका जीवनाधार है।

अब प्रश्न है कि रस की सत्ता कहाँ-कहाँ रहती है? सामाजिक में रस विद्यमान रहता है; यह तो हमारे आलोचना-शास्त्र का मान्य सिद्धांत ही है, परन्तु वस्तु तथा कवि इन दोनों में रस का आधार कौन होता है? वस्तु में स्वतः रस की सत्ता विद्यमान रहती है अथवा कविगत रस रहता है? गीति-काव्य के दृष्टान्त से यह विषय समझाया जा सकता है। कतिपय आलोचक गीतिकाव्य के वर्ण्य विषय में ही रसवत्ता मानते हैं। उनका कथन है कि गीतिकाव्य का विषय ही स्वयं रस-निर्भर रहता है। कवि उनके सामान्य वर्णन-मात्र से ही काव्य को रसस्निग्ध बना डालता है। परन्तु तथ्य बात इसके ठीक विपरीत है। काव्य में समस्त चमत्कार कवि के व्यक्तित्व पर आश्रित रहता है—काव्य कवि के व्यक्तित्व की ही अभिनन्दनीय अभिव्यक्ति है।

कहा गया है कि आचार्य उद्भट वस्तु का रूप 'स्वरूपनिबन्धन' मानते थे, परन्तु राजशेखर का सम्मान्य मत था कि वस्तु का रूप 'स्वरूप-निबन्धन' न होकर 'प्रतिभास-निबन्धन' होता है। इसका अभिप्राय है कि काव्यकर्ता को वस्तु का रूप अपनी प्रतिभा के बल पर जैसा प्रतिभासित होता है वैसा ही वह अपने काव्य में रखता है। वह इस वैज्ञानिक झमेले में नहीं पड़ता कि आकाश में कोई रंग होता है या नहीं, वह अपनी अनुभूति को ही आश्रय मानकर आकाश को 'नीलोत्पलदल-द्युति' या 'असिश्याम' वर्णन करता है। कवि वैयक्तिक प्रतिभास के ऊपर ही वस्तु का रूप निर्धारित करता है—

न स्वरूपनिबन्धनमिदं रूपमाकाशस्य सरित् सलिलादेर्वा किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धोपयोगि।

—का० मी० पृ० ४४

राजशेखर का यह सिद्धान्त नितान्त उपादेय है—

काव्ये कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः

—का० मी० पृ० ४५

अर्थ स्वयं एकाकार ही रहता है। उसमें रसवत्ता भरने या रसहीन बनाने की क्षमता कवि की वाणी में ही होती है। उनकी पत्नी आलोचकप्रवरा अवन्तिसुन्दरी भी इसी की पुष्टि में कहती हैं—

> वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रं गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
> स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः॥

वस्तु का निजी स्वभाव एकाकार रहता है। परन्तु उसमें गुण का उदय तथा दोष का उद्गम करती है कवि की वाणी ही। चन्द्रमा अपनी स्निग्ध चन्द्रिका छिटकाता हुआ समानरूप से गगनमण्डल में विहार करता है, परन्तु उसकी प्रशंसा के अवसर पर कवि उसे 'अमृतांशु' का अभिधान प्रदान करता है और दोष के अवसर पर उसे 'दोषाकर' (रात को करने वाला तथा दोषों का खजाना) कहता है। कवि का विलोचन ही कभी उसके किरणों में अमृतोपम स्निग्धता का दर्शन करता है और कभी दोषों की कालिमा का।

(ङ) कविगत रस

प्रतिभाजन्य काव्यनिर्माण की चर्चा हमने अब तक कवियों तथा आलोचकों के प्रामाण्य पर पर्याप्तरूप से की है। विचारणीय प्रश्न है कि कवि वर्ण्य विषय से रसोपलब्धि प्राप्त कर निर्माण करता है या अन्य किसी प्रकार? हमारे भारतीय आलोचकों का कहना है कि **कवि को रस के स्रष्टा होने से पहिले वर्ण्य विषय का द्रष्टा तथा भोक्ता भी होना ही चाहिए**। कवि शब्दों के माध्यम द्वारा स्वानुभूति का इतना सुन्दर रोचक चित्रण करता है कि वह तुरन्त पाठकों का हृदयंगम बनकर उनकी भी अपनी अनुभूति बन जाती है। कवि जब तक रस का स्वतः द्रष्टा तथा भोक्ता नहीं होता तब तक वह अपने पाठकों तथा श्रोताओं के हृदय में क्या रस का उन्मीलन कर सकता है? जिसने स्वयं अंगूर नहीं चाखा है वह क्या अंगूर की मिठास का यथार्थ प्रभावशाली वर्णन कर सकता है? अतः व्यावहारिक दृष्टि हमें इसी परिणाम पर पहुँचाती है कि **कवि में स्वयं रसोद्भूति होती है, अन्यथा वह अपने काव्यपाठकों के हृदय में रसोन्मीलन नहीं कर सकता**। शास्त्रकारों का इस विषय में क्या मत है? इसी विषय की मीमांसा यहाँ अब प्रस्तुत की जा रही है।

मूल प्रश्न है—क्या सामाजिकगत रस के समान कविगत रस होता है ? अभिनवगुप्त के भाष्य से जान पड़ता है कि भरत का मत था—कवि में रस होता है। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त का भी मत है—कवि में रस होता है। भरत का वह महनीय श्लोक जिसके ऊपर यह मत आश्रित है इस प्रकार है—

> यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
> तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।

नाट्यशास्त्र, ६।४२

जैसे बीज से वृक्ष होता है, वृक्ष से फूल तथा फूल से फल होता है, वैसे ही रससमूह ही काव्य का मूल होता है और भावों की व्यवस्था होती है।

इस पद्य की अभिनवभारती इस तत्त्व की स्पष्ट द्योतिका है—

एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं 'शृङ्गारी चेत् कविरित्यादि' आनन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत् पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती पृ० २९५

अभिनवगुप्त के इस महत्त्वपूर्ण मत का अभिप्राय यही है कि मूलबीज के समान होता है कविगतरस। कवि सामाजिक के समान ही होता है। इसीलिये आनन्दवर्धनाचार्य ने 'शृंगारी चेत् कविः काव्ये' कहा है। उससे वृक्ष स्थानीय होता है काव्य। अभिनय आदि नटव्यापार पुष्प के स्थान पर होता है तथा सामाजिक जन का रसास्वाद फलस्थानीय होता है। इस प्रकार समग्र विश्व ही रसमय बन जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त का यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि कवि जगत्-काव्य से अर्थात् संसार की बाह्य वस्तुओं से विभावादि व्यापार के बिना ही स्वतः रस की उपलब्धि कर सकता है। इस विषय में उसका दर्जा सामाजिक की अपेक्षा कहीं बढ़कर है। सामाजिक विभावादि व्यापार के द्वारा व्यक्तीकृत स्थायी भावों से रस की उपलब्धि करने में समर्थ होता है, परन्तु कवि को इसकी आवश्यकता ही नहीं। अभिनवगुप्त कवि के दो प्रकार की शक्तियाँ बतलाते हैं—प्रथम शक्ति है साक्षात् भाव से जगत् के पदार्थों से भाव तथा रस की उपलब्धि। संसार की वस्तुओं से भाव का ग्रहण तथा साधारणीकरण

व्यापार के द्वारा अपने सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठकर रस का अनुभव—साक्षात् रूप से, किसी आवश्यक सामग्री के सहयोग के बिना ही—कवि का निजी वैशिष्ट्य है। दूसरी शक्ति प्रतिभा के बल पर स्वयं अनुभूत रस का तदनुरूप शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति करना या काव्य-निर्माण करना है। कविगत रस होने पर ही काव्य में भी रसवत्ता होती है। अग्निपुराण का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

(अध्याय ३४५।११)

यदि काव्य का निर्माता कवि स्वयं शृंगारी या रसिक होता है, तो जगत् रसमय बन जाता है। यदि वह स्वयं वीतराग—राग-रहित या नीरस होता है, तो सब वस्तु ही नीरस हो जाती है।

इसका स्फुट तात्पर्य है कि कवि की रसवत्ता ही काव्य-रसवत्ता की जननी होती है। यह असम्भव ही है कि नीरस कवि का काव्य रसस्निग्ध या रस-पेशल हो। भट्टनायक ने हृदयदर्पण में और भी स्पष्ट रूप से लिखा है—

यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।

जब तक कवि रस से पूर्ण नहीं होता, तब तक वह रस का उद्गरण किस प्रकार कर सकता है? काव्य रसपूर्ण कवि के हृदय के उद्गार के अतिरिक्त और क्या है? रसशून्य कवि रस का प्रकाशन अपनी कविता के द्वारा किस प्रकार कर सकता है? अतः काव्य में रसवत्ता का उदय कवि की रसवत्ता से ही होता है।

१२—काव्य और प्रकृति-वर्णन

इस विश्वके समग्र रूपों तथा व्यापारों का आधारस्तम्भ मनुष्य ही है। मनुष्य की कमनीय केलिभूमि है यह पृथ्वी, परन्तु वह भी अपने उत्साह के लिये, अपनी स्फूर्ति के निमित्त, उस नानारूपात्मक वस्तु का आश्रय लिया करता है जिसे हम कहते हैं—बाह्य प्रकृति, निसर्ग या नेचर। इस भागवती सृष्टि में मनुष्य तथा प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ तथा स्निग्ध है। सृष्टि के आरम्भ में जब मनुष्य ने अपनी आँखें खोलीं तब उसने अपने को करुणामयी प्रकृति की प्रेममयी गोदी में पड़ा पाया। प्रकृति चारों ओर से उसे घेरकर अपनी अभिराम लीला दिखलाती रही है तथा उसके जीवन को स्निग्ध रसमय तथा कोमल बनाती रही है। मनुष्य का प्रकृति के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना पुराना है यह संसार। आरम्भ से ही वह प्रकृति का पुजारी रहा है। कमनीय उपवन के नाना रँगीन फूलों की शोभा निरखता हुआ वह कभी नहीं अघाता। रसाल की रसभरी मृदुल मञ्जरी का रसपान करनेवाली स्निग्धकण्ठ कोकिला की कूक सुनकर उसके हृदय में आनन्द का प्रवाह सदा से बहता रहा है। शरदकाल में स्वच्छ सलिल को उछालकर प्रवाहित होनेवाली तरंगिणी को देखकर उसका हृदय हर्ष से तरंगित होता आया है। दोनों का वयस्यभाव इतना कोमल, कमनीय तथा इतना काव्यपूर्ण रहा है कि आज भी, सभ्यता के बाहरी आडम्बर के विकसित युग में भी, किसी न किसी प्रकार से इस स्निग्ध सम्बन्ध की सत्ता का पता रसिक हृदयों को हो रहा है।

मानव तथा बाह्य प्रकृति के इस प्राचीन लगाव को, इस रागात्मक सम्बन्ध को, छिन्न-भिन्न कर विशृंखल करनेवाली वस्तु का ही नाम है सभ्यता। सभ्यता के विकास का इतिहास इस परम्परागत पारस्परिक अनुराग के ह्रास की एक दीर्घ करुण कहानी है। सभ्यता की अभिवृद्धि का प्रकट चिह्न है नैसर्गिकता का ह्रास तथा कृत्रिमता का उपबृंहण। मनुष्य सभ्यता-मन्दिर की सीढ़ियों पर ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह इन नैसर्गिक वस्तुओं से अपने चित्त को किनारे करता चला जाता है। प्राचीन युग में उसके प्रेम के पात्र थे वन-उपवन, नदी-नाले, गिरि-पहाड़, नदी की उपत्यका तथा

बाटी, परन्तु सभ्यता के इस युग में सभ्य मनुष्यों के अनुराग के भाजन हैं मिलों की चिमनियाँ जो सदा काले धूएँ का गुब्बारा उड़ाती हुई वायुमण्डल को कलुषित तथा विषदिग्ध किया करती हैं, नगरों की अट्टालिकाएँ जिसमें निवास करनेवाले धनीमानी सुख की नींद सोते हैं तथा चैन की बंसी बजाते हैं, परन्तु जिनके सामने शीर्ण हीन-दीन व्यक्ति मानवता का अट्टहास बना हुआ कूड़े में पड़े हुए दानों को बीनकर भी अपने पेट की ज्वाला शान्त करने में समर्थ नहीं होता। सुन्दर बगीची में हम घूमते हैं, परन्तु उसमें खिले हुए मधुपों के गुंजार से मुखरित फूलों की रंगीन सुषमा की ओर हम भूले-भटके भी अपनी आँखें नहीं उठाते। सैर-सपाटे के लिये हम पहाड़ी स्थानों पर जाते हैं, परन्तु पहाड़ की उस बीहड़ता तथा उग्रता को फूटी नजरों भी नहीं देखते। यह सब सभ्यता के विकास का विषमय विषम प्रभाव है।

जिसका हृदय वर्षाकाल में काले बलाहकों के बीच कौंधनेवाली बिजुली की चमक से तथा मेघों के स्निग्धमन्थर गर्जन से विस्फारित नहीं हो जाता, उत्तुङ्ग हिमाच्छादित शिखरपर सोना ढलकानेवाले बालसूर्य की रश्मियों को निरखकर आनन्दविभोर नहीं हो जाता; काली शिला पर रजत की राशि उड़नेवाले जलप्रपात की द्रुतगामिनी धारा को देखकर जिसके नेत्रों में शीतलता का संचार नहीं होता; वसन्त के आगमन पर हरी-भरी पत्तों से घिरी, कोमलकण्ठ कोकिला के पञ्चम से प्रतिध्वनित खड़ी अमराई को लोचन गोचर कर जिसका हृदय मधुमय तथा सुधासिक्त नहीं हो जाता वह व्यक्ति क्या मनुष्य कहलाने का अधिकारी है? प्रकृति के सरस आकर्षण के प्रति जिसका हृदय आकृष्ट नहीं होता, वह पुरुष यदि मानव है, तो दानव किसे कहेंगे? हम तो इस प्रकृति-प्रेम को ही मानव हृदय की सच्ची कसौटी समझते हैं। तार्किक लोग तर्क बुद्धि को मानवता का प्रतीक भले ही समझें, हम साहित्य-भक्तों के लिये तो मानवता का सच्चा प्रतीक है स्निग्ध-हृदयता—चारुचित्तता—जो मनुष्य के प्रकृति-निरीक्षण में ही सबसे अधिक अभिव्यक्त होती है।

प्रकृति का द्विविध रूप

बाह्य प्रकृति का वर्णन भारतीय साहित्य में दो प्रकार से उपलब्ध होता है—उद्दीपन के रूप में तथा आलम्बन के रूप में। प्रकृति मनुष्य के भावों

पर सदा अपना प्रभाव जमाती है। वह उसके मनोभावों को तीव्र तथा उद्दीप्त किया करती है। प्रेमी की सुप्त प्रेम-भावना को प्रकृति की रमणीयता का झकझोर झोरकर जगा डालता है। तड़ाग में खिले हुए नील कमल, उपवन में विकसित फूल, पञ्चम में कूकती हुई कोकिला का वर्णन हमारे अधिकांश कवि उद्दीपन विभाव के ही भीतर करते हैं और यह करना उचित ही है। परन्तु इससे पृथक् है प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन, उसकी आलम्बन के रूप में काव्य में प्रतिष्ठा। यह तभी सम्भव होता है जब कवि की दृष्टि प्रकृति के मानव हृदय पर होनेवाले प्रभावों की ओर न जाकर प्रकृति के प्रकृत रूप की ओर स्वतः आकृष्ट होती है। बाह्य प्रकृति स्वयं है सुषमा का निकेतन, सौन्दर्य का सदन, परन्तु इसके निरखने के लिए चाहिए कवि की स्निग्ध दृष्टि जो प्रकृति के रूप का विश्लेषण अपना महनीय कार्य मानती है। प्रकृति का आलम्बनरूप से वर्णन अपने को दूसरे प्रकार के वर्णन से स्वतः पृथक् कर देता है। शिक्षित आलोचक की दृष्टि दोनों प्रकार के वर्णनों में सूक्ष्म विवेचन करने में कृतकार्य होती है।

शब्द के माध्यम द्वारा प्रकटित किये गये पदार्थ दो प्रकार से गृहीत होते हैं—(१) अर्थ ग्रहण तथा (२) बिम्ब ग्रहण। अर्थ ग्रहण का तात्पर्य है—पदार्थ का सामान्यरूप प्रस्तुत करना। बिम्बग्रहण से तात्पर्य है उस वस्तु के स्वरूपाधायक चित्र से। अर्थग्रहण का क्षेत्र है शास्त्र और बिम्बग्रहण का क्षेत्र है काव्य। मान लीजिए किसी ने कहा 'कोकिल'। इसका सामान्य अर्थ हुआ एक प्रकार की विशिष्ट चिड़िया; परन्तु इस शब्द के उच्चारण करते ही यदि श्रोता के सामने लाल आँखवाली, इधर उधर फुदकने वाली, स्वल्पकाय काले रंग की चिड़िया की मूर्ति झलकने लगती है, तो समझना चाहिए कि यहाँ बिम्ब ग्रहण हो रहा है। जब प्रकृति के पदार्थों का केवल नाम ग्रहण मान कर कवि अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है, उपवन में खिलने वाले अनेक फूलों का केवल नामोल्लेख कर चुप बैठ जाता है, तब यह यथार्थ प्रकृतिवर्णन नहीं हुआ। प्रकृति की प्रकृत प्रतिष्ठा काव्य में तभी होती है जब कवि पूर्ण संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है। 'आम के पेड़ पर बैठी कोयल बोल रही है'—होगा असंश्लिष्ट वर्णन। 'बसन्त के आगमन पर हरे-भरे आम पेड़ों की पीली पीली मञ्जरियों से लदी हुई, मलयानिल के झोंकों से झुकती हुई टहनियों के ऊपर बैठी हुई रक्तलोचना कृष्ण वर्णा कोकिल पञ्चम स्वर कूक रही है'—यह होगा संश्लिष्ट वर्णन। 'संश्लेष' का अर्थ है आलिंगन। कवि समग्र आवश्यक

पदार्थों का एकत्र आलिंगन कराकर इतना सुन्दर वर्णन करता है कि प्रकृति का चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगता है।

भारतीय साहित्य में प्रकृतिवर्णन का संश्लिष्टरूप परम्परा से प्रतिष्ठित किया गया है। संस्कृत के मान्य कवियों ने—वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति-आदि प्रकृति के इस रूप का चित्रण अनेक काव्यों में बड़ी मार्मिकता तथा स्निग्धता के साथ किया है। इतना ही नहीं प्रकृतिचित्रण की इस परम्परा की खोज करने पर वह वेदों में भी उपलब्ध होती है। वर्षाऋतु का प्रथम वर्णन उपलब्ध होता है ऋग्वेद संहिता के पर्जन्य सूक्त (७ मण्डल, १०३ सूक्त) में, जहाँ अनेक नवीन कल्पनाएँ वर्णन को यथार्थ तथा मञ्जुल बना रही हैं। मैत्रावरुणि वसिष्ठ ऋषि एक मण्डूक की आवाज सुनकर दूसरे मण्डूक के बोलने की तुलना वैदिक ब्राह्मणों के वेदपाठ से करते हैं जहाँ शिष्य गुरु के मन्त्रपाठ को सुनकर स्वयं मन्त्रों का पाठ करता है—

> यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
> सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥
>
> —ऋग्० ७।१०३।५

जाने वा अनजाने यही उपमा मिलती है तुलसीदास में—

> दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई।
> वेद पढ़ै जनु बटु समुदाई॥

इस परम्परा का निर्वाह दृष्टिगोचर होता है वाल्मीकि रामायण में, भगवान् श्रीकृष्ण की व्रजलीला के प्रसंग में श्रीमद्भागवत में, कालिदास के ऋतुसंहार में, जयदेव के गीतगोविन्द में तथा गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में। इन कवियों ने प्रकृति के मार्मिक अंश को ग्रहण कर उसे नाना उपादानों से परिबृंहित कर एक आवर्जक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है।

(क) प्रकृति का निरीक्षण

प्राकृतिक दृश्य के यथार्थ चित्रण के निमित्त कवि में निरीक्षण शक्ति की सत्ता नितान्त आवश्यक होती है। प्रकृति नानारूपात्मक होती है। उसके इन नाना रूपों का सूक्ष्म अवलोकन कर जो कवि अपनी शब्द-तूलिका के द्वारा इनका चित्रण कर सकता है वही वास्तविक कवि है। संस्कृत के

प्राचीन कवियों में इस निरीक्षण शक्ति का हमें प्राचुर्य उपलब्ध होता है, परन्तु ज्यों-ज्यों हम पिछले युग की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों कवियों की दृष्टि मार्मिक अंश के भीतर पैठने में एकदम असहाय हो उठती है। महाकवि कालिदास के काव्यों में प्रकृति के मधुर संश्लिष्ट रूप की झाँकी किसे मुग्ध नहीं बनाती ! कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुजारी थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव के बीच विराजमान परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजनेवाली भगवद्-विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। उनका हृदय प्रकृति के नानारूपों में रमता है तथा उनकी पैनी दृष्टि बाह्य आवरण को हटाकर प्रकृति के उस सूक्ष्म तात्त्विक बिम्ब के देखने में समर्थ होती है जिसे अन्य कवियों की आँखें देखकर भी नहीं देखतीं।

सूक्ष्म निरीक्षण का एक मञ्जुल उदाहरण लीजिए। हिमांचल की कवि के सन्ध्या के वर्णन का प्रसंग है। भगवान् शशिशेखर पार्वती की दृष्टि को सन्ध्याकालीन हैमवती सुषमा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे पिता के झरनों में सूरज के पश्चिम की ओर लटक जाने से अब इन्द्रधनुष का मण्डल नहीं दीख पड़ता है जो उनके ऊपर रहने पर दिखलाई पड़ता था। बात यह है कि सूर्य की किरणें जब झरनों से उठनेवाली फुही पर पड़ती हैं, तब हजारों इन्द्रधनुष इन रविरश्मिरञ्जित जलकणों में अपना सप्तरंगी रूप सर्वदा दिखलाया करते हैं। यह हमारे नित्य का अनुभव है। जलप्रपात का यह वैचित्र्य सहस्रों दर्शकों को इसी कारण अपनी ओर सदा आकृष्ट किया करता है। कालिदास की कविदृष्टि इस दृश्य में रमती है, इन नाना मनोज्ञ रंगों को पहचानती है। इसीलिए सन्ध्याकाल सूरज के पश्चिम ओर लटकने के कारण झरनों के जलशीकरों में इन्द्रचाप का अभाव उन्हें बेतरह खटक रहा है। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक यह पद्य कवि की अवलोकनकला का एक विशिष्ट दृष्टान्त है—

> शीकरव्यतिकरं मरीचिभि—
>
> दूरयत्यवनते विवस्वति।
>
> इन्द्रचाप-परिवेष-शून्यतां
>
> निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥
>
> —कुमारसम्भव ८।३१

यह उक्ति किसी रूढ़िवादी कवि की नहीं है, प्रत्युत उस कवि की है

जो प्रकृति की विविध लीला को अपने विलोचनों से निरख कर आनन्दविभोर हो उठता है तथा अपना आपा खो बैठता है।

भारतीय संस्कृति के प्रतीक रूप हिमालय की सुषमा का सूक्ष्म निरीक्षण किया है महाकवि कालिदास ने। हिमालय हमारे कविजी को बड़ा ही प्यारा था। उनके अत्यधिक ग्रन्थों में हैमवती सुषमा का रंगीन चित्रण पाठकों के चित्त को हठात् आकृष्ट करता है। इस वर्णन की यथार्थता पुकार कर कह रही है कि यह कालिदास की प्रतिभा का विलास नहीं है, प्रत्युत उनकी अलोकसामान्य सूक्ष्मेक्षिका का परिणत फल है। हिमालय की छटा तथा विचित्रता को अपनी आँखों निरखनेवाले ही जान सकते हैं कि इस प्रकृति-वर्णन का अंग-प्रत्यंग अनुभूति तथा निरीक्षण शक्ति पर कितना अवलम्बित है। हिमालय के इस वर्षाकालीन दृश्य का चित्रण कितना सजीव तथा सटीक है—

आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते
श्रृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः॥

—कुमारसम्भव १।५

हिमालय की चोटियाँ इतनी ऊँची उठी हैं कि मेघ भी उनके बीच तक पहुँचकर ही रह जाते हैं। उनके ऊपर का आधा भाग मेघों के ऊपर निकला रहता है। इसलिए निचले भाग में छाया का आनन्द लेने वाले सिद्ध लोग जब अधिक वर्षा होने से घबड़ा उठते हैं, तब वे बादल के ऊपर उठी हुई उन चोटियों पर दौड़कर चढ़ जाते हैं जहाँ धूप बनी रहती है। इस श्लोक में वर्णित दृश्य की शोभन स्थिति का पता मैदान के निवासियों को कभी नहीं लग सकता। हिमाचल की चारुता निरखनेवाली चक्षु ही इस वर्णन को सोच सकती है और समझ सकती है और यही है निरीक्षण की सूक्ष्म शक्ति—वैचित्र्य तथा वैशिष्ट्य की परीक्षक आलोक शक्ति।

पिछले कैड़े के कवियों के लिए प्रकृतिवर्णन अलंकारों की सजावट का एक विशिष्ट अवसर प्रदान करता है। वे न तो प्रकृति के बाह्य रूप की विचित्रता पर मुग्ध होते हैं और न उसे अपनी पैनी निगाहों से निरखने का प्रयास करते हैं। अलंकारों का जमघट खड़ा कर वे अपने चित्त को सन्तुष्ट किया करते हैं। नैषधकार श्रीहर्ष का सन्ध्यावर्णनात्मक यह श्लोक इस प्रसंग में प्रस्तुत किया जा सकता है—

अस्ताद्रि - चूड़ालय - पक्कणालि—
चलेकस्य किं कुक्कुट-पेटकस्य ।
यामान्त-कूजोल्लसितैः शिखौघैः
दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥

—नैषध २२।५

अस्ताचल की चोटी पर बने हुए शबरों के गृहों में रहने वाले मुर्गे सायंकाल में प्रहर के बीतने के अवसर पर जोरों से कूक रहे हैं। उनकी लाल लाल कलंगियाँ माथे पर खड़ी हो गई हैं और इसीलिए पश्चिमी दिशा एकदम लाल रंग की बन गई है। इस पद्य में कुक्कुट जाति की विशिष्टता का निरीक्षण भले ही हो, परन्तु सन्ध्या की किसी मार्मिक विशिष्टता की ओर संकेत कहाँ है! कालिदास के पूर्वोक्त सन्ध्या-वर्णन की तुलना में इस वर्णन का हल्कापन तथा फीकापन किसी भी आलोचक को स्पष्ट हो जायगा। कहाँ निर्झरकण में इन्द्रधनुष का साक्षात् निरीक्षण और कहाँ सन्ध्याकालीन आकाश को कुक्कुटों की कलंगी से लाल होने की अकल्पित घटना !!!

हिन्दी के कवियों में भी यह वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ प्राचीन काल के कवियों ने प्रकृति के मार्मिक रूप का स्वयं निरीक्षण कर भव्य भाषा में वर्णन किया है, वहाँ रीतिकाल के कवियों ने फूलों तथा पत्तियों की एक लम्बी फिहरिस्त देकर ही अपने काम से छुट्टी ले ली है। बाहरी रूप के निरखने में ही जिनके नेत्र अटक रहते हैं उन कवियों से प्रकृति की अन्तः प्रकृति के अवलोकन की आशा करना अपने आपको धोखे में डालना है। रीतिकाल में भी कभी कभी प्रकृति के मार्मिक रूप पर रीझने वाले कवि का दर्शन सौभाग्यवश हो जाता है। कविवर सेनापति की गणना हम ऐसी ही दुर्लभ कविकोटि में मानते हैं।

(ख) प्रकृति का सौन्दर्य-पक्ष

कवियों में अपनी रचनाओं में प्रकृति के अनेक पक्षों का विवरण प्रस्तुत किया है। सच्चा कवि वही होता है जिसका मन प्रकृति के नाना रूपों में रमता है। जो केवल प्रकृति की सुषमा, कोमलता तथा सौम्यभाव के ही ऊपर रीझता है वह प्रकृति का क्या सच्चा प्रेमी माना जा सकता है! प्रकृति की मृदुलता के समान प्रकृति के उग्रभाव, भयंकरता, कठोरता तथा विषमता के

द्वारा भी जिस व्यक्ति का चित्त विस्फारित होकर आह्लाद का अनुभव करता है हम उसे ही सच्चा प्रकृति-प्रेमी मान सकते हैं। महाकवि कालिदास का प्रकृति-वर्णन सौम्यपक्ष के विलास की मधुर झाँकी प्रस्तुत करता है, तो भवभूति में प्रकृति का उग्रपक्ष अपनी स्वाभाविक भयंकरता के साथ पाठकों के हृदय को आह्लादमिश्रित विस्मय में डुबा देता है। इन दोनों महाकवियों ने पावस के आगमन का मञ्जुल वर्णन सीधी-साधी भाषा में नितान्त यथार्थता के साथ किया है। कालिदास का मेघ आषाढ़ के पहिले ही दिन पर्वत के शिखर को आलिंगन कर उदित होता है—

आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं (मेघदूत)

इधर भवभूति का नूतन जलधर पर्वत के शिखर का आश्रय करता दृष्टिगोचर होता है—

श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः।

कालिदास की उक्ति से प्रभावित होने पर भी इस पंक्ति के अनुकरण में कितनी नूतनता है जो 'तोयवाह' (जल से भरा हुआ मेघ) तथा उससे जुड़े हुए 'नूतन' विशेषता से द्योतित होती है। जल से संभूत मेघ इतना भाराक्रान्त था कि वह ऊँचे आश्रय को पकड़कर विश्राम ले रहा था। यह ध्वनि 'तोयवाह' तथा 'श्रयति' शब्दों के संयोग से स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

कालिदास ने कहीं कहीं एक पंक्ति के द्वारा ही समस्त वस्तु का रंगीन चित्र प्रस्तुत कर दर्शकों के नेत्रों को लुभा रखा है। समुद्र के चित्रण के लिए एक ही पंक्ति पर्याप्त है—

प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः॥

(रघु० ४।३४)

रघु अपनी सेना के साथ ताली वनों के कारण श्याम रंगवाले समुद्र के किनारे पहुँचे। यहाँ 'तालीवनश्यामम्' केवल एक विशेषण से तालवनों की सघनता के कारण नीलिमा-सम्पन्न महोदधि का चित्र मानसपटल पर अंकित हो उठता है। महाकवि की दृष्टि पक्षियों के वैचित्र्य परखने में भी उतनी ही दक्ष है। पम्पा तालाब के चित्र को सारस पक्षियों ने कितना सुन्दर तथा रोचक बना डाला है। उसी प्रकार वे रामचन्द्र के विमान में घुँघरुओं का शब्द सुनकर आकाश में उड़कर स्वागत करते हुए प्रतीत हो रहे हैं—

अमूर्विमानान्तर-लम्बिनीनां
श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो
गोदावरी-सारस - पंक्तयस्त्वाम् ॥

(रघु० १३।३३)

कवि ने यहाँ चित्र के साथ संगीत का भी अनुपम मेल जुटा दिया है। इस चित्र के साक्षात्कार के लिए दूर आकाश में एक विमान की कल्पना कीजिए और उसमें सुवर्ण के घुँघुरू लगाइए। इन घुँघुरुओं की मीठी ध्वनि से आकृष्ट होकर सारस की पंक्तियाँ आकाश में उड़ रही हैं। नील जमीन के ऊपर उजले सारसों की उड़ती हुई पाँत कितनी सुहावनी तथा नेत्ररञ्जक प्रतीत होती है। इन सारसों को उड़ते देखने में ही खूबी है और इस खूबी को नेत्रगोचर करने के लिए स्थिर चित्र की नहीं, प्रत्युत सिनेमा जैसे चल चित्र की कल्पना नितान्त आवश्यक है।

कवि के लिए चित्र को रंगीन बनाने की बड़ी जरूरत होती है। कवि चित्रकार होता है। चित्रकार अपना तूलिका से चित्र में रंग भरता है और कवि अपनी लेखनी से शब्दों के माध्यम से वर्णमय चित्र की योजना करता है। इस कार्य में संश्लिष्ट चित्र की चारुता कितनी मुग्धकारिणी होती है। इसका प्रत्यक्ष हमें भवभूति की इस कमनीय उक्ति में उपलब्ध होता है:—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्—
प्रसव-सुरभि-शीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभर-परिणाम-श्याम-जम्बू-निकुञ्ज—
स्खलनमुखरभूरि-स्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

—उत्तर रामचरित

[यहिं वेतस-वल्लरी पै खग बैठि कलोल करैं मृदु बोल सुनावैं
तिनसों झरे-पुष्प-सुगंधित तोय, बहै अति शीतल हीतल भावैं।
फल-पुंज पकेनीके कारन श्यामल मञ्जुल जम्बु निकुंज लखावैं
इनमें रुकि कै करि रोर बनी, झरनानिके स्रोत-समूह सुहावैं ॥

—सत्यनारायण]

भावार्थ—पहाड़ों से झरने झर रहे हैं जिनके किनारे उगी हुई वानीर लता के ऊपर मधुरकण्ठ पक्षिगण विहार कर रहे हैं। उनके बैठने से लताओं के फूल झरने में गिर कर पानी को सुगन्धित बना रहे हैं। पहाड़ों से बहने के कारण झरनों का जल स्वभाव से शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुए फलों से लदे काले जामुन के वृक्षों की कुंज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।

इस पद्य का समग्र चमत्कार वर्णन की यथार्थता में समा रहा है। वानीर की बेल पर बैठे हुए पक्षियों के चित्र से तथा 'समद' शब्द से सूचित की गई उनके स्वर की ध्वनि से यह वर्णन अत्यन्त हृदयंगम बन गया है। चित्रकार की तूलिका की अपेक्षा कवि की वीणा में अधिक सामर्थ्य रहता है। यहाँ कवि की कला में चित्र और वीणा—रूप और शब्द—दोनों ही का मधुर सन्निवेश है। समद शकुन्तों के द्वारा आक्रान्त वानीर लता तथा फलों के पकने से श्याम जामुन की सत्ता चित्र को रंगों से सजा रही है, तो टकराने से घोर शब्द करनेवाली धाराओं का अस्तित्व—नदी की मुखरध्वनि—वर्णन में ध्वनि का अनुपम संयोग प्रस्तुत कर रहा है।

हिन्दी के मान्य कवियों के काव्यों में बाह्य प्रकृति अपनी भव्य झाँकी प्रस्तुत कर सहृदयों का हृदयानुरञ्जन करती है। महाकवि सेनापति का प्रकृति-वर्णन अनेक दृष्टियों से अनूठा है। उनका हृदय प्रकृति के मनोरम दृश्यों में खूब रमता है और इसीलिए उनके प्रकृति-वर्णनों में बड़ी सजीवता तथा रोचकता है। पूस के महीने में रात के समय जलती हुई आग को घेरकर बैठनेवाले ग्रामीणों का यह दृश्य कितना सच्चा, सजीव तथा सदयतापूर्ण है:—

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानों भीत जानि महा सीत तै, पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै[१]॥

१. कवित्तरत्नाकर, तीसरी तरंग, पद्य ४५.

जेठ की तपती दुपहरी का यह दृश्य कवि की अवलोकन-शक्ति का पर्याप्त परिचायक है—

> वृषकौ तरनि तेज सहसौ किरन करि
> ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
> तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
> छाँह कौ पकरि पंथी—पंछी बिरमत है।
> 'सेनापति' नैक दुपहरी के ढरत, होत
> धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
> मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौ पकरि कौंनो
> घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है[1]।

(ग) प्रकृति का अध्यात्मपक्ष

'अचैतन्यं न विद्यते'—जगत् के समग्र पदार्थजात में चैतन्य का सुभग साक्षात्कार करने वाले भारतीय कवियों की दृष्टि में बाह्य प्रकृति सजीवता की ज्वलन्त मूर्ति है। हमारे कवियों ने 'वनश्री', 'वनलक्ष्मी' या 'वन-देवता की' कल्पना की है और सांख्यसिद्धान्त का आश्रय लेकर सचराचर विश्व में व्याप्त एक प्रकृति का दर्शन तथा उसकी दिव्यता तथा भव्यता सूचित करने के लिए उसे देवी के रूप में अंकित किया है। प्रकृति तथा मनुष्य का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकृति मनुष्य के जीवन को उदात्त, गम्भीर तथा मञ्जुल बनाने में सर्वथा कृतकार्य होती है। इस संसार में मनुष्य अपने सुख तथा दुःख, उल्लास तथा विषाद, उन्नति तथा अवनति के भोगने में अकेला नहीं है। चारों ओर से उसे आवृत कर बाह्य प्रकृति उसके साथ अपनी मार्मिक सहानुभूति प्रकट किया करती है। सुख की संवेदना के अवसर पर प्रकृति में उल्लास के चिह्न प्रकट होते हैं। दुःख के समय प्रकृति प्राकृतिक संकेतों के द्वारा आँसू बहाकर अपना विषाद प्रकट करती है। प्रकृति तथा मनुष्य दोनों का सम्बन्ध इतना प्राचीन तथा मार्मिक है कि मनुष्य प्रकृति के सहयोग तथा सहानुभूति के अभाव में पनप नहीं सकता, उसका जीवन एकांगी बन जाता है तथा वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में कथमपि सफल नहीं होता।

---

१. वही पद्य, ११

कालिदास का 'अभिज्ञानशकुन्तल' नाटक प्रकृति तथा मानव के मञ्जुल सहयोग तथा सामरस्य का मनोहर चित्रण है। उन्हें प्रकृति की साधारण से साधारण वस्तु भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा गम्भीर अर्थपूर्ण दृष्टगत होती थी। कालिदास का सम्पूर्ण साहित्य एक प्रकार से प्रकृति का अमर चित्रण है। शकुन्तला का मादक सौन्दर्य तथा रूपलावण्य प्रकृति के प्रभाव का अमर विलास है। मनुष्यों के प्रति सौहार्दभाव की तथा सहेलियों के साथ सहृदयता की शिक्षा वह लताओं से सीखती है। उसका जीवन ही प्रकृति का कोमल निलास नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं एक खिलने वाली ललित लता है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥

शकुन्तला का लाल होठ किसलयों की लालिमा जैसा स्निग्ध है। सुन्दर भुजायें कोमल शाखा-सी प्रतीत होती हैं और अंग-प्रत्यङ्ग में उमड़ने वाला तारुण्य कुसुम के समान आकर्षक और लुभावना है। फलतः शकुन्तला स्वयं कोमल लता है। अतः प्रकृति के उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति दिखलाने के अवसर पर हमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होता।

शकुन्तला पतिगृह जाने की तैयारी कर रही है। तब प्रकृति उसे अलंकृत करने के लिए स्नेह से आभूषण तथा सजावट के सामान वितरण कर रही है। उसकी बिदाई के अवसर पर महर्षि कण्व, प्रियम्वदा तथा अनुसूया का हृदय ही भावी विरह की आशंका से नहीं रो उठता प्रत्युत तपोवन का हृदय भी विषण्ण तथा शोकोद्विग्न हो जाता है। अपनी संगिनी के वियोग-से दुःखित मृगियाँ कुश के कौर उगल कर चिन्ता में त्रस्त हो जाती हैं। आनन्द के उल्लास में नाचने वाली मयूरी अपना नाचना छोड़ बैठती हैं। लतायें पीले-पीले पत्तों के झड़ने के रूप में आँसुओं की झड़ी बरसा रही हैं। शकुन्तला के प्रयाणमंगल के अवसर पर पितृस्थानीय महर्षि कण्व का गला बँध जाना सहज है, सहेली प्रियम्वदा तथा अनुसूया की भी विह्वलता बोधगम्य है, परन्तु अचेतना बाह्य प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करने वाली प्रकृति की यह मूकवाणी सच्चे सहृदय के अतिरिक्त कौन सुन सकता है? प्रकृति में मानव-वियोग-जन्य यह आलोड़न मार्मिक कवि के अन्तर्चक्षुद्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मनुष्य तथा प्रकृति का यह परस्पर सौहार्द किस रसिक की हृत्तन्त्री को निनादित नहीं करता? कालिदास अपने भावों की अभिव्यक्ति किन मञ्जुल शब्दों में कर रहे हैं—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी ।
अपसृत-पाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥
(शाकुन्तल० ४।११)

प्रकृति=न्याय का प्रतीक

महाकवि भवभूति ने अपने 'उत्तर रामचरित' में 'वासन्ती' नाम से वनदेवता को पात्ररूप में अंकित किया है। सीता के स्निग्ध हृदय की साक्षिणी वासन्ती उनकी अकृत्रिम सुहृद् थी। राम के द्वारा किये गए परित्यागरूपी नृशंस अपराध को सुनकर वह एकदम क्रोध से उद्दीप्त हो उठती है और उन्हें सीता की ओर से इतनी निर्मम उलाहना और कठोर भर्त्सना करती है कि वे उद्विग्न होकर अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं। वासन्ती के उलाहने में इतनी मर्मस्पर्शिनी बातें हैं कि राम का हृदय दुःख तथा आशंका के आघात से काँप उठता है। उन्हें स्वप्न में ख्याल न था कि सीता का न्यायपक्ष लेकर कोई इतनी उग्र भर्त्सना करने का साहस कर सकता था; स्वयं जानकी के भी सामर्थ्य की सीमा उतनी दूर तक नहीं पहुँचती। आखिर वकालत की भी हद होती है। वादी के लिए प्रमाण देने वाला वकील भी सहानुभूति के उद्रेक तथा युक्ति के अतिशय से भी अपराध का इतना मार्मिक शोध नहीं कर सकता, जितना वनदेवी वासन्ती ने जनकनन्दिनी के निमित्त किया है। प्रथमतः वह रामचन्द्र के उस दण्डकारण्य में स्वेच्छया पदार्पण करने पर खूब स्वागत करती है। मधु चुलाने वाले वृक्षों से, पुष्पों तथा फलों के द्वारा अर्घ्य देने की प्रार्थना करतो है। विकसित कमल के सुगन्ध से आमोदित वनानिल से शीतल मन्दरूप से बहने की कामना करती है। रक्तकण्ठ पक्षियों से अविरल अस्फुट मधुर ध्वनि करने की अभ्यर्थना करती है। परन्तु सीता का प्रसंग उठते ही वह रामचन्द्र पर गहरी चोट करने में नहीं चूकती। राम से वह प्राचीन प्रेमकथा की सुध दिलाती हुई स्वयं मूर्च्छित हो जाती है—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ।

तब मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भी एक बार तिलमिला उठते हैं और प्रकृति-रञ्जन की कठोर वेदी पर किये गये इस घोर बलिदान को 'लोको न मृष्यतीति' कहकर प्रजा के सिर मढ़कर स्वयं चुप्पी साध लेते हैं।

वनदेवता का यह चरित्र भवभूति की कोमल कला का विमल विलास है। मनुष्य से अगम्य तथा असाध्य कार्य का सम्पादन कर वनदेवता की मानव-हृदय के साथ गहरी सहानुभूति, एकतानता तथा एकसूत्रता का परिचय बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में चित्रित किया गया है। इस जघन्य कार्य के लिए रामचन्द्र को भर्त्सना करने का घोर कार्य तथा प्रेम और विश्वास की मूर्ति धर्मपत्नी के त्याग के लिए वाग्प्रहार—दण्डप्रहार भले न सही—गुरुजनों की अनुपस्थिति में वनदेवता के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ! भवभूति ने प्रकृति को मानव-जीवन की शोधिकारूप में चित्रित किया है। ये महाकवि प्रकृति के उग्ररूप के ही द्रष्टा तथा वर्णयिता नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृति के अन्तस्तल में विराजमान व्यवस्था, अपराधमार्जना, कालुष्यविभंजना शक्ति के भी विज्ञ विवेचक हैं।

भारतीय विद्वानों ने प्रकृति के भीतर जागरूक रहनेवाली व्यवस्था की ओर आदिमकाल से दृष्टिपात किया है। यह संसार ही व्यवस्था-नटी के और अभिनय तथा नर्तन का विशाल रंगस्थल है। इसकी ही वैदिक ऋषियों की परिभाषा 'ऋत' है। फलतः प्रकृति कहीं भी अव्यवस्था को पनपने नहीं देती, अन्याय को अपनी क्रीड़ा दिखलाने का अवसर नहीं देती। प्रकृति का साम्राज्य न्याय के आधार पर खड़ा है। वह अन्याय का कहीं आश्रय न स्वयं देती है और न आश्रयदाता को क्षमा ही करती है। बड़े से बड़े पुरुष को वह भर्त्सना मार्मिक संकेत करने में नहीं चूकती।

जड़ प्रकृति के भीतर नितान्त उदात्त तथा महनीय तथ्यों का भी संकेत कवि-बुद्धि सदा पाती आ रही है। संस्कृत तथा हिन्दी के महाकवियों ने ऐसे स्थलों का निर्देश 'अन्योक्ति के' रूप में अधिकतर किया है। कवि केले को मस्ती में झूलते देखकर खीझ उठता है कि यह नादान इस तुच्छ सम्पत्ति के ऊपर—कतिपयदिन स्थायी समृद्धि के ऊपर—रीझकर इतने आनन्द से हिलोरे ले रहा है। वह जानता नहीं कि इस क्षणिक सम्पत्ति की बात ही क्या ! उसका समग्र शरीर, सुन्दर सौभाग्यपूर्ण वपु भी एक जनम से अधिक टिकने का नहीं। मनुष्य केले से सुन्दर उपदेश स्वयं लेकर अपने को, अपनी सम्पत्ति को तथा अपने अनुचर वर्ग को निरभिमान रूप से जीवन बिताकर बचा सकता है—

रम्भा झूमत हो कहा थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गए अरु होइहिं एहि खेत॥
अरु होइहिं एहि खेत, मूल लघुसाखा हीने।
ताहू पर गज रहै, दीठि तुम पै प्रति दीने॥
बरनै 'दीनदयाल' हमैं लखि होत अचंभा।
एक जनम कै लागि कहा झुकि झूमत रंभा॥

पण्डितराज जगन्नाथ कुएँ को देखकर उसे सीख दे रहे हैं—भैया कुंआँ 'मैं अत्यन्त नीच हूँ' यह सोचकर कथमपि अपने चित्त को खिन्न मत करो। शायद तुम जानते नहीं हो कि तुम्हारा हृदय अत्यन्त सरस (जलपूर्ण) है और इसीलिए तुम दूसरे लोगों के गुण (रस्सी को) ग्रहण करने में निपुण हो। कूप नीच कुलोत्पन्न, परन्तु अत्यन्त सरस हृदय तथा गुणग्रहीता पुरुषों का प्रतीक है। उसकी सीख गाँठ बाँध लेने पर हम चेतन मानवों का भी विशेष कल्याण सिद्ध हो सकता है—

नितरां नीचोऽस्मीति खेदं कूप! कदापि मा वृथाः।
अत्यन्त-सरस-हृदयो यतः परेषां गुणग्रहीतासि॥

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध (२० अध्याय) में प्रावृड् ऋतु के वर्णन के अवसर पर प्रकृति द्वारा सूचित आध्यात्मिक उपदेशों की कमनीय लड़ी सहृदयों का नितान्त मनोरञ्जन करती है। इसी की छाया गोसाईंजी के वर्षावर्णन में भी स्पष्टरूप से दीख पड़ती है। भागवत में पावस के विविध दृश्यों से श्लाघ्य शिक्षा की ओर, जीवन के सुधार के निमित्त नूतन तात्त्विक उपदेश की ओर, स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं।

पावस ऋतु में आँधी के कारण ऊँची उठती हुई तरंग से युक्त समुद्र नदियों के संगम से क्षुब्ध होने लगा, जैसे कच्चे भोगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के सम्पर्क से क्षुब्ध हो जाता है—

सरिद्भिः संगतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

—भाग० १०।२०।१४

वर्षा की निरन्तर धाराओं के पड़ने पर भी पर्वत व्यथित नहीं होते, जिस प्रकार भगवान् में निविष्ट-चित्त भक्त लोग दुःख पड़ने पर भी व्यथित नहीं होते।

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षज - चेतसः ॥

—वही, श्लो० १५

घासपात की ढेर से ढक जाने के कारण बेमरम्मत रास्तों को देखकर उन पर चलने में सन्देह जान पड़ता था जिस प्रकार ब्राह्मणों के द्वारा अभ्यास न की गईं तथा काल से हत श्रुतियाँ अर्थ समझने में सन्देह उत्पन्न कर देती हैं—

मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।
नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥

(वही, श्लो० १६)

गोसाईंजी भी वर्षाकालीन प्रकृति से इसी प्रकार के सुन्दर तथा उपादेय उपदेश ग्रहण करने में नहीं चूकते—

हरित भूमि तृण संकुल समुझि परै नहि पंथ ।
जिमि पाषंड विवाद ते लुप्त भये सद्ग्रंथ ॥

इस प्रकार प्रकृति के विषय में भारतीय कवियों की भावनायें नाना रूप से उपलब्ध होती हैं । किसी भावुक कवि के लिए प्रकृति स्निग्ध सौन्दर्य के अखिल उपकरणों से सुसज्जित नयनाभिराम सुन्दरी है, तो किसी की दृष्टि में मनुष्यों के रोंगटे खड़े कर देनेवाली, अपनी प्रलयंकरी भयानकता से हृदय को क्षुब्ध कर देनेवाली प्रकृति अपने व्यक्तित्व की छाप से उद्दीप्त नारी है । कोई उसके सौम्यभाव पर मुग्ध है, तो कोई उसकी उग्रता तथा दीप्तता से मण्डित रूप पर नितरां आसक्त है । कोई कवि प्राकृतिक दृश्यों के द्वारा सूचित तथ्यों के निर्देशों की अभिव्यक्ति की ओर आकृष्ट है, तो कोई उसके भीतर ज्वलन्त शक्ति का प्रतीक रूप आत्मा की भव्य झाँकी पाकर अपने को कृतज्ञ समझता है । इन नाना भावनाओं से साक्षात्कृता प्रकृति मनुष्य के साथ इतनी घनिष्ठता से सम्बद्ध है कि दोनों में परस्परोपकार्योपकारक भाव की गहराई गूढ़ दृष्टि से अवलोकनीय तथा माननीय है। अचेतन प्रकृति कविजनों की दृष्टि में चेतन-भावनापन्न एक उपादेय तत्त्व है जिसका प्रभाव मानव के जीवन को सरस, सुखमय तथा उदात्त बनाने के लिए सर्वथा कृत-संकल्प होता है ।

(घ) प्रकृति और मानव

मनुष्य तथा प्रकृति के परस्पर सामञ्जस्य के अतिरिक्त वैषम्य की ओर भी कवियों की दृष्टि स्वतः आकृष्ट हुई है। अंग्रेजी कवियों ने प्रकृति को पदार्थों के समुच्चय रूप में ग्रहण कर मानवजीवन के साथ उसकी तुलना दिखलाई है। प्रकृति सन्तत अपरिवर्तनशील, अपरिणामी, शाश्वत तथा शाश्वतिक है। उसकी अपेक्षा मनुष्य की जीवन-अवधि कितनी न्यून, कितनी क्षणिक तथा कितनी अस्थायी है। महाकवि होमर के कथनानुसार प्रकृति जंगल के वृक्षों के समान अटल तथा स्थायी है और मनुष्य उन पर उगनेवाले तथा थोड़े समय बाद झड़ जानेवाले पत्तों के समान हैं। कवियों की दृष्टि में प्रकृति की तुलना में मानवजीवन की हीनता तथा अस्थायिता ही स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। महाकवि अर्नोल्ड ने प्रकृति के मुख से इस तथ्य का उद्घाटन किया है। मानव समझता है कि वह प्रकृति के समस्त रहस्यों से परिचित है; प्रकृति का प्रयोजन ही मानव-जीवन का अनुरञ्जन तथा यशोवर्धन है, परन्तु मानव धूल में मिल जाता है, मर जाता है, परिवर्तित हो जाता है, परन्तु प्रकृति अखण्ड तथा नित्यभाव से विद्यमान रहती है—

Race after race, man after man,
Have thought that my secrets are theirs,
Have dreamt that I lived for them,
That they were my glory and my joy,
They are dust, they are changed, they are gone!
I remain.

—Arnold

महाकवि टेनिसन ने झरने के झरने में दिव्य सन्देश की वाणी सुनी है कि मनुष्य आते रहते हैं और जाते रहते हैं, परन्तु मैं सदा ही चला करता हूँ, कभी रुकता नहीं—

For men may come and men may go.
But I go on for ever.

टेनिसन की दृष्टि में प्रकृति मनुष्यों को सन्तत गति तथा क्रियाशीलता की शिक्षा देती है। इस प्रकार प्रकृति में आध्यात्मिक तथ्यों की ओर स्पष्ट संकेत का दर्शन कविजनों की अन्तर्दृष्टि सदा किया करती है।

पाश्चात्य साहित्य में भिन्न-भिन्न साहित्यिक-पद्धति के युग में प्रकृति के विषय में भी भावनायें क्रमशः विकसित तथा परिबृंहित उपलब्ध होती हैं। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के जमाने में प्रकृति की भावना ने खूब ही पलटा खाया है। इस युग के सबसे बड़े मार्मिक कवि हैं वर्ड्सवर्थ जिन्होंने प्रकृति को एक अखण्ड तथा सजीव वस्तु मानकर उसका साक्षात्कार किया है। उनके लिए प्रकृति उपदेशों का भण्डार है। मानव-जीवन को सुधारने तथा श्लाघनीय बनाने के लिए एक क्षुद्र पत्ते की भी शिक्षा पर्याप्त है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि वड्सवर्थ के दृष्टिबिन्दु पर फ्रांस के प्रख्यात दार्शनिक रूसो का प्रभाव पड़ा था। फ्रांस में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले तत्त्वचिन्तकों में अन्यतम विद्वान् रूसो की यह धारणा थी कि इस संसार को मनुष्य ने स्वयं बिगाड़ा है अपने ही हाथों। वह उत्पन्न हुआ था स्वतन्त्र, परन्तु सर्वत्र वह जकड़ा हुआ है लोहे की बेड़ियों से। मनुष्य यदि वर्तमान झूठी संस्कृति को छोड़कर प्रकृति के स्वरूप को प्राप्त कर ले तो वह अधिक निर्दोष तथा सुखी होगा। प्रकृति का रूप मानव-द्वारा उत्पादित विकृति के परे होने से नितान्त विशुद्ध, निर्दोष तथा स्निग्ध है। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में यही कल्पना फ्रान्स से इंगलैण्ड में संक्रान्त हुई थी और इसी दृष्टि का काव्यात्मक रूप हमें वड्सवर्थ की कविता में मिलता है।

प्रकृति की आध्यात्मिक व्याख्याएँ कवियों के वैयक्तिक सिद्धान्त तथा रुचि की प्रतीक हैं। वड्सवर्थ की दृष्टि में प्रकृति स्वतः दिव्यरूप है तथा उसके अन्तर्विद्यमान आत्मा के साथ एकता स्थापित कर मनुष्य प्रकृति से एकत्व स्थापित कर अपने जीवन का सुधार कर सकता है। शेली की दृष्टि में प्रकृति उस परमात्मा की एक रहस्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें जगत् के नाना पदार्थ अपना एकत्व स्थापित करते हैं; बायरन को प्रकृति में आनन्द-दायक स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर होती है जिससे मनुष्यों की अवस्था ने उन्हें वञ्चित कर रखा है। इस प्रकार कवि की भावना तथा स्वभाव के कारण प्रकृति के रूपनिर्देश में विशेष भिन्नता, पार्थक्य तथा विभेद दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी साहित्य में ईसाई धर्म तथा यूनानी तत्त्वज्ञान के उपदेशों से संघर्ष के कारण पाश्चात्य कवियों की प्रकृति की अभिव्यक्ति अनेकात्मक प्रतीत होती है। भारतीय साहित्य में इस प्रकार का कोई संघर्ष धर्म तथा साहित्य के क्षेत्र में मूलतः विद्यमान न था। अतः भारतीय भावना पाश्चात्य

भावना से अनेक स्थलों पर विभिन्नता रखती है, यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है।

(ङ) प्रकृति और रस

विचारणीय प्रश्न है कि प्रकृति तथा रस का सम्बन्ध क्या है? प्रकृति क्या किसी विशिष्ट रस के उदय में कृतकार्य होती है? प्रकृति से रसोदय या भावोदय के विषय में आलोचकों में किसी प्रकार की विमति नहीं है, परन्तु विवेच्य विषय यह है कि क्या वह भाव या रस सर्वथा सब परिस्थितियों में एक ही रूप रहता है अथवा नाना भावों या नाना रसों का उद्गम परिस्थिति की अनुकूलता तथा विषमता के कारण हुआ करता है।

इस विषय की मार्मिक मीमांसा हमारे अलंकार-ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं होता जो विभाव का रूप धारण कर रस का अंग नहीं बन जाता। रस आदि चित्तवृत्ति-विशेष ही तो हैं। ऐसी दशा में उस पदार्थ का सर्वथा अभाव है जो किसी विशिष्ट चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता अर्थात् जगत् का क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थ, महान् से महान् पदार्थ द्रष्टा के हृदय में किसी विशिष्ट वृत्ति को अवश्यमेव उत्पन्न करता है। यदि वह किसी चित्तवृत्ति का उत्पादन नहीं करता, तो कवि का विषय ही नहीं बन सकता[1]।

प्रकृतिगत पदार्थ इस नियम के अपवाद नहीं हैं। सुतरां वे भी द्रष्टा के हृदय में किसी विशिष्ट वृत्ति के उत्पादन की क्षमता रखते हैं। आनन्दवर्धन ने इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से दिखाया है—

भावान् अचेतनानपि चेतनवत् चेतनान् अचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

वस्तु-निर्देश के विषय में कवि किसी का दास नहीं होता। वह तो अपने काव्यराज का सम्राट् ठहरा। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से वह अचेतन-भावों को चेतन के समान दिखलाता है एवं चेतन पदार्थों को अचेतन के

१. वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वा अंगत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्ति-विशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्ति-विशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्।

—ध्वन्यालोक पृ० ४९५

सदृश व्यवहार करने वाला प्रदर्शित करता है। आनन्दवर्धन के इस मान्य कथन का यही तात्पर्य है:—

बाह्य प्रकृति में स्वतः किसी विशिष्ट भाव की सत्ता नहीं होती। कवि ही अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार उसमें परिस्थिति के अनुकूल भावों का आरोप किया करता है।

संस्कृत के भावुक कवियों के प्रकृतिवर्णन आनन्दवर्धन के नियम के साक्षात् परिचायक हैं। मेघदूत के विरहविधुर यक्ष की दृष्टि में निर्विन्ध्या नदी वियोगसन्तप्ता नायिका के समान अपना दयनीय जीवन बिता रही है—वियोग की आग में झुलसी हुई नायिका के समान नायक मेघ के सौभाग्य की सूचना दे रही है:—

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया – तटरुह – तरुभ्रंशिभिर्जीर्णपत्रैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥

—मेघदूत पूर्वभाग, श्लोक २९

[देखो, निर्विन्ध्या नदी की धारा तुम्हारे बिछोह में चोटी के समान पतली हो गई होगी और तीर के वृक्षों के पीले पत्ते झड़-झड़कर गिरने से उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा। इस प्रकार हे बड़भागी मेघ! अपनी यह वियोग की दशा दिखाकर वह यही बता रही होगी कि मैं तुम्हारे वियोग में सूखी जा रही हूँ। देखो! तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारी का दुबलापन दूर हो जाय अर्थात् जल बरसा कर उसे भर देना॥]

अतः अचेतन पदार्थ विभाव का अंग बनकर रस का उदय कराता है अथवा चेतन वृत्तान्त की योजना करने पर रस का अंग बनता है।

प्रकृति और भाव

बाह्य वस्तु का प्रथम प्रभाव पड़ता है कवि के चित्त पर। वह उसके निरीक्षण में तन्मय होकर अपने चित्त में एक विशिष्ट वृत्ति का उदय कराता है। यह हुआ कवि चित्त में रस-संचार। इसी का परिणत फल होता है रसमय काव्य की सृष्टि जो सामाजिकों के हृदय को स्पर्श कर सामाजिक रस की उद्भावना में कृत कार्य बनती है अतः कवि-रस की परिणति होती है

सामाजिक रस में। अब प्रकृति के पदार्थ अनेक रसों के उद्गम के कारण बनते हैं। प्राणियों की वृत्तिविशेष के अनुसार ही प्रकृति अपनी लीला दिखाकर नाना रसों अथवा भावों का विलास प्रकट करती है। सान्ध्य समीरण के झोंके से झुकी हुई, रंगीन पुष्पों के भार से लदी हुई लतायें कामुकों के हृदय में शृंगार रस उत्पन्न करती हैं और प्रपञ्च से पराङ्मुख विषयासक्ति से विहीन मानव के चित्त में वैराग्य उत्पन्न करने में सहायक बन शान्त रस का आविर्भाव करती हैं। अतः सब से अधिक विचारणीय वस्तु जो प्राकृत दृश्यों के ऊपर अपनी भावना का आरोप किया करती है मानव चित्त ही है।

प्रकृति के स्पर्श से कविचित्त में कौन-सा भाव उठेगा, यह प्रधानतया अवलम्बित होता है कवि की तत्कालीन चित्तावस्था (या mood मूड) पर। इस विषय में मनोवैज्ञानिक विद्वान् मिचेल का यह कथन मनन करने योग्य है—Whether we see the same sunlit sky to be smiling frankly or in treachery is a matter of our mood.[१] सूर्य से उद्भासित समुद्र के ऊपर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो वह सरलभाव से अथवा कपटभाव से मुसकाता दीख पड़ता है, यह सब हमारी मानसिक अवस्था का एक विशिष्ट व्यापार होता है।

प्रकृति की एकात्मिका आकृति दर्शकों की चित्तवृत्ति की भिन्नता के कारण नाना रूप धारण करती है। रजनी की एकान्तता में जोर से बहनेवाली हवा का स्पर्श किसी प्राणी के चित्त में भय का संचार करता है, किसी के हृदय में शान्ति का भाव उत्पन्न करता है, किसी के मानस-पटल पर प्रकृति की दिव्य वाणी का रूप अंकित करता है। वायु के प्रवाह का रूप एक ही प्रकार का होता है। प्रकृति न तो स्वतः भय का संचरण करती है और न स्वतः शान्ति का उद्गम करती है। यह अनुभवकर्ता की चित्तवृत्ति का ही वैषम्य है जो उसे नाना रूपों में अंकित करता है।

प्रकृति और हेगल

प्रसिद्ध दार्शनिक हेगल की दृष्टि भी प्रकृति की इसी रूप में प्रतीति करती है। उनका कथन है कि कविता का उदात्ततम विषय मानव प्राणी है, क्योंकि उसके भीतर मनस्तत्त्व का अधिष्ठान है। वही किसी विषय को अपनी मानसिक

---

१. Mitchell: Structure and Growth of the mind p. 173.

शक्ति के बल पर समझता है, बूझता है तथा उसे सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करता है। इतर प्राणी उसकी अपेक्षा निम्न श्रेणी के होते हैं, क्योंकि उनका मस्तिष्क अपरिपक्व रहता है, परन्तु प्रकृति की अपेक्षा वे भी रमणीय, अधिक घनिष्ठ तथा सुन्दर होते हैं। प्रकृति इनकी अपेक्षा हीन श्रेणी की होती है, क्योंकि उसमें आरोपित सौन्दर्य होता है और काव्यकला के कारण ही उसमें चित्ताभास की सत्ता रहती है।

प्रकृति और वर्ड्सवर्थ

यह तो हुआ पाश्चात्य दार्शनिकों का एक पक्ष। दूसरा पक्ष वर्ड्सवर्थ, रस्किन आदि अंग्रेजी कवियों के द्वारा अंगीकृत किया गया है। विशेषतः कविवर वर्ड्सवर्थ प्रकृति को जीवनी शक्ति से सम्पन्न मानते थे। प्रकृति जड़ पदार्थों का एक अनगढ़ जमघट नहीं है, प्रत्युत उसके भीतर चैतन्य शक्ति वर्तमान रहती है—उसके भीतर आत्मा का निवास है। प्रकृति-वर्णन में वर्ड्सवर्थ का यह वैशिष्ट्य है कि वे प्रकृति में हेगेल के समान आरोपित चैतन्य एवं आरोपित सौन्दर्य की सत्ता अंगीकार नहीं करते, प्रत्युत प्रकृति शाश्वत सौन्दर्य तथा वास्तव चैतन्य की अधिष्ठात्री देवी है। गिरि-नदी-वृक्ष से संवलित प्रकृति में एक अखण्ड आत्मा का अधिष्ठान है, कवि की चित्तवृत्ति प्रकृति के ऊपर आरोपित नहीं होती, प्रत्युत प्रकृति अपने विशिष्ट भाव से कविचित्त को भावाप्लुत करती है—

From Nature and her overflowing soul
I have received so much, that all my thoughts
Were steeped in feeling; I was only then
Contented, when with bliss ineffable
I felt the sentiment of Being spread
Over all that moves and all that seemeth still.

The Prelude, II, 397-402

कवि का आशय है—

प्रकृति से एवं उसके सर्वत्र उल्लसित आत्मा से मैंने इतना अधिक प्राप्त किया है कि हमारे समस्त विचार भावना से सिक्त हो गए हैं, जब एक अवर्णनीय दिव्य आनन्द से मैंने अनुभव किया कि एक भावमयी सत्ता समस्त वस्तुओं के ऊपर—जो कुछ चलायमान है और जो कुछ स्तब्धप्राय प्रतीत होती है—फैली हुई है उसी समय मैं केवल सन्तुष्ट हुआ।

भारतीय साहित्य के महनीय कवियों ने प्रकृति के भीतर एक दिव्य चैतन्य का भव्य दर्शन किया है। प्रकृति दार्शनिक दृष्टि से भले ही जड़, आत्म-विहीन पदार्थ प्रतीत हो, परन्तु कवियों की अन्तर्दृष्टि प्रकृति के भीतर एक दिव्य चैतन्यालोक का साक्षात्कार करती है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पारखी थे। उन्होंने प्रकृति के भीतर हृदय स्पन्दन का स्वयं अनुभव किया था तथा उनका भी हृदय इसी स्पन्दन के आश्रय में स्पन्दित, आन्दोलित तथा उद्वेलित हुआ था। उनका प्रकृति-वर्णन इसका साक्षात् प्रमाण है।

इस प्रकार प्रकृति के रूप के विषय में वैषम्य तथा विमति होने पर भी आलोचकों की दृष्टि में प्रकृति किसी एक रस का आलम्बन तथा साधना बनने की क्षमता से सर्वथा वञ्चित है। दर्शक की चित्त-वृत्ति की विषमता के कारण वह नाना रसों तथा भावों का उदय सम्पादित करती है।

१३—काव्य में प्रेम-भावना

मानव-हृदय की अत्यन्त कोमल वृत्ति का नाम है प्रेम। मानव-जीवन में इसका जितना व्यापक प्रभाव है, काव्य-जगत् में उतना ही इसका अधिक सत्कार है। मानव ही क्यों, प्राणिमात्र में इसका विशाल साम्राज्य है। हृदय को स्निग्ध बनाने का यह परम उपादेय साधन है। अतः मानव-जीवन को अपने काव्यों में चित्रित करनेवाले कविजन सब भुला सकते हैं, परन्तु प्रेम को कभी भी नहीं भुला सकते। प्रेम की गाथा गाने-वाले कवियों की गणना कविमण्डली में सब से अधिक है। चाहे पाश्चात्य साहित्य की समीक्षा की जाय, अथवा प्राच्य साहित्य का अनुशीलन किया जाय, प्रेम की महिमा का सर्वत्र प्रचुर प्रचार दृष्टिगोचर होता है।

हमारे साहित्य के महारथी कविगण प्रेम की प्रशस्ति में किसि भी साहित्य के कवियों से पीछे नहीं हैं। उन्होंने जो प्रेम का रूप दिखलाया है, वह नितान्त निखरा हुआ, विशुद्ध तथा निष्कलंक है। प्रेम के सच्चे रूप की जानकारी के लिए हमें उसे 'काम' से पृथक् करना होगा। काम भी हृदय की ही वृत्ति है, और एक प्रमुख वृत्ति है, परन्तु दोनों की कल्पना में जमीन-आसमान का अन्तर है। स्वार्थ की भावना से उद्बुद्ध वृत्ति की संज्ञा है—काम। काम को आश्रय देनेवाला व्यक्ति कभी परमार्थ की ओर देखता नहीं, वह हमेशा अपने ही क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहता है—वह इस बातपर कभी ध्यान ही नहीं देता कि उसके आचरण का प्रभाव लोगों पर कैसा पड़ता है। वह सदा अपने में ही केन्द्रित रहता है। उउका 'स्व' नितान्त क्षुद्र होता है। वह उसी तक सीमित रहता है। इसके विपरीत 'प्रेम' बड़ी ही उदात्त तथा उदार वृत्ति है। प्रेम कभो स्वार्थमूलक नहीं होता। प्रेम का पुजारी अपने हृदयमन्दिर में अपने इष्टदेव की उपासना में ही सदा अनुरक्त रहता है। उसकी पूजा का होता है एक आधार, उसकी कामना का होता है एक आलम्बन, उसकी अभिलाषा का होता है एक आश्रय। वह अपना व्यक्तित्व अपने आराध्य में मिटा देता है। अपने इष्टदेव के सामने नतमस्तक होकर वह अपना अस्तित्व ही मिटाये बैठा रहता है। चैतन्य चरितामृत में भक्तप्रवर कृष्णदास गोस्वामी ने इन दोनों वृत्तियों का पार्थक्य बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त

किया है कि सांसारिक वस्तुओं में जो हमारी अभिलाषा लगी रहती है वह तो होती है काम, और भगवान् अखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द में जो हमारी हार्दिक वृत्ति लगी रहती है उसीका नाम है—प्रेम। काम बन्धन का साधन है, तो प्रेम मोक्ष का उपाय है।

गृहस्थ धर्म

भारतीय धर्म के अनुसार गृहस्थाश्रम भगवत्प्राप्ति के लिये साधन-भूमि है, भोग-भूमि नहीं। जो व्यक्ति गार्हस्थ्य-जीवन को 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, वाली चार्वाक-शिक्षा का आधारस्तम्भ मानकर भोग-भूमि मानते हैं, वे वास्तविकता से बहुत दूर हैं। पाश्चात्य तथा भारतीय विवाह की कल्पना में यही तो प्रधान अन्तर है। पश्चिमी जगत् विवाह को भोग का साधन मानता है, भारतीय संसार विवाह को त्याग का उपाय स्वीकार करता है। पश्चिम में विवाह परिस्थितिवश एकत्र होनेवाले स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्ध की सिद्धि के निमित्त अल्पकाल स्थायी एक सामाजिक ठीका (कण्ट्रैक्ट) है। भारतवर्ष में विवाह समान मानसिक विकासवाले स्त्री-पुरुषों को अभेद्य बन्धन में बाँधनेवाला हृदय का हृदय से गठबंधन है। यह कभी छिन्न-भिन्न नहीं होने वाला सम्बन्ध है। पाश्चात्यों की तरह यह सौदा पटाना नहीं है, प्रत्युत स्त्री-पुरुष के आध्यात्मिक विकास की प्रमुख शृंखला है। गार्हस्थ्य-जीवन के ऊपर ही विशाल संस्कृति अवलम्बित है। हमारी सभ्यता में इसीलिए गृहस्थाश्रम की भूयसी प्रशंसा उपलब्ध होती है। भगवान् मनु ने मानव-समाज के पोषक गृहस्थाश्रम की उपमा विश्व को धारण करनेवाले वायु के साथ दी है :—

> यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व-जन्तवः।
> तथा गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
>
> —मनुस्मृति ३।७७

इस गृहस्थाश्रम का चित्रण हमारे कवियों ने बड़ी ही सुन्दर शब्द तूलिका से किया है। उनका चित्रण जितना आकर्षक है उतना ही यथार्थ भी है। उन्होंने गृहस्थ-धर्म का मूल मन्त्र 'काम' को नहीं माना है, 'प्रेम' को माना है; और गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता की कुंजी है यही प्रेम। बिना काम का बलि-दान किये, स्वार्थमूलक भावना का बिना उच्छेद किये, अखण्ड तथा अनन्त सुख की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती। मदनदहन होने पर ही पार्वती शिव का सुखद समागम सम्पन्न होता है। मदन का बिना दाह किये जगत् के

जनकरूप शंकर का मिलन जननीरूपा पार्वती से कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। स्वार्थमूलक कामवासना का ही नाम है—मदन। मृत्यु के गर्त्त में ले जाने के कारण ही वह बौद्ध जगत् में 'मार' कहलाता है। बिना मार पर विजय प्राप्त किये कोई भी व्यक्ति ज्ञानी नहीं बन सकता। गौतम मार-विजय के अनन्तर ही बोधि प्राप्त कर गौतम बुद्ध बने थे। इस कथन का अभिप्राय यही है कि आध्यात्मिक जगत् में उन्नति के बाधक मार का जो स्थान है, वही स्थान भौतिक जगत् में उन्नति के निरोधक मदन का है। बिना इस बाधा को मार्ग से दूर हटाये, इस प्रतिकल व्यक्ति का बिना विनाश किये, उपयुक्त उन्नति दुर्लभ है। इसीलिए हमारे साहित्य में कविगण गार्हस्थ्य-जीवन को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की एक आवश्यक शृङ्खला समझते हैं। उसके नियमों का पूर्णतः पालन होने पर ही मनुष्य वास्तविक उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। यही है भोग में त्याग की भावना, स्वार्थ और परमार्थ का सामंजस्य, क्षुद्र तथा महत्तम का समन्वय।

इस जीवन को सुखमय बनाने के लिए धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थों का सामंजस्य स्थापित रहना नितान्त आवश्यक होता है—

धर्मार्थकामा सममेव सेव्याः
यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः।

इस त्रिवर्ग में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। कालिदास ने अपने कुमार सम्भव में धर्म ही पर आग्रह दिखलाया है—त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि (कुमार० ५।३८)। परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वच्छन्द सत्ता स्थापित करने के लिए धर्म के साथ सदा संघर्ष किया करते हैं। अर्थ धर्म को दबाकर समस्त विश्व को कौड़ी की क्रीड़ा का कौतुकी बनाना चाहता है। काम धर्म को परास्त कर समस्त जगत् को अपना अनन्य भक्त बनाना चाहता है। ऐसी दशा में धर्म के साथ इनका घोर संघर्ष होना स्वाभाविक है।

धर्म और काम

हमारे कवियों ने इस संघर्ष की कठोरता दिखला कर धर्म की विजय-वैजयन्ती फहराने का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। कवि का काम केवल दिन-प्रतिदिन घटनेवाली सामान्य घटनाओं का अंकन ही नहीं है, उसका उदात्त कर्तव्य है उस आदर्श का अंकन जो मानव मात्र के कल्याण का साधन

बन कर भूतल को सौख्यसम्पन्न तथा शान्तिभूषित स्वर्ग के रूप में परिणत कर देता है। यह तभी सम्भव है जब धर्म की प्रबलता अर्थ तथा काम के ऊपर स्थापित होती है। बिना धार्मिक भावना के मानव अर्थ लोलुप बन जाता है तथा धर्मवृत्ति के अभाव में मनुष्य मनुष्य न होकर नरपशु बन जाता है। अतः धर्म तथा काम, दोनों की धर्म के साथ सामंजस्य में ही चरितार्थता है। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ (गीता, ७ । १४) गीता के इस माननीय वाक्य का यही रहस्य है—मानव-जीवन के साफल्य का मूलमन्त्र है काम का धर्म से अविरोध, काम की प्रेम रूप में परिणति।

मदन-दहन का रहस्य

संस्कृत के कवियों ने इस परिणति की मधुरिमा अपने काव्यों में बड़ी सुन्दरता से दिखलायी है। कालिदास के कुमार सम्भव में वर्णित मदन-दहन का यही तात्पर्य है। मदन चाहता था कि पार्वती के सुन्दर रूप का आश्रय लेकर समाधिनिरत शंकर के ऊपर चोट करें—उन्हें समाधि से विरत करें। प्रकृति में वसन्त का उदय होता है। झूमती लताएँ झूल-झूलकर पेड़ों से अपना प्रेम जताने लगती हैं। एक ही कुसुमपात्र में बैठी हुई भ्रमरी अपने वल्लभ के साथ मधुपान करती हुई मतवाली बन जाती है। मदन व्याधि के समान विश्व को त्रस्त बना डालता है। इतना ही यदि होता तो कोई विशेष चिन्ता की बात न थी, परन्तु उसका तो हौसला बढ़ जाता है। वह शंकर के ऊपर आक्रमण कर बैठता है। जगत् के आत्यन्तिक मंगल तथा कल्याण का ही तो नाम है "शंकर"। मदन इसी शंकर को परास्त कर जगत् को अपना अन्ध अनुयायी बनाना चाहता था। शंकर के धैर्य का बाँध दह गया। उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोलकर काम की ओर देखा। देखते ही वह राख का एक स्तूपाकार ढेर बन गया।

इस कथानक के आध्यात्मिक पक्षपर ध्यान देने की आवश्यकता है। काम सर्वत्र विश्व भर में अपनी प्रभुता चाहता है। वह कल्याण तथा मंगल के प्रतिनिधि पर भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है विश्वकल्याण पर अपना मोहक बाण छोड़ता है, परन्तु फल होता है एकदम उलटा। शंकर का ललाटस्थित तृतीय नेत्र है 'ज्ञान-नेत्र'। यह प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान रहता है। वह सदा वर्तमान रहता है, परन्तु रहता है प्रसुप्त। इसीलिए हमें इसके अस्तित्व का भान नहीं होता। शंकर का यह नेत्र जाग्रत् दशा में रहता है। इसी ज्ञान की ज्वाला में काम का हवन होता है। धर्म से विरोध

करनेवाला काम भस्म की राशि बन जाता है। कालिदास के इस रूप का यही रहस्य है कि विश्व का कल्याण मदन की उपासना में नहीं, प्रत्युत उसके धर्मविरोधी रूप के दबान में ही है। काम की चिंता से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। काम का विलय प्रेम के उदय का सहज मार्ग है। गार्हस्थ्य जीवन की सफलता की कुंजी धर्म विरोधी, स्वार्थमूलक काम नहीं है, प्रत्युत धर्माविरोधी, परार्थनिरत प्रेम है।

मेघदूत की आध्यात्मिकता

मेघदूत में भी कालिदास ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। धर्म और काम का संघर्ष इसका प्रमुख विषय है। यक्ष धनराज कुबेर का सेवक है। उसका जीवन स्वामी की सेवा में समर्पित है। उसका सर्वात्मना सेवाविधान उसका जीवन का मूल मन्त्र है, परन्तु वह अपनी नवोढ़ा के प्रेमपाश में बँधकर अपने कर्म से च्युत हो जाता है। अपने धर्म का पूर्ण निर्वाह उससे नहीं हो पाता। काम उसकी धर्म-भावना को पछाड़ डालता है। वह "स्वाधिकारात् प्रमत्तः" बन जाता है—अपने अधिकार से नितान्त च्युत हो जाता है। इसीलिए उसे अपने स्वामी के कोप तथा शाप का भाजन बनना पड़ता है। उसे अपनी जन्मभूमि अलकापुरी का, हिमधवल-कैलास का, सहृदय स्वजनों का, तथा सबसे बढ़ कर अपनी रूपयौवनसम्पन्ना कामवशगा प्रेयसी का वर्षभर के लिए परित्याग करना पड़ता है। और वह शाप का समय बिताना पड़ता है कहाँ! भोगभूमि से हटकर कर्मभूमि भारतवर्ष में और उसमें भी 'जनकतनया-स्नानपुण्योदकेषु रामगिर्याश्रमेषु' पर उसे निवास करना पड़ता है। कालिदास ने यक्ष के लिए बड़ा ही समुचित स्थान ढूँढ़ निकाला है।

संस्कार के अनुरूप ही स्थान का चुनाव आवश्यक होता है। गृहस्थ-धर्म में अपराधी सिद्ध होनेवाले यक्ष के चित्त-शोधन तथा चित्त-संस्कार के लिए वही स्थान चुना जा सकता है जहाँ रह कर वह अपनी त्रुटियों का मार्जन कर सके और वह अपने को सन्मार्ग पर ला सके। स्थान चुना गया है रामगिरि के आश्रम में, जहाँ का जल जनकनन्दिनी श्रीजानकी के स्नान करने से परम पवित्र हो गया है। राम तथा सीता गार्हस्थ्य-प्रेम के पावन प्रतीक ठहरे, वे शील तथा सौन्दर्य की महिमा से उद्दीप्त होनेवाले विशुद्ध प्रेम के प्रतिनिधि थे अतः कालिदास ने यक्ष को राम-सीता के संसर्ग से पवित्र हुए आश्रम में लाकर बिठा दिया है। सीता जनक की तनया हैं—उस

जनक की वह दुहिता हैं जिन्होंने भोग तथा योग दोनों का जीवन में मधुर सामंजस्य उपस्थित किया था, जो भगवद्गीता के अनुसार राजर्षि थे। अतः सीता स्वयं धर्म तथा प्रेम की मधुर मूर्ति थीं। उनका जीवन स्वार्थत्याग की विपुल परम्परा का केन्द्र था। अतः सीता के स्नान से सम्बन्धित जल स्वयं पवित्र था तथा दूसरों को पवित्र बनाने की क्षमता रखता था। शिक्षा का स्थान बड़ा ही सुन्दर था। यहाँ के निवास ने यक्ष के ऊपर अतुल प्रभाव भी डाला। वह अब नितान्त विशुद्ध चरित्रवाला प्रेमी बन गया। इसका संकेत स्वयं कालिदास ने किया है:—

> शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
> शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
> पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
> निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥
>
> —उत्तर मेघ, श्लोक ४३

अर्थात्, जब भगवान् शार्ङ्गपाणि विष्णु अपनी शेषशय्या से उठेंगे तब हमारे शाप का अन्त होगा। बाकी बचे चार महीनों को आँख मीचकर बिता डालेंगे। शाप की समाप्ति पर हम-तुम दोनों विरहकाल में गुनी गयी अपनी-अपनी अभिलाषाओं को शरद् की चन्द्रिका से चमकनेवाली रातों में भोगेंगे। 'परिणतक्षपा' का उल्लेख इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि यक्ष के चरित्र में सुधार हो गया है और वह अब रात में ही—दिन में नहीं—अपने मनोरथ को पूर्ण चरितार्थ करने का अभिलाषी है। अब वह अपराधी, अधिकारप्रमत्त, कामी यक्ष नहीं है, प्रत्युत वह विशुद्ध धर्मानुयायी प्रेमी है। उक्त शब्द इसी सुधार तथा शोधन की ओर संकेत करते हैं।

भवभूति—प्रेमभावना

भवभूति भी प्रेम के उपासक कवि थे। उन्होंने अपने समस्त नाटकों में विशुद्ध प्रेम की गरिमा के मनोरम गीत गाये हैं। उनके नायक नायिका प्रेममार्ग के प्रवीण पथिक हैं। प्रेमी केवल अपने सौख्य से ही अपने प्रेमी का सौख्य-सम्पादन करता है। स्वयं निरीह तथा कामनारहित होकर भी वह अपने सुखद अवस्थानमात्र से अपने स्नेही के हृदय में स्नेह की तरंगें उछालने लगता है। भवभूति का कथन कितना सटीक तथा समुचित है:—

अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तद् तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ।।

—उत्तररामचरित ।

अर्थात्, जो जिसका प्रियजन होता है, वह उसके लिए अनिर्वचनीय वस्तु (किमपि द्रव्यं) होता है, ऐसी वस्तु जिसका शब्दों के माध्यम द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, जो केवल अनुभव के ही द्वारा बोधगम्य होती है। सचमुच प्रिय का मूल्य आँकना सब किसी का काम नहीं। प्रेमी की स्नेहभरी आँखों से निरखने पर ही प्रेमी के वास्तविक रूप की झलक मिलती है तथा उसके कोमल हृदय से अनुभव करने पर ही प्रेमी की सच्ची रसात्मिका वृत्ति का परिचय मिलता है। भवभूति के कथन का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

सच्चे प्रेम की कल्पना में कालिदास तथा भवभूति एकमत हैं। कुछ अनजान लोग, जो प्रेम की महिमा से सर्वथा अपरिचित होते हैं, कहते हैं कि विदेश में रहने से प्रेम नष्ट हो जाता है—"मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् स्नेहः प्रवासाश्रयात् ।" ये महानुभाव संयोग को ही स्नेह का एकमात्र पोषक मानते हैं, परन्तु कालिदास की अनुभूति कुछ और ही है। वे कहते हैं—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात् ।
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः स्नेहराशीभवन्ति ।।

उत्तरमेघ श्लो० ५५ ।

अर्थात्, घटने की तो बात दूर रहे, वियोग में स्नेह बढ़ता है। कारण यह है कि वियोग में स्नेह के रस का आस्वादन तो होता नहीं; और आस्वादन से ही कोई वस्तु घटती है। अतः वियोग में रस एकत्र होते-होते एक महान् राशि बन जाता है। सच तो यह है कि संयोग में ही आस्वाद लिये जाने के कारण स्नेह घटता-सा प्रतीत होता है। यदि संयोग में प्रेमी एक व्यक्ति के रूप में झलकता है, तो वियोग में वह सर्वत्र दीख पड़ता है। संयोग में द्वैतावस्था बनी रहती है। वियोग में पूर्ण अद्वैत का भान होता है। अतः सच्चे स्नेह के उपचय की दृष्टि से संयोग की अपेक्षा वियोग श्लाघ्यतर अवस्था होता है।

भवभूति की भी प्रेमभावना बड़ी उदात्त तथा उदार है। उनकी मान्यता बड़ी मार्मिक है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

—उत्तररामचरित १।३९।

अर्थात्, सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख, दोनों दशाओं में अद्वैत, एक-रस रहता है। वह प्रत्येक दशा के अनुकूल होता है। हृदय को पूर्ण विश्राम मिलता है। बुढ़ापा उसके आनन्द को हरण नहीं कर सकता। समय बीतने से जब बाहरी आवरण हट जाते हैं, तो वह स्नेह का सार बन जाता है। ऐसा कल्याणकारी प्रेम सचमुच एक श्लाघनीय पदार्थ होता है और इसको पाने-वाला व्यक्ति भी सचमुच धन्य होता है।

कालिदास और भवभूति, दोनों ही कवि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की प्रतिभा के चिर ऋणी हैं। वे इनके काव्य के रसिक अनुशीलनकर्ता हैं। प्रेम को भव्य भावना का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण है। सीता और राम के स्निग्ध स्नेह की गरिमा से वह सिक्त है। इन दोनों पात्रों का प्रेम कितना पवित्र, कितना उदात्त, कितना उदार तथा कितना मधुर था, इसके लिए वाल्मीकि रामायण की पंक्ति-पंक्ति साक्ष्य है। साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। हमारे संस्कृत-काव्यों में प्रेम की वह भव्य स्निग्ध मूर्ति उपलब्ध होती है जिससे स्पष्ट है कि भारतीय समाज सदा विशुद्ध स्नेह का उपासक रहा है—उदात्त प्रेम की आराधना ही हमारे समाज का एकमात्र व्रत रहा है।

हमारी संस्कृति विश्व के रंगमंच पर अपना भव्य रूप दिखलाती है। उनकी वाणी राष्ट्रीय भाव तथा भावना से ओतप्रोत है। इतिहास साक्षी है, इसी महाकवि ने आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले, जब भारत पाश्चात्य जगत् के सम्पर्क में प्रथम बार आया, तब इस देश के सरस हृदय, कोमल वाणी तथा उदात्त भावना का प्रथम परिचय पाश्चात्य संसार को दिया। आज भी हम इस महाकवि की वाणी से स्फूर्ति तथा प्रेरणा पाकर अपने समाज को सुधार सकते हैं तथा अपना वैयक्तिक कल्याण सम्पन्न कर सकते हैं।

कालिदास ने अखण्ड भारतीय राष्ट्र की स्तुति की है अभिज्ञानशाकुन्तल की नांदी में कविवर ने शंकर की अष्टमूर्तियों का उल्लेख किया है। कुमार-सम्भव (६।२६) में भी इन्हीं मूर्तियों का विस्तार कर जगत् के रक्षण-कार्य का स्पष्ट संकेत है। अष्टमूर्ति शंकर की उपासना कालिदास को अत्यंत प्रिय थी। इसमें एक रहस्य है। महादेव की आठ मूर्तियाँ ये हैं—सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। ये समस्त मूर्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। अतः इन प्रत्यक्ष मूर्तियों को धारण करने वाले इस जगत् के चेतन नियामक की सत्ता में किसी को संदेह करने का अवकाश नहीं है। कालिदास वैदिकधर्म तथा संस्कृति के प्रतिनिधि ठहरे। 'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतुवस्ताभिरष्टाभिरीशः'—इन शब्दों में वैदिक कवि ने निरीश्वरवादी बौद्धों को कड़ी चुनौती दी है। भगवान् की प्रत्यक्ष-दृश्य मूर्तियों में अविश्वास रखना किसी भी चक्षुष्मान् को शोभा नहीं देता।

इतना ही नहीं, इस श्लोक में भारत की एकता तथा अखण्डता की ओर भी संकेत किया गया है। शिव की इन मूर्तियों के तीर्थ इस देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैले हुए हैं। सूर्य प्रत्यक्ष देवता हैं। चन्द्रमूर्ति की प्रतिष्ठा दो तीर्थों में है—एक है भारत के पश्चिम में काठियावाड़ का सोमनाथ और दूसरा है भारत के पूरब में बंगाल का चन्द्रनाथ क्षेत्र। सोमनाथ का प्रसिद्ध तीर्थ प्रभासक्षेत्र में है और चन्द्रनाथ का मन्दिर चटगाँव से लगभग चालीस मील उत्तर-पूर्व में एक पर्वत पर स्थित है। नेपाल के पशुपतिनाथ मानुषी विग्रह के रूप में विराजमान हैं। पञ्चतत्त्वों की सूचक मूर्तियों के क्षेत्र दक्षिण-भारत में विद्यमान हैं। क्षिति लिंग शिवकांची में एकाम्रेश्वरनाथ के रूप में है। जललिंग जम्बुकेश्वर के शिव-मन्दिर में मिलता है। तेजोलिंग अरुणाचल पर है। वायुलिंग कालहस्तीश्वर के नाम से विख्यात है, जो दक्षिण के तिरुपति बालाजी के कुछ ही उत्तर में है। आकाशलिंग

चिदम्बर के मन्दिर में है। 'चिदम्बर' का अर्थ ही है 'चिदाकाश'। इसी से मुख्य मन्दिर में कोई मूर्ति नहीं है क्योंकि आकाश स्वयं मूर्तिहीन ठहरा।

इस प्रकार भगवान् चन्द्रमौलीश्वर की ये आठों मूर्तियाँ भारत के सबसे उत्तरीय भाग नेपाल से लेकर दक्षिण चिदम्बर तक तथा काठियावाड़ से लेकर बंगाल तक फैली हुई हैं और इनकी उपासना का अर्थ है, समग्र भारतवर्ष की आध्यात्मिक एकता की उपासना। महाकवि ने राष्ट्रीय एकता की ओर इस श्लोक में गूढ़ रूप से संकेत किया है।

राष्ट्र का मंगल किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? क्षात्र बल तथा ब्राह्म तेज के परस्पर सहयोग से ही किसी देश का वास्तव कल्याण हो सकता है। ब्राह्मण देश के मस्तिष्क हैं, उन्हीं के विचार तथा मार्ग पर समग्र देश आगे बढ़ता है। क्षत्रिय राष्ट्र के विजयी बाहु हैं, जिनकी संरक्षता में राष्ट्र पनपता है। मस्तिष्क और बाहु के इस परस्पर सम्पर्क तथा साहाय्य का माहात्म्य वैदिक ग्रन्थों ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है। सम्राट् त्रैवृष्ण त्र्यरुण और महर्षि वृश-जान के आख्यान का यही रहस्य है। कालिदास ने इस तत्त्व का स्पष्टीकरण बड़े सुन्दर शब्दों में किया है:—

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा॥

—रघु० ८।४।

अथर्ववेद के जानने वाले गुरु (वशिष्ठ) के द्वारा संस्कार कर दिये जाने पर महाराज अज शत्रुओं के लिये और भी दुर्द्धर्ष हो गया। ठीक ही है, शस्त्र-तेज से युक्त होने पर ब्रह्म-तेज आग-हवा के संयोग के समान प्रदीप्त हो उठता है।

आदर्श राजा

भारतीय राजाओं का जीवन परोपकार की एक दीर्घ परम्परा होता है। कालिदास ने महाराज अज के वर्णन में कहा है कि उसका धन ही केवल दूसरों के उपकार के लिये न था, प्रत्युत उसके समस्त सद्गुण दूसरों का कल्याण-सम्पादन करते थे; उसका बल पीड़ित के भय तथा दुःख का निवारण करता था तथा उसका शास्त्राध्ययन विद्वानों के सत्कार और आदर करने में लगता था—

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना॥

—रघु० ८।३।

उस प्रतापशाली राजा अज का बल दुःखियों के दुःख को हटाने के लिये था, ज्ञान विद्वानों के सत्कार के लिये था। यहाँ तक कि उसका धन ही नहीं, किन्तु उसके गुण भी दूसरों के उपकार के लिये थे।

राजा की सार्थकता प्रजापालन से है। 'राजा प्रकृति-रञ्जनात्'—हमारी राजनीति का आदर्श वाक्य है। प्रकृति का अनुरञ्जन ही हमारे शासकों का प्रधान लक्ष्य होता था। और प्रजा का कर्त्तव्य था राजा की भक्ति के साथ अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा। समाज वर्णाश्रम धर्म पर प्रतिष्ठित होकर ही श्रेय साधन कर सकता है; कालिदास की यह स्पष्ट सम्मति प्रतीत होती है। भारत का वास्तव कल्याण दो ही वस्तुओं से हो सकता है—त्याग से और तपोवन से। जिस दिन त्याग का महत्त्व कम हो जायगा तथा तपोवन के प्रति हमारी आस्था नष्ट हो जायगी, उसी दिन न हम भारतीय रहेंगे और न हमारी सभ्यता भारतीय रहेगी। आर्य संस्कृति की मूल-प्रतिष्ठा इन्हीं दो पीठों पर है। भारतीय राष्ट्र के संरक्षक रघु के जन्म का कारण नगर से बहुत दूर, वसिष्ठ के पावन आश्रम में निवास तथा गोचारण है। रघु का उदय गोमाता के वरदान का उज्ज्वल प्रभाव है। इसी प्रकार दुष्यन्त-पुत्र भरत का जन्म और पोषण हेमकूट पर्वत पर मारीचाश्रम में होता है। भारतीय राष्ट्र के संचालक पावन तपोवन और पवित्र त्याग के वायुमण्डल में पले हैं और बड़े हुए हैं। हमारे राजाओं ने जिस दिन कालिदास के इस सन्देश को भुला दिया, उसी दिन उनका अधःपतन आरम्भ हो गया।

रघु की तेजस्विता तथा अग्निवर्ण की स्त्रैणता का कितना सजीव चित्र कालिदास ने खींचा है। रघु था त्याग का उज्ज्वल अवतार और अग्निवर्ण था स्वार्थ-परायणता की सजीव मूर्ति। रघु की वीरता तथा उदारता भारतीय नरेश का आदर्श है। रघु हिन्दू राजा का प्रतीक है, तो अग्निवर्ण पतित पातकी भूपालों का प्रतिनिधि है। राजभक्त प्रजा प्रातःकाल अपने राजा का मुख देखकर 'सुप्रभात' मनाने आती थी; परन्तु अग्निवर्ण मंत्रियों के लाखों सिफारिश करने पर कभी दर्शन देता था तो खिड़की से लटका कर अपने पैर का। प्रजा राजा का मख देखने के लिये आती थी पर पैर का दर्शन पाकर लौटती थी। वाहरी विडम्बना!

गौरवाद्यदपि जातु मंत्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥
(रघु०, १९।७)

मंत्रियों के बहुत कहने-सुनने पर प्रजा की इच्छापूर्ति के लिये उस (अग्नि-वर्ण) ने दर्शन तो दिया पर वह भी झरोखे से अपने पैरों को नीचे लटकाकर ! अग्निवर्ण पार्थिव भोगविलास का दास था । उसे फल भी अच्छा ही मिला— राष्ट्र तथा देश का सत्यानाश । अग्निवर्ण के दुश्चरित्र का कुफल कवि ने बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में अभिव्यक्त किया है । इस चित्र को देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं ।

संस्कृत साहित्य में राष्ट्रियता

सामान्य रीति से समझा जाता है कि राष्ट्रिय भावना की कल्पना विदेशों की उपज है और अंग्रेजों के इस देश में आने पर उन्हीं के सम्पर्क में इस पवित्र भावना का उदय भारतवर्ष में हुआ, परन्तु यह मान्यता एकदम भ्रान्त है । देश-प्रेम, देशोन्नति तथा राष्ट्रीय समुदय की भावना संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में पूर्ण रीति से विकसित है । संस्कृत साहित्य ही स्वतंत्र भारत के साहित्यिक चिन्तन की पूर्ण अभिव्यक्ति है । संस्कृत साहित्य के उद्गम का युग भारतवर्ष की पूर्ण स्वतंत्रता का काल है जब भारतवर्ष विश्वभर में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था, जब इसके अदम्य उत्साही सन्तान अपने भुजाओं के बल पर भारतीय संस्कृति की पताका सर्वत्र फैला रहे थे तथा जब इसका "विश्वबन्धुत्व" का संदेश संसार के सभ्य मानवों तथा जातियों को भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर कर रहा था ।

सच पूछिये तो संस्कृत साहित्य से इस विषय में तुलना करने पर भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में निबद्ध साहित्य बहुत ही फीका तथा प्रभावहीन होगा क्यों कि वह तो पराधीनता के युग की अभिव्यक्ति है और यही कारण है कि न साहित्य में भौतिक जीवन के प्रति वह उल्लास, भविष्य उदय की ओर वह आशावाद तथा आध्यात्मिक जीवन की ओर वह हार्दिक अनुराग दृष्टिगोचर नहीं होता जो संस्कृत-साहित्य की निजी सम्पत्ति है । फलतः संस्कृत-साहित्य में राष्ट्र-मण्डल की भावना, एक राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र को जीवित इकाई जानने की बुद्धि पूर्ण रूप से पायी जाती है ।

वैदिक युग से ही यह कल्पना बद्धमूल है कि भारतीय आर्य "सप्त-सिन्धु" प्रदेश के ही निवासी हैं, कहीं बाहर से आकर यहाँ बसनेवाले जीव नहीं

हैं। फलतः इस मातृभूमि के प्रति उनकी अनुरक्ति होना स्वाभाविक ही है। वेद में यह पृथ्वी माता के रूप में, देवता के रूप में वर्णित है। प्राचीनतम द्योतमान देव दो ही हैं—एक तो है हमारे ऊपर प्रकाशमान आकाश जो पितृरूप है तथा दूसरा है प्राणियों को आश्रय देनेवाली पृथ्वी जो मातृरूपा मानी जाती है। वैदिक आर्यों के ये ही दोनों प्राचीनतम देव हैं। माता-पिता की यह युग्म कल्पना 'द्यौष्पितर' तथा 'पृथ्वी' के रूप में हमें वेदों के मन्त्रों में बहुशः उपलब्ध होती है। इस उदात्त कल्पना का प्रथम दर्शन हमें ऋग्वेद के ही मन्त्रों में मिलता है। कुछ मन्त्रों को लीजिये—

> द्यौर्मे पिता जनिता (ऋग्वेद १।१६४।३३)
> द्यौर्नः पिता जनिता (अथर्व ९।१०।१२)
> द्यौर्मे पिता पृथिवी मे माता (काठक संहिता ३७।१५।१६)
> यं मे नाभिरिह मे सधस्थम् (ऋग्वेद १०।६१।१९)

अथर्ववेद का पृथ्वी-सूक्त तो वैदिक आर्यों के राष्ट्र-प्रेम का समुज्ज्वल प्रतीक है। इस पूरे सूक्त (अथर्व १२ काण्ड, १ सूक्त) में पृथ्वी के स्वरूप का जो साहित्यिक वर्णन है वह आर्यों के देश के प्रति प्रगाढ़ अनुराग की अभिव्यक्ति करनेवाली देश-भक्ति का सरस परिचायक है। पृथ्वी की महिमा का यह महनीय विवरण स्वातंत्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस सूक्त के ऋषि ने ६३ मंत्रों में मातृरूपिणी भूमि को समग्र पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में उद्घोषित किया है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने और सुख सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिये भव्य प्रार्थना की है। एक दो दृष्टान्तों से इस माहात्म्य को परखिये—

> यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
> इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
> सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

अर्थात् जिसे अश्विनी ने नापा, जिस पर विष्णु ने अपने पादप्रक्षेपों को रखा, जिसे सामर्थ्य के स्वामी (शचीपति) इन्द्र ने अपने वास्ते शत्रुओं से रहित बनाया, वह भूमि मुझे इसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माँ अपने बेटे को दूध पिलाती है।

एक दूसरे मंत्र में पृथ्वी के ऊपर मानवों के नाचने-गाने, कूदने-फाँदने और लड़ने-भिड़ने का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है। जहाँ युद्ध के समय

सैनिकों का गर्जन होता है तथा नगाड़ा बजता है, वह पृथ्वी हमारे सब शत्रुओं को भगा डाले तथा हमारे शत्रुओं का नाश कर हमें शत्रु-विहीन कर दे—

> यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः ।
> युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां नदति दुन्दुभिः ।
> सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नान्
> असपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ (मन्त्र ४१)

कितना उल्लासमय उद्गार है वैदिक ऋषि का और कितनी आशा है भौतिक जीवन को सुखमय बनाने की। वैदिक आर्य सर्वदा भौतिक जीवन को सुन्दर, सुखमय तथा उपयोगी बनाने की प्रार्थना अपने इष्ट देवताओं से किया करता था। जिस पृथ्वी पर उसका निवास था तथा जो उसके भोग-विलास और सुख-समृद्धि की जननी थी उसे पूजनीया माता के समान आदर की दृष्टि से देखना नितान्त स्वाभाविक है।

ऋग्वेद का नदी सूक्त (१०।७५) अपने देश के पवित्र नदियों के प्रति उच्च आग्रह, हार्दिक अनुराग तथा प्रगाढ़ प्रेम का प्रतिनिधित्व करता है। इस मंत्र में गंगा यमुना का प्रथमतः उल्लेख इसका स्पष्ट प्रतीक है कि ये नदियाँ ऋग्वेदीय युग में भी पवित्रता की दृष्टि से देखी जाती थीं। यह सुप्रसिद्ध मंत्र है—

> इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
> असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽर्जिकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

इस सूक्त के अन्य मंत्रों में भारतवर्ष की नदियों के नाम हैं और उनसे ऋषि कामनापूर्ति के लिए विनय कर रहा है। फलतः वैदिक आर्यों की दृष्टि में ये नदियाँ कोई निर्जीव केवल जलमयी वस्तुयें नहीं थीं, प्रत्युत वे कल्याण करनेवाली सजीव देवता थीं और इसलिए उनसे प्रार्थना सुनने तथा कामना पूरा करने के लिये इतना आग्रह किया गया है। आर्य देश की एकता तथा अखण्डता की इससे बढ़कर शोभन कल्पना क्या की जा सकती है ?

पुराणों का प्रामाण्य

पुराणों के पृष्ठों में यह राष्ट्र-भावना और भी मुखरित होती है तथा राष्ट्र के एकत्व तथा देशभक्ति का सरस राग स्पष्टतः सुनायी पड़ता है। प्रत्येक पुराण भारतवर्ष को एक इकाई के रूप में मानता है तथा इसके विभिन्न प्रान्तों,

नदियों, पर्वतों, सरोवरों, तीर्थों, आश्रमों तथा नगरों का बड़ा ही विशद तथा यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करने में वह सर्वदा जागरूक रहता है। इसलिये प्रत्येक पुराण में "भुवनकोष" का विषय वर्ण्य विषयों में सम्मिलित किया गया है। भारतवर्ष की अखण्डता तथा देश-प्रेम का यह राग विष्णुपुराण तथा भागवत के न प्रख्यात पद्यों में बड़ी सुन्दरता से अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। देवता लोग भारतवासियों की धन्यता के गीत गाते हैं, क्योंकि यह भारत देश स्वर्ग तथा मोक्ष पाने का सुखद पन्था है, क्योंकि देवता होने के बाद भी यहाँ जन्म लेकर मानव अपने परम कल्याण का सम्पादन करता है—

गायन्ति देवाः खलु गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(विष्णुपुराण)

भागवत के शब्दों में तो स्वर्गलोक में कल्प की आयु पाने की अपेक्षा भारतवर्ष में क्षणभर की आयु पाना श्रेयस्कर है, क्योंकि इस कर्मभूमि के ऊपर क्षणभर में किये गये कर्मों का संन्यास कर मानव भगवान् नारायण के अभयपद को सद्यः प्राप्त कर लेता है—

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।

(भाग० ५।१९।२३)

भारतवर्ष में जन्म लेना देवताओं की भी ईर्ष्या का विषय है। देवता लोग भारत में जन्म लेने के लिये तरसा करते हैं और भारतवासियों के शोभन कर्मों की भूरि भूरि प्रशंसा किया करते हैं कि भारतवासियों के ऊपर तो स्वयं भगवान् ही प्रसन्न रहते हैं। भारत के प्रांगण में जन्म लेना मुकुन्द की सेवा का मुख्य उपाय है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और इसलिये भारत में उत्पन्न होने के लिए हमारी भी स्पृहा है—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

पूजा के अवसर पर धार्मिक कृत्यों के विधान प्रसंग में भी राष्ट्रीय भावना की पर्याप्त अभिव्यक्ति होती है। संकल्प के विधान का क्या रहस्य है? संकल्प के अवसर पर प्रत्येक उपासक अपने सामने अखण्ड भारत का भौगोलिक चित्र प्रस्तुत करता है। वह अपने स्नान या दान के संकल्प वाक्य में

देश, काल, कर्ता तथा कर्म इन चारों वस्तुओं का एक साथ योग देकर अपने आपको बृहत्तर भारत का एक प्राणी बतला कर गर्व का अनुभव करता है। वह जानता है कि वह जिस अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में भागीरथी में स्नान कर रहा है, वह जम्बूद्वीप के 'भरतखण्ड' तथा भारतवर्ष के 'कुमारिका खण्ड'' के अन्तर्गत विद्यमान तीर्थ है। भारतवर्ष को ही गुप्तकाल में "कुमारीद्वीप" की संज्ञा प्रदान की गई थी, क्योंकि भारतवर्ष की लम्बाई दक्षिण में "कन्याकुमारी" से लेकर उत्तर में गंगा के उद्गम स्थान तक मानी जाती थी—

आयामस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः। (मत्स्य ११४।१०)

स्नान के समय जिस क्षण स्नानार्थी भारत की सप्त सिन्धुओं से अपने जल में समावेश के लिये इस मंत्र में प्रार्थना करता है, उस समय उसके मानस-पटल पर भारतवर्ष के अखण्डरूप का चित्र प्रस्तुत हो जाता है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

पूजा के समय उपयुक्त वस्त्र के विधान से भी स्पष्ट है कि भारत में खद्दर का प्रचार प्राचीन काल से था क्योंकि शास्त्र का आदेश था कि जो वस्त्र उस समय पहना जावे, उसे न तो जला होना चाहिये, न मूषक के द्वारा दूषित होना चाहिये, न सिला हुआ होना चाहिये, न पुराना होना चाहिये, परन्तु इनके अतिरिक्त उसे विदेश में न बनकर स्वदेश में ही बना होना चाहिये। धर्मशास्त्र के प्रणेताओं का यह विशेष आग्रह है कि पूजा के अवसर पर स्वदेशी वस्त्र ही पहने जाँय। उस युग में बाहर से वस्त्रों का आना भले ही सिद्ध हो, परन्तु धार्मिक अवसरों पर स्वदेशी तथा स्वकीय वस्त्र ही पहने जाते थे। फलतः भारत में स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार प्राचीन काल से चला आता है। धर्मशास्त्रीय श्लोक यह है—

न स्यूतेन न दग्धेन, पारक्येण विशेषतः।
मूषकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्यात् विचक्षणः।

इस प्रकार धर्मशास्त्र में भारतवर्ष की अखण्डता, स्वदेशी वस्त्र (खद्दर) का धारण तथा सप्त-सिन्धुओं का मांगलिक स्मरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धार्मिक विधि-विधानों में भी राष्ट्रीय भावना का भव्य प्रसार था।

कालिदास का प्रामाण्य

कालिदास हमारे भारतवर्ष के महनीय राष्ट्रीय कवि हैं। अतः उनके काव्यों में देश-प्रेम की भव्यभावना की सत्ता मिलने पर हमें आश्चर्य नहीं होता। कालिदास उज्जयिनी के महाकाल के उपासक थे और इसलिए शिव की पूजा-अर्चना के प्रति उनका आग्रह रखना स्वाभाविक ही है। कालिदास ने शंकर की अष्टमूर्तियों का उल्लेख अपने काव्य तथा नाटकों में अनेक बार किया है। शाकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव के प्रत्यक्ष दृश्य मूर्तियों का क्रमबद्ध निर्देश है—

> या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
> ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
> यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
> प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वः ताभिरष्टाभिरीशः।

मालविकाग्निमित्र की नान्दी में भी अष्टमूर्ति का संकेत है—अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः। इसी प्रकार कुमारसम्भव (६।७६) में भी इनका उल्लेख है—

> कल्पिताऽन्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
> येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि॥

इस से स्पष्ट है कि कालिदास ने शिव की अष्टमूर्तियों की उपासना के प्रति अपना विशेष आग्रह दिखलाया है। इसका रहस्य क्या है?

इन मूर्तियों के नाम हैं—सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश। इन मूर्तियों के प्रतीक शिवलिंगों का स्थापन भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक उपलब्ध होता है। इनमें यजमान की मूर्ति का प्रतीक शिवलिंग नेपाल में पशुपतिनाथ माने जाते हैं तथा सबसे दक्षिण में चिदम्बरम् स्थान में आकाशमूर्ति का प्रतिनिधि शिवलिंग विराजमान है। इसी प्रकार चन्द्रमूर्ति के प्रतीक दो शिवलिंग विराजमान हैं—एक तो प्रख्यात सोमनाथ का ऐतिहासिक शिवलिंग गुजरात में विद्यमान है तथा दूसरा चन्द्रनाथ का शिवलिंग चट्टग्राम (चिटागाँव) में विराजमान है। इसी प्रकार अन्य मूर्तियों के प्रतीक रूप शिवलिंग भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं जिनका वर्णन पुराणों में दिया गया है। इस प्रकार नेपाल के पशुपतिनाथ से लेकर दक्षिण के चिदम्बरम् तक तथा पश्चिम में सोमनाथ से लेकर

पूरब में चन्द्रनाथ (चट्टगाँव जिला, पूर्वी पाकिस्तान) तक भगवान् शंकर की मूर्तियाँ स्थापित पायी जाती हैं। अतः इन अष्टमूर्तियों को धारणकर्त्ता शंकर की स्तुति कालिदास के हृदय में अखण्ड भारत की उज्ज्वल परिचायिका है। यह कवि समस्त भारत को एक अखण्ड अविभाज्य रूप में मानता तथा जानता है।

इतना ही नहीं, वह भारतवर्ष के भालस्थल पर विराजमान हिमालय का प्रशंसक कवि है। ऐसा कौन सच्चा भारतीय कवि होगा जिसके हृदय में हिमालय पर अपनी सुन्दरता, उदारता तथा भव्यता के कारण प्रकृष्ट प्रभाव नहीं जमाता है! कालिदास की कविता में हिमालय अपने पूर्ण वैभव के साथ विलसित होता है। रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, शाकुन्तल में तो प्रसंगवश हिमालय विराजमान है; परन्तु कुमारसम्भव तो हिमालय की सौन्दर्य तथा शोभा का ही कमनीय काव्य है। वहाँ हिमालय एक निर्जीव प्रस्तर-खण्ड न होकर सजीव देवात्मा है, जिसके हिमाच्छादित कैलाश के ऊपर भूतभावन भगवान् शंकर, पार्वती के साथ, अपनी अखण्ड तपस्या में निरत चित्रित किये गये हैं। कालिदास की प्रतिभा के आलोक में हिमालय का वह चित्र प्रकाशित होता है जिसकी पवित्रता, उदारता तथा प्रभा से भारतीय संस्कृति सद्यः आलोकित हो उठती है। कालिदास हिमालय के वैज्ञानिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक—इन समस्त रूपों का सांकेतिक परिचय देते हैं। जिस हिमालय का भौतिक रूप इस श्लोक में चित्रित है—

आमेखलं संचरतां घनानां, छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः (कुमार १।५)

वही हिमालय धातु-रूपी लाल होठों, देवदारु-रूपी बाहुओं तथा शिलारूपी वक्षस्थल को धारण करने वाला एक महनीय जंगम पुरुष के रूप में भी अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है इस पद्य में—

धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारु बृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥

(कुमार ६।५१)

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भारतीय राष्ट्र की उन्नत कल्पना के दर्शन हमें नाना युगों में प्राप्त होते हैं। राष्ट्र की अभ्युन्नति के निमित्त शुक्ल यजुर्वेद के एक मंत्र में राष्ट्र के विभिन्न अंगों की अभिवृद्धि के लिये जो सुन्दर प्रार्थना उपलब्ध है वह आज भी—इतनी शताब्दियों के बीतने पर भी—उसी प्रकार

अभिनन्दनीय है जिस प्रकार उस वैदिक युग में। आज स्वतंत्र भारत की यही सांस्कृतिक प्रार्थना होनी चाहिये।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति-व्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठा सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (शु० य० २२।२२)

हे भगवन्, हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्राह्मतेज से सम्पन्न हों, क्षत्रिय शूरवीर, बाण चलाने में कुशल, शत्रुओं का संहार करनेवाले तथा महारथी उत्पन्न हों। धेनु दूध देने वाली हो। बैल बोझा ढोने वाला हो। घोड़ा शीघ्रगामी हो। नारी सुन्दर गात्रवाली तथा रमणीय गुणवाली हो। रथ पर बैठकर समरांगण में उतरने वाला योद्धा विजयी बने। युवा सभा में बैठने की योग्यता रखनेवाला हो, अर्थात् सभ्य-शिष्ट, गुणी विनयी हो। हमारे राष्ट्र में आवश्यकता के अनुसार मेघ वृष्टि दे। हमारी ओषधियाँ फलयुक्त हों तथा समय पर पक्व हों। हमारा योगक्षेत्र सदा सम्पन्न हो, अर्थात् अलभ्य वस्तु का लाभ हो तथा लभ्य वस्तु की ठीक ठीक वृद्धि हो।

इस वैदिक मन्त्र में जिस आदर्श का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह नितान्त श्लाघनीय तथा अनुकरणीय है। वैदिक ऋषि की दृष्टि राष्ट्र के प्रत्येक अंग पर पड़ती है पशुओं से लेकर युवकों तक और वह प्रत्येक पदार्थ के अभ्युदय की कामना करता है। हमारे युवकों को इस मन्त्र के 'सभेयो युवा' वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। 'सभेय' शब्द की व्युत्पत्ति है—सभायां साधुः सभेयः। सभा में निपुण होना ही युवक की भूयसी विशिष्टता है। सभा में ठीक ढंग से बैठना-उठना, उसके नियमों से परिचित होना, अनुशासन मानना, बोलने की कला का पारखी बनना आदि अनेक विशिष्ट गुणों की सत्ता का संकेत 'सभेय' शब्द में विद्यमान है। वैदिक 'सभेय' शब्द का प्रतिनिधि शब्द लौकिक संस्कृत का 'सभ्य' शब्द है। इस प्रकार सभ्य बनने की मुख्य पहिचान है सभा में निपुण होना और यही सभ्यता का मुख्य आधार है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत के कवियों की मनोरम वाणी में भारत की राष्ट्रीयता का अपूर्व सन्देश उल्लसित होता है। वे भारत को एक राष्ट्र ही नहीं मानते, प्रत्युत उसे स्वर्ग से भी बढ़कर मानते हैं। कर्मभूमि भारत

भोगभूमि स्वर्ग से निःसन्देह महनीय, विशाल तथा महत्तम हैं—इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन संस्कृत काव्यों में विशदता के साथ किया गया है।

(ख) विश्व-मंगल

हमारी राष्ट्रीय भावना में और विश्व-कल्याण की भावना में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। भारतीय कवि राष्ट्र का मंगल चाहता है और साथ-ही-साथ वह संसार की मंगल कामना किया करता है। कालिदास के काव्यों में इस सामञ्जस्य का मनोरम रूप दृष्टिगत होता है। इस महाकवि की वाणी में जिस प्रकार आदिकवि वाल्मीकि की रसमयी धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार उपनिषदों तथा गीता का अध्यात्म भी मञ्जुल रूप में अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। भारतीय ऋषियों के द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्यों को मनोभिराम शब्दों में भारतीय जनता के हृदय में उतारने का काम कालिदास की कविता ने सुचारु रूप से किया है। कविता का प्रणयन मानव हृदय की शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावों का अवलम्बन कर किया गया है। यही कारण है कि इसके भीतर ऐसी उदात्त भावना विद्यमान है जो भारतीयों को ही नहीं, प्रत्युत मानवमात्र को सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहेगी। इस भारतीय कवि की वाणी में इतना रस भरा हुआ है, इतना जोश भरा हुआ है कि दो सहस्र वर्षों के दीर्घकाल ने भी उसमें किसी प्रकार का फीकापन नहीं उत्पन्न किया। उसकी मधुरिमा आज भी उसी प्रकार भावुकों के हृदय को रसमय करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृति का जो भव्य रूप इन काव्यों में झलकता दिखाई देता है वह बहुत सजीव है। मानव-कल्याण के निमित्त इन काव्यों में मधुर शब्दों में उपदेश दिये गये हैं। आज का मानव-समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्य से छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानल के भीतर संसार की अनेक जातियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवता के लिए यह महान् संकट का समय है। इस सम्बन्ध में भी विचार करने की आवश्यकता है कि कालिदास का क्या कोई सन्देश है।

आशावाद

मानवजीवन में नैराश्यवाद के लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक बतलाकर निःसार तथा व्यर्थ मानते हैं उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त

कर सकते हैं उसे सारहीन क्यों मानें ? कालिदास का कहना है कि देह-धारियों के लिये मरण ही प्रकृति है। जीवन तो विकृतिमात्र है। जन्तु श्वास लेता हुआ यदि एक क्षण के लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ ही है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥

—(रघु० ८।८७)

इस जीवन को महान् लाभ मानना चाहिये तथा इसे सफल बनाने के लिये अर्थ, धर्म तथा काम का सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिये। इस त्रिवर्ग में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है (त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि—कुमार० ५।३८) परन्तु अर्थ और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाये रखने के लिये धर्म से विरोध कर सकते हैं। धर्म को दबा कर अर्थ अपनी प्रबलता चाहता है। और धर्म को ध्वस्त कर काम भी अपना प्रभाव जमाना चाहता है। इस विषय में आज धर्म-विरोधी अर्थ और काम का नग्न नृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के शब्द में 'धर्म से अविरुद्ध काम' भगवान् की ही विभूति है। कालिदास ने अपने काव्यों तथा नाटकों में '*धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ*' इस गीता-वाक्य की सत्यता अनेक प्रकार से प्रमाणित की है।

धर्म और काम का सामञ्जस्य

मदनदहन का रहस्य दिखलाया गया है। मदन चाहता था कि पार्वती के सुन्दर रूप का आश्रय लेकर समाधिनिरत शंकर के हृदय पर चोट करें। प्रकृति में वसन्त का आगमन होता है। लता वृक्ष पर झूल-झूलकर अपना प्रेम जताने लगती है। एक ही कुसुमपात्र में भ्रमरी अपने सहचर के साथ मधुपान करती हुई मत्त हो जाती है। व्याधि के समान मदन संसार को त्रस्त करने लगता है। वह अपनी आकांक्षा बढ़ाता है और शंकर पर आक्रमण कर बैठता है। जगत् के कल्याण, आत्यन्तिक मंगल का नाम 'शंकर' है।

विश्व-कल्याण मदन की उपासना में नहीं है, प्रत्युत उसके धर्मविरोधी रूप के दबाने में है। काम अपनी प्रभुता चाहता है। विश्व-कल्याण पर अपना मोहन बाण छोड़ता है। शंकर अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र 'ज्ञाननेत्र' है। वह प्रत्येक मनुष्य के भ्रूमध्य में विद्यमान है। परन्तु

हमें वह सुप्त होने से उसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। शंकर का वह नेत्र जागृत है। इसी ज्ञान की ज्वाला में मदन का दहन होता है। धर्म से विरोध वाला काम भस्म की राशि बन जाता है। शंकर को वश में करने के लिये पार्वती तपस्या करती है। धर्मसिद्धि का प्रधान साधन है—तपस्या। बिना अपना शरीर तपाये तथा बिना हृदयस्थित दुर्वासना जलाये धर्म की भावना जागृत् नहीं होती। कालिदास ने काम का जलना दिखाकर यही चिरन्तन तथ्य प्रकट किया है। पार्वती ने घोर तपस्या कर अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में काम तथा धर्म के परस्पर संघर्ष में हमें काम को दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। जगत् का कल्याण इसी भावना में सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाज

व्यक्ति तथा समाज का गहरा सम्बन्ध है। व्यक्ति की उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति समाज की उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियों के समुदाय का ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नति की अपेक्षा सामाजिक उन्नति के पक्षपाती हैं। उनका समाज श्रुतिस्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है। सत्य के लिए परिमित भाषण करता है। यश के लिये विजय की अभिलाषा रखता है, प्राणियों तथा राष्ट्रों को पददलित करने के लिये नहीं। गृहस्थी में निरत होता है सन्तान उत्पन्न करने के लिये; कामवासना की पूर्ति के लिये नहीं। कालिदास द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाज का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। वे शैशव में विद्या का अभ्यास करते हैं, यौवन में विषय के अभिलाषी हैं। वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण कर सारे प्रपञ्च से मुँह मोड़-कर निवृत्तिमार्ग के अनुयायी बनते हैं तथा अन्त में योग द्वारा अपना शरीर छोड़कर परम पद में लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाज की अपनी विशेषता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—(रघुवंश, १।७—८)

यज्ञ

उपनिषदों में धर्म के तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इनके अतिरिक्त 'तपः' की महिमा से भारतीय धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इन स्कन्धों का विवेचन स्थान-स्थान पर बड़ी ही मनोरम भाषा में किया है। यज्ञ का महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञ के रहस्यों का ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भली भाँति जानते हैं कि वसिष्ठ जी के यथाविधि सम्पादित होम द्वारा जल की वृष्टि होती है जो अकाल से सूखनेवाले शस्य को हरा-भरा बनाती है—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥

—रघु० १।६२

नरराज तथा देवराज—दोनों का काम परस्पर संयोग से मानवों की रक्षा करना है। नरराज पृथ्वी को दूहकर उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्तकर यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदले में शस्य उत्पन्न होने के लिये आकाश से दूहकर पुष्कल वृष्टि करता है। इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्ति का विनिमय कर उभय लोक का कल्याण करते हैं—

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥

—रघु० १।२६

यज्ञपूत जल के द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थों की सिद्धि हमारे महाकवि को मान्य है। रघु सर्वस्वदक्षिण यज्ञ के अनन्तर कौत्स की याञ्चा पूरा करने के लिये जिस रथ पर बैठते हैं उसे वसिष्ठजी ने मन्त्रपूत जल से अभिमन्त्रित कर दिया है और उसमें आकाश, नदी, पहाड़, आदि सब विकट तथा विषम मार्गों पर चलने की क्षमता है (रघु० ५।२७)। इस प्रकार कालिदास की दृष्टि में सामाजिक कल्याण के साधनों में यज्ञ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दान

दान की गौरवगाथा गाते हुए हमारे महाकवि कभी अन्त नहीं पाते। समाज आदान-प्रदान की भित्ति पर अवलम्बित है। धनी-मानी व्यक्ति का सञ्चित धन केवल उन्हीं की आवश्यकता अथवा व्यसन पूरा करने के लिये

नहीं है, प्रत्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनों की उदर-ज्वाला शान्त करने में भी है जो समाज के विशेष अंग हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में डंके की चोट कहा गया है कि दैवीवाग् मेघगर्जन के रूप में सदा पुकारती है—दाम्यत (अपने इन्द्रियों को वश में रखो), दत्त (दान दो) तथा दयध्वम् (दया करो)। यदि हम लोग इस दैवी वाणी की पुकार सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, तो यह अपराध हमारा है। दान के बिना समाज छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं।

कालिदास ने रघुवंश के पञ्चम सर्ग में दान का बड़ा ही उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरतन्तु के शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के लिये तब रघु के पास आते हैं जब उन्होंने अपनी सारी सञ्चित सम्पत्ति यज्ञ में दे डाली थी। रघु अलकापुरी पर चढ़ाई कर यक्षराज कुबेर से धन पाने का उद्योग करते हैं। इतने में कोश में सोने की वृष्टि होती है। राजा का आग्रह है कि शिष्य सम्पूर्ण धन ले जाय और उधर शिष्य का आग्रह है कि वह अपने काम से अधिक एक कौड़ी भी न छूवेगा। दाता और ग्रहीता का यह आग्रह आश्चर्यजनक वस्तु है। यह दृश्य इस भारत मही के इतिहास में भी दुर्लभ है, अन्य देशों की तो कथा ही क्या!

तप

तप—तप भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है। इसकी आराधना से मनुष्य अपनी सारी कामनाओं की ही पूर्ति नहीं करता, प्रत्युत परोपकार के यथावत् सम्पादन की योग्यता भी अर्जन करता है। तप की महिमा से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदास ने इसका महत्त्व बड़े ही भव्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है। मदन-दहन के अनन्तर भग्नमनोरथ पार्वती ने तप को ही अपना एकमात्र अवलम्बन बनाया। जगत् की समग्र आशाएँ छोड़कर वह इसकी सिद्धि में लग गईं। उसकी तपस्या इतनी कठोर थी कि कठिन शरीर से उपार्जित मनुष्यों की तपस्या उसके सामने नितान्त प्रभाहीन तथा प्रभावविहीन जान पड़ती। प्रकृति के नाना प्रकार के विषम कष्ट झेलकर वह अपनी कामना सिद्धि में सफल होती है। कालिदास ने पार्वती के तप का रहस्य विशेष रूप से प्रकट किया है—

> इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपता
>
> समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।

अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥

—(कुमारसम्भव ५।२)

पार्वती की तपस्या का फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटि का प्रेम और 'तादृशः पतिः' उस प्रकार का मृत्यु को जीतनेवाला महादेव रूप पति। जगत् के समस्त पति मृत्यु के वश हैं। एक ही व्यक्ति मृत्युञ्जय हैं। महादेव ही मृत्यु को भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आज तक कोई भी कन्या मृत्युञ्जय को पति रूप में पाने में समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा? कालिदास ने 'तथाविधं' शब्द के भीतर गम्भीर अर्थ की अभिव्यञ्जना की है। शंकर ने पार्वती को अपने मस्तक पर स्थान दिया है। आदर की भी एक सीमा होती है। पत्नी को इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कार का महान् उत्कर्ष है, आदर की पराकाष्ठा है। अन्य देवताओं में किसी ने अपनी पत्नी को इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओं के लिये गौरी की यह साधना अनुकरणीय वस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओं के सामने एक ही महान् आदर्श है, और वह है पार्वती का। भारतीय समाज में 'गौरीपूजा' का रहस्य इसी महान् स्वार्थ-त्याग के भीतर छिपा हुआ है। तपस्या ने गौरी को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

तपस्या करनेवाले ऋषियों के भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है, वे स्वयं शान्ति में रमते हैं, सूर्यकान्त मणि की भाँति वे छूने में बड़े कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेज के द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज वमन करते हैं। वे किसी की घर्षणा सह नहीं सकते। यही है तपस्या का प्रभाव—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति ॥

—शाकुन्तल, २।७

मांगलिक उपाय

आजकल समर-ज्वाला में दग्ध होनेवाले संसार के लिये कालिदास का सन्देश विशेष रूप से उपादेय है। विश्व के मानवों को चाहिये कि इस सुन्दर सन्देश को सुनकर अपने जीवन में उसका बर्ताव करें। इस सन्देश को

हम तीन तकारादि शब्दों में प्रकट कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। विश्व की शान्ति भंग करनेवाली वस्तु का नाम 'स्वार्थपरायणता' है। समस्त जातियाँ अपने बड़प्पन का स्वप्न देखती हुई अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि में निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्ष का यही निदान है। इसका निवारण त्याग और तपस्या की साधना के बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत् ने नगर को विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण कर पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यता की उपासना में दत्तचित्त हो चला, परन्तु कालिदास की सम्मति में तपोवन की गोद में पली हुई सभ्यता ही मानव का सच्चा मंगल कर सकती है। जिसने हमारे देश को 'भारतवर्ष' जैसा मंजुल नाम प्रदान किया उस दौष्यन्ति भरत का जन्म मारीच के आश्रम में हुआ। गोचारण का फल रघु के जन्म के रूप में प्रकट हुआ। दिलीप ने अपनी राजधानी का परित्याग कर वसिष्ठ के आश्रम में निवास किया तथा गुरु की गाय की विधिवत् परिचर्या की। उसी का फल हुआ इन्द्र जैसे वज्रधारी के मानमर्दक वीर का उदय। तपोवन में अलौकिक शान्ति तथा शक्ति का साम्राज्य छाया रहता है। प्रकृति निखिल विषमता को दूर कर समता के अभ्यास में निरत रहती है। हिंसक पशु भी इसी नैसर्गिक शान्ति के कारण अपनी प्रकृति भुलाकर परस्पर मैत्रीभाव से निवास करते हैं।

कालिदास की दृष्टि में प्रपञ्च के पचड़े में पच मरनेवाला जीव दया का पात्र है। सुख में आसक्त जीव को तापस उसी दृष्टि से देखता है जिससे स्नान करनेवाला व्यक्ति तैल मर्दन करनेवाले व्यक्ति को, शुचि अशुचि को, प्रबुद्ध सुप्त व्यक्ति को, स्वच्छन्द गतिवाला पुरुष बद्ध पुरुष को—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥

—शाकुन्तल ५।११।

जब तक यह संसार त्याग और तपस्या का आश्रय लेकर तपोवन की ओर न मुड़ेगा, तब तक इसकी अशान्ति कभी न बुझेगी, पारस्परिक कलह कभी न समाप्त होगा तथा वैमनस्य का नाश कभी न होगा।

कालिदास का विश्वमंगल सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना के अन्तिम श्लोक में एक ही पद्य के रूप में प्रकट किया गया है:—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥

राजा प्रजा के हित साधन में लगे। शास्त्र के अध्ययन से महत्त्वशाली विद्वानों की वाणी सर्वत्र पूजित हो। शक्तिसम्पन्न भगवान् शंकर समग्र जीवों का पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है! राजा का प्रधान कार्य प्रजा का अनुरञ्जन है। अराजक राज्य के दुर्गुणों से हम भली भाँति परिचित हैं। राजा के बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजा का प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये समाज की रक्षा। राष्ट्र को उन्नति तथा अभ्युदय के मार्ग पर ले जानेवाले उसके विद्वज्जन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वती का पूजन तथा समादर पवित्र कार्य है। राजा क्षात्र बल का प्रतीक है तथा विद्वज्जन ब्राह्म तेज के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही देश का सच्चा कल्याण हो सकता है। ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबल का सहयोग पवन तथा अग्नि के समागम के समान नितान्त उपादेय तथा फलप्रद है। समाज की सुव्यवस्था होने पर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति का परस्पर अभ्युदयभारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है।

अनुक्रमणी

(मुख्य स्थलों का निर्देश)